हमारा हिन्दी साहित्य
और
भाषा परिवार

अर्थात्

[हिन्दी-साहित्य का छात्रोपयोगी समालोचनात्मक इतिहास]

(वि० सं० ७०० से २००८ तक)

●

लेखक
साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ
पण्डित भवानीशंकर शर्मा त्रिवेदी
बी० ए०, शास्त्री, प्रभाकर।

●

प्रकाशक
मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास
गली नन्हेसाँ, कूचा चेलाँ
दरियागंज, दिल्ली।

●

द्वितीयवार ६००० } संवत् २००८ { मूल्य सात रुपये

प्रकाशक
ख़ज़ानचीराम जैन
मेहरचन्द लक्ष्मणदास
दरियागंज, दिल्ली

प्रथम संस्करण सं० २००६
द्वितीय संस्करण सं० २००८

मुद्रक
नैशनल प्रिंटिंग वर्क्स,
१० दरियागंज, दिल्ली

भीष्माष्टमी सं० २००६—२६ जनवरी सन् १९५० को

सम्पूर्णप्रभुत्वसम्पन्न

सर्वतंत्र स्वतन्त्र भारतीय गणराज्य

की स्थापना के शुभावसर पर

प्रातःस्मरणीय स्वर्गीय पिता

श्री पूज्य पण्डित कालूराम जी शर्मा त्रिवेदी

की पावन स्मृति में राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्यिक मनस्विवर्ग तथा उन्नायक छात्रवृन्द के कर-कमलों में सादर एवं सस्नेह समर्पित ।

—भवानीशंकर त्रिवेदी

आत्म-निवेदन

भारतीय स्वातन्त्र्य के अरुणोदय के साथ राष्ट्रभाषा के साहित्य-सरोज का सुषमासम्पन्न होना स्वाभाविक है। वैधानिक रूप से हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त हो जाने पर विश्व-विद्यालयों में हिन्दी-साहित्य के अध्ययन को अनिवार्य रूप दिया जा रहा है। इधर दस-बारह वर्षों में साहित्य में एक नवीन महत्त्वपूर्ण क्रांति-युग की प्रतिष्ठा भी हो चुकी है। प्राचीन साहित्यिक शोध-सम्बन्धी अनेक नवीन मान्यताएं समादृत हो रही हैं। इस प्रकार साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में—प्राचीन साहित्य का अन्वेषण, समालोचना, कविता, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि सभी विधाएं प्रतिक्षण प्रगति-पथ पर हैं। समाज और राष्ट्र ने सहसा करवट बदल ली है। लगभग एक हज़ार वर्ष तक विविध विदेशी जातियों के अधीन रहने के पश्चात् हमने सार्वभौम स्वातन्त्र्य प्राप्त कर लिया है; इस प्रकार इस एक युग—बारह वर्ष—की संक्षिप्त-सी अवधि में भारत ने प्रत्येक दिशा में आशातीत अकल्पित प्रगति और उन्नति की है। राष्ट्र के राजनैतिक इतिहास की विचार-सरणी का भी ऐसी अवस्था में अभिनव प्रशस्त पथ की ओर अग्रसर होना स्वाभाविक है। उक्त परिवर्तन के प्रभाव से ऐतिहासिक चिन्तन-धारा सैकड़ों वर्षों के पश्चात् परिवर्तित परिस्थितियों की प्रबल पर्वत-पंक्ति से प्रताडित होकर परतन्त्रता के पथ का परित्याग कर स्वतन्त्र सरणी का अनुसरण कर रही है। आज से बारह वर्ष पूर्व की ऐतिहासिक विचारधारा में और आज की विचारधारा में आकाशपाताल का अन्तर पड़ गया है। आज इतिहास अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक, मौलिक अथच स्वाभाविक रूप ग्रहण कर रहा है। छात्रोपयोगी ऐतिहासिक पाठ्यपुस्तकों में तो यह परिवर्तन अत्यन्त स्पष्ट रूप में हुआ है। सन् १९३८ में लिखित इतिहास की कोई भी पुस्तक आज के छात्र के लिये सैकड़ों वर्ष पुरानी इतिहास की एक संग्राह्य पुस्तक का रूप ग्रहण कर बैठी है—इतिहास सम्बन्धी पुरानी पुस्तकें आधुनिक छात्र के लिए सर्वांगपूर्ण नवोन्मिषित ज्ञान प्रदान करने में सर्वथा असमर्थ हैं। आज किसी भी स्कूल या कालिज में १०-१५ वर्ष पहले का लिखा हुआ इतिहास पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकृत नहीं हो सकता।

इधर जब हम साहित्य को समाज की विचारधारा का पुस्तकाकार में संचित

प्रतिबिम्ब मानते हैं तो हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि सामाजिक या राजनैतिक इतिहास के साथ ही साथ साहित्य का इतिहास भी उसी अनुपात में परिवर्तित होता रहे—नित्य नवीन रूप में लिखा जाता रहे। अतः जिस प्रकार राजनैतिक इतिहास की पुरानी पुस्तकों के स्थान पर नव-निर्मित रचनाएं पाठ्य-क्रम में प्रतिष्ठित हो रही हैं, वैसे ही साहित्य के इतिहास भी अभिनव-रूप में लिखे-लिखाए तथा पढ़े-पढ़ाये जाने चाहिएं। प्राचीन प्रामाणिक इतिहासों की तो सदा स्थायी महत्ता और उपयोगिता रहेगी ही—जिज्ञासु जन उनसे लाभ उठाते ही रहेंगे। विज्ञविवेचक विद्वानों का कार्य तो पुराण—जो पहले नये थे—इतिहास के आधार पर ही चलेगा, पर छात्रों के लिए तो ऐसे नूतन इतिहास-ग्रंथों की आवश्यकता सदा सर्वमान्य रहेगी जिनमें उस समय तक की विचारधाराओं व घटनाओं का संकलन कर दिया गया हो।

इस पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही प्रस्तुत इतिहास का उपक्रम हुआ है। इतिहास कोई कल्पना या कोरी मस्तिष्क की उपज तो हो नहीं सकता, फलतः वह कदापि सर्वांशतः मौलिक भी नहीं हो सकता, हां उसमें मौलिकता का तारतम्य अवश्य रहता है। इतिहास लिखते समय यह बात मेरे ध्यानमें रही है कि किसी काल-विशेष या सम्पूर्ण कालों के बृहद् अन्वेषणात्मक इतिहास की बात को छोड़कर पाठ्यक्रम की दृष्टि से प्रस्तुत किसी छात्रोपयोगी नूतन इतिहास में निम्न विशेषताएं रहनी चाहिएं:—

१. सामान्यतया पूर्व-युगों का सम्पूर्ण वृत्त व परिचय आदि प्राचीन ऐतिहासिकों द्वारा प्रमाणित हो।

२. प्राचीन काल की किन्हीं घटनाओं के सम्बन्ध में कुछ नवीन खोज हुई हो तो उसका समावेश उसमें रहे।

३. विवादास्पद विषयों का अधिक-से-अधिक तर्कसंगत और प्रामाणिक विवेचन करने का प्रयत्न किया जाय।

४. इतिहास के प्रकाशन-काल तक की सब नवीन व प्रवृत्तियां व प्रगतियां का उस में वर्णन रहे।

५. विचारधारा चिन्तन-पद्धति या समालोचना प्रणाली में मौलिकता हो।

६. जटिल से जटिल और गम्भीर विषय को भी सरल, सुबोध और स्वाभाविक भाषा में अभिव्यक्त किया जाय।

७. प्रत्येक साहित्यिक या उसके साहित्य-सेवा-सम्बन्धी कार्य का विवेचन सर्वथा निष्पक्ष, तटस्थ द्रष्टा के रूप में हो।

८. व्यक्तियों या लेखकों की संख्या या नामों की अपेक्षा साहित्यिक परिस्थितियों के विवेचन को प्रमुखता देते हुए यथासम्भव अधिक-से-अधिक साहित्य-सेवियों के स्मरण से पुस्तक की सार्थकता बढ़ा दी जाय।

९. पुस्तक को छात्रोपयोगी व सहज बोधगम्य बनाने के उद्देश्य से विषय को वैज्ञानिक, स्वाभाविक भागों में विभक्त कर दिया जाय।

१०. प्रमुख व प्रतिनिधि-कवियों तथा सामयिक परिस्थितियों आदि का सविस्तर स्पष्ट विवेचन किया जाय।

मैं प्रस्तुत पुस्तक को लिखते समय सदा अपनी उक्त मान्यताओं को क्रियात्मक रूप देने का प्रयत्न करता रहा हूं। इसके लिए १६ वर्ष के अध्यापनकार्य से जो कुछ ज्ञान और अनुभव मुझे हुआ था उस सब का तो मैंने पूर्ण उपयोग किया ही है, साथ ही १ वर्ष तक निरन्तर अन्य सब कार्यों को सम्पूर्णरूपेण तिलांजलि देकर केवल इसी एक पुस्तक को प्रस्तुत करने, सजाने, संवारने तथा तैयार कराने में संलग्न रहा हूं। इतनी निष्ठा, साधना व तपस्या के पश्चात् सम्पन्न इस सरस्वती की उपासना से छात्रवृन्द को अवश्य यथेष्ठ लाभ होगा और विज्ञ विवेचक-वृन्द इसे अपनाकर मुझे प्रोत्साहित करेंगे, इस आत्मविश्वास के साथ अपनी यह तुच्छ भेंट साहित्यिक संसार को समर्पित करते हुए मेरा अन्तर्तम अपार प्रसन्नता से पुलकित हो रहा है।

साहित्य के इतिहास-जैसे गम्भीर विषय को समझने में छात्रों को इस पुस्तक से यत्किंचित् भी सहायता प्राप्त हुई तो मैं अपने श्रम को सफल समझूंगा। मैं अपने उद्देश्य में कहां तक सफल हुआ हूं, इसके निर्णायक तो पाठक ही हैं।

इस आत्म-निवेदन की समाप्ति से पूर्व अपने सम-सामयिक सहयोगी साहित्यिकों से विशेष रूप से निवेदन करना चाहता हूं कि समयाभाव, साधनाभाव, पुस्तकाभाव और सबसे बढ़कर ज्ञान तथा स्मरणाभाव एवं परिमित पांच सौ पृष्ठों में पुस्तक को समाप्त करने का उद्देश्य होने से स्थानाभाव आदि अनेक अभावों की परम्परा के उपस्थित हो जाने के कारण अनेक साहित्य-सेवियों या उनकी सभी रचनाओं का नामोल्लेख मैं चाहता हुआ भी इस संस्करण में नहीं कर पाया। बात तो यह है कि आधुनिक हिन्दी का काव्य-कानन अत्यधिक विस्तृत रूप धारण कर चुका है, उसमें नित्य-नवीन असंख्य साहित्य-सुमन विकसित हो रहे हैं, मेरे-जैसे असमर्थ व्यक्ति के लिए सर्वथा असम्भव है कि वह अपने इतिहास-स्तवक (गुलदस्ते) में उन सब साहित्यिक सुमनों को संकलित कर सके। यह स्वाभाविक है कि अनेक

एकान्त कोनों में, तो कई सर्वथा सम्मुख विकसित काव्य-कुसुम भी इस स्वल्प से स्तवक में स्थान न पा सके हों, इसी प्रकार संभव है अन्य कई त्रुटियां भी इसमें रह गई हों, परन्तु इन अपरिहार्य त्रुटियों के—एकमात्र कारण—परिस्थिति-जन्य अक्षमता की ओर ध्यान देते हुए आशा है मुझे क्षमा किया जायगा। साथ ही यह भी विश्वास दिलाता हूं कि मैं अपने इतिहास को बंधा हुआ सरोवर न बनाकर स्वच्छ प्रवाह के रूप में प्रस्तुत कर रहा हूं। इसके प्रत्येक संस्करण में नवीन धाराओं का—गतिविधियों का अवश्य समावेश होता रहेगा—अतः विज्ञविवेचकों से निवेदन है कि इसके द्वितीय संस्करण के सम्बन्ध में आवश्यक उपयोगी सुझाव देकर कृतार्थ करें, ताकि यह साहित्यिक सेवाकार्य अधिक-से-अधिक उपयोगी एवं सर्वांगसुन्दर रूप में सम्पन्न हो सके।

कृतज्ञता-प्रकाश

प्रस्तुत इतिहास के निर्माण में स्वभावतः सैकड़ों रचनाओं से असीम सहायता ली गई है। हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध में आज तक प्रकाशित ऐसी शायद ही कोई समालोचनात्मक या ऐतिहासिक कृति हो जिससे मुझे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सहायता न मिली हो। उन सब रचनाओं तथा उनके लेखकों के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं। जिन प्रमुख आचार्यों के ग्रन्थ मेरी इस रचना के निर्माण में सहायक सिद्ध हुए हैं उनके प्रति मैं किन शब्दों में आभार प्रकट करूं। सर्वप्रथम श्री शिवसिंह सेंगर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'शिवसिंह सरोज' में तथा फिर मिश्रबन्धुओं ने 'मिश्र-बन्धु-विनोद' में सहस्रों लेखकों व उनकी रचनाओं का परिचय प्रस्तुत किया। श्रीयुत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास द्वारा आगामी सभी साहित्येतिहासों की एक सुनिश्चित वैज्ञानिक समालोचनात्मक विचार-सरणी और समालोचना-पद्धति का पथ-प्रवर्तन किया है। इधर डा० रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास' में अन्तरंग तथा बहिरंगसाक्ष्य के आधार पर भक्ति-काल तक के कवियों की जीवनियों व रचनाओं की व्यापक समीक्षा कर इतिहासकारों के लिए अज्ञात और अनिश्चित विषयों पर सुन्दर सामग्री प्रस्तुत की। डा० सूर्यकान्त जी ने अपने 'हिन्दी साहित्य के विवेचनात्मक इतिहास' के द्वारा समालोचना में सरस प्रेरणामयी चेतना का संचार किया। इस प्रकार इन प्रमुख हिन्दी साहित्य के प्रामाणिक इतिहास-लेखकों ने अपने-अपने ढंग से वास्तव में स्मरणीय अमर कार्य किया है। एक ऐतिहासिक के लिए आवश्यक विचार-स्वातन्त्र्य, मतभेद व

विवेचनात्मक निर्णय को अपने लिए सुरक्षित रखते हुए भी मैंने अपने ढंग पर सभी प्राचीन इतिहास ग्रंथों से पर्याप्त तथ्य संकलित किये हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन का समग्र श्रेय समादरणीय श्रेष्ठिवर श्री ला० खजानचीरामजी जैन (अध्यक्ष फर्म—श्री मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, हिन्दी संस्कृत पुस्तकालय, दिल्ली) को है। इन्हीं के प्रबल प्रेरणात्मक प्रोत्साहन एवं साहाय्य से प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशित होकर पाठकों तक पहुँच पाई है। तदर्थ सधन्यवाद प्रभु से प्रार्थना है कि वह श्री लालाजी को चिरायुष्य प्रदान कर इनकी हिन्दी-संस्कृत-साहित्य सेवा की सुरुचि को उत्तरोत्तर समुन्नत करते रहें।

इस इतिहास के लेखन-कार्य में मेरी सहधर्मिणी श्रीमती शकुन्तलादेवी त्रिवेदी ने अधिक सहयोग देकर अर्धांगिनी के कर्तव्य का पूर्णतः पालन किया। उक्त सब महानुभावों तथा अन्य समग्र सहयोगियों के हार्दिक धन्यवादपूर्वक साहित्यिक संसार व छात्र-जगत् को अपनी यह सामान्य कृति समर्पित करता हुआ—

जयदेव मन्दिर देहली,
समभाव से जिस पर चढ़ी।
नृप हेम-मुद्रा और रंक वराटिका॥

राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरणजी गुप्त के उक्त आश्वासन से प्रोत्साहित होकर आशा करता हूं कि साहित्य-देवता मुझ रंक की इस श्रद्धापूर्वक प्रस्तुत की गई वराटिका को भी सप्रेम अपनाकर कृतार्थ करेंगे।

श्री पंचमी
सं० २००६ —भवानी शंकर त्रिवेदी

द्वितीय संस्करण के सम्बन्ध में

परम हर्ष का विषय है कि हिन्दी जगत् ने इस ग्रंथ का समुचित समादर कर अपनी गुण-ग्राहकता का परिचय दिया, उच्च कक्षाओं के छात्रों ने तो इसे अपने लिये परमोपयोगी मानकर अपनाया। फलतः इसका प्रथम संस्करण एक ही वर्ष में हाथों हाथ निकल गया।

इस द्वितीय संस्करण में यथास्थान आवश्यक परिवर्तन परिवर्धन संशोधन आदि कर दिए गए हैं। प्रथम संस्करण के पच्चीसवें अध्याय में जिन विशिष्ट साहित्य सेवियों का विवरण था, वह अब यथास्थान दे दिया गया है। आशा है इस रूप में यह ग्रंथ और भी अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

शिवरात्री, सं० २००८ —लेखक

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

प्राचीन युग

संक्रमण-काल

तीसरा अध्याय

वीरगाथा-काल

चौथा अध्याय

(वीरगाथात्मक तथा लोक-साहित्य)

भक्ति-काल

पांचवां अध्याय

छठा अध्याय

सातवां अध्याय

आठवां अध्याय

नवां अध्याय

दसवां अध्याय

ग्यारहवां अध्याय

रीति-काल

बारहवां अध्याय

तेरहवां अध्याय

चौदहवां अध्याय

आधुनिक युग

राष्ट्रीय चेतनात्मक गद्य-काल

पन्द्रहवां अध्याय

सोलहवां अध्याय

सत्रहवां अध्याय

अठारहवां अध्याय

उन्नीसवां अध्याय

बीसवां अध्याय

गद्य-साहित्य

पच्चीसवां अध्याय

पारिभाषिक शब्द और उनकी व्याख्याएँ

नोट—इतिहास के पढ़ने से पूर्व इस प्रकरण को पढ़िये अन्यथा इतिहास-मर्म को समझना कठिन होगा ।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अनेक पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं । यहां पर छात्रों की सुविधा के लिये सूत्र-रूप में परिभाषाएँ दी जाती हैं । इनकी विस्तृत व्याख्या यथास्थान देखें ।

१ **डिंगल**—शुद्ध साहित्यिक राजस्थानी भाषा को डिंगल कहते हैं ।

२ **पिंगल**—ब्रजभाषा और ब्रजभाषा से प्रभावित राजस्थानी-भाषा को प्राचीन काल में पिंगल के नाम से पुकारा जाता था ।

३ **ब्रजभाषा**—शौरसेनी-अपभ्रंश से उत्पन्न यह भाषा ब्रज-मण्डल में बोली जाती है । सूरदास आदि कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाएँ इसी भाषा में हैं ।

४ **अवधी**—अयोध्या के आस-पास बोली जाने वाली यह भाषा अर्द्धमागधी प्राकृत से उत्पन्न हुई है । जायसी के पद्मावत में इसका ठेठ और तुलसीदास-जी के रामचरितमानस में इसका साहित्यिक रूप है ।

५ **बिहारी या मगही अथवा मैथिली और भोजपुरी**—ये बिहार प्रान्त की भाषायें मागधी प्राकृत से उत्पन्न हुई हैं । प्रसिद्ध कवि विद्यापति की रचनाएँ इसी भाषा में हैं ।

६ **पंजाबी**—पंजाब प्रान्त में प्रयुक्त यह भाषा पैशाची प्राकृत से उत्पन्न हुई है । गुरुनानक आदि सन्तों की अधिकतर रचनाएँ इसी भाषा में हैं ।

७ **खड़ीबोली**—दिल्ली के आस-पास बोली जाने वाली यह भाषा आज प्रायः हिन्दी के नाम से ही प्रसिद्ध है । विधान-परिषद् द्वारा यह भारत की राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो चुकी है । प्रसाद, पंत, निराला, गुप्तजी, प्रेमचन्द आदि अनेक कलाकार आज इसी भाषा द्वारा अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं ।

८ **सहजिया सम्प्रदाय अथवा वज्रयान शाखा**—यह बौद्ध-धर्म और शैव-धर्म के संमिश्रण से उत्पन्न एक सम्प्रदाय है । बिहार, उड़ीसा आदि पूर्वी प्रान्तों में इसका बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक पर्याप्त प्रचार रहा । आगे चल कर इस सम्प्रदाय ने वाम-मार्ग का व्यभिचारात्मक तान्त्रिक रूप

ग्रहण कर लिया। तिब्बत में प्रचलित आधुनिक **बौद्ध धर्म** इसी सम्प्रदाय का एक रूप है। किन्तु उसमें व्यभिचारात्मक प्रवृत्तियां नहीं हैं। कण्हप्पा आदि इसके चौरासी सिद्ध या साधु हुए हैं।

९ **गोरखपन्थ या नाथपन्थी योगी**—यह एक शैव साधुओं का सम्प्रदाय है। कानों में स्फटिक की मुद्रा डाले हुए कनफटे साधु (जोगी) भारत में सर्वत्र पाये जाते हैं। गोरखनाथ आदि इसके प्रसिद्ध योगी हो चुके हैं।

१० **जैन सम्प्रदाय**—अहिंसा-धर्म को प्रधान मानने वाले इस सम्प्रदाय के आदिनाथ से लेकर महावीर स्वामी तक चौबीस तीर्थंकर हो चुके हैं। इनका साहित्य संस्कृत और प्राकृत तथा अपभ्रंश में है। किन्तु प्रमुख रूप से प्राकृत ही को प्रधानता दी गई है। इस सम्प्रदाय के साधु अत्यन्त त्यागी और संयमी प्रसिद्ध हैं।

११ **निर्गुण सम्प्रदाय**—ईश्वर को निराकार मानने वाले सम्प्रदाय निर्गुण-वादी कहलाते हैं। ये लोग तीर्थ, व्रत, पूजा, रोज़ा, नमाज़ आदि धार्मिक बाह्य विधि-विधानों को नहीं मानते और घर ही में तथा घट ही में अलख को निरखने का उपदेश देते हैं। कबीर आदि इसी सम्प्रदाय के सन्त कवि हैं।

१२ **सगुण सम्प्रदाय**—ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश, राम, कृष्ण आदि वैदिक और पौराणिक देवताओं को साकार रूप में भी स्वीकार करने वाले और अवतार को मानने वाले सगुणवादी कहलाते हैं। राम की उपासना करने वाले राम-भक्त और कृष्ण की उपासना करने वाले कृष्ण-भक्त कहलाते हैं।

१३ **वेदान्त-अद्वैतवाद**—स्वामी शंकराचार्य जी ने इस अद्वैतवाद का प्रचार किया कि वास्तव में आत्मा और परमात्मा एक ही है। सम्पूर्ण विश्व और चराचर मात्र उसी एक अखण्ड सत्ता के परिवर्तित रूप हैं। उससे भिन्न दूसरी कोई सत्ता नहीं है। जड़ और चेतन, साकार-निराकार के ये जो भेद दिखाई देते हैं वे वास्तविक नहीं हैं। वे अज्ञानमूलक माया के कारण प्रतीत होते हैं। अतः वास्तव में भेद-प्रतीति—भ्रममूलक है। यही अद्वैतवाद दार्शनिक दृष्टि से 'विवर्तवाद' भी कहलाता है। दो (आत्मा और परमात्मा) की पृथक् सत्ता न मान कर दोनों को एक ही मानने के कारण इसे 'अद्वैतवाद' कहते हैं।

१४ **रहस्यवाद**—उक्त अद्वैतवाद जब साहित्यिक रूप में प्रकट होता है, तो उसे ही रहस्यवाद कहते हैं।

संक्षेप में कह सकते हैं कि जब कवि उस अज्ञात-शक्ति या अपने परम प्रियतम के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और उस सम्बन्ध को कविता में प्रकट करता है तो वे कविताएँ रहस्यवादात्मक कविताएँ कहलाती हैं। स्पष्ट है कि रहस्यवादात्मक कविताओं में प्रदर्शित आत्मा-परमात्मा के सभी प्रकार के सम्बन्ध निर्गुण निराकार के प्रति ही होंगे। अतः साकारोपासना में रहस्यवाद के लिये कोई स्थान नहीं। क्योंकि जब प्रभु को साकार मान लिया जाता है तो उसमें रहस्य की भावना का समावेश हो ही नहीं सकता।

१५ **छायावाद**—छायावाद भी रहस्यवाद ही का एक विशेष भेद है। प्रकृति के नाना रूपों में जब कवि उस अनन्त सत्ता की झलक पाकर उसे अपनी रचना में प्रतिबिम्बित करता है तो वे छायावाद सम्बन्धी कविताएँ कहलाती हैं।

१६ **प्रगतिवाद**—आध्यात्मिक, शृंगारिक या प्राकृतिक सौन्दर्य सम्बन्धी, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य या शृंगार अथवा छायावाद और रहस्यवाद सम्बन्धी रचनाएँ मानव के भौतिक जीवन के दुःख-द्वन्द्वों को मिटाने का कोई प्रत्यक्ष प्रयत्न नहीं करतीं। वे आत्मा को रस-विभोर तो अवश्य कर देती हैं, पर मनुष्य की विविध जटिल समस्याओं का स्पष्ट समाधान नहीं कर पातीं। प्रगतिवादी रचनाओं में रूढ़िवादों और अन्ध-परम्पराओं को तोड़कर समाज के नव-निर्माण की भावनायें ही मुख्य रूप से रहती हैं। दार्शनिक दृष्टि से जिसे 'साम्यवाद' या 'समाजवाद' कहते हैं, वही साहित्यिक रूप ग्रहण करने पर 'प्रगतिवाद' कहलाता है।

१७ **गांधीवाद**—गांधीजी के अहिंसात्मक सिद्धान्त साहित्य में गांधीवाद के नाम से व्यवहृत होते हैं। प्रगतिवादी परिवर्तन में नहीं प्रत्युत पुराने को नष्ट-भ्रष्ट कर नव-निर्माण में विश्वास रखता है। विपरीत इसके गांधीवाद एक वस्तु को सर्वथा नष्ट कर उसके स्थान पर दूसरी वस्तु का निर्माण करने की अपेक्षा हृदय-परिवर्तन में विश्वास रखता है। यही गांधीवाद और प्रगतिवाद में मौलिक अन्तर है। यों सामाजिक विषमता को दूर करते हुए दुःख-द्वन्द्वों को मिटा कर मानव-कल्याण करना इन दोनों ही वादों का समान लक्ष्य है।

१८ **यथार्थवाद**—समाज में जो कुछ जैसा होता है, भले-बुरे प्रत्येक कार्य का साहित्य में वास्तविक चित्र अंकित कर देना और किसी आदर्श या उपदेश को उसमें न आने देना ही यथार्थवाद का लक्ष्य है। कला कला के

लिए है न कि आदर्शों का प्रचार करने के लिए। यह सिद्धान्त यथार्थवाद का ही समर्थन करता है। •

१९ **आदर्शवाद**—प्रत्येक रचना में किसी न किसी आदर्श या सिद्धान्त का समावेश आवश्यक रूप में स्वीकार करने वाला सिद्धान्त आदर्शवाद कहलाता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं प्रत्युत समाज का निर्माण भी है। और यह तो निश्चित है कि समाज का निर्माण सदा सुसंस्कारों से ही होगा।

२० **हालावाद**—कवि अलौकिक प्रेम के मद में छककर मतवाला हो जाता है, और उसी दिव्य आसव का पान करते-करते अपने आपको भूल बैठता है। ऐसी स्थिति का वर्णन करनेवाली कविताएं हालावादी कहलाती हैं। प्रसिद्ध फ़ारसी कवि 'उमर-खैय्याम' की रुबाइयों के अनुवाद से हिंदी में हालावाद का प्रारम्भ हुआ है। साकी (प्रेमी, साथी) मय (मद्य-मधु) मयखाना (मधुशाला) जाम (पात्र) आदि पदार्थ भी इसमें आध्यात्मिक रूप में प्रस्तुत होते हैं। कवि गहरी निराशा की अनुभूति के पश्चात् ही इस कल्पित मादकता के लोक में पहुंचना चाहता है। बच्चन आदि कुछ-एक हिन्दी-कवि कुछ समय तक इस वाद में प्रभावित रहे थे। अब इसका प्रभाव समाप्त-सा हो गया है।

२१ **स्वच्छन्दतावाद**—साहित्य की किसी एक बहती हुई धारा के बहाव में न बहकर पुराने सभी प्रकार के रूढ़िबन्धनों को तोड़ देने के सिद्धान्त को स्वच्छन्दतावाद (रोमान्टिसिज्म) कहते हैं। ऐसे कवि को परिवर्तनवादी या स्वच्छन्दतावादी (रोमान्टिक) कहा जाता है। प्रायः प्रत्येक काल में कोई न कोई रोमान्टिक कवि हुआ है। आधुनिक-काल में 'निराला' को प्रतिनिधि-स्वच्छन्दतावादी-कवि माना जाता है।

२२ **कवि और काव्य**—हर्ष, शोक, उत्साह आदि मनोवेगों को तरंगित करने वाली रचनाएं 'काव्य' कहलाती हैं। १. दृश्य और २. श्रव्य ये काव्य के दो मुख्य भेद हैं। नाटक, एकांकी नाटक, गीति-नाट्य आदि दृश्य-काव्य के अन्तर्गत गिने जाते हैं। गद्य (उपन्यास, कहानी आदि) और पद्य (प्रबन्ध-काव्य, मुक्तक-काव्य और गीति-काव्य आदि) श्रव्य-काव्य हैं। इन सभी का रचयिता कवि कहलाता है।

२३ **साहित्य और साहित्य-शास्त्र**—किसी भाषा में लिखे हुए सभी विषयों के सम्पूर्ण ग्रन्थों को या केवल काव्य को 'साहित्य' कहते हैं। साहित्य की आलो-

बना, उसके निर्माण के नियम, छन्द, अलंकार, रस, गुण, दोष आदि बताने वाले शास्त्र या ग्रन्थ 'साहित्य-शास्त्र' कहलाते हैं। साहित्य-शास्त्र को ही 'काव्यांग निरूपक ग्रन्थ' या 'रीति-ग्रन्थ' भी कहते हैं।

२४ आचार्य—उक्त रीति-ग्रन्थ या साहित्यशास्त्र के निर्माता तथा भाषा, विषय, शैली, समालोचना आदि के नवीन सिद्धान्त और मार्ग के प्रवर्तक अथवा परिष्कारक विद्वान् को 'आचार्य' कहते हैं।

२५ रस—किसी कवि की रचना को पढ़-सुन या देखकर विभाव, अनुभाव, संचारी-भाव के संयोग से स्थायी-भाव के जागृत होने पर सहृदय के हृदय में जिस अलौकिक आनन्द का संचार होता है, उस आनन्द ही को 'रस' कहते हैं।

२६ विभाव—शोक, क्रोध, उत्साह, रति, (प्रेम) स्नेह आदि भावों को जागृत करने वाले साधन (आलम्बन) और उनकी चेष्टाएं (उद्दीपन) ये दोनों विभाव हैं। काव्य में जहां इन्हीं का मुख्य रूप से वर्णन होता है उसे 'विभाव' पक्ष का वर्णन कहते हैं।

२७ भाव-पक्ष या स्थायी-भाव—रति, हंसी, शोक, क्रोध, भय, उत्साह, घृणा, विरक्ति, आश्चर्य और स्नेह ये मनुष्य के हृदय में सदा विद्यमान रहने वाले दस स्थायी भाव हैं। इन्हीं के प्रकट होने पर जब आनन्दानुभूति होती है तो इनकी रस संज्ञा हो जाती है। इसलिए रस भी दस माने गये हैं जैसे कि—१. रति—शृंगार, २. हंसी—हास्य, ३. शोक—करुणा, ४. क्रोध—रौद्र, ५. उत्साह—वीर, ६. भय—भयानक, ७. घृणा—बीभत्स, ८. आश्चर्य—अद्भुत, ९. विरक्ति या निर्वेद—शान्त और १०. स्नेह—वत्सल। लज्जा, ईर्ष्या, असूया आदि ३३ संचारी भाव हैं। इन्हीं स्थायी भाव या संचारी भावों के वर्णन को भाव-पक्ष का वर्णन कहते हैं।

२८ कलापक्ष—यमक, अनुप्रास, श्लेष, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों और छन्दों के विधान को काव्य में कलापक्ष की संज्ञा दी गई है।

२९ नखशिख—नायक-नायिकाओं के अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य का वर्णन 'नख-शिख' कहलाता है। पांव के नाखून से लेकर सिर की चोटी तक का वर्णन रहने के कारण ही इसे 'नखशिख' कहते हैं।

३० नायिकाभेद—स्वकीया, परकीया, प्रोषित-पतिका, विप्रलब्धा, मुग्धा आदि

नायिकाओं के भेद-उपभेद किये गये हैं। इनका वर्णन नायिका-भेद का वर्णन कहलाता है।

३१ **षड्ऋतुवर्णन**—वसन्त आदि छः ऋतुओं के वर्णन को षड्ऋतुवर्णन कहते हैं।

३२ **बारहमासा**—वर्ष के १२ मासों का वर्णन बारहमासा कहलाता है।

३३ **प्रबन्ध-काव्य**—जिस काव्य में एक सम्बद्ध कथा हो उसे प्रबन्ध-काव्य कहते हैं। महाकाव्य और खंड-काव्य ये इसके दो भेद हैं।

३४ **मुक्तक-काव्य**—फुटकर या परस्पर सम्बन्ध रहित स्वतन्त्र कविताओं को मुक्तक कहते हैं।

३५ **गीत-काव्य**—गीतबद्ध रचना को गीत-काव्य कहते हैं। ये भी दो प्रकार के हैं। एक सूरदास आदि के प्राचीन-पद्धति पर निर्मित गीत और दूसरे आधुनिक छायावादी, रहस्यवादी, कवियों के गीत। इन्हें ही 'लिरिक' काव्य कहा जाता है।

३६ **साखी**—निर्गुणोपासक कवियों के दोहा छन्द में लिखे गये उपदेशों को साखी कहते हैं।

३७ **भ्रमरगीत**—गोपी-उद्धव-संवाद को 'भ्रमरगीत' कहते हैं।

३८ **अष्टछाप**—गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने चार अपने तथा चार अपने पिता श्री वल्लभाचार्य जी के शिष्य-कवि, इन आठों को अष्ट-छाप का नाम दिया। सूरदास, नन्ददास आदि ये आठ कवि हैं।

३९ **हजारा**—हजार कविताओं का संग्रह 'हजारा' कहलाता है।

४० **सतसई**—सात सौ कविताओं का संग्रह 'सतसई'—'सप्तशती' कहलाता है।

४१ **शतक**—सौ कविताओं का संग्रह 'शतक' कहलाता है।

४२ **बावनी**—बावन कविताओं का संग्रह 'बावनी' है।

४३ **पच्चीसी**—पच्चीस कविताओं का संग्रह।

४४ **रासो**—प्राचीन वीर काव्य को प्रायः रासो कहा जाता था।

४५ **सूक्ति**—किसी उपदेशात्मक चमत्कृत रचना को 'सूक्ति' कहते हैं। इसमें रस संचार की अपेक्षा चमत्कारपूर्ण उपदेश की प्रधानता रहती है।

४६ **पद्य**—कोरी छन्दोबद्ध तुकबन्दी को 'पद्य' कहते हैं।

४७ **एकेश्वरवाद**—ईश्वर को एक तथा प्रकृति और आत्मा को उससे भिन्न मानना 'एकेश्वरवाद' कहलाता है।

४८ **पैगम्बरी खुदावाद**—मुसलमान और ईसाइयों का एकेश्वरवाद पैगम्बर की प्रधानता को स्वीकार करता है। मुहम्मद, ईसा आदि को ईश्वर का दूत और मनुष्यों का उद्धारक माना जाता है, जो मनुष्य इन पैगम्बरों की शरण में नहीं जाता है, उसका उद्धार नहीं हो सकता। इस सिद्धान्त को 'पैगम्बरी खुदावादात्मक एकेश्वरवाद' कहा जाता है।

४९ **पुष्टिमार्ग**—वल्लभाचार्य जी का यह सिद्धान्त कि प्रभु की कृपा से प्राप्त भक्ति के द्वारा विशेष अधिकारी जीवों की ही मुक्ति होती है 'पुष्टिमार्ग' कहलाता है।

५० **सूफ़ी सम्प्रदाय**—प्रेम के द्वारा आत्मा और परमात्मा का मिलन मानने वाला यह सम्प्रदाय 'सूफ़ी-सम्प्रदाय' है। इसका प्रारम्भ फ़ारस में हुआ। मन्सूर आदि सूफ़ी सन्त 'अनलहक' की रट लगाया करते थे जो वेदान्त में 'अहम् ब्रह्मास्मि' है।

पहला अध्याय

पूर्व-पीठिका

साहित्य—इस समय 'साहित्य' शब्द निम्न दो अर्थों में प्रयुक्त हो रहा है :—

१—किसी भाषा में लिखी हुई गणित, विज्ञान, भूगोल, इतिहास, दर्शन, काव्य आदि विषयों की समग्र पुस्तकों को 'साहित्य' कहा जाता है। जब हम कहते हैं कि 'हिंदी-साहित्य' में विज्ञान की पुस्तकें यथेष्ट परिमाण में नहीं हैं, तो 'साहित्य' से हमारा अभिप्राय हिंदी की अशेष पुस्तकों से है। इस प्रकार यह 'साहित्य' शब्द अपने पहले अर्थ में अंग्रेजी के 'लिट्रेचर' शब्द के समानार्थक रूप में प्रयुक्त होता है। २—किंतु 'साहित्य' शब्द का प्राचीन शास्त्रीय अर्थ केवल 'काव्य' है। काव्य तथा अन्य सब विषयों के ग्रंथों के लिए 'साहित्य' नहीं प्रत्युत 'वाङ्मय' शब्द का प्रयोग किया जाता था। इस ग्रंथ में भी 'साहित्य' शब्द का प्रयोग 'काव्य' अर्थ में ही किया गया है। अत: प्रस्तुत इतिहास में काव्य के इतिहास पर ही प्रधान रूप से प्रकाश डाला जायगा। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि साहित्य का सरल और सुबोध लक्षण क्या है ? इसके संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार कह सकते हैं कि—

'किसी देश की जनता की चित्तवृत्तियों का पुस्तकाकार में संचित प्रतिबिम्ब ही साहित्य है।' अर्थात् प्राय: प्रत्येक देश की जनता अपनी तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर एक ही प्रकार की विचार-धारा से प्रेरित रहती है। उस देश-विशेष व युग-विशेष के विचार ही जब पुस्तक रूप में संचित हो जाते हैं, तो वे साहित्य का रूप ग्रहण कर लेते हैं। अत: सिद्ध होता है कि मनुष्यों की भावनाएँ या विचार-धाराएँ ही पुस्तकाकार में आ जाने पर 'साहित्य' बन जाती हैं।

साहित्य का इतिहास—जैसा कि ऊपर कहा गया है—जनता की चित्त-वृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब ही 'साहित्य' कहलाता है; और ये चित्तवृत्तियां देश की राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों के कारण समय-समय पर बदलती रहती हैं। उनमें कभी वीरता की प्रधानता रहती है तो कभी विलासिता की, कभी देशभक्ति की तो कभी भगवद्भक्ति की। ज्यों-ज्यों समाज की विचार-धारा परिवर्तित होती है त्यों-त्यों साहित्य के स्वरूप में परिवर्तन होना भी

स्वाभाविक है। आदि से अन्त तक इन्हीं विचार-धाराओं की परम्परा को परखते हुए उनका साहित्य के साथ सामंजस्य या मेल दिखलाने वाली रचना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाती है। अतः किसी भाषा के साहित्य का इतिहास लिखते समय उसके साहित्यकारों और उनकी रचनाओं के परिचय व आलोचना आदि के साथ-साथ साहित्य पर तात्कालिक परिस्थितियों के प्रभाव का प्रदर्शन भी परमावश्यक है।

हिंदी भाषा—हिंदी भाषा के साहित्य का इतिहास जानने से पूर्व हिंदी भाषा व उसकी उत्पत्ति और क्रमिक विकास के संबंध में संक्षिप्त ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। अतः सर्वप्रथम यहां इस संबंध में कुछ विचार किया जाता है। 'हिंदी भाषा' यह समस्त पद अपने यौगिक अर्थों में तो सारे हिंद या भारत की संपूर्ण भाषाओं के लिए प्रयुक्त होना चाहिए किंतु वर्तमान समय में इसका प्रयोग संपूर्ण भारत की भाषाएं तो अलग रहीं, उत्तर-भारत की सब भाषाओं के लिए भी नहीं किया जाता। यह शब्द अपने व्यापक अर्थ में जब प्रयुक्त होता है तो इससे (१) पंजाबी, (२) खड़ी बोली, (३) ब्रज, (४) अवधी, (५) बिहारी और (६) राजस्थानी भाषाओं का ग्रहण होता है। आजकल यह 'हिंदी' शब्द खड़ी बोली के संकुचित अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा है। जैसे जब हम कहते हैं कि 'भारत की राष्ट्र भाषा हिंदी है' तो यहां 'हिंदी' शब्द से अभिप्राय पंजाबी आदि उक्त सभी—छहों—भाषाओं से नहीं, प्रत्युत उनमें से केवल एक 'खड़ी बोली' से होता है।

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति—भारतवर्ष में सर्वप्रथम वैदिक भाषा बोली जाती थी। यह वैदिक भाषा एक प्रकार से आधुनिक लौकिक संस्कृत का ही एक प्राचीन रूप कही जा सकती है। अन्तर केवल इतना है कि वैदिक संस्कृत 'लौकिक संस्कृत' की भांति व्याकरण के कड़े नियमों से बंधी या जकड़ी हुई नहीं है। उसमें लिंग, वचन, पुरुष और कारक आदि का यथेष्ट परिवर्तन तथा प्रयोग दिखाई देता है। यह वैदिक भाषा जो कि तात्कालिक जनसाधारण की बोल-चाल की भाषा थी भाषाविज्ञान-वेत्ताओं के मतानुसार कभी-कभी 'प्राकृत'* नाम से भी पुकारी गई है। कालान्तर में यह वैदिक भाषा व्याकरण के नियमों से बांधी जाकर एक स्थिर और सुनिश्चित रूप ग्रहण करने लगी तब उसे 'संस्कृत' अर्थात् 'शुद्ध या निखरी हुई' यह विशेष नाम प्राप्त हो गया।

---

* यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रसिद्ध प्राकृत भाषा इस वैदिक वाणी या प्राकृत से भिन्न है। यह 'वैदिक प्राकृत' संस्कृत की माता है किन्तु प्रसिद्ध प्राकृत संस्कृत की पुत्री।

प्राकृत—प्रायः प्रत्येक देश में शिक्षितों और अशिक्षितों, सभ्यों और असभ्यों, ग्रामीणों और नागरिकों की भाषा में अवश्य कुछ अन्तर रहा करता है। अशिक्षित लोग शिक्षितों की भाषा के अनेकों शब्दों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते, अतः वे उन शब्दों को जैसे चाहे टूटे-फूटे रूप में बोलने लगते हैं। इस प्रकार प्रत्येक देश व प्रत्येक समय में भाषा के दो रूप एक साथ चला करते हैं। भारत में जिस समय सम्पूर्ण जनता की राष्ट्र भाषा और राजभाषा संस्कृत थी, उस समय भी साधारण समाज में उसका विकृत रूप प्रचलित था। जैसे क्षीर और दुग्ध शब्दों का उच्चारण करने में असमर्थ लोग उन्हें 'खीर' 'षीर' 'शीर' 'छीर' और 'दुद्ध' 'दूध' आदि अनेक रूपों में उच्चारण करते थे। इस प्रकार संस्कृत से विकृत या बिगड़ी हुई भाषा ही 'प्राकृत' कहलाती है।

प्राकृत अनेक रूपों में क्यों?—एक शुद्ध संस्कृत शब्द का भिन्न-भिन्न प्रांतों में अनेक प्रकार से विकृत उच्चारण करने के कारण प्राकृत के भी अनेक भेद हो गये, क्योंकि संस्कृत के एक ही शब्द को विभिन्न प्रांतवासियों ने अनेक सरल रूपों में बोलना आरंभ कर दिया। जैसे कि—संस्कृत के उक्त एक ही दुग्ध या क्षीर शब्द का भिन्न-भिन्न प्रांतवासियों ने अनेक रूपों में प्रयोग कर डाला। पश्चिमोत्तरीय प्रांतों ने 'क्षीर' को षीर, शीर, शींर तो ब्रज मंडल ने 'छीर' और मध्य प्रदेश ने उसे 'खीर' बना दिया। संस्कृत के 'उपाध्याय' शब्द में तो इतना रूप-परिवर्तन हुआ कि आज हम उसके विकृत रूप में मूलरूप को पहचान भी नहीं सकते। देखिए—राजस्थान के मेवाड़ आदि प्रांतों में 'उपाध्याय' 'उपाधा' बन गया, पंजाब में उसका 'उ' भी उड़ गया और केवल 'पाधा' या 'पाँदा' ही रह गया। उधर बिहार आदि पूर्वी प्रांतों में यही उपाध्याय पहले 'उवज्झा' फिर 'ओझा' का रूप ग्रहण कर गया और अंत में इस 'उ' की उपाधि को त्यागकर और बाकी सब अक्षरों (व्, ज्) से भी छुटकारा पाकर केवल निर्विकार निर्लेप 'झा' ही रह गया। क्या आप कभी पहचान भी सकते हैं कि 'झा' उपाध्याय शब्द का ही विकृत रूप है? इस प्रकार हमने भली-भांति समझ लिया कि प्राकृत भाषाएँ संस्कृत से ही बिगड़ कर बनी हैं, और विभिन्न प्रांतों में एक ही संस्कृत शब्द के अनेक विकृत उच्चारणों के कारण प्राकृत के कई भेद हो गये।*

---

* यह विवादास्पद विषय है कि प्राकृत भाषाओं का प्रयोग कब आरम्भ हुआ। अनेक विद्वान् ईसा से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व मानते हैं किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, हमारी सम्मति में वैदिक काल और संस्कृत काल में भी इन दोनों भाषाओं के साथ-साथ प्राकृत भाषाएं भी चलती होंगी। सभ्य शिक्षित नागरिकों की भाषा 'संस्कृत' और ग्राम्य जनसाधारण की भाषा 'प्राकृत' रही होगी।

स्मरण रहे कि प्राकृत भाषाओं में पहले-पहल संस्कृत के प्रत्येक शब्द को जान-बूझ कर विकृत नहीं किया जाता था, प्रत्युत 'उपाध्याय'-सरीखे क्लिष्ट उच्चारण वाले शब्द सरलता की दृष्टि से रूपान्तरित हो जाते थे। किंतु कालान्तर में प्राकृत के साम्प्रदायिक व साहित्यिक रूप धारण कर लेने पर उसमें संस्कृत के किसी भी शब्द को मूल रूप में न रख कर प्रत्येक को विकृत किया जाने लग पड़ा। प्राकृत व्याकरण के सभी नियम (कारक-प्रत्यय, क्रिया-प्रत्यय आदि) संस्कृत के अनुसार ही चलते हैं।

प्राकृत के भेद—प्राकृत का प्रथम रूपान्तर 'पाली' नाम से पुकारा जाता है, आगे चल कर इसी प्राकृत के प्रांत-भेद से निम्न मुख्य पांच भाषा-भेद हो गये—

१. पैशाची—काश्मीर आदि पश्चिमोत्तरीय प्रांतों में बोली जाने वाली।

२. शौरसेनी—व्रज मंडल में प्रयुक्त होने वाली।

३. मागधी—बिहार आदि पूर्वी प्रांतों में व्यवहृत।

४. अर्धमागधी—अवध प्रदेश में बोली जाने वाली।

५. महाराष्ट्री—महाराष्ट्र, मध्य-प्रांत आदि प्रांतों में प्रयुक्त होने वाली।

उक्त पांचों प्राकृतों की अगली अवस्था 'अपभ्रंश' नाम से प्रसिद्ध है।

देश-भाषाएं—अपभ्रंशों से ही उत्तर-भारत की वर्तमान आर्य-देश-भाषाओं का निम्न-प्रकार से विकास हुआ है—

१. पैशाची से काश्मीरी, पंजाबी, सिन्धी आदि।

२. शौरसेनी से व्रजभाषा।

३. मागधी से बिहारी, बंगला आदि पूर्वीय प्रान्तों की भाषाएँ।

४. अर्धमागधी से अवधी।

५. महाराष्ट्री से मराठी।

खड़ी बोली का विकास पैशाची से हुआ[१]। इसी प्रकार राजस्थानी, गुजराती आदि भाषाएँ, पैशाची शौरसेनी और मराठी प्राकृतों से विकसित हुई हैं।

इस भाषा-विकास को २५ पृष्ठ पर अंकित वंश-वृक्ष से भली भांति समझ सकते हैं।

---

१. इस सम्बन्ध में डा० श्यामसुन्दरदास ने लिखा है कि कुछ विद्वान् उसका (खड़ी बोली का) जन्म पैशाची प्राकृत से मानते हैं, जो पंजाब (पंचनद) प्रदेश में बोली जाती थी और कुछ विद्वान उसकी उत्पत्ति शौरसेनी प्राकृत तथा नागर-अपभ्रंश से मानते हैं।

भारतीय आर्यभाषाओं का वंशवृक्ष

१. वैदिक संस्कृत

२. लौकिक या आधुनिक संस्कृत

३. पाली[1]

- (१) पैशाची प्राकृत
  - अपभ्रंश[2]
    - (१) काश्मीरी (२) पंजाबी (३) पश्तो[3] (४) खड़ी बोली (५) राजस्थानी[4]
- (२) शौरसेनी प्राकृत
  - अपभ्रंश
    - व्रज
- (३) मागधी प्राकृत
  - अपभ्रंश
    - (१) बिहारी (२) बंगला
- (४) अर्ध-मागधी प्राकृत
  - अपभ्रंश
    - अवधी
- (५) महाराष्ट्री प्राकृत
  - अपभ्रंश
    - (१) मराठी (२) गुजराती
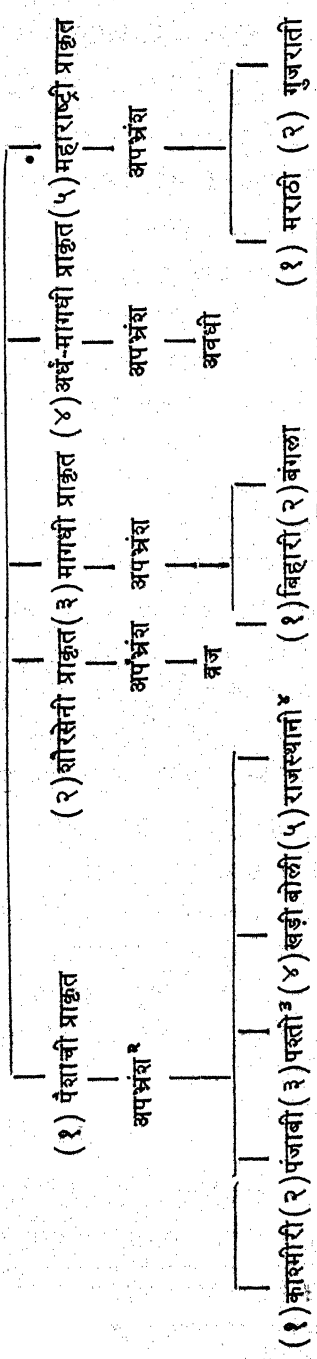
१—अनेक विद्वान् पाली को भी 'मागधी' आदि के साथ प्राकृत का छठा भेद मानते हैं।

२—नागर, उप-नागर ब्राचड आदि अपभ्रंश के भी भेदोपभेद किये गये हैं।

३—फ़ारसी से प्रभावित। ४—शौरसेनी और महाराष्ट्री से प्रभावित। ५—पैशाची से प्रभावित।

अब स्पष्ट सिद्ध हो गया है कि एक ही संस्कृत जननी से उसकी पांच प्राकृत पुत्रियां और उनसे अपभ्रंश भाषाएँ तथा अपभ्रंशों से उत्तर-भारत के प्रान्तों की उक्त ग्यारह आर्य-भाषाएँ उत्पन्न हुई हैं।[1]

इनका पारस्परिक अन्तर—

१. संस्कृत और प्राकृत में यही अन्तर है कि प्राकृत में संस्कृत शब्दों का रूप विकृत कर दिया गया है। बाकी व्याकरण आदि के नियम संस्कृत के ही हैं।

२. प्राकृत और अपभ्रंश में यह अन्तर है कि अपभ्रंश में भी प्राकृत के समान ही संस्कृत के प्रत्येक शब्द को जान-बूझकर बिगाड़ा जाता था अर्थात् तत्सम शब्दों का बहिष्कार किया जाता था। इस प्रकार एक ओर तो यह भाषा प्राकृत की रूढ़ियों से बंधी हुई थी और दूसरी ओर उसके व्याकरण के नियम (कारक, क्रिया आदि) संस्कृत से कुछ-कुछ भिन्न हो गये थे। अपभ्रंश भाषाएँ वर्तमान देश-भाषाओं की मूलरूप कही जा सकती हैं।

३. अपभ्रंश और देश-भाषा में यह अन्तर है कि देश-भाषाएँ व्याकरण के नियमों की दृष्टि से संस्कृत से सर्वथा भिन्न हो गई, किन्तु इनमें अपभ्रंश के समान संस्कृत के शब्दों का तिरस्कार नहीं हुआ। इन भाषाओं में 'नगर' 'विद्या' आदि शब्द 'नअर' 'विज्जा' आदि अपभ्रष्ट रूपों को छोड़कर अपने वास्तविक तत्सम रूप में फिर से प्रयुक्त होने लग पड़े।

चूंकि उक्त भाषाओं का संक्षिप्त परिचय प्राप्त किये बिना हिन्दी साहित्य के इतिहास का ज्ञान प्राप्त करना कठिन है इसलिए यहां इन भाषाओं पर साधारण प्रकाश डाला गया है। उक्त ग्यारह देश-भाषाओं में से बंगला, मराठी और काश्मीरी आदि को छोड़कर १ खड़ी बोली, २ राजस्थानी, ३ अवधी, ४ ब्रज और ५ बिहारी यह पांचों भाषाएँ हिन्दी के अन्तर्गत गिनी जाती हैं। आगामी पृष्ठों में इन पांचों भाषाओं के साहित्य का समालोचनात्मक परिचय दिया जायगा[1]।

अभ्यास

१. साहित्य व साहित्य के इतिहास की परिभाषा लिखें।

२. हिन्दी भाषा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई?

---

१ पंजाबी भी हिन्दी ही की एक प्रादेशिक भाषा है। पर उसका साहित्य अपना पृथक् रूप रखता है, अतः उसका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया।

३. संस्कृत और प्राकृत, प्राकृत और अपभ्रंश तथा अपभ्रंश और देश-भाषाओं का पारस्परिक अन्तर स्पष्ट करें।

४. प्राकृत की अनेकता के क्या कारण हैं ?

५. प्राकृतें कितनी और कौन-कौन सी हैं ? किस २ प्राकृत या अपभ्रंश से कौन-कौनसी देश-भाषाएं निकली हैं ?

६. हिन्दी भाषा के अन्तर्गत किन-किन उपभाषाओं की गणना की जा सकती है ?

दूसरा अध्याय

अवतरण

हिन्दी साहित्य का आरंभ—हिन्दी साहित्य का आरम्भ कब से हुआ, इस सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। श्रीयुत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का आरम्भ सं० १०५० से माना है। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता श्री डा० काशीप्रसाद जी जायसवाल दसवीं शताब्दी (सं० ९०१) से और श्रीयुत डा० रामकुमार वर्मा सं० ७०० से ही इस का आरम्भ स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य विद्वान् भी इस सम्बन्ध में अनेक मतभेद रखते और अपने-अपने पक्ष के समर्थन में अनेक प्रमाण व तर्क उपस्थित करते हैं। उन सब विद्वानों के मतों व सिद्धान्तों को सहसा स्वीकार या अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पर इतना तो सर्वसम्मति से निश्चित हो गया है कि हिन्दी (देशभाषा) के मूलरूप का आरम्भ सातवीं शताब्दी में ही हो चुका था। क्योंकि बाणभट्ट के 'हर्षचरित' में अन्यान्यभाषाओं के कवियों की गणना करते हुए 'भाषा-कवि' का भी उल्लेख किया गया है। यहां पर 'भाषा' शब्द का प्रयोग संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, इन तीनों भाषाओं से भिन्न उस समय के जन-साधारण की देशभाषा को सूचित करता है और बज्रयानी सिद्धों की रचनाओं में कहीं-कहीं इस भाषा का दर्शन भी हो जाता है, जैसे—

> जहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाहिं पवेस।
> तहि बट चित्त बिसाम करू, सरेहे कहिअ उबेस ॥

सिद्ध सरहपा की उक्त रचना में वर्तमान देश-भाषा का मूलरूप स्पष्ट लक्षित होता है। सरहपा का समय डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य ने सं० ६९० माना है। उक्त प्रमाण के आधार पर यह निश्चित हो गया कि सम्राट् हर्षवर्धन के समय में आधुनिक देशभाषा का मूलरूप प्रचलित हो चुका था और उसमें कुछ रचनाएं की जाने लगी थीं।

इन बातों को देखते हुए हिन्दी साहित्य का आरम्भ सं० १०५० से न मानकर सं० ७०० से ही मानना अधिक उचित प्रतीत होता है।

सामयिक परिस्थितियों का साहित्य पर प्रभाव—विक्रम की आठवीं शताब्दी से लेकर आज २१ वीं शताब्दी तक १३०० वर्षों के हिन्दी साहित्य का समालोच-

नात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि विभिन्न समयों में साहित्य अनेक रूपों में बनता रहा है। उन-उन समयों में प्रधानतया प्रायः एक ही प्रकार की भाषा, विषय और शैली के दर्शन होते हैं। एक समय में एक प्रकार की विचार-धारा प्रवाहित है, तो दूसरे युग में वह उससे विपरीत दिशा की ओर बह रही है। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं कि तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के साहित्य में रीति, नायिकाभेद व कल्पना की ऊंची उड़ानों का कहीं चिन्ह भी नहीं दिखाई देता। १७वीं १८वीं शताब्दी के साहित्य में वे ही मुख्य वर्ण्यविषय बन गये हैं। इसी प्रकार राष्ट्रीयता, समाज-सुधार, निराशावाद, प्रकृति के प्रति प्रेम आदि जो आज के साहित्य के मुख्य विषय हैं, १७ वीं शताब्दी के साहित्य में कहीं उनके दर्शन तक नहीं। उधर सत्रहवीं शताब्दी के शृंगारिक साहित्य का वर्तमान साहित्य में अभाव-सा हो गया है। साहित्य की यह विविधता व परिवर्तनशीलता कोई आकस्मिक घटनाएं नहीं हैं। इसके पीछे समाज की एक परिपुष्ट विचारधारा कार्य करती रहती है। समाज की यह विचार-धारा सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक आदि अनेक कारणों से सदा परिवर्तित होती रहती है। जैसे हम देखते हैं कि आज से सौ वर्ष पूर्व भारतीय जनता में अंग्रेजों के प्रति एक प्रकार से आदर व भय की भावनाएं थीं, पर बाद में परिस्थितियों के परिवर्तन से उनके प्रति घृणा, द्वेष व क्रोध के भाव बढ़ने लगे। और आज उनके प्रति जनसाधारण में केवल उपेक्षा की भावनाएं शेष रह गई हैं।

यह हुई केवल इन एक सौ वर्षों की बात। जब हम तेरह सौ वर्षों के लंबे समय पर विचार करते हैं तो हमें इन विचार-धाराओं में अनेक उतार-चढ़ाव दिखाई देते हैं। इस दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि विक्रम की आठवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक जनता में कोई विशेष राजनैतिक प्रवृत्तियां नहीं थीं। धार्मिक प्रवृत्तियों में जहां एक ओर वाम-मार्ग या 'सहजिया सम्प्रदाय' के [1]तान्त्रिकों की प्रधानता दिखाई देती है वहां दूसरी ओर उसकी प्रतिक्रियास्वरूप जैन धर्म का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ता दृष्टिगोचर होता है[2]। जब तान्त्रिकों की बीभत्स प्रवृत्तियां अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गईं, क्रमशः उनका ह्रास होना स्वाभाविक था और परिणामस्वरूप उनके स्थान पर नाथपन्थ या योगमार्ग की विचार-धारा विकसित होने लगी।

---

[1] 'हर्षचरित' में भी तांत्रिकों का पर्याप्त प्रभाव व महत्त्व बताया गया है।

[2] उक्त सम्प्रदायों या पंथों का प्रचार भारत के पूर्वी और पश्चिमी प्रान्त-विशेषों में ही प्रधान-रूप से लक्षित होता है। शेष सम्पूर्ण भारत में इस समय भारत का प्राचीन 'ब्राह्मण धर्म' फिर से अपने नये रूप में फलने-फूलने लगा था।

इधर ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग देश पर यवन-आक्रमणों का तांता-सा बंध गया। कभी महमूद ग़ज़नवी तो कभी शहाबुद्दीन ग़ौरी, एक के बाद दूसरा आक्रांता भारत पर चढ़ाई करने लगा। फलतः जनता की चित्तवृत्ति धार्मिक और तान्त्रिक भावनाओं से हटकर वीरता की ओर झुकी। कुछ समय तक इस शौर्य-वीर्य और स्वदेश-रक्षा के लिए मर मिटने की भावनाओं का बोलबाला रहा। किन्तु परिस्थितियां फिर बदलीं, मुसलमान आक्रमणकारियों की बला भारतीयों के लाख प्रयत्न करने पर भी टाले न टली। फलतः हिन्दुओं की वीर-भावनाएँ भी क्रमशः लुप्त होने लगीं। उस समय मेवाड़ ही में वीरता के चिन्ह कहीं-कहीं दिखाई दे जाते।

मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब उस पर कोई विपत्ति आती है, तो पहले वह अपने बाहुबल से उसके निराकरण का प्रयत्न करता है। जब उसके बाहु-बल के क्षीण हो जाने पर भी वह विपत्ति नहीं टलती, तब अन्त में हार कर वह प्रभु की शरण लेता और कहता है कि हे प्रभो ! अब तू ही हमारा उद्धार कर। तदनु-सार जब निरन्तर चार सौ वर्षों तक यवनों से लोहा लेते रहने पर भी हमारे देश में आक्रमणकारियों के पांव जम ही गये और हमारे देखते ही देखते मन्दिर गिराये जाने लगे, वेद ग्रन्थ जलाये जाने लगे और जनता कुछ बोल न सकी, ऐसी

ब्राह्मण ग्रंथों या पूर्व मीमांसा में प्रतिपादित यज्ञों के जटिल विधि-विधानों के जंगल से निकलकर वैदिक धर्म, शैव और वैष्णव धर्म के पुराण-प्रतिपादित अभिनव आक-र्षक मार्ग पर चल पड़ा था। सम्पूर्ण दक्षिण और उत्तर भारत में इस नवीन वैदिक धर्म ने बौद्धधर्म को आत्मसात् कर लिया। फलतः शंकराचार्य द्वारा प्रचारित षण्मत (शिव, विष्णु, ब्रह्मा, शक्ति, गणेश और सूर्य इन छः देवों की वैदिक उपासना) का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ रहा था। इनमें भी शैवधर्म ने अत्यन्त लोकप्रियता और व्यापकता प्राप्त कर ली थी। ग्यारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक वैष्णव धर्म अपनी उत्तर-भारतीय जन्मभूमि को छोड़ दक्षिण में नवीन रूप में प्रकट हो पनपता रहा, और वहीं से वैष्णव धर्म अपने वर्तमान नये रंग रूप को लिए हुए चौदहवीं शताब्दी में फिर से उत्तर भारत में आ जमा। शैव और वैष्णव इन दोनों वैदिक सम्प्रदायों का सम्पूर्ण साहित्य तेरहवीं शताब्दी तक संस्कृत में ही निर्मित होता रहा। इस काल के वास्तविक साहित्य के स्वरूप का दर्शन संस्कृत में ही होता है। माघ, भारवी, मुंज, भोज, जयदेव, विद्याकदत्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि इस समय के महाकवि और आचार्यों ने साहित्यिक अमर रचना-रत्नों द्वारा संस्कृत साहित्य के भंडार को परम श्रीसम्पन्न व वैभवविभूषित कर दिया।

स्थिति में वीरता की भावनाएं भला कहां टिक सकती थीं। ऐसे समय में निराशा और दैन्य की दशा में सहारा देने वाली एकमात्र भगवद्-भक्ति थी। इसलिए शान्ति-प्राप्ति के उद्देश्य से जनता निर्गुण, सगुण, राम, कृष्ण आदि ईश्वर के अनेकों रूपों की उपासना की ओर प्रवृत्त हो गई। उत्तर-भारतीय उर्वरा (ब्रज) भूमि में उत्पन्न वैष्णव धर्म ने दक्षिण भारत में जाकर अभिनव रूप में पल्लवित और पुष्पित होकर उत्तर-भारतीयों को अपने सुमधुर फलों का रस-पान कराना आरम्भ कर दिया।

परिस्थितियों ने पुनः पलटा खाया और जहांगीर, शाहजहां जैसे शान्तिप्रिय परन्तु विलासी सम्राटों के शासनकाल में विलासिता की प्रवृत्तियां प्रस्फुटित होने लगीं। राजा लोगों को लड़ाई-भिड़ाई या वीरता से कुछ प्रयोजन नहीं रह गया था। आक्रमणकारियों से देश की रक्षा व आन्तरिक शान्ति का उत्तरदायित्व मुगल सम्राटों के कंधों पर डाल कर उस समय के अधिकांश राजा लोग अपने रनिवासों या अन्तःपुरों में ही मस्त रहने लगे थे। प्रसिद्ध है कि जयपुर-नरेश मिर्ज़ा राजा जयशाह (जयसिंह) सप्ताहों तक अन्तःपुर से बाहर न निकलते थे। इसी कारण बिहारी को अपना सुप्रसिद्ध दोहाः—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिकाल।
अलि कली ही सों बन्ध्यो, आगे कौन हवाल॥

लिखकर उनके पास अन्दर रनिवास में भेजना पड़ा था। यह है तात्कालिक राजाओं की विलासिता की एक झलक। राजाओं की जब यह दशा थी तो 'यथा राजा तथा प्रजा' के सिद्धान्तानुसार प्रजा का भी वैसा होना स्वाभाविक ही था; अतः उस समय का जनसमाज विलासप्रिय हो गया।

दूसरी ओर इसी समय औरंगज़ेब आदि अत्याचारी शासकों की क्रूरता के कारण राष्ट्रीयतामूलक धर्म-रक्षा की सत्य भावनाएं अपने प्रबल रूप में प्रकट होने लगीं।

इधर उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेज़ों के आगमन के साथ देश के वातावरण में एक बार फिर विक्षोभ हुआ। राष्ट्र में समाज-सुधार, स्वदेश-भक्ति, श्रमिक वर्ग की उन्नति आदि नवीन भावनाओं का प्रचार, साथ ही विलासिता के विचारों का शनैः २ ह्रास होने लगा।

उक्त परिवर्तनों के फलस्वरूप हम हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल—आठवीं शताब्दी से लेकर आज तक—की उत्तर-भारतीय विचार-धाराओं को निम्न पांच भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

१. तान्त्रिक, योगी, शैव, वैष्णव और जैनियों की धार्मिकता और दार्शनिकता-प्रधान विचारधारा, आठवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यभाग (संवत् ७०० से १०५०) तक।

२. लड़ाई-भिड़ाई अथवा वीरता की प्रवृत्तियां—ग्यारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी (संवत् १०५१ से १३७५) तक।

३. सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म की उपासना की प्रवृत्तियां—चौदहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी (१३७६ से १७००) तक।

४. विलासिता व धर्मरक्षा की भावनाएं—अठारहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी (१७०१ से १९००) तक।

५. राष्ट्रीयता और समाज-सुधार आदि की प्रवृत्तियां—२० वीं शताब्दी (संवत् १९०१ से अब) तक।

कालविभाग—जनता की चित्तवृत्तियों का पुस्तकाकार में संचित प्रतिबिम्ब ही साहित्य है, इसलिए यह स्वाभाविक है कि जनता की विचारधारा के अनुसार साहित्य का स्वरूप भी परिवर्तित होता रहे। अर्थात् जिस युग में जनता के जैसे विचार होंगे उस युग के साहित्य में भी उन्ही विचारों की प्रधानता रहेगी। हमारे हिन्दी साहित्य पर भी यह सिद्धान्त अक्षरशः चरितार्थ हुआ और उक्त पांच विचार-धाराओं के अनुसार यह साहित्य भी निम्न पांच मुख्य विभागों या कालों में विभक्त किया गया है:—

१. संक्रमण-काल*—जैनों व सिद्धों का अपभ्रंश-काल (संवत् ७०० से १०५० तक)।

२. आदि काल—चारणों का वीरगाथा-काल (सं० १०५१ से १३७५ तक)

३. पूर्व-मध्य-काल—सन्तों का भक्ति-काल (सं० १३७६ से १७०० तक)

४. उत्तर-मध्यकाल—आचार्यों का रीति-सम्बन्धी कला-काल (सं० १७०१ से १९०० तक)

---

* श्री डा० रामकुमार वर्मा ने इस प्रथम काल का नाम संधिकाल रक्खा है किन्तु इंगलिश में जिसे (Transit period) कहते हैं उसके लिए हिन्दी की शुद्ध और सुन्दर पारिभाषिक संज्ञा 'संक्रमण-काल' है। उक्त समय में लोक-व्यवहार-क्षेत्र से एक (प्राकृत या अपभ्रंश) भाषा विदा हो रही थी और दूसरी (देशभाषा) उसका स्थान ले रही थी अतः उक्त काल को 'संक्रमण काल' कहना अधिक उपयुक्त होगा।

५. आधुनिक काल—राष्ट्रीयचेतनात्मक गद्य-काल (सं० १९०१ से आज तक)

यह कालविभाग तत्तत्प्रवृत्ति की प्रधानता के आधार पर ही किया गया है। इस से यह न समझना चाहिए कि किसी कालविशेष में उससे भिन्न विषयों की रचनाएं हुई ही नहीं। भक्तिकाल में वीरता और श्रृंगार आदि दूसरे विषयों की रचनाएं भी होती रहीं, पर बहुसंख्या भक्ति सम्बन्धी पुस्तकों की ही थी। किसी काल की समाप्ति पर बाद में उस विषय की रचनाएं सर्वथा बन्द हो गई हों, ऐसा भी नहीं था। (यह काल-विभाग किसी देशकी निश्चित राजनैतिक सीमा या किसी बाज़ार के नाम की भांति नहीं ह) साहित्यिक कालविभाग दो साथी प्रदेशों की भाषाओं के समान है, जिनके नाम राजनैतिक दृष्टि से भिन्न होने पर भी दोनों प्रदेशों की भाषाओं पर बहुत दूर तक एक दूसरी का प्रभाव चिरकाल तक बना रहता है। अतः किसी काल-विशेष का नाम 'वीर-गाथा-काल' रख देने से यह नहीं मान लेना चाहिए कि सं० १३७५ के पश्चात् वीरता की रचनाएं हुई ही नहीं, होतीं तो अवश्य रहीं पर (प्रधानता उनकी नहीं रही) इसी प्रकार दूसरे कालों के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिए।

अभ्यास

१. हिन्दी भाषा व साहित्य का आरम्भ कब हुआ, सप्रमाण सिद्ध करें।

२. 'समाज की परिस्थितियों के अनुसार साहित्य सदा अपना रूप परिवर्तित करता रहता है' यह उक्ति हिंदी साहित्य पर कहाँ तक चरितार्थ होती है?

३. आठवीं शताब्दी से आज तक की भारतीय सामाजिक परिस्थितियों का संक्षिप्त सिंहावलोकन करें।

४. हिंदी साहित्य की विविध प्रवृत्तियों का संक्षिप्त परिचय दें।

५. हिंदी साहित्य के इतिहास को किन मुख्य कालों में विभक्त किया जा सकता है?

तीसरा अध्याय

सिद्धों, नाथों व जैनियों का अपभ्रंश-साहित्य

हिन्दी साहित्य के इस आरम्भिक युग अर्थात् संक्रमण-काल के साहित्य को भाषा, विषय व शैली की दृष्टि से निम्न तीन विभागों में विभक्त किया गया है:—

१. पूर्वी अपभ्रंश में वज्रयानी बौद्धों या सिद्धों का तान्त्रिक साहित्य।

२. मध्यदेशीय अपभ्रंश में नाथ-योगियों का साहित्य।

३. पश्चिमी अपभ्रंश में जैन-आचार्यों का साहित्य।

कालक्रम की दृष्टि से पहले सिद्धों के साहित्य व सिद्धान्तों आदि का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

वज्रयानी सिद्धों व नाथ-योगियों का साहित्य

परिचय और सिद्धांत—विक्रम की पांचवी शताब्दी से ही बौद्ध धर्म अपनी महायान शाखा और शैव धर्म के मिश्रण से 'वज्रयानशाखा' के नाम से विकृत हो रहा था। यह वज्रयान शाखा सहजिया सम्प्रदाय के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय का स्वरूप धारण कर लेने पर कुछ समय तक तो बौद्ध-धर्म ने अपने वास्तविक सदाचार- प्रधान स्वरूप को बनाये रखा किन्तु सातवीं शताब्दी के लगभग इसने वाममार्गियों का-सा तान्त्रिक रूप ग्रहण कर लिया। इस शाखा के कण्हपा, लुहिपा, सरहपा आदि चौरासी सिद्ध हुए हैं। ये नाम 'कृष्णपाद', 'सरोज-पाद' आदि संस्कृत नामों के अपभ्रंश रूप हैं। संस्कृत में 'पाद' शब्द पूज्य अर्थ में प्रयुक्त होता है, अतः इन नामों में 'पा' शब्द भी पूज्यार्थ में ही किया गया है। इन सिद्धों ने एक ओर तो वाम-मार्ग से मिलते-जुलते 'महासुखवाद' के सिद्धान्त को अपनाया और दूसरी ओर घट ही में 'अलख' को निरखने की भावनाओं को विकसित कर 'गुह्य समाज' का प्रचार किया। इस प्रकार गुह्य या रहस्य की आड़ में ये लोग मनुष्य की पाशविक वासनाओं की परितृप्ति को ही 'महासुख' कहते और अपने सम्प्रदाय के महत्त्व को बढ़ाने के लिए बीच-बीच में योग के विभिन्न अंगों का भी सन्निवेश कर दिया करते थे। संक्षेप में कह सकते हैं कि बिहार से आसाम तक पूर्वी भारत में अधिक प्रचलित उक्त सम्प्रदायों ने सातवीं शताब्दी से ही जादू, टोना, तंत्र और वाममार्गियों की 'पंचमकार' सेवन आदि

की विभिन्न व्यभिचारात्मक प्रवृत्तियों का प्रचार वसाकार की उपासना तथा तीर्थ, व्रत, पूजा, वेद-शास्त्र आदि का खण्डन आरम्भ कर दिया था। ये हीं इनके साहित्य के मुख्य विषय थे।

भाषा व शैली—वज्रयानी सिद्धों के साहित्य की भाषा देशभाषा-मिश्रित पूर्वी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का मूलरूप थी। सामान्यतया इस भाषा को सधुक्कड़ी या खिचड़ी भाषा कह सकते हैं, यद्यपि सरहपा कण्हपा आदि के पद पूर्वी अपभ्रंश में हैं तथापि उनके उपदेशों की भाषा में पश्चिमी अपभ्रंश के भी अनेक प्रयोग आ जाते हैं। जैसे कि—

भेलै, बूढ़िल आदि शब्द पूर्वी भाषा के ही हैं। उधर नाथों या योग-मार्गियों की भाषा पूर्वीपन लिए हुए पश्चिमी अपभ्रंश है।

इन लोगों ने दोहा (साखी) पद (बानी) की शैली में अपनी रचनाएं लिखी हैं।

समाज व साहित्य पर प्रभाव—इस शाखा का तात्कालिक व परवर्ती साहित्य एवं समाज पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। पूर्वी प्रान्तों में जो तान्त्रिकों की प्रधानता पाई जाती है वह सब इसी शाखा के प्रचार को प्रकट करती है। पूर्वी-भारत के निम्न व मध्यम वर्गों को इस शाखा ने बहुत अधिक प्रभावित किया था। पश्चिमी भारत की जनता नाथ-पंथ से अत्यधिक प्रभावित हुई। यहां तक कि न केवल हिन्दू प्रत्युत मुसलमान भी इनके सिद्धान्तों को अपनाने लग गये थे। परवर्ती साहित्य पर भी इनका पर्याप्त प्रभाव पड़ा क्योंकि हम देखते हैं कि आगे चलकर कबीर आदि निर्गुणमार्गियों ने जो कुछ भी लिखा उसके लिए भाषा, विषय व शैली ये सिद्ध और योगी लोग ही पहले से प्रस्तुत कर गये थे। एक मिली-जुली खिचड़ी या सधुक्कड़ी भाषा, मनमानें अस्त-व्यस्त रूपकों के द्वारा उलटबासियों या पहेलियों के रूप में गुह्य सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने की पद्धति, और घट में अलख-निरंजन को निरखना, षट्चक्रों और शून्य आदि के प्रतिपादक सिद्धान्त तथा 'साखी' 'बानी' आदि संज्ञाएं, यह सम्पूर्ण सामग्री इन ज्ञानमार्गी कवियों ने वज्रयान शाखा व योगियों के साहित्य से प्राप्त की थी। अतः हम कह सकते हैं कि कबीर आदि निर्गुणोपासक संतों के साहित्य-सृजन के लिए बीज तो उक्त सिद्धों और योगियों ने बो दिया था, भूमिका वे लोग ही प्रस्तुत कर गये थे—अब केवल उसे सींच कर पल्लवित व पुष्पित करने का कार्य रह गया था, जो इन निर्गुणोपासक संतों ने पूर्ण किया।

यहां यह भी अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि कबीर आदि सन्तों ने सहजिया सम्प्रदाय के सिद्धों के समाज में दुराचार, फैलाने वाले व्यभिचारमूलक दूषित सिद्धान्तों को कभी नहीं अपनाया। उन्होंने सिद्धों से उक्त भाषा, विषय शैली के उपादेय अंशों को लेकर उन्हें लोक-कल्याणकारी रूप में प्रकट किया। सिद्धों की अपेक्षा नाथ-पंथ के साहित्य व सिद्धान्तों का प्रभाव आगामी साहित्य पर विशेष पड़ा।

रचयिता व उनकी रचनाएँ

सहजिया सम्प्रदाय के ८४ सिद्धों में से सरहपा या सरोजवज्र सब से प्राचीन हैं। इनका रचनाकाल संवत् ६९० के लगभग माना गया है। इनकी रचना का एक उदाहरण यहां दिया जाता है:—

पंडिअ सअल सत्त बक्खाणइ। देहहि बुद्ध बसन्त न जाणइ।
अमणागमण ण तेन विखंडिअ। तोवि णिलज्ज भणइ हउं पंडिअ।

इनके अतिरिक्त लुहिपा, विरुपा, कण्हपा, कुक्कुरिपा, नालिपा आदि सिद्धों की रचनाएं भी पूर्वी अपभ्रंश में पर्याप्त रूप में प्राप्त है।

नाथ-साहित्य

योगियों ने सिद्धों की व्यभिचारात्मक प्रवृत्तियों से रहित शुद्ध शैव योग-मार्ग का प्रचार किया, नाथ-पंथ सहजिया सम्प्रदाय की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप प्रचलित हुआ था और शैव धर्म को लेकर चला था, अतः सहजिया सम्प्रदाय के विपरीत इस पंथ में अत्यन्त शुष्कता व योग की कठोर साधनाओं की प्रमुखता स्वाभाविक ही थी। यहां तक कि ये लोग संसार या लोकपक्ष से सर्वथा बहिर्मुख हो गये। 'नाथपंथ' भी इसी योगी सम्प्रदाय को कहते हैं। नागार्जुन, जालन्धरनाथ, मछन्दरनाथ आदि योगी गोरखनाथ से पूर्व हो चुके थे। इन सब योगियों की संख्या ९ मानी गई है।

गोरखनाथ—गोरखनाथ को सहजिया सम्प्रदाय वालों ने अपने ८४ सिद्धों में गिना है। इस दृष्टि से वे वज्रयान शाखा के अनुयायी ठहरते हैं, किन्तु वास्तव में ये वज्रयान शाखा के सिद्धान्तों को नहीं मानते थे।

गोरखनाथ के समय के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। राहुल सांकृत्यायन जी ने सिद्धों की परम्परा के आधार पर इनका समय दसवीं शताब्दी सिद्ध किया है, किन्तु श्रीयुत रामचन्द्र शुक्ल का अनुमान है कि गोरखनाथ दसवीं शताब्दी में नहीं प्रत्युत पृथ्वीराज के समय या उनसे कुछ देर बाद तेरहवीं शताब्दी में हुए

होंगे। पर वास्तव में ये आठवीं शताब्दी से भी पूर्ववर्ती हैं। इन्होंने नाथ पंथ का प्रचार पश्चिमी प्रान्तों या राजपूताना आदि में विशेष किया था। इन की रचनाएं गद्य व पद्य दोनों रूपों में प्राप्त हैं। गोरख-गणेश-गोष्ठी, महादेव-गोरखसंवाद, गोरखबोध, विराट्पुराण, गोरखसार, गोरखनाथकी बानी, योगेश्वरी साखी, दत्त-गोरख-संवाद, नरवइबोध, गोरखनाथ की सत्रह कलाएं, ये दस पुस्तकें इनके नाम पर लिखी उपलब्ध हुई हैं। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि ये सब पुस्तकें इनकी नहीं हैं, केवल साखी और बानी में इनकी कुछ रचनाएं भले ही हों। इनकी रचना का एक नमूना यहां दिया जाता है—

स्वामी तुम्हइ गुर गोसाईं। अम्हे जो सिष सबद एक बूझिवा।
निरारंबे चेला कूण विधि रहै। सत गुरु होइ स पुछया कहै॥

+ + + +

अवधू रहिया हाटे वाटे रूप विरष की छाया,
तजिया काम क्रोध लोभ मोह संसार की माया।

नाथों के साहित्य में मानव जीवन की व्याख्या या सरसता का अभाव-सा है। अतः जनसाधारण पर इनके सिद्धान्तों का प्रभाव रहते हुए, भी इनके साहित्य का विशेष प्रचार न हो पाया।

पश्चिमी अपभ्रंश का जैन-साहित्य

परिचय और सिद्धांत—जैन साहित्य प्रमुखतया प्राकृत में लिखा गया है, किन्तु उसका बहुत-सा अंश अपभ्रंश से मिलता-जुलता है। यह साहित्य है तो अत्यन्त प्राचीन, किन्तु अपभ्रंश का आधुनिकतम रूप हमें आचार्य देवसेन के 'श्रावकाचार' नामक ग्रंथ में मिलता है। इन्हों ने अपभ्रंश में दूहा या दोहा नामक छन्द में रचनाएं लिखीं और बीच-बीच में चौपाइयों का भी प्रयोग किया। इनकी रचनाएं सिद्धों या नाथ-पंथियों के समान केवल शुष्क उपदेशात्मक या नीरस न होकर साहित्यिक व सरस हैं। यद्यपि अधिकांश जैन-आचार्यों ने भी उपदेश दिये हैं पर इन के उपदेशों में भी एक आकर्षण, प्रवाह और रसात्मकता है। साथ ही इन्होंने कुछ चरित या आख्यान-काव्य भी लिखे हैं, जो कि प्रायः चौपाइयों में हैं। धार्मिक सिद्धान्तों में भी इन्होंने सत्य, दया, अहिंसा आदि लोकोपकारी और चरित्र को उन्नत बनाने वाले अंशों को ही अपनाया है। हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने शृंगार, वीर, नीति आदि विभिन्न रसों व विषयों पर भी विभिन्न रचनाएं लिखी हैं। इन सब बातों को देखते हुए कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक सच्चा स्वरूप, जैन साहित्य ही में उपलब्ध होता है।

इनकी भाषा पश्चिमी-राजस्थानी अपभ्रंश है, जिसमें अनेक स्थानों पर भाषा के वर्तमान स्वरूप का स्पष्ट दर्शन होता है। और शैली दोहा या दूहा-चौपाई की है।

समाज व साहित्य पर प्रभाव—जैन-साहित्य का भारतीय समाज पर बहुत अधिक प्रभाव है। कुछ लोगों का मत है कि वैष्णव-धर्म की मूर्ति-पूजा व अहिंसा भी जैनप्रभाव के परिणाम-स्वरूप ही प्रचलित हुई। जनसामान्य में जो जीव-दया की भावनाएं पाई जाती हैं वे जैन-साहित्य के द्वारा विकसित हुईं। परवर्ती हिन्दी साहित्य पर भी जैन-साहित्य का प्रभाव कोई कम नहीं पड़ा। आगे चलकर मलिक-मुहम्मद-जायसी आदि प्रेम-मार्गी कवियों ने पद्मावत आदि प्रेम-प्रबन्धों में तथा श्री गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में जिस दोहा और चौपाई की पद्धति को अपनाया उसका सर्वप्रथम प्रचार और चरित-काव्य के लिए मार्ग जैन-साहित्य-कारों ने प्रशस्त किया था।

लेखक गण—

जैन साहित्य के प्रसिद्ध लेखकों का परिचय इस प्रकार है:—

१—**देवसेन**—इनका रचनाकाल संवत् ९९० के लगभग माना जाता है। इन्होंने 'श्रावकाचार' और 'दव्व सहाव पयास' अर्थात् 'द्रव्य-स्वभाव-प्रकाश' नामक दो ग्रन्थों की रचना की थी। ये दोनों ग्रन्थ दोहा, छन्द में लिखे गये हैं, भाषा भी बहुत कुछ आधुनिक रूप लिए हुए अपभ्रंश है। इनकी रचना का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है:—

जो जिण सासण भाषियउ सो मइ कहियउ सारु ॥
जो पालइ सइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु"

२—**पुष्पदन्त**—इनका रचनाकाल संवत् १०२९ के लगभग माना जाता है। आदिपुराण और उत्तरपुराण नामक चरित-काव्य इनकी दो प्रसिद्ध रचनाएं हैं।

३—**हेमचन्द्र**—इनका रचनाकाल संवत् ११५० से १२३० तक माना गया है। गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह और उनके भतीजे कुमारपाल इन का बड़ा आदर करते थे। ये अनेक विषयों के विद्वान्, कवि और आचार्य थे। इन्होंने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं का एक बड़ा भारी व्याकरण-ग्रन्थ बनाया जो 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें इन्होंने अपने आपको पाणिनि से भी बढ़कर वैयाकरण घोषित किया है। व्याकरण के विभिन्न रूपों के उदाहरणों के लिए इन्होंने कोई एक पद या शब्द न देकर पूरे के पूरे पद्य

उद्‌धृत किये हैं, जिनमें से अनेक प्राचीन व बहुत से इनके अपने बनाये हुए हैं। व्याकरण के उदाहरणों के लिए इन्होंने संस्कृत के 'भट्टिकाव्य' के समान एक 'द्वयाश्रय-काव्य' भी रचा। प्रसिद्ध 'कुमारपालचरित' इसी द्वयाश्रय-काव्य का एक अंश है। इसके दो दोहे देखिए—

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजं तु वयंसि अहु जइ भग्गा घरु एंतु ॥१॥
जइ सो न आवइ, दूइ! घरु, काइं अहोमुहु तुज्झु।
वयणु जु खंडइ तउ, सहि ए! सो पिउ होइ न मुज्झु ॥२॥

४—**सोमप्रभ सूरि**—इनका रचनाकाल संवत् १२४१ के आस-पास है। इन्होंने 'कुमारपाल प्रतिबोध' नामक काव्य लिखा जिसमें संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश तीनों भाषाएं गद्य और पद्य दोनों रूपों में प्रयुक्त हुई हैं। प्रस्तुत पुस्तक कुमारपाल को दिये गये हेमचन्द्र के उपदेशों के आधार पर लिखी गई थी। यहां अपभ्रंश का एक पुराना उदाहरण उपस्थित किया जाता है—

रावण जायउ जहि दिअहि दह मुह एक सरीरु।
चिंताविय तइयहि जणणि कवणु पियावउं खीरु॥

५-**मेरुतुंग**—आचार्य मेरुतुंग का रचनाकाल संवत् १३६१ है। इन्होंने 'प्रबन्ध चिन्तामणि' नामक एक प्रसिद्ध आख्यान-काव्य की रचना की, जिसमें अनेक पूर्ववर्ती राजाओं की कथाएं दी गई हैं। संस्कृत का विख्यात ग्रन्थ 'भोज प्रबन्ध' भी इसी ढंग की रचना है। प्रबन्ध-चिन्तामणि के आख्यानों में यत्रतत्र पुरानी अपभ्रंश के संवाद भी हैं। राजा भोज के चाचा महाराज मुंज के दोहे अत्यन्त मार्मिक हैं। महाराज मुंज ने तैलंग देश के राजा तैलप को अनेक बार परास्त कर छोड़ दिया। किन्तु अन्तिम चढ़ाई में वे स्वयं बन्दी बनाये जाकर पिंजरे में डाल दिये गये। उसी अवस्था में उनका तैलप की बहिन मृणालवतीसे प्रेम होगया'[१]। उनकी उक्त अवस्था व प्रेम के परिचायक कुछ दोहे 'प्रबन्ध-चिंतामणि' में से आगे उद्‌धृत किये जाते हैं।

१— मृणालवती की प्रेरणा व प्रोत्साहन से ही तैलप महाराज मुंज से कई बार लोहा लेने में समर्थ हो सका। मृणालवती के हृदय में पहले अपने भाई के शत्रु मुंज के प्रति बड़ी भारी घृणा व द्वेष की भावनाएं भरी हुई थीं। जब उसने मुंज को कारागार के सींकचों में बन्द कर अपमानित करना चाहा, तब मुंज उस अवस्था में भी—

१ एउ जम्मु नग्गुहं गिउ, भड़सिरि खग्गु न भग्गु ।
तिक्खां तुरियँ न माणियाँ, गोरी गलै न लग्गु ॥

२ झाली तुट्टी किं न मुयउँ, किउ न हुएउँ छरपुंज ।
हिन्दइ दोरी बँधीयउ, जिम मंकड़ तिम मुंज ॥१॥

३ बाह बिछोड़वि जिह तुहुँ, हउँ वइँ का दोसु ।
हिअयट्ठिय जइ नीसरहि, जानउं मुंज सरोसु ॥२॥

अभ्यास

१. सिद्धों व योगियों के साहित्य की भाषा, विषय, शैली व सिद्धान्तों का परिचय देकर स्पष्ट करें कि इस साहित्य का तात्कालिक व आगामी समाज तथा साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा ?

२. जैन-साहित्य की भाषा, विषय व शैली कैसी है ?

३. हेमचन्द्र, सोमप्रभ व मेरुतुङ्ग के साहित्य का संक्षिप्त परिचय दें ।

४. गोरखनाथ तथा सरहपा का रचनाकाल लिखकर इनकी भाषा का एक-एक उदाहरण दें ।

'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ' ॥

गीता के उक्त सिद्धान्तानुसार सदा प्रसन्न रहकर अपने संगीत की मधुर स्वर-लहरी से जन-मन को मुग्ध करते रहते । ऐसे लोकोत्तर चरित्र को देखकर ही मृणालवती मुंज पर मुग्ध हो गई थी ।

आदि

चारणों का

वीर-गाथा-काल

(सं० १०५० से १३७५ तक)

चौथा अध्याय

वीरगाथात्मक तथा लोक-साहित्य

पूर्व-परिचय

विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यभाग से हमारे देश-भाषा-साहित्य का वास्तविक प्रारम्भ होता है। भाषा, विषय, शैली आदि सभी दृष्टियों से यह साहित्य प्राचीन साहित्य से सर्वथा भिन्न है। भाषा ने अपना रूप बदला। उसने अपने पुराने प्राकृत के रूढ़िबन्धनों को तोड़ फेंका और साथ ही संस्कृत के व्याकरण से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। अपना नाम भी अपभ्रंश से बदल कर देश-भाषा रख लिया। आध्यात्मिक, दार्शनिक या धार्मिक विचार-धाराएं स्वदेश-] रक्षा, वीरता और शृंगार के रूप में प्रवाहित होने लगीं। साहित्य की पुरानी नीरसता और उपदेशात्मकता जाती रही। उसका स्थान ले लिया वीर-दर्प और शृंगार की कोमल भावनाओं ने। यह साहित्य केवल दोहों की दो पंक्तियों के सीमित छन्दों या पदों में न समाकर कवित्त, सवैया, त्रोटक, शार्दूलविक्रीड़ित आदि विविध वार्णिक वृत्तों व मात्रिक छन्दों में निर्मित होने लगा। इस नवीन साहित्य की भाषा में सब से बड़ा परिवर्तन यह हुआ कि—पूर्वी या पश्चिमी प्रान्तों के स्थान पर राजस्थान की डिंगल भाषा ने प्रमुख पद प्राप्त कर लिया।

डिंगल और पिंगल—इस आदिकाल का आरम्भिक साहित्य अधिकतर डिंगल भाषा ही में मिलता है। राजस्थान की शुद्ध भाषा को 'डिंगल' भाषा कहते हैं और जिसे आज ब्रज भाषा कहते हैं, वही पहले 'पिंगल' नाम से पुकारी जाती थी। राजस्थान की भाषा को 'डिंगल' क्यों कहा जाता है—इस सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। कुछ विद्वान् इसकी व्युत्पत्ति 'डींग' शब्द से बताते हैं। कुछ कहते हैं, कि यह शब्द 'डिम्' और 'गल' से बना है अर्थात् भगवान् शंकर की वीर-रसात्मक डमरू की ध्वनि 'डिम्-डिम्' के आधार पर यह शब्द निर्मित हुआ है, क्योंकि डिंगल में भी वीर भावनाएं ही वर्णित हैं। किन्तु हमारी सम्मति में इस शब्द को यौगिक या योगरूढ़ न मान कर केवल रूढ़ ही माना जाय तो ठीक है। उसके व्युत्पत्ति-जन्य अर्थों के चक्कर में न पड़ना ही अच्छा है।

श्रीयुत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में डिंगल के केवल वीरगाथात्मक साहित्य को ही स्थान दिया है, उसके लोक-साहित्य को नहीं। उन्होंने लिखा

है कि—"फुटकल रचनाओं का विचार छोड़कर यहां वीरगाथात्मक रचनाओं का ही उल्लेख किया जाता है।"

साहित्य के इतिहास में फुटकर तथा अन्यान्य रचनाओं का उल्लेख क्यों न किया जाय इसका उन्होंने कुछ भी कारण नहीं बताया। वास्तव में सब प्रकार की साहित्यिक रचनाओं का उल्लेख होना ही चाहिए।

भाषा के दो रूप—आदिकाल के साहित्य की भाषा दो प्रकार की मिलती है। एक तो प्राकृत की रूढ़ियों में बँधी हुई—अपभ्रंश से प्रभावित और दूसरी उक्त रूढ़ियों से मुक्त—स्वच्छ देश-भाषा। इसका प्रमाण हमें विद्यापति और अमीर खुसरो की रचनाओं से मिलता है। अमीर खुसरो की सं० १३५० के आस-पास की रचना का नमूना देखिए :—

एक थाल मोती से भरा, सब के सिर पर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाल फिरे, मोती उससे एक न गिरे॥

ये कैसी सुन्दर और स्वस्थ निखरी हुई देश-भाषा लिख रहे हैं। किन्तु दूसरी ओर लगभग इनसे सौ वर्ष बाद में होने वाले विद्वान् विद्यापति कवि कैसी अपभ्रष्ट भाषा लिखते हैं:—

'रज्ज—लुद्ध असलान बुद्धि बिक्कम बले हारल।
पास बइसि बिसवासि राय गयनेसर मारल'॥

❀ ❀ ❀

'बालचन्द विज्जावइ भासा'

विद्यापति अपने शुद्ध सुन्दर नाम को भी बिगाड़कर 'विज्जावइ' बना देने में गौरव का अनुभव करते हैं। दो प्रकार की भाषाओं का उल्लेख वे स्वयं निम्न शब्दों में करते हैं :—

'देसिलवयना सब जन मिट्ठा। तें तैसन जपओं अवहट्ठा॥

यहां 'देसिलवयन' अर्थात् देश-भाषा और 'अवहट्ठा' अर्थात् अपभ्रंश इन दोनों भाषाओं का स्पष्ट उल्लेख किया है। उन्होंने अपनी रचनाएं भी इन दोनों प्रकार की भाषाओं में लिखी थीं।

उनकी 'कीर्तिलता' और कीर्तिपताका' अपभ्रंश में हैं और गीत या पदावली देश-भाषा में। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग हमारी देश-भाषा घिस-घिसाकर, मँज-मँजाकर लगभग अपने वर्तमान रूप में आ गई थी। किन्तु कवि लोग पुरानी अपभ्रंश भाषा में लिखने में ही अपना

महत्त्व समझते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि आदिकाल का—अपभ्रंश से प्रभावित—साहित्य अपने समय की लोकभाषा का प्रतिनिधित्व नहीं करता था। वह केवल तात्कालिक लोक-भावनाओं का ही प्रतिनिधि था।

इस साहित्य के विभाग—आदिकाल का साहित्य विषय की दृष्टि से—दो भागों में विभाजित है १—चारणों का वीर-रसात्मक-साहित्य और २—अन्यान्य कवियों का शृंगार नीति आदि विविध विषयों का साहित्य।

शैली की दृष्टि से— उसे १—प्रबन्ध काव्य २—गीतकाव्य और ३—मुक्तक या फुटकर रचनाएं—इन तीन भागों में बांटा जा सकता है।

भाषा की दृष्टि से—'डिंगल' व 'पिंगल' इन दो भाषाओं में यह साहित्य उपलब्ध होता है।

जिन पुस्तकों के रचनाकाल में संदेह है वे 'संदिग्ध' तथा जिनका रचनाकाल निश्चित है वे 'असंदिग्ध' कहाती है।

इस काल का वीर-रसात्मक साहित्य प्रायः 'रासो' नाम से व्यवहृत हुआ है। इस 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति रहस्य या रसायन से मानी जाती है। 'बीसलदेवरासो' में रासो के लिए 'रसायन' शब्द का ही प्रयोग हुआ है, जो सर्वथा उचित है, क्योंकि जिस प्रकार 'रसायन' निर्जीव और निःशक्त शरीर में अपूर्व बल, वीर्य और पराक्रम का संचार कर देती है उसी प्रकार यह वीर-रसात्मक ग्रन्थ भी राष्ट्र के निर्बल प्राणों में 'रसायन' की भाँति अपूर्व ओज और उत्साह का संचार कर देते थे। अतः रासो की उत्पत्ति 'रसायन' ही से मानना युक्तियुक्त है।

प्रस्तुत साहित्य पर परिस्थितियों का प्रभाव—हमारा आदिकाल का साहित्य प्रधानतया वीरगाथात्मक रूप ही में क्यों लिखा गया, इस प्रश्न पर विचार करते हुए हमें सर्वप्रथम तात्कालिक राजनैतिक आदि परिस्थितियों का परिचय प्राप्त करना होगा।

हां, तो हम देखते हैं कि सम्राट् हर्षवर्धन के पश्चात् एकच्छत्र साम्राज्य-भावना देश से सर्वथा लुप्त हो गई थी। कोई भी ऐसा शक्तिशाली सम्राट् नहीं रह गया था जो विभिन्न प्रान्तों के छोटे-मोटे राजाओं को अपने अधीन रखकर उन्हें आपस में लड़ने-भिड़ने से रोक सकता। फलतः अपने शौर्य का प्रदर्शन करने के लिए या राज्य-विस्तार की भावना से ये राजा लोग सदा एक दूसरे पर चढ़ाइयां करते रहते थे। कभी कन्नौज के राठौर अजमेर के चौहानों पर चढ़ आते थे तो कभी चौहान गुजरात के चालुक्यों पर आक्रमण कर देते।

दूसरी ओर ८ वीं शताब्दी से ही शनैः-शनैः भारतवर्ष पर मुसलमानों के आक्रमण आरंभ हो गये थे। मुहम्मद बिन कासिम ८वीं शताब्दी में सिंध के महा-

राज दाहर को पराभूत करने में समर्थ हो गया था। उसके बाद भी ऐसे आक्रमण प्राय: होते रहे थे। इस प्रकार ८ वीं शताब्दी से १४ वीं शताब्दी तक उत्तर भारतीय राजनैतिक वातावरण बड़ा ही विक्षुब्ध रहा। एक ओर इन राजाओं के आंतरिक संघर्ष चल रहे थे, दूसरी ओर विदेशी यवन-आक्रमणकारियों का तांता-सा लगा रहता, अतः उस समय का वायुमंडल वीरता से ओत-प्रोत हो गया। ऐसी परिस्थितियों में हमारे हिंदी-साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। प्रत्येक देश का साहित्य अपने समय की परिस्थितियों से सदा प्रभावित होता है, वह तात्कालिक परिस्थितियों और चित्त-वृत्तियों को अपने आप में प्रतिबिम्बित करता है इसलिए हमारे आरंभिक हिंदी-साहित्य ने प्रधानतया वीरगाथात्मक रूप में ही प्रथम दर्शन दिये। उस समय यह वीरता भारत के विविध प्रांतों से सिमिट कर केवल राजस्थान या मेवाड़ ही में आ बैठी थी, अतः इस साहित्य का निर्माण अधिकतर राजस्थानी डिंगल भाषा में राजस्थान में हुआ। सर्वप्रथम देश-भाषा हिंदी (डिंगल) की रचना 'खुमानरासो' उपस्थित करने का श्रेय महामहिमशालिनी वीर-प्रसू मेवाड़-भूमि को प्राप्त हुआ।

इस साहित्य के संबध में इतनी आवश्यक चर्चा कर लेने के पश्चात् इसका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

ग्रंथकार

दलपतिविजय का खुमानरासो—इस ग्रंथ में भगवान् रामचन्द्र से लेकर महा-राणा प्रताप तक का संक्षिप्त और चित्तौड़ के महाराणा खुमान द्वितीय की वीरता का विस्तृत वर्णन है। राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक कर्नल टाड ने भ्रम से तीनों खुमानों को एक ही मान लिया है, पर वास्तव में खुमान नाम से चित्तौड़ के महाराणा एक नहीं प्रत्युत तीन हुए थे, जिनका शासन-काल सं० ८१० से ९९० माना गया है। प्रस्तुत पुस्तक में बगदाद के खलीफ़ा अलमामू के साथ खुमान के युद्धों का वर्णन है। यह खलीफ़ा संवत् ८७० से ८९० तक विद्यमान था। इधर उस समय चित्तौड़ में खुमान द्वितीय शासन कर रहा था। अतः यह निश्चित है कि खुमानरासो का नायक महाराणा खुमान द्वितीय ही है। इस ग्रंथ में महाराणा प्रताप तक का वर्णन है इसलिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस पुस्तक को वर्तमान रूप विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा। यह संदिग्ध है कि इसका कितना अंश प्राचीन है। यह भी निश्चित नहीं है कि दलपत-विजय मूल-पुस्तक के लेखक का नाम है या सत्रहवीं शताब्दी के उस लेखक का

जिसने इसे वर्तमान रूप दिया। इसकी रचना-शैली का एक नमूना देखिए:—

आव भाव अंबाव, भगति कीजे भारत्ति।
जाग जाग जगदंब, सन्त सानिध सकत्ति ॥
सुप्रसन्न होय सुरराय, बयण वाचावर दीजे।
बालक बेलें बाँह, प्रीत भर प्यालो पीजे ॥

नरपति नल्ह का बीसलदेवरासो—इस रचना में अजमेर के महाराज विग्रहराज चतुर्थ उपनाम बीसलदेव का वर्णन है। सौ पृष्ठ की यह छोटी-सी पुस्तक चार खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड में मालवा के परमार वंशज महाराजा भोज की पुत्री राजमती से बीसलदेव का विवाह, द्वितीय खंड में राजमती के व्यंग्य पर बीसलदेव का उड़ीसा-प्रस्थान, तृतीय में राजमती का विरह-वर्णन और बाद में बीसलदेव का उड़ीसा से वापस लौट आना व चतुर्थ खंड में राजमती का अपने मायके चले जाना और बीसलदेव का उसे वापस अजमेर ले आना वर्णित है।

इस प्रकार इन घटनाओं के आधार पर कह सकते हैं कि यह ग्रंथ एक वीर काव्य न होकर प्रेमपूर्ण गीत-काव्य है। शृंगार रस के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का प्रदर्शन करने के लिए ही इस पुस्तक की रचना की गई थी। पुस्तक में लेखक ने स्वयं इसका निम्नलिखित रचनाकाल दे रखा है:—

बारह सै बहोत्तरा मझारि; जेठ बदी नवमी बुधवारि।
नाल्ह रसायन आरम्भहीं, शारदा तुठी ब्रह्मकुमारि।

अर्थात् संवत् १२१२ की ज्येष्ठ बदी नवमी बुधवार को नरपति नल्ह कवि ने बीसलदेवरासो की रचना आरम्भ की। संवत् १२१२ का पंचांग बनाने पर ज्येष्ठ बदी नवमी को बुधवार ही पड़ता है। बीसलदेव के शिलालेख भी सं० १२१० से संवत् १२२० तक के प्राप्त होते हैं। लेखक ने सर्वत्र वर्तमान काल का प्रयोग किया है। इन चार कारणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि नरपति नल्ह अपने आश्रयदाता महाराजा बीसलदेव का समसामयिक रहा होगा और यह ग्रंथ भी अवश्य ही सं० १२१२ में ही लिखा गया होगा। किंतु निम्न कारणों से इसके रचनाकाल के संबन्ध में भी कुछ संदेह प्रकट किया गया है :—

१. इसमें बीसलदेव का विवाह धार के भोज की पुत्री राजमती से बताया गया है, किन्तु बीसलदेव से लगभग सौ वर्ष पूर्व ही महाराजा भोज की मृत्यु हो चुकी थी। ऐसी अवस्था में कोई भी समसामयिक लेखक ऐसी इतिहास-विरुद्ध घटना नहीं लिख सकता।

२. बीसलदेव एक बड़े पराक्रमी योद्धा थे। उन्होंने कई बार मुसलमानों को नाकों-चने चबवाये और दिल्ली व हांसी* के प्रदेशों को अपने राज्य में मिलाया। ऐसे वीर पुरुष की वीरता का इसमें कहीं उल्लेख भी नहीं है। यदि यह रचना बीसलदेव के समय की होती तो अवश्य इसमें कहीं न कहीं उनकी वीरता का भी दिग्दर्शन होता। साथ ही बीसलदेव जैसे युद्धरत राजा के लिए यह असम्भव-सी बात है कि वह अपनी रानी से रूठ कर लम्बे समय तक उड़ीसा जैसे सुदूर प्रांत में जाकर रहे।

डा० रामकुमार वर्मा और बीसलदेवरासो — डाक्टर साहब ने धार के परमार-वंशज राजा भोज की लड़की राजमती से बीसलदेव का विवाह सिद्ध करने के लिए इस काव्य के नायक बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) का समय सं० १०५८ मान लिया है। इस संबध में वे लिखते हैं:—

'बीसलदेव का काल-निर्णय हमें इतिहास में इस प्रकार मिलता है—जैपाल जो नवम्बर १००१ में पुनः सुल्तान महमूद से पराजित हुआ था आत्मघात कर मर गया। उसका पुत्र अनंगपाल उत्तराधिकारी हुआ, जो अपने पिता की भांति अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव के नेतृत्व में हिन्दूशक्तियों के संघ में सम्मिलित हुआ। अतएव बीसलदेव का समय सन् १००१ (सं० १०५८) माना जाना चाहिए। बीसलदेवरासो में वर्णित धार के राजा भोज जिन्होंने अपनी पुत्री राजमती का विवाह बीसलदेव के साथ किया था, का भी इसी समय में होने का प्रमाण मिलता है।

मुंज का भतीजा यशस्वी भोज तत्कालीन मालवा की राजधानी धार के राज्यासन पर लगभग सं० १०७५ में आसीन हुआ और उसने चालीस वर्ष से अधिक प्रतापशाली राज्य किया। गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा के अनुसार बीसलदेव का समय सं० १०३० से १०५६ माना गया है। और राजा भोज का राजसिंहासनासीन होना सं० १०५५। अतएव यह निश्चित होता है कि बीसलदेव का समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी है। नल्ह ने अपने रासो को भी उसी समय लिखा क्योंकि ग्रंथ में जहां क्रिया का प्रयोग वर्तमान-काल में किया गया है वहां 'कहइ', 'वसइ', इत्यादि क्रियाओं के रूप समय की घटनाओं के अनुसार ही घटित होते हैं।

इन सब बातों को दृष्टि में रखते हुए एक कठिनाई सामने आती है। नल्ह अपनी पुस्तक-रचना की तिथि इस प्रकार देता है :—

*कुछ इतिहासकारों ने भ्रम से 'झांसी' लिख दिया है।

"बारह सै बहोत्तरां हां मंझारि,
माघ सुदी नवमी बुधवारि" ।

मिश्रबन्धुओं ने इसे सं० १२२०, लाला सीताराम ने १२७२ तथा सत्यजीवन वर्मा ने १२१२ माना है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी इसे सं० १२१२ माना है। यदि गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार बीसलदेव का काल सं० १०३० से १०५६ मान लिया जाय तो बीसलदेवरासो की रचना १५६ वर्ष बाद होती है। ऐसी स्थिति में लेखक का वर्तमान काल में लिखना समीचीन नहीं जान पड़ता। अतएव या तो बीसलदेव का काल जो विनसेंट स्मिथ और गौरीशंकर हीराचन्द ओझा द्वारा निर्धारित किया गया है, अशुद्ध मानना चाहिए; अथवा बीसलदेवरासो में वर्णित इस 'बारह सै बहोत्तरां हां मंझारि' वाली तिथि को[1] ।'

इसके आगे डाक्टर साहब ने बीसलदेव रासो के दो रूपान्तरों का उल्लेख किया है और कहा है कि एक प्राचीन रूपान्तर १०७३ का भी मिला है। इस प्रकार भोज की पुत्री से विग्रहराज चतुर्थ का विवाह सिद्ध करने के लिए अनेक क्लिष्ट कल्पनाएँ कीं और बीसलदेव को तथा बीसलदेवरासो को भोज (सं० १०२६ से १०९०) का समकालीन ठहराने का प्रयत्न किया। किन्तु उक्त कथन से कुछ पृष्ठ पूर्व ही डाक्टर साहब अपने इसी इतिहास में बीसलदेव का समय सं० १२१० से १२२० तक स्पष्ट सिद्ध और स्वीकार कर चुके हैं। वे काश्मीरी कवि जयानक रचित पृथ्वीराज-विजय काव्य की प्रामाणिकता को प्रकट करते हुए लिखते हैं कि—

"गुजरात के इतिहास में हेमचन्द्र कृत 'द्वयाश्रय कोष' तथा अन्य इतिहास जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल का अर्णोराज के विरुद्ध सफल युद्ध करने का वर्णन करते हैं। चित्तौरगढ़ शिला-लेख सिद्ध करता है कि इस युद्ध की समाप्ति सं० १२०७ (सन् ११४९–५०) या उसके कुछ ही पूर्व हुई। अर्णोराज के द्वितीय पुत्र विग्रहराज चतुर्थ या बीसलदेव के अजमेर शिला-लेख (सं० १२१०) से ज्ञात होता है कि उसकी (अर्णोराज) की मृत्यु सं० १२०७ और १२१० के बीच में अवश्य हुई होगी[2]।"

इस प्रकार एक ही बीसलदेव का समय एक ओर तो सं० १२०० के पश्चात् और दूसरी ओर सं० १०५८ के बाद माना गया है। ये दोनों कथन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं।

---

[1] हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० २०८ से २०९

[2] आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ २०३

चौहान वंश के महाराजाओं का नाम-साम्य ही इस विरोध का कारण दिखाई देता है। जो बीसलदेव या विग्रहराज सं० १०५८ में विद्यमान था वह विग्रराज तृतीय है। और सं० १२१० के लगभग विग्रहराज चतुर्थ विद्यमान थे। अब विचारणीय प्रश्न यह उपस्थित होता है कि बीसलदेव रासो का नायक विग्रहराज तृतीय है या चतुर्थ। आचार्य शुक्ल जी आदि कई एक प्रसिद्ध इतिहासकारों ने विग्रहराज चतुर्थ को ही इसका नायक प्रमाणित किया है। डा० रामकुमार वर्मा ने इस सम्बन्ध में कुछ भी विचार व्यक्त नहीं किया। और न कहीं विभिन्न विग्रहराजों की सत्ता का संकेत ही किया है। इसलिए वे विग्रहराज-तृतीय को ही बीसलदेवरासो का नायक मानते दिखाई देते हैं। किन्तु इस अवस्था में भी नरपति नल्ह को वे बीसलदेव का समसामयिक सिद्ध नहीं कर पाये। इधर कवि ने सर्वत्र वर्तमान काल का प्रयोग किया है। लेखक को बीसलदेव का समसामयिक न मानने पर वर्तमान-काल का प्रयोग व्यर्थ हो जाता है। इस प्रकार डा० रामकुमार वर्मा के विचार कुछ परिपुष्ट प्रतीत नहीं होते। ऐसा लगता है कि उन्होंने अन्यान्य बातों पर विशेष विचार किए बिना चारों में से एक बीसलदेव को भोज का समकालीन सिद्ध कर दिया जिससे बीसलदेव रासो में वर्णित भोज की लड़की राजमती के साथ बीसलदेव का विवाह किसी प्रकार सम्भव हो जाय। ऐसा करने से जो अन्य अनेक ऐतिहासिक विषमताएं उपस्थित हो गईं, उन पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया।

बीसलदेवरासो का नायक अजमेर का महाराजा है। विग्रहराज तृतीय के समय (सं० १०५८) में तो अजमेर बसा भी नहीं था। इस तृतीय विग्रहराज के वंशज महाराज अजयराज ने अजमेर नगर बसाया और अजयराज के पुत्र तथा विग्रहराज चतुर्थ के पिता महाराज अर्णोराज ने अजमेर के पास आनासागर नामक एक झील बनवाई। बीसलदेवरासो में इस आनासागर झील का भी वर्णन है। अतः स्पष्ट है कि बीसलदेवरासो में सं० १२१० से शासन करने वाले अजमेर के महाराज विग्रहराज चतुर्थ का वर्णन है न कि सं० १०५८ में विद्यमान विग्रहराज तृतीय का।

हमारा पक्ष—उक्त अनेक विवादास्पद विषयों पर पर्याप्त ऊहापोह करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

१. बीसलदेवरासो का चरित-नायक वही विग्रराज चतुर्थ उपनाम बीसलदेव है जिसका शासन-काल १२१० से १२२० तक था।

२. बीसलदेवरासो के रचयिता नरपति नल्ह ने सं० १२१२ ज्येष्ठ वदी

नवमी बुधवार को ही इस पुस्तक की रचना आरम्भ की थी।

३. राजा भोज की लड़की राजमती से बीसलदेव का विवाह होना भी सर्वथा संभव है, किन्तु यह भोज धार के परमार-वंशज महाराज भोज नहीं प्रत्युत जैसलमेर नगर के बसाने वाले महाराज जयसल देव के भतीजे रावल भोजदेव थे जिनका समय सं० १२०५ के पश्चात् आरम्भ होता है। ये भोजदेव सुल्तान शहाबुद्दीन गौरी के सेनापति मजेज खां के साथ लड़ते-लड़ते युद्ध में काम आये थे। इस घटना का वर्णन निम्न दोहे में मिलता है—

तोड़ां धड़ तुरकाण री, मोड़ों खान मजेज।
दाखै अनमी 'भोजदे' जादम करै न जेज॥

बीसलदेवरासो में कवि ने स्वयं राजमती को कई स्थानों पर जैसलमेर की राजकुमारी भी कहा है। जैसे कि—

क. 'जनमी गोरी तू जैसलमेर'
परणी आव गढ़ अजमेर'[1]

ख. 'गोरड़ी जैसलमेर की, आदि

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि राजमती जैसलमेर के महाराव भोजदेव की पुत्री थी न कि धार के प्रसिद्ध महाराज भोज की। मूल पुस्तक के लेखक ने अनेक स्थानों पर इसका स्पष्ट उल्लेख भी कर दिया था। किन्तु परवर्ती प्रक्षेपकार चारणों ने इसमें अपना प्रक्षिप्त पाठ मिलाते समय नामसाम्य के कारण प्रसिद्ध भोज ही को राजमती का पिता मानकर उसके वर्णन के अंश बाद में मिला दिये। इस प्रकार जैसलमेर आदि नगरों के नामों का इस पुस्तक में आ जाना भी कुछ इतिहास-विरुद्ध नहीं प्रतीत होता। द्वितीय और तृतीय खण्ड में सर्वत्र राजमती को जैसलमेर और मारवाड़ की राजकुमारी ही कहा है। प्रथम और चतुर्थ खण्ड में वह धार के राजा की पुत्री कही गई है। इसका चौथा खंड तो अनेक उपलब्ध प्रतियों में है ही नहीं, तृतीय खण्ड पर ही कथा समाप्त हो जाती है। अतः चतुर्थ खण्ड तो पूरा का पूरा प्रक्षिप्त है ही, प्रथम खण्ड का भी पर्याप्त अंश परवर्ती लेखकों की कल्पना से उत्पन्न प्रतीत होता है।

४. लेखक ने इस पुस्तक को इतिहास या वंशावली के रूप में नहीं प्रत्युत सरस कल्पनात्मक काव्य के रूप में लिखा था। अतः इसमें वीरता के वर्णन की उपेक्षा भी कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखती।

५. महाराज बीसलदेव का उड़ीसा-प्रस्थान, जगन्नाथपुरी की तीर्थयात्रा व

[1] बीसलदेवरासो पृष्ठ ३४

वहां के राजा के निमन्त्रण या दिग्विजय की भावना से हुआ था जिसको विरह-वर्णन के उद्देश्य से कवि ने अपनी कल्पना की पुट देकर विप्रलम्भ शृंगार के लिए उपयुक्त नवीन रूप दे दिया।

उक्त प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि पर्याप्त प्रक्षिप्त पाठों से परिपूर्ण होने पर भी प्रस्तुत रचना अपने मूल रूप में सं० १२१२ में ही लिखी गई थी, भले ही उसका वर्तमान रूप सोलहवीं शताब्दी में निर्मित हुआ हो। बीसलदेवरासो की कुछ कविताएं नीचे दी जाती हैं—

१. "गरबि न बोलो हो साँभरया-राव ।
तो सरीखा घणा ओर भुवाल ॥
एक उड़ीसा को धणी ।
बचन हमारइ तू मानि जु मानि ॥
ज्यूं थारइ साँभर उग्गहइ ।
राजा उणि घरि उगहइ हीरा-खान ॥"

२. कुँवरि कहइ "सुणि, साँभरया-राव ।
काइँ स्वामी तू उलगइँ जाइ ?
कहेउ हमारउ जइ सुणउ ।
थारइ छइ साठि अँतेवरि नारि" ॥
"कड़वा बोल न बोलिस नारि ।
तू मो मेल्हसी चित्त बिसारि" ॥
जीभ न जीभ बिगोयनो ।
दव का दाधा कुपली मेल्हइ ॥
जीभ का दाधा नू पाँगुरइ ।
नाल्ह कहइ सुणीजइ सब कोइ ॥

३. त्री जन्म कांइ दींयौ हो महेस ?
अवर जनम धारे घणा हो नरेस ।
रानह न सिरजीं हरिणलीं ।
सूरह न सिरजी धींणु गाई ।
वनषंड कालीं कोईलीं ।
बइसंती अंब कइ चंप की डालि ॥
बइसंती दाख बींजोरड़ीं ।
इणि दुख झूरइ अबला बालि ॥

चन्दबरदाई का पृथ्वीराजरासो—कहा जाता है कि चन्दबरदाई लाहौर के भट्टवंशज ब्राह्मण थे। यह अन्तिम हिन्दू सम्राट् महाराज पृथ्वीराज के सामंत, सखा और राजकवि थे। इन दोनों का जन्म और मरण एक ही दिन व एक ही समय हुआ था। आकार-प्रकार, वेश-भूषा, भाषा आदि में भी दोनों एक दूसरे से सर्वथा मिलते-जुलते थे। चन्द ने तो यहां तक लिखा है कि लोग हम दोनों को पहचान भी नहीं सकते थे कि कौन चन्दबरदाई है और कौन पृथ्वीराज। इन दोनों अर्थात् चरित-नायक और चरित-लेखकों का व्यक्तित्व भारतीय इतिहास में अपना विशेष महत्त्व रखता है। महाराज पृथ्वीराज अन्तिम हिन्दू सम्राट् या यों कहें कि हिन्दू जगत् के अस्तमन-वेला के सूर्य थे और चन्दबरदाई हिन्दी जगत् के उदयकालीन चन्द्र। इस प्रकार उस संधि-वेला में इन दोनों—अपने-अपने क्षेत्र के सूर्य और चन्द्र—की एक साथ उपस्थिति एक बड़ी ही मनोहर और स्वाभाविक घटना प्रतीत होती है।

चन्दबरदाई ने अपने आश्रयदाता महाराज पृथ्वीराज के यशोगान के लिए हिन्दी के आदि महाकाव्य "पृथ्वीराजरासो" की रचना की। यह ६९ समयों या सर्गों में विभक्त कई हजार पृष्ठों का विशाल महाकाव्य है। काशीनागरी-प्रचारिणी-सभा ने इसका सर्वप्रथम सम्पादन और प्रकाशन कराने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। इसका संक्षिप्त कथानक यों है :—

इसमें आबू के अग्निकुण्ड से चौहान आदि चार क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति से लेकर महाराज पृथ्वीराज की मृत्यु तक का विस्तृत वर्णन है। इसमें लिखा है कि पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के राजा अनंगपाल की कन्या कमला से हुआ था। उसी से पृथ्वीराज उत्पन्न हुए। अनंगपाल की दूसरी कन्या "सुन्दरी" का विवाह कन्नौज के महाराज विजयपाल से हुआ जिनके पुत्र जयचन्द हुए। इस प्रकार जयचन्द और पृथ्वीराज आपस में मासी के बेटे भाई सिद्ध होते हैं। इधर अनंगपाल ने अपने दौहित्र पृथ्वीराज को गोद ले लिया। इस प्रकार वे दिल्ली और अजमेर के संयुक्त शासक बन गये। इस पर चिढ़ कर जयचन्द ने राजसूय यज्ञ और संयोगिता के स्वयंवर की तैयारी की जिसमें पृथ्वीराज को नहीं बुलाया गया। इस अपमान से क्रुद्ध हो पृथ्वीराज ने संयोगिता का हरण कर लिया। फलतः जयचन्द तथा उसके सहयोगी कालिंजर के महाराज परमर्दिदेव के साथ पृथ्वीराज के कई युद्ध होते रहे। इधर शहाबुद्दीन गोरी ने अवसर पाकर भारत पर चढ़ाई कर दी। पहले तो वह अनेकों बार परास्त हुआ, परन्तु अन्त में वह पृथ्वीराज को हराकर कैदी बनाकर गजनी ले गया। वहां एक दिन चन्द

के संकेत से शब्दवेधी बाण द्वारा पृथ्वीराज ने शहाबुद्दीन को मार डाला और अन्त में चन्द और पृथ्वीराज दोनों एक दूसरे को मारकर अपनी संसार-लीला को समाप्त कर गये ।

प्राचीन काव्य-लेखकों की यह परिपाटी-सी रही है कि वे युद्ध का कारण प्रायः स्त्रियों को ही बताते थे । शहाबुद्दीन की भारत पर चढ़ाई के लिए भी कोई राजनैतिक कारण न दिखलाकर एक स्त्री को ही कारण बताया गया है और लिखा है कि शहाबुद्दीन किसी सुन्दरी को चाहता था, परन्तु वह अपने प्रेमी हुसेनशाह के साथ पृथ्वीराज के यहाँ आ पहुँची । शहाबुद्दीन के माँगने पर पृथ्वीराज ने शरणागत की रक्षा के विचार से उन्हें वापस नहीं लौटाया । फलतः शहाबुद्दीन ने पृथ्वीराज पर चढ़ाई कर दी ।

रासो की भाषा—पृथ्वीराजरासो की भाषा प्रायः राजस्थानी ही है अतः इसे भी 'डिंगल' भाषा का महाकाव्य कहा जा सकता है । इसमें बोल-चाल की अपेक्षा साहित्यिक राजस्थानी व व्रजभाषा का पर्याप्त पुट मिलता है । पृथ्वीराजरासो जिस भाषा में लिखा गया है वह अपने समय की सुन्दर, सुव्यवस्थित साहित्यिक भाषा का उत्कृष्ट उदाहरण है । यह बात दूसरी है कि समय-समय पर होने वाले प्रक्षेपों के कारण इसकी भाषा में अनेकरूपता आ गई हो, पर उसे मूलरूप में डिंगल भाषा ही कहना अधिक उपयुक्त होगा ।

शैली—शैली की दृष्टि से विचार करने पर पृथ्वीराजरासो को हम एक 'प्रबन्ध महाकाव्य' के रूप में रख सकते हैं । इसमें अपने समय में प्रचलित कवित्त, छप्पय, दूहा, तोमर, शार्दूलविक्रीड़ित, स्रग्धरा, त्रोटक, गाहा और आर्या आदि अनेकों मात्रिक व वार्णिक छंदों का प्रयोग किया गया है । प्रधान रस वीर और श्रृङ्गार हैं, तथा बीच-बीच में अन्य रसों का समावेश भी हुआ है । मुख्य कथानक के साथ-साथ अनेकों उपकथाएं भी प्रायः चलती हैं । इसका नायक भी प्रख्यात है । इस प्रकार महाकाव्य के सम्पूर्ण लक्षण घटित हो जाने के कारण 'पृथ्वीराजरासो' अवश्य ही हिन्दी का एक सुन्दर और उपादेय प्रथम महाकाव्य कहलाने का अधिकारी है ।

संदिग्ध रचना—इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में वर्तमान में विभिन्न मत-भेद प्रकट किये जा रहे हैं, जिन पर यहां संक्षिप्त प्रकाश डाला जाता है ।

आज से कुछ वर्ष पूर्व तक यह ग्रन्थ सर्वथा प्रामाणिक ऐतिहासिक रचना के रूप में स्वीकार किया जाता रहा, किन्तु इधर कुछ समय से इसकी प्रामाणिकता व ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विवाद उठ खड़ा हुआ है ।

श्रीयुत महामहोपाध्याय श्यामलदास व श्रीयुत रायबहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा सरीखे विख्यात ऐतिहासिक विद्वानों ने कई एक अकाट्य प्रमाणों द्वारा इसे अप्रामाणिक या संदिग्ध सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। जैसे कि :—

(१) इसमें दिये गये संवत् सर्वथा असत्य हैं, क्योंकि इसमें पृथ्वीराज का जन्म १११५ में, दिल्ली में गोद आना ११२२ में और कन्नौज पर आक्रमण ११५१ में तथा शहाबुद्दीन के साथ युद्ध ११५८ में बताया गया है, किन्तु पृथ्वीराज के चार, जयचन्द के बारह और परमर्दी देव के छः प्राप्त शिलालेखों में पृथ्वीराज का समय संवत् १२२४ से १२५८ तक का दिया हुआ है, फारसी की तवारीखों (इतिहासों) में भी शहाबुद्दीन का पृथ्वीराज पर आक्रमण संवत् १२४८ में ही लिखा है। ऐसी अवस्था में यह स्पष्ट है कि पृथ्वीराजरासो में दिये गये संवत् सर्वथा असत्य हैं। ऐसा असत्य समय लिखने से सौ वर्ष पहले ही भारत में मुसलमानों के राज्य की स्थापना सिद्ध हो जाती है—या यों कहें कि भारत की पराधीनता सौ वर्ष पूर्व ही आरम्भ हो जाती है।

(२) पृथ्वीराजरासो में दी गई घटनाएँ भी सर्वथा कपोलकल्पित तथा असत्य हैं, क्योंकि हांसी के शिलालेख और काश्मीरी कवि जयानक रचित 'पृथ्वीराज विजय' नामक संस्कृत महाकाव्य के आधार पर कहा जा सकता है कि न तो सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के राजा अनंगपाल की लड़की से हुआ था और न जयचन्द ही पृथ्वीराज का मौसेरा भाई था। इनका आपस में किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध न था। साथ ही पृथ्वीराज का अपने नाना के गोद जाना भी कपोलकल्पित है। इसके अतिरिक्त आबू के अग्निकुण्ड से चार क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति की कथा भी ऐतिहासिक नहीं कही जा सकती, क्योंकि चौहान, सोलंकी आदि राजपूत अपने आप को सूर्य या चन्द्रवंशी ही कहते हैं न कि अग्निवंशी। शहाबुद्दीन भी पृथ्वीराज के हाथों शब्दवेधी बाण से नहीं मारा गया था। इसी प्रकार और भी कई अनैतिहासिक घटनाएँ इस ग्रन्थ में भरी पड़ी हैं।

(३) इसमें दिये गये व्यक्तियों के नाम भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि पृथ्वीराज-रासो में पृथ्वीराज की माता का नाम 'कमला देवी' दिया गया है, किन्तु "पृथ्वीराज विजय" काव्य तथा शिलालेखों में उसका नाम 'कर्पूर देवी' मिलता है।

(४) पृथ्वीराज से बहुत समय पश्चात् होने वाले चंगेजखाँ, तैमूरलंग आदि अनेकों व्यक्तियों के नाम भी इसमें पाये जाते हैं।

(५) भाषा की दृष्टि से भी प्रस्तुत पुस्तक का पुरानापन प्रमाणित नहीं होता, क्योंकि अनेक स्थानों पर भाषा नये सांचे में ढली हुई दिखाई देती है और शब्दों के अनुस्वारांत रूपों की भरमार कर उनका रूप ऐसा विकृत किया गया है कि भाषा का वास्तविक प्राचीन रूप कही-कहीं दिखाई देता है ।

(६) पृथ्वीराज के दरबार में रहने वाले काश्मीरी कवि जयानक ने अपने "पृथ्वीराज विजय" काव्य में पृथ्वीराज के दरबारी कवियों की गणना करते हुए चन्दवरदाई का कहीं नाम नहीं लिखा। यदि चन्द उसका राजकवि होता तो जयानक उसका नाम भी अवश्य लिखता ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर ओझाजी ने 'पृथ्वीराजरासो' को एक सर्वथा अप्रामाणिक सोलहवीं शताब्दी में रचा हुआ 'भाट भणन्त' मात्र सिद्ध किया है।

ओझाजी के सिद्धांतों का खंडन—इसके विपरीत अनेक विद्वानों ने उक्त युक्तियों का खंडन कर 'पृथ्वीराजरासो' को प्रामाणिक ठहराने का प्रयत्न किया। इन विद्वानों में उदयपुर के मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या, काशी के श्री डा० श्यामसुन्दरदास जी बी. ए. और सोलन के महामहोपाध्याय राजगुरु श्री पं० मथुरा-प्रसाद जी दीक्षित विशेष उल्लेखनीय हैं ।

मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या ने संवतों के संबंध में बतलाया कि पृथ्वीराज-रासो में दिये गये संवतों में सच्चे संवतों से लगभग ९०-९१ वर्षों का अन्तर पड़ता है, सो ऐसा जान-बूझ कर हुआ है, क्योंकि—

'एकादस सै पंचदह, विक्रम साक अनंद ।
तिहि रिपुजय पुरहरन को भए पृथिराज नरिन्द' ।।

उक्त दोहे में 'अनंद' शब्द का अर्थ—अ=शून्य, नन्द=नौ अर्थात् नव्वे (वर्ष कम) किया गया है। किंतु इस संबंध में विचारणीय बात यह है कि—प्रथम तो 'अनंद' का अर्थ ९० हो नहीं सकता, फिर भी यदि 'वादीतोष न्याय' से यह अर्थ मान भी लिया जाय तो भी 'वर्ष' और 'कम' किन शब्दों के अर्थ हैं ? केवल 'नव्वे' कहने से ही तो कुछ काम नहीं चल सकता और दूसरी बात यह है कि किसी प्रच-लित संवत् में से नव्वे वर्ष कम क्यों किये जायँ ? 'नन्दों' के शूद्र राज्य के नव्वे वर्षों को भाटों ने द्वेषवश अपने संवत् में से निकाल दिया, यह कहना तो बड़ा ही हास्या-स्पद है। क्योंकि एक तो आज तक ऐसा कभी हुआ नहीं, और दूसरे नन्दों का राज्य विक्रम से पूर्व ही समाप्त हो चुका था, इसलिए उनके नव्वे वर्षों की विक्रम संवत् में से निकालने की कल्पना सर्वथा अमान्य ही है। साथ ही संवतों के अतिरिक्त

अधिकांश घटनाएँ जो इतिहास-विरुद्ध भरी पड़ी हैं, उनका कुछ भी संतोषजनक समाधान नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार डा० श्यामसुन्दरदास जी ने भी कोई बुद्धिग्राह्य अकाट्य तर्क रासो के पक्ष में उपस्थित नहीं किया। उनके कथन का सार भी यही है कि महाभारत और पुराणों की भाँति पृथ्वीराजरासो में भी समय-समय पर बहुत कुछ प्रक्षेप होता रहा अतः उसमें नवीन नाम व अनैतिहासिक घटनाएं आ गईं। असली व प्राचीन पृथ्वीराजरासो अवश्य पृथ्वीराज के समय में बना होगा।

रासो के विभिन्न चार रूपान्तर–इधर कुछ दिनों से पृथ्वीराजरासो के चार विभिन्न निम्न रूपों की चर्चा चल रही है:—

१. **बृहत् रूपान्तर**—इसकी प्रतियां उदयपुर में हैं। नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण भी इसी रूपान्तर का है। इसमें कथा-प्रसंग और वर्णन-विस्तार सबसे अधिक है। इसकी उपलब्ध सबसे प्राचीन प्रति संवत् १७६० की है। श्री पं० मोतीलाल जी मनोरिया इसी प्रति को सबसे प्राचीन मानते हैं।

२. **मध्यम रूपान्तर**—अबोहर और पंजाब यूनिवर्सिटी के ओरियन्टल कालेज लाहौर-पुस्तकालय में सुरक्षित प्रतियाँ इस मध्यम रूपान्तर की हैं। सोमन के श्री महामहोपाध्याय पं० मथुरा प्रसादजी दीक्षित ने इसके कुछ अंश का सम्यक् संपादन व भाष्य कर प्रकाशित भी करवाया। आपके कथनानुसार इसमें सात हजार ('आर्या' छन्द के हिसाब से) पाठ हैं। इसकी प्राचीनतम प्रति के लिए कहा जाता है कि वह संवत १६७२ की लिखी हुई है।

३. **लघुरूपान्तर**—इसकी प्रतिलिपियाँ बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में हैं। श्री नरोत्तम स्वामी आदि विद्वानों ने इसकी पर्याप्त चर्चा की है।

४. **लघुतम रूपान्तर**—इसकी केवल एक प्रति गुजरात के धारणोज गांव से श्री मुनिजिनविजयजी सूरी को प्राप्त हुई।

पृथ्वीराजरासो की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता का निर्णय करने के लिए मैं दोनों पक्षों के प्रमुख विद्वानों—श्री महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझा और श्री महामहोपाध्याय राजगुरु पं० मथुराप्रसाद जी दीक्षित से मिलता और प्रयत्न करता रहा कि दोनों पक्षों को भली भांति सुनकर किसी एक सत्य निर्णय पर पहुँचा जाय। ओझा जी ने अपनी पूर्वोक्त तथा कुछ एक अन्य युक्तियां देकर इसे पूरी तरह अप्रामाणिक ही ठहराया। किन्तु श्री दीक्षित जी ने बताया कि ओरियंटल कालेज लाहौर का पृथ्वीराजरासो का मध्यम रूपान्तर अवश्य ही चन्दबरदाई का बना हुआ प्रतीत होता है और चन्दबरदाई निश्चित रूप से महाराज

पृथ्वीराज के राजकवि इत्यादि थे। दीक्षित जी ने मुझे उक्त सम्पूर्ण प्रति की फ़ोटो-पुस्तक भी दिखाई। उक्त फ़ोटो-पृष्ठों को देखने से उसकी लिपि व कागज़ पर्याप्त पुराने प्रतीत होते थे। उसमें न तो कहीं कोई संवत् ही दिया गया है और न तैमूर, चंगेज़ इत्यादि पृथ्वीराज के परवर्ती व्यक्तियों के नाम ही। साथ ही इसकी पाठ-संख्या भी पूरी ७,००० है। इस सम्बन्ध में चन्दवरदाई ने पृथ्वीराजरासो में स्पष्ट रूप से लिखा भी है कि—

सत्तसहस नष शिष सरिस, सकल आदि शुभ दिष्ष।
घटि बढ़ि मत्तह कोह पढ़ै, मुहि दूसन न विसिष्ष॥

अर्थात् पृथ्वीराजरासो की पाठ संख्या ७,००० श्लोक हैं, इसे कोई न्यूनाधिक न पढ़े और मुझे दोष न दे।

संवतों के सम्बन्ध में दीक्षित जी का कथन है कि रामायण, महाभारत, रघुवंश आदि किसी भी प्राचीन महाकाव्य में किसी घटना के साथ संवतों का उल्लेख नहीं किया गया। महाकाव्यों में संवतों के उल्लेख की प्रथा ही नहीं है। फिर भला चन्दवरदाई महाकवि होकर भी इस कवि-परम्परा का उल्लंघन क्यों करने लगा था? इसलिए उसने अपनी मूल-पुस्तक में कहीं संवत् नहीं दिये थे। संवतों, अनैतिहासिक घटनाओं या बाद में होने वाले व्यक्तियों का उल्लेख पृथ्वीराजरासो में प्रक्षिप्त ही है। 'कमला देवी' और 'कर्पूर देवी' पृथ्वीराज की माता के दो नाम हो सकते हैं। जयानक ने अपने संस्कृत काव्य "पृथ्वीराज विजय" में कहीं चन्दवरदाई का नाम नहीं लिखा, इसके लिए दीक्षित जी का कथन है कि वस्तुतः जयानक कभी पृथ्वीराज के दरबार में उपस्थित हुआ ही नहीं था। उसने काश्मीर में बैठे-बैठे ही अपना काव्य लिखा है। इन कारणों से वे कहते हैं कि पृथ्वीराजरासो का मध्यम रूपान्तर ही चन्दवरदाई का स्वनिर्मित ग्रन्थ है, और चन्दवरदाई पृथ्वीराज के समकालीन ही थे।

इस सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि पृथ्वीराजरासो का अन्तिम अंश या उत्तरार्ध चन्दवरदाई के पुत्र जल्हण ने पूरा किया था क्योंकि वे इसे अधूरा ही छोड़ कर पृथ्वीराज के पास ग़ज़नी चले गये थे।

इन सब मतमतान्तरों के अध्ययन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि—

१. चूंकि पृथ्वीराजरासो में पंजाबी भाषा का प्रभाव नहीं के बराबर है; राजस्थानी मुहावरों, लोकोक्तियों तथा केवल उसी प्रान्त में प्रयुक्त होने वाले

पारिभाषिक शब्दों का इतने प्रचुर परिमाण में प्रयोग हुआ है कि चन्द पंजाबी और लाहौर के रहने वाले प्रतीत नहीं होते, इसलिए वे जन्म-जात राजस्थानी ही अधिक जचते हैं ।

२. चूंकि रासो के पूर्वोक्त चार रूपान्तर प्राप्त हुए हैं, अनेक विद्वान् लघु-रूपान्तर को ही मूल-रासो मानते हैं; उधर श्री दीक्षित जी अपने उक्त मध्यम रूपान्तर को मूल और प्रामाणिक रासो बतलाते हैं । इस सम्बन्ध में वे एक विशेष रचना भी लिखने वाले हैं । जब तक इनमें से कोई भी पक्ष विज्ञ विवेचकों के द्वारा प्रामाणित नहीं किया जाता तब तक पृथ्वीराजरासो की किसी भी प्रति या रूपान्तर को हम प्रामाणिक या असंदिग्ध नहीं कह सकते । इसलिए इस विषय के विशेषज्ञों को शीघ्र सुनिश्चित परिणामों पर पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए ।

३. चाहे इसे प्रामाणिक मानें या अप्रामाणिक, तेरहवीं शताब्दी का मानें या सोलहवीं का, कुछ भी हो इन सब मत-भेदों के रहते हुए भी यह तो सर्वसम्मति से स्वीकृत सत्य सिद्धान्त है कि हिन्दी के सर्व प्रथम महाकाव्य के पद पर प्रतिष्ठित होने का सौभाग्य केवलमात्र पृथ्वीराजरासो को ही प्राप्त है । चन्दबरदाई हिन्दी के सर्वप्रथम महाकवि हैं । ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही उनका महत्त्व उपेक्षणीय हो, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से वह हमारी सरस्वती के भंडार में सर्वश्रेष्ठ रत्नों में से है, इसमें कुछ संदेह नहीं । पृथ्वीराजरासो के कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं—

१. अति ढंक्यो न उघार सलिल जिमि जामि सिवालह ।
वरन वरन सुवृत्त हार चतुरंग विसालह ।
विमल अमल बानी विलास नयन वर भ्रम्भन ।
वक्तिणि बानि विनोद मोद श्रोतणि मन हुम्भन ।
जुत अजुत अग्नि विचार बहु वयन छंद छुट्टयो न कहि ।
घटि बढ़ि कोइ मत्तह पढ़इ चंद दोस दिज्यौ न यहि ।

२. कुट्टिल केस सुदेस, पोहपरिचियत पिक्क सद ।
कमल-गंध बयसंध हंसगति चलत मंद मंद ।
सेत बस्त्र सोहइ सरीर नष स्वाति-बूंद जस ।
भमर भंवहि भुल्लहि सुभाव मकरन्द वास रस ।

३. बज्जिय घोर निसान रान चौहान चहौं दिस ।
सकल सूर सामंत समरि बल जन्त्र मन्त्र तिस ।

उट्ठि राज प्रिथिराज बाग लग मनो वीर नट ।
कढ़त तेग मनो वेग लगत मनो बीज झट्ट घट ।
थकि रहे सूर कौतिग गगन, रंगन मगन भइ शोन धर ।
हृदि हरषि वीर जग्गे हुलसि हुरेउ रंग नव रत्त वर ।।

४. खुरासान मुलतान खंधार मीरं ।
बलक्ख सोबलं तेग अच्चूक तीरं ।।
रुहंगी, फिरङ्गी हलब्बी समानी ।
ठटी ठट्ट बल्लोच ढालं निसानी ।।
मंजारीचषी मुक्खजम्बुक लारी ।
हजारी हजारी हुँकै जोध भारी ।।

जगनिक का आल्हाखण्ड—कहा जाता है कि कालिंजर के महाराज परमर्दी देव के दरबार में जगनिक राजकवि थे । उन्होंनें 'आल्हाखण्ड' नामक वीर-काव्य लिखा था। इसमें बताया गया है कि कालिंजर के परमर्दीदेव के आल्हा और ऊदल नामक दो सामन्तों के घोड़े पृथ्वीराज ने मांग लिए और उनके इनकार कर देने पर पृथ्वीराज ने महोबे पर चढ़ाई कर दी जिसमें आल्हा और ऊदल ने अपूर्व वीरता दिखाई। एक ओर भारत-सम्राट पृथ्वीराज की सेनाएँ डटी थीं तो दूसरी ओर परमर्दीदेव और जयचन्द की । भाई-भाई का यह युद्ध 'महोबे का महाभारत' के नाम से प्रसिद्ध है । आल्हाखण्ड में वीरों की शौर्य-गाथा बड़े ही ओजपूर्ण और उत्साहजनक शब्दों में गाई गई है । आज भी पूर्वी प्रांतों में वर्षा-ऋतु में ढोल की गर्जना के साथ ग्राम्य जनों द्वारा गाए जा रहे इन गीतों की गूंज मानव हृदय में एक अपूर्व उत्साह का संचार कर देती है ।

यह रचना गीतकाव्य होने के कारण मुख परम्परा पर ही रही है, अतः इसकी भाषा अपने मूलरूप से सर्वथा परिवर्तित हो गई, यहां तक कि कई नवीन शस्त्रास्त्रों (बन्दूक, किरच, पिस्तौल आदि) के नाम भी आ गये । इसकी मूल लिखित प्रति प्राप्त नहीं हो सकी थी, अतः सर चार्ल्स इलियट ने सं० १९३७ में अनेक भाटों से इसके गीतों को लिखवा कर उनका संकलन किया । जार्ज ग्रीयर्सन ने भी इसी प्रकार का एक संग्रह तैयार करवाया था ।

आल्हाखण्ड का एक गीत यहां दिया जाता है—

इतनी सुनि के राय वंगरी नैना अग्नि ज्वाल हुई जाय ।
ऐसो देखौं ना काहू को डोला लै दिल्ली को जाय ।।

बातन-बातन बतबढ़ हुइ गइ औ बातन में बाढ़ी रार।
दूनौ दल में हल्ला हुइ गौ क्षत्रिन खींच लई तलवार॥
पैदल के संग पैदल अभिरे और असवारन से असवार।
परो गड़ाका दूनौ दल में जहँ मुँहतोर चलै तलवार॥
अपनो परायो ना पहिचानें सब के मारि मारि रह लाग।
आठ हजार छोड़ सब जूझे दिल्ली बाटन दए गिराय॥

परमालरासो—डाक्टर श्यामसुन्दरदास ने नागरी-प्रचारिणी-सभा के द्वारा दो ग्रंथ प्रकाशित करवाये। उन्होंने इनकी भूमिका में लिखा है कि इन पुस्तकों का नाम इन पर 'पृथ्वीराजरासो' अंकित है पर वास्तव में ये ग्रंथ पृथ्वीराजरासो के अंश नहीं क्योंकि इनमें पृथ्वीराज की अपेक्षा परमर्दीदेव और जयचन्द की वीरता की विशेष बड़ाई की गई है। इसलिए उन्होंने इस पुस्तक को 'परमालरासो' का नाम दिया। इसे १. 'महोबा खण्ड' और २. 'कनवज खण्ड' नामक दो भागों में प्रकाशित किया गया है। यह रचना आल्हाखण्ड से सर्वथा भिन्न है क्योंकि इसमें तोटक, सवैया आदि अनेक छंदों का प्रयोग हुआ है। भाषा पश्चिमीपन लिए हुए है, किन्तु आल्हा-खण्ड में केवल आल्हा छन्द और पूर्वी भाषा का प्रयोग हुआ है।

भट्ट केदार और मधुकर कवि—इन्होंने क्रमशः : १. 'जयचन्द प्रकाश' और २. 'जयमयंकजसचन्द्रिका' नामक दो ग्रन्थ जयचन्द की प्रशंसा में बनाए थे। ये ग्रन्थ अभी तक कहीं पर उपलब्ध नहीं हुए, केवल ग्रन्थों में उनका उल्लेख-मात्र है। पुस्तक के नामों से अनुमान किया जाता है कि ये कवि राजा जयचन्द के समकालीन थे।

नल्लसिंह भट्ट का विजयपालरासो—इसमें करौली-नरेश विजयपाल की वीरता का वर्णन है। नल्लसिंह का समय सं० १३५५ माना गया है।

जज्जल—ये रणथम्भोर के महाराज हम्मीरदेव के मंत्री, सेनापति और राज-कवि थे। इन्होंने अपने आश्रय-दाता महाराज हम्मीरदेव की प्रशंसा में सं० १३५५ के लगभग 'हम्मीररासो' नामक महाकाव्य लिखा, जिसमें महाराणा हम्मीर और अलाउद्दीन के विकट युद्ध का बड़ी ही ओजस्विनी भाषा में वर्णन किया गया है। बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि यह पुस्तक नष्ट हो गई। 'प्राकृत-पिंगल सूत्र' नामक पुस्तक में इस ग्रंथ की बहुत-सी कविताएं उद्धृत हैं, जिनसे इनकी भाषा व रचना-शैली का आभास मिल सकता है। आचार्य शुक्ल जी आदि अनेक इतिहास-कारों ने भ्रम से 'हम्मीररासो' तथा उसकी 'प्राकृत-पिंगल-सूत्र' में उद्धृत कवि-ताओं को शार्ङ्गधर-रचित मान लिया पर अनेक विद्वान प्राचीन 'हम्मीररासो' तथा

उक्त कविताओं का रचयिता जज्जल को बतलाते हैं। यह जज्जल उस विकट रण-क्षेत्र में स्वयं उपस्थित थे और इन्होंने उस महान् ऐतिहासिक 'साके' या उत्सर्ग का अपनी आँखों-देखा वर्णन किया था। शार्ङ्गधर हम्मीर की तीसरी पीढ़ी में हुए हैं, उन्होंने हम्मीररासो की रचना नहीं की। हाँ शार्ङ्गधर पद्धति में कुछ एक देश-भाषा मिश्रित संस्कृत के पद्य अवश्य लिखे थे। जज्जल के हम्मीररासो की एक कविता नीचे दी जाती है :—

ढोला मारिय ढिल्लि महँ मुच्छिउ मेच्छ-सरीर।
पुर जज्जल्ला मंतिवर चलिअ बीर हम्मीर॥
चलिअ बीर हम्मीर पाअभर मेइणि कंपइ।
दिगमग णह अंधार धूलि सुररह आच्छाइहि॥
दिगमग णह अंधार आण खुरसाणुक उल्ला।
दरमरि दमसि विपक्ख मारु ढिल्ली मह ढोल्ला॥

वीरगाथाकाल का विविध साहित्य

इस काल के वीरतात्मक साहित्य का परिचय पहले दे दिया गया है। उनमें से खुमानरासो, बीसलदेवरासो और पृथ्वीराजरासो डिंगल भाषा अर्थात् राजस्थानी की रचनाएँ हैं। आल्हाखण्ड की भाषा पूर्वीपन लिए हुए है, और जज्जल का हम्मीररासो अपभ्रंश भाषा में लिखा गया था। अब यहाँ इस काल की अन्य विविध विषयों की रचनाओं का परिचय दिया जाता है।

अमीर खुसरो—इनका वास्तविक नाम अबुलहसन था। ये एटा ज़िले के पटियाली ग्राम में सं० १३१० में उत्पन्न हुए थे। अतः इनका रचनाकाल सं० १३४० है। ये बादशाह बलबन के शाहज़ादे मुहम्मद के शिक्षक और राजकवि थे। यह ग़यासुद्दीन बलबन से लेकर अलाउद्दीन और कुतुबुद्दीन मुबारकशाह तक ग्यारह पठान शासकों के समय तक बने रहे थे। गुलाम वंश का अन्त और तुग़लक वंश का आरम्भ इनके सामने ही हुआ था। यह अरबी फ़ारसी के विशिष्ट विद्वान् और कुशल कवि तो थे ही, साथ हिंदी के भी प्रमुखतम लेखकों में से एक थे। कहा जाता है कि खुसरो ने निनानवे पुस्तकें लिखी थीं, जिनमें कई लाख शेर थे और जिनमें से केवल बाईस ग्रंथ ही मिलते हैं। ये ग्रंथ इतिहास आदि विविध विषयों के हैं। अनेक

कारणों से हिंदी साहित्य में इनका एक विशेष स्थान बन गया है।

जिस युग के कविगण या चारण केवल वीर-प्रशस्तियाँ गाकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ बैठते और समाज के चित्तरंजन के लिए कुछ भी लिखने का प्रयत्न नहीं करते थे, उस समय में हमें केवल एक खुसरो ही सर्व-प्रथम ऐसा कवि दिखाई देता है जिसने मुकोमल ब्रज-भाषा और खड़ी बोली दोनों में लोक-हृदय को आकृष्ट करने वाली सरल, सरस रचनाएँ लिखीं। खड़ी बोली के प्रथम कवि का प्रतिष्ठित पद प्राप्त करके तो इन्होंने अपना महत्त्व बहुत ही अधिक बढ़ा लिया और साथ ही 'खालिक बारी' नामक अरबी, फ़ारसी और हिंदी का एक कोष लिख कर हिंदी से फ़ारसी और फ़ारसी से हिंदी पढ़ने वालों का मार्ग अत्यन्त प्रशस्त कर दिया। इनकी यह रचना फ़ारसी के प्रारंभिक छात्रों में अत्यन्त ही लोकप्रिय है। इस विदेशी विधर्मी लेखक की हिंदी भाषा की पवित्रता और श्रेष्ठता पर अगाध श्रद्धा देखकर हमें आज के 'हिंदुस्तानी' भाषा के उपासकों पर दया-सी आती है। यह मुस्लिम लेखक हिंदी की इसलिए महत्ता व श्रेष्ठता स्वीकार करता है कि उस पर विदेशी प्रभाव नहीं है। वह सर्वथा स्वतंत्र, शुद्ध और सुसंस्कृत भाषा है। अमीर खुसरो लिखते हैं कि:—

"मैं भूल में था पर अच्छी तरह सोचने पर हिंदी भाषा फ़ारसी से कम नहीं ज्ञात हुई। सिवाय अरबी के जो प्रत्येक भाषा की मीर और सबों में मुख्य है, रई और रूम की प्रचलित भाषाएँ समझने पर हिंदी से कम मालूम हुईं। अरबी अपनी बोली में दूसरी भाषा को नहीं मिलने देती पर फ़ारसी में यह एक कमी है वह बिना मेल के काम आने योग्य नहीं है। . . . . सब से अच्छा धन वह जो अपने कोष में बिना मिलावट के हो, परन्तु न रहने पर माँग कर पूँजी बनाना भी अच्छा है। हिंदी भाषा भी अरबी के समान है, क्योंकि उसमें भी मिलावट को स्थान नहीं है। यदि अरबी का व्याकरण नियमबद्ध है तो हिंदी में भी उससे एक अक्षर कम नहीं है। जो इन तीनों भाषाओं का ज्ञान रखता है वह जानता है कि मैं न भूल कर रहा हूँ न बढ़ा कर लिख रहा हूँ। . . . . . . यदि मैं सचाई के और न्याय के साथ हिंदी की प्रशंसा करूँ तब तुम शंका करोगे और यदि मैं सौगंध खाऊँ तब कौन जानता है कि तुम विश्वास करोगे या नहीं? ठीक है कि मैं इतना कम जानता हूँ कि वह नदी की एक बूँद के समान है। पर उसे चखने से मालूम हुआ कि जंगली पक्षी को दजला (टाईग्रीस) नदी का जल अप्राप्य है। जो हिंदोस्तान की गंगा से दूर है वह नील और दजला के बारे में बहकता है। जिसने बाग के बुलबुल को चीन में देखा है वह हिंदुस्तानी बुलबुल को क्या जानेगा।"

दूसरी ओर आधुनिक 'हिंदुस्तानी' के भक्त हमारी इस शुद्ध हिंदी को विदेशी तत्त्वों से लादकर इसे 'वर्णसंकर' बना देने के लिए कमर कसे बैठे हैं।

उक्त कोष के अतिरिक्त खुसरो अपनी पहेलियों और 'कह मुकरियों' के कारण भी अत्यन्त लोकप्रिय हैं। शायद ही कोई ऐसा हिंदी-भाषा-भाषी व्यक्ति हो जिसके मुख पर खुसरो की कोई न कोई पहेली न विराजती हो। इतना होने पर भी यह सत्य है कि खुसरो के नाम पर प्रचलित सभी पहेलियां उसकी अपनी बनाई हुई नहीं हैं और जो उनकी स्वरचित हैं उनमें भी भाषा परिवर्तित हो गई है। उनकी रचना की सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उनकी भाषा प्राचीन परिपाटी की अपभ्रंश की पुट लिए हुए न होकर तात्कालिक समाज की शुद्ध सरल बोल-चाल की भाषा है। हिंदी के निखरे हुए रूप का सर्वप्रथम दर्शन हमें खुसरो की रचनाओं में ही मिलता है। इन्होंने ब्रज और खड़ी बोली दोनों भाषाओं में रचनाएँ लिखीं। उनकी कविताओं के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं:—

खालिकबारी

बया बिरादर आवरे भाई।
बनशान मादर बैठ री माई।
मुश्क काफूर अस्त कस्तूरी कपूर।
हिन्दवी आनन्द शादा और सरूर।
मूश चूहा गुर्बः बिल्ली मार नाग।
सोज़नो रिश्तः बहिन्दी सुई ताग॥

आँखों का एक नुस्ख़ा

लोध फिटकरी मुर्दासङ्ग। हल्दी, जीरा एक-एक टङ्क॥
अफीम चनाभर मिर्च चार। उरद बराबर थोथा डार।
पोस्त के पानी पोटली करे। तुरत पीर नैनों की हरे॥

पहेलियाँ

तरवर से एक तिरिया उतरी उसने बहुत रिझाया।
बाप का उसके नाम जो पूछा आधा नाम बताया।
आधा नाम पिता पर प्यारा बूझ पहेली मोरी।
"अमीर खुसरो" यों कहें अपने नाम "न बोली"॥
"निबोरी"।

फ़ारसी बोले आईना। तुरकी सोचे पाईना।
हिन्दी बोलते आरसी आये। मुंह देखे जो इसे बताये॥
"आईना"।

बीसों का सिर काट लिया। ना मारा ना खून किया॥
"नाखून"।

जलकर उपजे जल में रहे। आँखों देखा "खुसरो" कहे॥
"काजल"।

आदि कटे ते सब को पारे। मध्य कटे ते सब को मारे।
अन्त कटे ते सब को मीठा। सो "खुसरो" मैं आंखों दीठा।
"काजल"।

पहेलियों के सिवा खुसरो ने स्त्रियों के गाने के लिए बहुत से गीत भी लिखे थे। उनका एक गीत यहाँ दिया जाता है:—

अम्मा, मेरे बाबा को भेजो जी, कि सावन आया।
बेटी, तेरा बाबा तो बुड्ढा री, कि सावन आया॥
अम्मा, मेरे भाई को भेजो जी, कि सावन आया।
बेटी, तेरा भाई तो बाला री, कि सावन आया॥
अम्मा, मेरे मामू को भेजो जी, कि सावन आया।
बेटी तेरा मामू तो बांका री, कि सावन आया॥

खुसरो की "मुकरनियां" भी बहुत प्रसिद्ध हैं:—

मुकरनी

सिगरी रैन मोहि संग जागा।
भोर भई तब बिछुड़न लागा॥
उसके बिछुड़े फाटत हिया।
क्यों सखि, साजन? ना सखि, "दिया"॥ १॥

सरब सलोना सब गुन नीका।
वा बिन सब जग लागे फीका।
वाके सर पर होवे कौन।
ऐ सखि, साजन? ना सखि "लौन"॥ २॥

वह आवे तब शादी होय।
उस बिन दूजा और न कोय।
मीठे लागे वाके बोल।
ऐ सखि, साजन ? ना सखि, "ढोल" ॥ ३ ॥

खुसरो ने "दो सखुने" भी बहुत से कहे हैं। कुछ ये हैं—

जूता क्यों न पहना—समोसा क्यों न खाया ? तला न था।
अनार क्यों न चखा—वजीर क्यों न रखा ? दाना न था।
पण्डित क्यों पियासा—गदहा क्यों उदासा ? लोटा न था।
पण्डित क्यों न नहाया—धोबिन क्यों मारी गई ? धोती न थी।

खुसरो ने फ़ारसी और हिंदी की मिलावट के छन्द भी लिखे हैं। उन में एक यह है:—

जे हाल मिसकीं मकुन तगाफुल दुराय नैनां बनाय बतियां ॥
कि ताबे हिजरां न दामे ऐ जां ! न लेहु काहे लगाय छतियां ॥
शबाने हिजरां दराज़ चूं जुल्फ़ व रोजे वसलत चु उम्र कोतह।
सखी पिया को जो मैं न देखूं तो कैसे काटूं अंधेरी रतियां ॥

खुसरो ने एक अवसर पर यह दोहा कितना सुन्दर कहा है—

गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुं देश ॥

शार्ङ्गधर—ये रणथम्भोर के महाराज के प्रधान सभासद् राघवदेव के पौत्र थे। हम्मीरदेव सं० १३९० में अलाउद्दीन के साथ लड़ते-लड़ते युद्ध में काम आए थे, अतः शार्ङ्गधर का रचनाकाल सं० १४८० के लगभग मानना चाहिए। इनके 'शार्ङ्गधर संहिता' नामक आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रंथ तथा 'शार्ङ्गधर पद्धति' सुभाषित ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं। शुक्ल जी आदि विद्वान् हम्मीररासो का रचयिता भी इन्हें ही मानते हैं। इन्होंने अपने अनेक सुभाषित पद्यों में संस्कृत के साथ-साथ तात्कालिक देशभाषा को भी बड़े ही आकर्षक रूप में प्रतिष्ठित किया है। इनका ऐसा एक पद्य देखिए:—

नूनं बादल छाइ खेह पसरी, निःश्राण शब्दः खरः।
शत्रुं पाड़ि लुटालि तोड़ हनिसौं एवं भणन्त्युद्भटाः ॥

झूठे गर्वभरा मघालि सहसा रे कन्त मेरे कहे ।
कंठे पाग निवेश जाह शरणं श्री मल्लदेवं विभुम् ।।

उक्त पद्य में रेखांकित पद तात्कालिक देशभाषा के स्वरूप को प्रकट करते हैं।

डिंगल भाषा में भी वीर गीतों के साथ-साथ लोक-साहित्य का सृजन होता रहा। इसका परिचय आगे वीरगाथा के द्वितीय उत्थान शीर्षक अध्याय में यथास्थान दिया जायगा।

अभ्यास

१. दलपतविजय, और शार्ङ्गधर की रचनाओं का संक्षिप्त समालोचनात्मक परिचय दें।

२. क्या बीसलदेवरासो बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) के समय का ही बना हुआ है ?

३. पृथ्वीराजरासो के कथानक और भाषा पर प्रकाश डालते हुए इसकी प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता पर परिपुष्ट विचार प्रकट करें।

४. यदि पृथ्वीराजरासो अप्रामाणिक या संदिग्ध है तो आप हिन्दी का सर्व-प्रथम महाकाव्य किसे मानेंगे ?

५. हम्मीररासो, आल्हाखण्ड, व खुसरो की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दें।

पूर्व-मध्य-काल—भक्तिकाल

(संवत् १३७५ से १७०० तक)

पाँचवाँ अध्याय

भक्ति-काल की सामयिक परिस्थितियाँ

विक्रम की १४ वीं शताब्दी के अन्त होते-होते हिंदी साहित्य की धारा अपने पुराने उद्दाम और ओजस्वी वीरगाथात्मक रूप को त्यागकर भक्ति की प्रशान्त कलित कविता के नवीन रूप में प्रवाहित होने लगी। कारण यह था कि इस समय तक भारत में मुसलमानों का आधिपत्य एक प्रकार से पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हो गया था। बाबर के पश्चात् भारतवर्ष पर किसी यवन आक्रमणकारी ने चढ़ाई करने का साहस नहीं किया। अत: बाह्यशत्रु से लोहा लेने की भावनाएँ जनता के हृदयों से लुप्त-सी हो गईं। जब युद्ध और संघर्ष ही नहीं रहे तो वीरता कैसी ? और वीरता की रचनाएँ कैसी ? दूसरी बात यह कि बाबर से पूर्व ही अनेक मुस्लिम आक्रांता भारत के सम्राट् के रूप में दिल्ली के तख्त पर बैठ चुके थे। वे लोग भारतीय जनता पर मनमाने अत्याचार करते रहते। हिंदुओं के अथक प्रयत्न करने पर भी विदेशियों की विपत्ति देश से दूर न हुई। देखते ही देखते वे यहाँ जम ही तो गये। अब निरन्तर मन्दिर गिराए जाने लगे, वेद जलाए जाने लगे और निरीह साधु-ब्राह्मण और बौद्ध भिक्षु तलवार के घाट उतारे जा रहे थे। इन सब अत्याचारों को देखते हुए भी हिंदू जनता में इनके प्रतिकार का न साहस था न शौर्य। उसके पास चुपचाप मन मारकर सब कुछ सहन करने के सिवा और कोई चारा ही न था। निरन्तर ३०० वर्षों तक लड़ने के पश्चात् अब जनता थक कर हताश हो गई थी। मनोविज्ञान का सामान्य सिद्धांत है कि जब मनुष्य पर कोई विपत्ति आती है तो पहले वह उसे अपने पुरुषार्थ से हटाना चाहता है। किंतु लाख प्रयत्न करने पर भी जब वह नहीं टलती तो वह प्रभु से प्रार्थना करने लगता है। इसी नियम के अनुसार हम देखते हैं कि अथक संघर्ष करने पर भी जब विदेशी शासन की बला हमारे सर से न टली तो भारतीय जनता ने भगवद्भक्ति को ही अपना एक-मात्र अवलम्बन मान लिया। और समाज के पथ-प्रदर्शक कवियों ने भी प्रभु-प्रेम का पीयूष-प्रवाह बहाकर समाज में सरसता का संचार कर दिया।

इसके अतिरिक्त दूसरा बड़ा कारण यह भी था कि अब तक भारत में मुसलमान पर्याप्त संख्या में बस चुके थे। उनके यहाँ से वापस चले जाने की अब कोई संभावना न रह गई थी। अतएव ऐसा कोई मार्ग या उपाय खोज

निकालने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी जिस के आधार पर हिंदुओं और मुसलमानों का अजनबीपन मिट जाय और पारस्परिक प्रेम बढ़ने लगे। राजनैतिक क्षेत्र में हिंदू और मुसलमान अभी एक न हो पाये थे। शासक और शासितों की भावना इस कार्य में एक प्रकार से बाधा-सी उत्पन्न कर रही थी। किंतु प्रभु के दर्बार में तो दोनों समान रूप से एक साथ बैठ सकते थे। भक्ति का द्वार सब के लिए खुला था। फलतः समाज के संचालक साहित्यिकों ने भक्ति का एक ऐसा सरल राज-मार्ग प्रशस्त कर दिया, जिस पर दोनों ही कन्धे से कन्धा मिलाकर साथ-साथ चलने लगे। कुछ मुसलमान ऊपर उठे और कुछ हिंदू नीचे उतरे। हिंदुओं ने मुसलमानों की निर्गुण उपासना को निस्संकोच भाव से अपना लिया। उधर मुसलमानों ने भी हिंदुओं के अनेक सिद्धांत नतमस्तक हो स्वीकार कर लिये। इस प्रकार साहित्य की श्रीवृद्धि करने में हिंदुओं और मुसलमानों की एक होड़-सी लग गई। परिणामस्वरूप हम देखते हैं कि जहाँ सूर, तुलसी और नानक, सरीखे हिंदू कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा हिंदी साहित्य के भंडार को भरपूर किया, वहाँ कबीर, जायसी, रहीम, रसखान आदि मुस्लिम कलाकारों ने भी अपने अमूल्य रचना-रत्नों से उसके वैभव को कई गुना बढ़ा दिया।

तीसरा कारण यह है कि एक ओर तो उत्तर भारत के योगी या नाथ-पन्थी साधु निराकार की उपासना का प्रचार कर 'अलख' जगा रहे थे, दूसरी ओर दक्षिण भारत में रामानुज, निम्बार्क, मध्व आदि आचार्य राम, कृष्ण और नारायण की साकारोपासना का प्रचार कर रहे थे। इस समय तक उत्तर भारत का वातावरण संघर्ष और युद्धमय-सा था, अतः उक्त धार्मिक भावनाओं को अभी तक पूरी तरह पनपने का अवसर प्राप्त न हो सका। पश्चात् थोड़ी-सी शान्ति के होते ही ये सब धार्मिक संप्रदाय व्यापक प्रचार-क्षेत्र में उतर आए। योगियों के सिद्धांतों के आधार पर कबीर ने निर्गुणोपासना का उपदेश देकर हिंदुओं और मुसलमानों को समीप लाने का प्रयत्न किया उधर गोस्वामीजी ने राम का रूप दिखाकर जनता में, कर्मण्यता, साहस और सदाचार की भावनाएँ भरीं। अब तक के संघर्षों से समाज का जीवन शुष्क-सा हो गया था। सूरदास आदि कृष्ण-भक्तों ने अपने प्रेमप्लावित सरस साहित्य के द्वारा उस नीरसता का निराकरण कर सच्ची सरसता का संचार किया और जन-जीवन को आल्हादित कर दिया।

परिचय और सिद्धांत—भक्ति काल का साहित्य विविध दार्शनिक सिद्धांतों पर आधारित है। इसलिए सर्वप्रथम प्रमुख दार्शनिक विचारधाराओं का यहां संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

१. **ज्ञान-प्रधान अद्वैतवाद**—विश्वविदित वेदान्त-सिद्धांत भारत का सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक वाद है। इसके व्यापक प्रचार का श्रेय श्री स्वामी शंकराचार्य को है। दार्शनिक दृष्टि से इसे 'विवर्तवाद' भी कहा जाता है। अद्वैत सिद्धांत में जीव और ब्रह्म की एकता व जगत् का मिथ्यात्व स्वीकार किया गया है। जड़ चेतन, साकार निराकार, प्रत्येक पदार्थ-मात्र वस्तुतः उसी परब्रह्म के—नाम रूप के कारण—परिवर्तित स्वरूप हैं। यह नदी-नाले, यह पर्वत, यह पशु-पक्षी और यह मनुष्य आदि प्राणी सभी के सभी ब्रह्मस्वरूप ही हैं। ब्रह्म के सिवा अन्य किसी वस्तु की सत्ता सत्य नहीं है। ब्रह्म और जीव की यह जो भेद-प्रतीति होती है वह केवल नामरूप के कारण ही है। इस नामरूपात्मक 'माया' को यदि ज्ञान के द्वारा मिटा दिया जाय तो वह केवल ब्रह्म ही सर्वत्र सर्वरूपों में व्याप्त प्रतीत होगा। इसे निम्न उदाहरण के द्वारा भली-भाँति समझाया जा सकता है—

दीवाली के दिनों में हलवाई की दूकान पर जाकर हमने चीनी के ताजमहल, मोटर, सिपाही, शेर, घोड़ा आदि खरीदे। घर पर आने पर उन्हें देख बालक आपस में लड़ने लगे—एक कहता है 'मैं ताजमहल नहीं, घोड़ा लूँगा' तो दूसरा कहता 'मैं मोटर लूँगा।' इस प्रकार उनके लिए बालकों में बड़ा भारी वाद-विवाद भी हो जाता है। किंतु ज्ञानी पुरुष भली-भाँति समझता है कि यह झगड़ा सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि इन सब पदार्थों में मूल वस्तु तो पहले भी 'खांड' थी अब भी खांड है और फिर भी खांड ही रहेगी। केवल उस खांड के रूप और नाम-मात्र परिवर्तित हुए हैं। इसीलिए 'ताजमहल' और 'घोड़ा'—जड़ और चेतन—का भेदमूलक ज्ञान हो रहा है। यदि उन खिलौनों को तोड़ दिया जाय—या यों कहें कि उनके नाम-रूप मिटा दिये जायँ—तो केवल शुद्ध खांड ही अवशिष्ट रहेगी। इसी प्रकार शुद्ध, निर्गुण, निरुपाधि, ब्रह्म 'एकोऽहं बहु स्याम्' (मैं एक अनेक हो जाऊँ) का संकल्प करते ही विश्व-प्रपंच का रूप धारण कर लेता है—ब्रह्म ही ब्रह्मांड रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसीलिए वेदान्त सिद्धांत कहता है कि आत्मा परमात्मा एक ही है। उसके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसी भावना को प्रकट करने के उद्देश्य से ही 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त के महावाक्य व्यवहृत होते हैं। किंतु माया के पर्दे के कारण मनुष्य उस सत्य आत्म रूप का दर्शन नहीं कर सकता। उस माया के आवरण को दूर करने का एक-मात्र साधन है—ज्ञान। ज्ञान के बिना आत्म-साक्षात्कार या मुक्ति प्राप्त हो नहीं सकती। जैसा कि कहा है 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' (ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती) इसीलिए श्रीयुत रामनरेश त्रिपाठी ने कहा है कि—

'तू ज्ञान हिंदुओं में' । वास्तव में हिंदू धर्म ज्ञान-प्रधान ही है ।

इस ज्ञान मूलक अद्वैतवाद को अपना लेने से विश्व की विषमताएँ स्वतः समाप्त हो जाती हैं । क्योंकि राग, द्वेष, क्रोध, हिंसा, अपकार आदि की भावनाएँ परायों के प्रति ही होती हैं, अपनों के लिए नहीं । अद्वैतवाद के अपना लेने पर जब कोई भी पराया रह नहीं जाता, सर्वत्र केवल आत्मरूप ही आत्मरूप प्रतीत होता है तो कोई किसी का अपकार करेगा ही क्यों ? भेद-भावना ही तो सब अनर्थों का मूल है । इसलिए विश्वशान्ति की प्राप्ति के लिए वेदान्त के उक्त तत्त्व को अपना लेने से प्राणिमात्र के प्रति प्रेम का प्रवाह उमड़ सकता है ।

२. **रहस्यवाद**—उक्त अद्वैतवाद ही अपने दार्शनिक रूप को त्याग कर जब साहित्य के सरस सुन्दर रूप में प्रकट होता है तो उसे 'रहस्यवाद' कहते हैं । एक आलोचक ने ठीक ही कहा है कि 'चिन्तन के क्षेत्र में जिसे अद्वैतवाद कहते हैं, भावना के क्षेत्र में उसे ही रहस्यवाद कहा जाता है ।' कबीर की रचनाओं में इसी प्रकार का रहस्यवाद लक्षित होता है ।

'लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल ।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल' ।।

कबीर की उक्त रचना में रहस्यवाद की सुन्दर अवतारणा हुई है ।

उस प्रियतम के प्रति जिज्ञासा, उत्सुकता व प्राप्ति के लिए प्रयत्न और प्राप्ति आदि इस रहस्यवाद की अवस्थाएँ मानी जाती हैं ।

३. **सूफ़ी सिद्धांत**—भारतीय अद्वैत मूलक धर्म के सिवा विश्व के बाकी सभी—ईसाई, इस्लाम, यहूदी आदि सम्प्रदाय द्वैतवादी ही हैं । ये एकेश्वरवाद या कट्टर पैग़बरी खुदावाद के अनुयायी हैं । इस्लाम आदि संप्रदायों के सिद्धांतों में ईश्वर एक है और जीव उससे सर्वथा भिन्न है । ईसा, मुहम्मद आदि पैग़म्बर भी स्वयं ईश्वर या उसके अंश नहीं प्रत्युत उसके पुत्र या संदेशवाहक दूत हैं । यह बात दूसरी है कि वे इस रूप में रहते हुए भी ईश्वर से भी बड़े माने जाते हैं, क्योंकि जिन के लिए यह पैग़म्बर सिफ़ारिश कर देंगे कयामत के दिन खुदा उनके सब गुनाह बख्श देगा । पैग़म्बरों की पूजा इसी प्रकार की प्रेरणा का परिणाम है । ये लोग पुनर्जन्म को नहीं मानते । अद्वैतवाद का खंडन करते हुए ये कहते हैं कि बन्दा (जीव) कभी खुदा (ब्रह्म) नहीं हो सकता । जो कहता है कि बन्दा ही ख़ुदा है या जीव और ब्रह्म एक है वह काफ़िर है ।

किंतु मुसलमानों आदि का उक्त भेदमूलक द्वैतवाद वस्तुतः सत्य सिद्धांत नहीं है । सत्य तो अद्वैत सिद्धांत ही है । इसीलिए फ़ारस के कुछ सन्तों ने निर्भीक

और निष्पक्ष होकर इस भारतीय अद्वैतवाद को अपना लिया। ये सन्त बड़े सात्विक, सदाचारी व संतोषी थे। ये लोग केवल एक ऊन का सफ़ेद चोग़ा पहना करते थे, चूँकि फ़ारसी में ऊन को 'सूफ़' कहते हैं इसलिए सूफ़ के वस्त्र धारण करनेवाले संत 'सूफी' कहलाए। कुछ लोगों का कहना है कि यूनानी सूफ़ी शब्द 'ज्ञानी' के अर्थ में चलता है, और चूँकि ये सन्त भी ज्ञानी थे इसीलिए इनको सूफ़ी कहा गया है।

इन सूफ़ियों ने अद्वैतवाद को अपना तो लिया और 'अनुअलहक'—जिसका अर्थ 'तत्वमसि' से मिलता-जुलता 'ओ तू मैं' है—की रट लगाने लगे। किंतु भारतीय अद्वैतवाद से इन्होंने अपने सिद्धांतों में कुछ अन्तर भी रखा। इन्होंने ज्ञान के स्थान पर प्रेम को प्रधानता दे दी। उस आत्मरूप प्रियतम की प्राप्ति प्रेम के द्वारा ही इन्होंने मानी है। दूसरी बात यह है कि प्रियविरह को उनके यहाँ अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान मिला है। जो आत्मा जितनी प्रिय-विरह में तड़पेगी वह उतनी ही शीघ्र उसे प्राप्त करने की अधिकारी हो जायगी। साथ ही इन्होंने परमात्मा को प्रेयसी और आत्मा को उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करने वाले प्रियतम के रूप में अंकित किया है। इन लोगों ने कल्पित या ऐतिहासिक शाहज़ादा और शाह-जादियों—राजकुमारों और राजकुमारियों—की प्रेमकथाओं के रूपकों के द्वारा अलौकिक ईश्वरीय प्रेम का वर्णन किया है।

फ़ारस में हल्लाज़ या मन्सूर एक प्रसिद्ध सूफ़ी सन्त हो गये हैं। अद्वैतवाद को मानने व 'अनलहक' की रट लगाने के कारण ये काफ़िर करार दे दिये गये और फाँसी पर लटका दिये गये। ऐसे ही अन्य सैकड़ों सन्तों को भी इस सत्य सिद्धांत को स्वीकार करने के कारण ही इस संसार से सदा के लिए विदा हो जाना पड़ा। भारत में भी कबीर को अनेक यातनाएँ सहनी पड़ीं और 'शेख सरमद' नामक सूफी सन्त को औरंगज़ेब ने बड़ी क्रूरता के साथ कत्ल करवा दिया। उसकी कब्र या मज़ार दिल्ली में जामा-मस्जिद के सामने अब भी 'अनलहक' या 'तत्वमसि' के अमर वाक्यों को प्रतिध्वनित कर रही है। मलिक मुहम्मद जायसी आदि अनेकों सूफ़ी सन्तों ने हिंदी साहित्य को भी अपनी अनेक अमर रचनाएँ प्रदान की हैं। जिनका परिचय आगामी पृष्ठों में यथास्थान दिया जायगा।

रामानुज का विशिष्टाद्वैत—शंकर के उक्त ज्ञान और साधना-मूलक अद्वैतवाद को रामानुज ने अस्वीकार करते हुए अपना 'विशिष्टाद्वैतवाद' चलाया। उनके मत में जीव ब्रह्म नहीं, प्रत्युत ब्रह्म से निर्मित है। ब्रह्म से जीव का प्रादुर्भाव हुआ है, इसीलिए इनकी एकरूपता नहीं प्रत्युत समानरूपता या सामीप्यता ही मानी

४. शुद्धाद्वैतवादी या पुष्टिमार्गी सूरदास आदि का कृष्ण-भक्त सम्बन्धी गीतात्मक साहित्य।

इनमें से पहले दो निर्गुणोपासक तथा अन्तिम दोनों सगुणोपासक हैं। अतः इस काल के साहित्य को पहले १ निगुर्ण और २ सगुण इन दो मुख्य विभागों में विभक्त किया गया है। आगे फिर मुस्लिम भावनाओं से प्रभावित निर्गुण के १ ज्ञानमार्गी २ प्रेममार्गी तथा प्राचीन हिंदू उपासना पद्धति पर आधारित सगुण के राम-भक्त और कृष्ण-भक्त यह दो उपविभाग किये गये हैं।
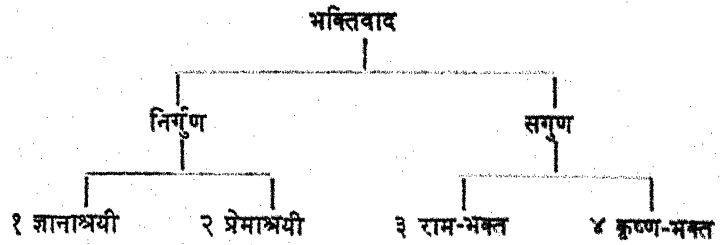
अभ्यास

१. साहित्य की वीर-गाथात्मक धारा भक्ति के रूप में क्यों प्रवाहित होने लगी? सयुक्तिक विवेचन करें।

२. भक्ति सम्बन्धी साहित्य मुख्य कितने और कौन २ से उपविभागों में विभक्त किया गया है?

३. अद्वैतवाद, रहस्यवाद, सूफ़ी सम्प्रदाय, विशिष्टाद्वैत, एकेश्वरवाद व पुष्टि-मार्ग—इनसे आप क्या समझते हैं, सविस्तर सोदाहरण स्पष्ट करें।

४. भक्ति साहित्य के आरम्भ-काल की देश की सामाजिक, राजनैतिक आदि परिस्थितियों का परिचय देकर साहित्य के साथ उनका सामञ्जस्य दिखाएँ।

५. 'दार्शनिक दृष्टि से जिसे अद्वैतवाद कहते हैं साहित्य संसार में वही 'रहस्यवाद' का रूप ग्रहण कर लेता है' इस उक्ति की सयुक्तिक व्याख्या करते हुए अद्वैतवाद या रहस्यवाद की महत्ता पर प्रकाश डालें।

छठा अध्याय

ज्ञान-मार्गी—सन्तकाव्य

जैसा कि पहले कहा गया है चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण म सामयिक परिस्थितियों ने हिंदू और मुसलमान दोनों को समीप आने के लिए बाध्य कर दिया था। इस कार्य के लिए सर्वप्रथम प्रयत्न ज्ञान-मार्गी सन्त कवियों के द्वारा हुआ। उन्होंने अपने साहित्य में दोनों के सिद्धांतों का सामंजस्य व समन्वय कर दिया। यद्यपि इस संप्रदाय के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि कवि महात्मा कबीर ही हुए हैं, फिर भी उन से पूर्व कुछ अन्य प्रसिद्ध सन्तों ने भी इस विषय की अनेक रचनाएँ लिखी थीं। अब पहले यहाँ उन में से एक का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

नामदेव–इनका जन्म सं० १३२७ में दक्षिण में सतारा जिले के 'नरसीबमनी' नामक स्थान में हुआ था। और मृत्यु सं० १४०७ में पण्ढारपुर में हुई। आरम्भ में यह साकार के उपासक थे किंतु बाद में उनकी प्रवृत्ति निर्गुण की ओर भी झुकती हुई सी दिखाई देती है। कहा जाता है कि यह प्रसिद्ध गीता की 'ज्ञानेश्वरी' टीका के लेखक सन्त ज्ञानेश्वर के शिष्य थे। इन्होंने मराठी भाषा के अभंगों के अतिरिक्त हिंदी में भी पर्याप्त परिमाण में रचनाएँ लिखी हैं जिन में निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार की उपासना के पद हैं। इनकी रचना के दो नमूने लीजिये।

१. अम्बरीष को दियो अभय पद,
राज विभीषण अधिक कर्‌यो।
नवनिधि ठाकुर दई सुदामहिं,
ध्रुव जो अटल अजहुँ न टर्‌यो॥
भगत् हेत मार्‌यो हरिनाकुस,
नृसिह रूप वै देह धर्‌यो।
'नामा' कहई भगति बस,
केसव अजहुँ बलि के द्वार खरो॥

२. निर्गुणोपासना का पद—

पाण्डे तुम्हारा रामचन्द, सो भी आवत देखा था।
रावण सेंति सर्वर हुई, घर जोय गंवाई थी॥
हिन्दू अन्धा तुर्कौ काना, दुवौ ते ज्ञानी सयाना।

हिन्दू पूजै देहरा, मुस्लमान मस्जीद ।
नामा सोई सेविया, जहं देहरा न मसीत ।।

महात्मा कबीर—इनका जन्मकाल अनिश्चित-सा है । कबीर पन्थी लोग तो इन्हें अजन्मा तक कहते और सब युगों में वर्तमान बतलाते हैं । कबीर और गोरखनाथ का संवाद हुआ था ऐसा भी कहा जाता है । किंतु इनमें ऐतिहासिक तथ्य कुछ भी नहीं । श्रीयुत डा० रामकुमार वर्मा ने कबीर पंथियों में प्रचलित—

चौदह सौ पचपन साल गये, चन्द्रवार एक ठाठ ठये ।
जेठ सुदी वर्सायित को, पूर्णमासी प्रगट भये ।।

इस दोहे में दिये गये तिथि और संवत् को ही अनेक परिपुष्ट प्रमाणों से सत्य सिद्ध किया है । अत: उनका जन्म निश्चित रूप से सं० १४५५ ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा सोमवार को ही मानना चाहिए । उन्होंने कबीर की मृत्यु भी सं० १५५१ में बड़े परिश्रम के पश्चात् खोज निकाली है । यद्यपि जनश्रुति के अनुसार कबीर की मृत्यु १५७५ में मानी गई है ।

कबीर के गुरु रामानन्द ही थे इसके लिए भी डा० साहिब ने अपने 'सन्त कबीर' नामक ग्रंथ में पर्याप्त प्रमाण उपस्थित किये हैं । मुसलमान 'शेख तकी' को भी उनका गुरु बताते हैं । किंतु शेख तकी को उनका गुरु कदापि नहीं माना जा सकता । क्योंकि—

घट घट हैं अविनासी, सुनहु तकी तुम शेख़ ।

आदि पदों में कबीर ने तकी को अपने गुरु के रूप में नहीं, प्रत्युत उपदेश-पात्र के रूप में ही सम्बोधित किया है । यह बात दूसरी है कि वे सदा सूफ़ी सन्तों के सत्संग से भी सत्य तत्त्व ग्रहण करने के लिए उत्सुक रहते थे । किंतु शुक्ल जी के शब्दों में वे सब की बातों का संचय करके भी अपने स्वभावानुसार किसी को भी ज्ञानी या अपने से बड़ा मानने के लिए तैयार नहीं थे । सब को अपना ही बचन मानने को कहते थे ।

कबीर के जन्म समय, और गुरु की भाँति उनकी जाति व जन्म-स्थान के सम्बन्ध में भी मतभेद पाये जाते हैं । यद्यपि वे नीरू और नीमा नामक जुलाहा दम्पती के पुत्र प्रसिद्ध हैं, तथापि कुछ लोगों ने संभवत: उनकी महत्ता बढ़ाने के विचार से ही—उन्हें विधवा ब्राह्मणी की सन्तान बताकर ब्राह्मण बनाने का प्रयत्न किया और कहा कि वह विधवा काशी में लहरताला तालाब के निकट इन्हें जन्मते ही फेंक गई थी । जिसे उक्त जुलाहा दम्पती ने उठाकर पाला पोसा । किंतु इस किंवदन्ती में कुछ

भी तथ्य नहीं है, यह अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है। यहाँ तक कि कुछ विद्वान् उनका जन्म-स्थान भी काशी नहीं प्रत्युत मगहर ही मानते हैं, उनकी अपनी रचना में भी इसका संकेत मिलता है:—

तोरे भरोसे मगहर बसिओ, मेरे तन की तपति बुझाई।
पहिले दरसुन मगहर पाइयो, पुनि कासी बसे आई॥

इससे ज्ञात होता है कि कबीर पहले मगहर में रहते थे काशी में बाद में आये। इसी प्रकार वे जन्म-जात मुसलमान जुलाहा थे इस सम्बन्ध में भी भक्त रविदास स्पष्ट लिखते हैं कि—

जाकै ईद बकरीद कुल गऊ रे बधु करहि,
मानी अहि सेख सईद पीरा,
जाके बाप वैसी करी पूत अैसी सरी,
तिहुँरे लोक परसिध कबीरा।

अर्थात् जिनके माँ-बाप बकरीद के दिन गौ का वध करते हैं और शेख, सैयद, और पीरों को मानते हैं उन्हीं का पुत्र तीनों लोकों में प्रसिद्ध ऐसा (परम वैष्णव) कबीर है।

दूसरी बात यह है कि यदि सचमुच इन्हें कोई विधवा ब्राह्मणी फेंक गई थी तो लोगों को उसका पता कैसे चला। कुछ लोग तो उन्हें रामानन्द के वरदान से उत्पन्न होने की अस्वाभाविक कल्पना भी करते हैं, किंतु यह सब अनैतिहासिक किंवदन्तियाँ मात्र हैं। श्रीयुत डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बड़े परिश्रम से यह सिद्ध कर दिया है कि कुछ हिन्दू वैरागी गृहस्थी साधु मुसलमान बन गये थे। कबीर नीरू और नीमा नामक ऐसे ही मुस्लिम दम्पति के और स सन्तान थे। इस प्रकार कबीर के सम्बन्ध में निम्न ऐतिहासिक तथ्य ही प्रामाणिक सिद्ध होते हैं—

१. कबीर का जन्म सं० १४५५ तथा मृत्यु भी मगहर में सं० १५५१ में हुई।

२. वे जन्म-जात जुलाहे और रामानन्द के शिष्य थे।

३. काशी में रहकर उन्होंने अनेक विद्वानों से बहुत कुछ सुना-सुनाया, इसलिए वे निरक्षर होते हुए भी 'बहुश्रुत' अथच 'एकश्रुत' भी थे। यही कारण है कि वे अपनी रचनाओं में सम्पूर्ण दर्शनों, उपनिषदों और अन्यान्य शास्त्रों का सार संचित करने में समर्थ हो सके।

४. अपने सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए तथा निम्न कोटि की जनता को प्रभावित करने के लिए उन्होंने आत्मप्रशंसा भी पर्याप्त की है।

५. कबीरजी अत्यन्त संतोषी, स्पष्टवक्ता व सात्विक प्रकृति के पुरुष थे। उन्होंने 'सत्यंब्रूयात्' (सच बोलो) ही को अपना मुख्य सिद्धांत माना न कि 'प्रियं ब्रूयात्' (मीठा) बोलो को।

६. वे बड़े परिश्रमी और स्वावलम्बी व्यक्ति थे। एक महान् संप्रदाय के प्रवर्तक और सुधारक साधु होते हुए भी उन्होंने कभी पराये अन्न से अपना पेट पालने का विचार तक नहीं किया। वे सदा ताना-बाना बुनकर अपने परिश्रम से कमाए हुए द्रव्य से जीवन-निर्वाह करते रहे।

१. साईं एता दीजिए, जामे कुटुम समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ, साधू न भूखा जाय॥

२. साधू संग्रह न करे, उदर समाता लेय।
आगे पीछे हरि खड़े, जब माँगूं तब देय॥

इत्यादि पदों में कबीर की संतोष-शीलता स्पष्ट लक्षित हो रही है।

कबीर विवाहित भी अवश्य थे। उनकी पत्नी का नाम 'लोई' था। कहा जाता है कि इनके 'कमाल' नामक पुत्र और 'कमाली' नामक एक कन्या भी थी। इनकी मृत्यु के पश्चात् हिंदू और मुसलमान अनुयायियों में इनके शव को जलाने अथवा दफ़नाने के सम्बन्ध में बड़ा भारी वाद-विवाद हो गया। कहा जाता है कि शव की चादर हटाने पर केवल पुष्प ही मिले। संभवतः उनके शव पर पड़े हुए पुष्पों को लेकर हिंदुओं ने काशी में लाकर उनका दाह-संस्कार किया और उस स्थान पर समाधि बनादी। उधर मुसलमानों ने मगहर में दफ़ना कर वहीं 'मज़ार' बनाई।

कबीर के सिद्धान्त आदि—

'रस-संचार नहीं प्रत्युत अपने सिद्धांत-विशेषों का प्रतिपादन ही कबीर की रचनाओं का मुख्य उद्देश्य था, यह तो सत्य है किंतु इसके साथ ही यह भी एक बड़ी विचित्र बात है कि दार्शनिक या तात्त्विक दृष्टि से उनका कोई एक अपना सुनिश्चित सिद्धांत भी नहीं था। वे कभी मुसलमानों की भाँति एकेश्वरवादी बनकर कट्टर पैगम्बरी खुदावाद का प्रचार करते हुए गोविन्द से भी गुरु को बड़ा बताते हैं। यथा—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागौं पाय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय॥

साथ ही—

"पात झरंता यूँ कहे, सुनु तरुवर बनराय।
अबके बिछुरे ना मिले, परिहै दूर हि जाय॥"

आदि पद में पुनर्जन्म को भी अस्वीकार करते-से दिखाई देते हैं—तथा कभी वेदान्त के अद्वैत सिद्धांत के सब से बड़े समर्थक बने बैठे हैं। कहीं वे हठयोग

गियों के षट्चक्रों और इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा आदि नाड़ियों का वर्णन कर उन्हीं में ध्यान लगा रहे हैं और कहीं वे—

"ढाई अच्छर प्रेम का पढ़ै तो पंडित होय"

कह कर प्रेम-मार्ग का प्रचार कर रहे हैं। अन्यत्र वैष्णवों और जैनों की अहिंसा का उपदेश दे रहे हैं। अतः उन्हें तत्त्वतः किसी भी एक सिद्धांत का पक्का प्रचारक या अनुयायी नहीं कह सकते। उन्होंने अपनी मधुकरी वृत्ति से सब सिद्धांत-सुमनों का सार ले लिया और जनता के लिए दिव्य उपदेश-रूपी मधु प्रस्तुत कर दिया।

इतना होने पर भी उनके उपदेशों में दो बातें प्रधान रूप से स्पष्ट लक्षित होती हैं—१. ज्ञान मूलक वेदान्त के अद्वैत सिद्धांत ही सर्वत्र प्रधान हैं, दूसरे मत गौण और प्रसंग वश आगये हैं। २. हिंदू और मुसलमान दोनों धर्मों के समन्वय करने में सहायक, सभी विचार ग्रहण कर लिए गये हैं, चाहे वे किसी भी वाद या संप्रदाय के क्यों न हों।

रचना व भाषा शैली—कबीर की भाषा में पंजाबी, राजस्थानी, खड़ी बोली, पूर्वी हिंदी, व्रज तथा फ़ारसी आदि विविध भाषाओं के दर्शन होते हैं। सिद्धांतों के समान उनकी भाषा भी कोई एक रूप लिए हुए या साहित्यिक सौंदर्य समन्वित नहीं है, इसीलिए उसे 'खिचड़ी' या 'सधुक्कड़ी' भाषा भी कहते हैं। उन्होंने अपने 'श्लोक' या साखी दोहा छंद में और पद विविध रागों में कहे हैं। उनके पदों की भाषा अपेक्षाकृत सुव्यवस्थित एवं व्रजभाषा का साहित्यिक माधुर्य लिए हुए है। उनकी रचनाओं का संग्रह 'बीजक' कहलाता है। इस बीजक को १-साखी २-शब्द और ३-रमैनी नामक तीन भागों में विभक्त किया गया है।

साहित्य व समाज पर प्रभाव—साहित्य की अपेक्षा सामाज ही को अधिक प्रभावित करने के लिए कबीर ने अपनी रचनाएँ लिखी थीं। वे समाज सुधारक पहले और कवि उसके बाद में हैं। उन्होंने देखा कि धर्म के बाह्य विधि-विधानों के कारण ही हिंदू और मुसलमान आपस में लड़ते-भिड़ते हैं। हिंदू पूर्व की ओर मुख करके ईश्वरोपासना करता है, तो मुसलमान पश्चिम में उसे पुकारता है। एक घंटे और शंख बजाकर उसे रिझाता है तो दूसरा उसे अपनी उपासना में बाधा समझता है, क्योंकि वह उस प्रभु को ज़ोर-ज़ोर से पुकार कर क्यों बुलाता है। कबीर ने दोनों धर्मोंके इन बाहरी रूपों का बड़े ज़ोर-शोर से खंडन आरम्भ कर दिया, एक स्थान पर उन्होंने—

पत्थर पूजै हरि मिलै, तो मैं पूजूँ पहार।
ताते तो चक्की भली, पीस खाय संसार॥

कहकर हिंदुओं की मूर्ति-पूजा का खंडन किया। क्योंकि हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा एक ऐसी धार्मिक बाह्यविधि है जिससे मुसलमानों को बहुत ही अधिक चिढ़ है। विपरीत इसके हिन्दू-धर्म तो इतना उदार और सहनशील है कि उसमें विभिन्न विरुद्ध प्रवृत्तियाँ व सभी साम्प्रदायिक सिद्धांत सरलतापूर्वक समा सकते हैं। अतः मूर्तिपूजा न कर अपने घट और घर ही में प्रभु की उपासना कर लेने से भी हिन्दूधर्म का कुछ बनता बिगड़ता नहीं। यह धर्म मुसलमानों की भाँति ऐसा कट्टर और संकीर्ण नहीं है, कि जिसमें थोड़े-से साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का उल्लंघन होते ही न केवल 'कुफ़' का फ़तवा ही मिल जाय प्रत्युत प्राणों तक से हाथ धोना पड़े। बेचारे मन्सूर ने ऐसा कौन-सा अनर्थ कर डाला था, जो उसे फाँसी पर लटकना पड़ा। यही न कि उसने भारतीय अद्वैतवाद के विचारों को अपना लिया था। इटली में 'गेलीलियो' नामक बड़े भारी विचारक को केवल इसी अपराध से कि उसने पृथ्वी को गोल कह दिया था (जो कि 'बाईबल' के कथन के विरुद्ध है क्योंकि उसमें पृथ्वी को सपाट चौरस लिखा है।) प्राणदण्ड दिया गया था। यह है भारत से भिन्न सभ्यताओं की संकीर्णता और क्रूरताओं का एक नमूना। कहने का तात्पर्य यह है कि कबीर भली-भाँति समझते थे कि हिन्दुओं के उदार और विश्वजनीनधर्म के किसी एक बाह्य विधि-विधान की उपादेयता का समर्थन न करने से वह किंचिन्मात्र भी विकल न होगा। वह—

'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते'॥

के अनुसार सदा पूर्ण ही रहेगा। उनका यह भी विचार था कि यदि मुसलमानों आदि के निस्तत्त्व बाह्य विधि-विधानों का खण्डन कर उनके हृदयों पर उनके धार्मिक बाह्य-विधि-विधानों की निस्सारता का भाव बैठा दूंगा तो वे अवश्य ही कालान्तर में मुसलमान रहते हुए भी सच्चे भारतीय बन जायेंगे। इसीलिए उन्होंने हिन्दुओं की तो केवल मूर्तिपूजा आदि एकाध बात का ही उक्त कड़े शब्दों में खंडन किया। किन्तु मुसलमानों के तो प्रत्येक विधि-विधान को चुन-चुनकर काटा और बार-बार उनकी निस्सारता और कुत्सितता दिखाई। नमाज़, रोज़ा, पीर, पैग़म्बर, ईद, बकरीद, बाँग, सुन्नत आदि मुसलमानों का ऐसा कोई भी धार्मिक अंग नहीं जिसे कबीर ने अपनी तर्कपूर्ण कविता की कैंची से काट कर टुकड़े-टुकड़े न कर डाला हो। नमाज़ के विषय में वे कितना कटु सत्य कहते हैं—

कङ्कर पाथर जोड़िकै, मस्जिद लइ चुनाय ।
ता चढ़ि मुल्लां बाँगदे, बहरा हुआ खुदाय ।।

रोज़ा की बीभत्सता दिखाते हुए वे कहते हैं कि—

रोज़ा तुर्क नमाज़ गुज़ारे, बिसमिल बाँग पुकारै ।
तार्के भिसत कहाँ ते होई, सांझे मुर्गी मारै ।।

मुसलमान 'भिसति' (बहिश्त—स्वर्ग) के लिए 'रोज़ा' रखते हैं, किन्तु उन्हें स्वर्ग भला कैसे मिल सकता है जबकि वे दिन भर रोज़ा रखके भी सन्ध्या समय मुर्गी मारते हैं। अर्थात् दिनभर रखे हुए रोज़े 'व्रत' के पुण्य की अपेक्षा जीव-हत्या का करोड़ों गुणा अधिक पाप कर डालते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि कबीर ने जो बाह्य विधि-विधानों का खंडन किया है उसका एक-मात्र उद्देश्य हिन्दू और मुसलमान दोनों में शुद्ध सात्विक भारतीय धर्म का प्रचार था। उन्होंने हिन्दुओं को मुसलमान नहीं प्रत्युत मुसलमानों को शुद्ध भारतीय बनाने के लिए ही यह सब कुछ किया। यहाँ तक कि आरम्भ में वे सगुण साकार तथा नृसिंह आदि अवतार धारी प्रभु की उपासना के पद भी गाते रहे। किंतु जब उन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य कोरी प्रभु-भक्ति को नहीं प्रत्युत समाज-सुधार या हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य को बना लिया, तब ईश्वर के ऐसे रूप को अपनाना आवश्यक समझा जिससे कि मुसलमान सहसा चौंक न पड़ें। उन्होंने अपने पुराने दशरथी राम को नवीन-निर्गुण-निर्विकार रूप दे दिया। किन्तु उसके नाम राम, गोविन्द, हरि आदि सगुण के पर्यायवाचक ही रहने दिये। कबीर की सरल किन्तु अटपटी बाणी में पंडितों के लिए कुछ भी नवीनता न थी—उन्हीं की बातें तो कबीर ने लोक-वाणी में कही थीं—अतः विद्वत्-समाज पर उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। निम्नवर्ग की जनता को सत्य, अहिंसा, सदाचार, संतोष आदि का पाठ पढ़ा कर उन्हें उन्नत बनाने का अत्यन्त ही स्तुत्य प्रयत्न उन्होंने किया। मुस्लिमवर्ग पर उनका तात्कालिक प्रभाव तो कुछ विशेष नहीं दिखाई देता—वह उसी समय सहसा भारतीय रंग में नहीं रंगा जा सका—पर शनैः-शनैः उनका प्रभाव मुसलमानों पर भी उत्तरोत्तर बढ़ता गया। जायसी, रहीम, रसखान, आदि परवर्ती मुस्लिम कवियों को भारतीय भाव अपनाने के लिए कबीर से ही प्रेरणा प्राप्त हुई और वे ऐसे पक्के भारतीय बन गये कि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ऐसे एक-एक मुस्लिम कवि पर करोड़ों हिन्दुओं को न्योछावर कर देने को प्रस्तुत हो गये। इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर का बोया हुआ मधुर बीज अंकुरित एवं यथा-समय पुष्पित और पल्लवित होकर अत्यन्त ही मनोहर उपादेय फल लाया।

साहित्य पर भी इनका पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। सिक्खों के आदि गुरु श्री नानकदेव जी तथा परवर्ती सब गुरु तो प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से किसी न किसी प्रकार अंशतः इनसे प्रभावित हैं ही, साथ ही दादू पन्थ के प्रवर्तक दादूदयाल, रामसनेही सम्प्रदाय के आचार्य श्री रामचरण जी आदि अनेक निगुर्णोपासक सम्प्रदायाचार्यों का साहित्य कबीर जी से पूर्णरूपेण प्रभावित है। इसके अतिरिक्त जायसी आदि प्रेम-पन्थी साहित्यकार भी कबीर से पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त करते प्रतीत होते हैं।

उक्त सुप्रभावों के साथ-ही-साथ समाज व साहित्य पर कबीर की रचनाओं का कुछ अवांछनीय प्रभाव भी अवश्य पड़ा है। जैसा कि—

कबीर ने बड़े ही विचित्र, सहसा समझ में न आने वाले रूपक बांधे और उलटबासियां कहीं जिनके दुर्बोध और बेठिकाने के अर्थों को लेकर साम्प्रदायिक साधु जनता को बहकाने और शास्त्रपारंगत पंडितों को भी नीचा दिखाने में समर्थ और सफल हो जाते रहे हैं। श्री रामकुमार वर्मा ने अपने 'कबीर के रहस्यवाद' में गूढ़ रहस्यों को बतलाने के लिए इन रूपकों और उलटबासियों की उपयोगिता का समर्थन किया है। किन्तु हम इससे सहमत नहीं हैं क्योंकि उपनिषदों में भी तो ऐसा ही गूढ़ रहस्य का प्रतिपादन है। उनमें कहीं ऐसी जटिलताएँ नहीं हैं। इन बासियों से जनता अपनी प्राचीन पद्धति से विमुख हो वर्णाश्रम व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण मर्यादा से मुख मोड़ बैठी। सिर मुंडाकार संन्यासी बनने, भगवे वस्त्र पहनकर साधु कहलाते—आदि जिन बाह्याडम्बरों का उन्होंने घोर विरोध किया, उन्हीं बाह्याडम्बरों के सहारे गेरुवे रंग में रंगे साधु नामधारी भिखमंगों ने कबीर की बाणी का आधार लेकर जनता को लूटना व पथ-भ्रष्ट करना आरम्भ कर दिया। कबीर के वास्तविक उद्देश्य को न समझकर वे लोग सनातन मर्यादाओं पर कुल्हाड़ा चलाने लग पड़े। कबीर ने एक सर्जन की भाँति अपनी कलम की कैंची से समाज के दूषित अँगों की काँट-छाँट की थी किन्तु परवर्ती साधु कबीर की उक्त कैंची को करोत बनाकर समाज के दो टुकड़े कर उसका सर्वनाश करने पर उतारू हो गये। बात तो यह है कि कबीर के द्वारा किये गये, समाज की विचार-धारा रूपी सागर के मन्थन से विष, वारुणी, और अमृत तीनों का निकलना स्वाभाविक था। अमृत का सुप्रभाव तो अब तक कार्य कर रहा है। और विष के कुप्रभाव को आगे चलकर तुलसीदास ने शिवरूप बनकर समाप्त कर दिया। फिर भी आज के ढोंगी भिखमंगों में उसकी वारुणी की मादकता स्पष्ट लक्षित होती है।

सारांश यह है कि सूफ़ियों के सरस प्रेमपूर्ण रहस्यवाद तथा वेदान्त के दिव्यज्ञान व हठयोगियों की अलख-निरंजन निराकार की उपासना के संगम के कारण

कबीर की सरस्वती-सुरसरी तीर्थराज का अत्यन्त ही पवित्र रूप धारण कर रही है। इन्हीं गुणों से प्रभावित होकर विश्वकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने मुक्तकण्ठ से Kabir's poems (कबीर की कविताएँ) शीर्षक निबन्ध में इस कलाकार की कला-कुशलता की कीर्ति का कथन किया है। इस दृष्टि से कबीर का हिन्दी साहित्य में बहुत ही ऊँचा स्थान है। विश्वकवि रवीन्द्रबाबू को केवल इसी हिन्दी कवि की कृतियों ने अपनी ओर आकृष्ट किया। अतः यदि हिन्दी में कबीर की रचनाएँ न होतीं तो हिन्दी साहित्य को रवीन्द्रबाबू से प्रशंसा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त न हो सकता। कबीर की कुछ कविताएँ नीचे दी जाती हैं।:—

१. घूंघट का पट खोल रे, तोहे पीव मिलेंगे।
घट घट में वह साईं रमता, कटुक बचन मत बोल रे।
धन जोबन को गरब न कीज, झूठा पंचरङ्ग चोल रे।
सुन्न महल में दियना बारि लै, आसन सों मत डोल रे॥
जोग जुगत सों रङ्ग महल में, पिय पायो अनमोल रे।
कहैं कबीर आनन्द भयो है, बाजत अनहद ढोल रे॥

२. झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे कै ताना काहे कै भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।
इंगला पिंगला ताना भरनी, सुखमन तारस बीनी चदरिया॥
आठ कंवल दल चरखा डोलै, पांच तत्त गुन तीनी चदरिया।
साँईंको सियत मास दस लागै, ठोक ठोक कै बीनी चदरिया॥
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ै, ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतनसे ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया॥

श्री गुरु नानकदेव जी—लाहौर ज़िले में तलवंडी नगर के कारिन्दा कालूचंद खत्री के घर सं० १५२६ में इनका जन्म हुआ। इनकी माता का नाम तृप्ता था। नानक जी बचपन से ही साधु स्वभाव के विरक्त पुरुष थे। पिता ने इन्हें व्यवसाय के लिए कुछ धन दिया जिसको इन्होंने साधुओं और गरीबों को बाँट दिया। इनका सुलक्षणी नाम की कन्या से विवाह हुआ और श्रीचन्द्र तथा लक्ष्मीचन्द नामक दो पुत्र हुए। इन्होंने घर बार छोड़कर बहुत दूर-दूर देशों का भ्रमण क्रिया, जिससे हिन्दू मुसलमान दोनों के लिए उपासना का एक सामान्य स्वरूप स्थिर करने में इन्हें बड़ी सहायता मिली। अन्त में कबीरदास की निर्गुण उपासना का प्रचार इन्होंने पंजाब में आरम्भ किया और सिक्ख सम्प्रदाय के आदि-गुरु हुए। कबीर की

ही भांति ये भी कुछ विशेष पढ़े-लिखे न थे। भक्ति-भाव से पूर्ण होकर नानक जी जो भजन गाया करते थे, उनका संग्रह (स० १६६१) में ग्रन्थ साहिब में किया गया है। ये भजन कुछ पंजाबी में हैं और कुछ देश की सामान्य काव्य-भाषा हिन्दी में। इनका सत्यलोकवास सं० १५९६ में हुआ।

ये कबीर की भाँति खण्डन-मण्डन के झगड़े में नहीं पड़े। कबीर तो स्वयं मुसलमान थे अतः उनके द्वारा की गई इस्लाम की आलोचना मुसलमानों के लिए किसी सीमा तक सह्य अथच ग्राह्य भी हो सकती थी, किन्तु उस समय यदि एक हिन्दू इस्लाम के विरुद्ध कुछ कह देता तो उसका मंगल न था। फलतः कबीर के बाद में होनेवाले नानक, दादू आदि सभी सन्तों को खण्डन-मण्डन से परे रह कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने में ही औचित्य प्रतीत हुआ। ये मुस्लिम भावनाओं से भी पर्याप्त प्रभावित प्रतीत होते हैं। इस सम्बन्ध में श्री डा०सूर्यकान्त जी एम०ए०डी० लिट् अपने हिन्दी साहित्य के विवेचनात्मक इतिहास में लिखते हैं कि—

'पंजाब में मुसलमान बहुत दिनों से अधिक संख्या में बसते आ रहे थे। फलतः वहां एकेश्वरवाद के भाव धीरे-धीरे प्रबल हो रहे थे। लोग अनेक देवी-देवताओं के बजाय एक परमात्मा की पूजा करना महत्त्व और सभ्यता का चिह्न समझने लगे थे। अतः जहाँ लोगों को बलात् मुसलमान बनाया जा रहा था वहाँ कुछ लोग शौक से भी मुसलमान बन रहे थे। ऐसी दशा में कबीर के सन्त मत का प्रचार होना सुतरां स्वाभाविक था।'

गुरु नानक बचपन ही से भक्त थे, उनका ऐसे मत की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था जिसकी उपासना का स्वरूप हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए समान रूप से ग्राह्य हो। उन्होंने घर-बार छोड़ दूर-दूर के देशों में भ्रमण किया जिससे उपासना का सामान्य स्वरूप स्थिर करने में उन्हें भारी सहायता मिली। अन्त में उन्होंने कबीर के विचारों को अपनाया और समन्वयात्मक सिक्ख धर्म की आधार-शिला रक्खी। कबीर की अपेक्षा नानक का मुसलमानों की ओर अधिक झुकाव है।' *

---

* 'यद्यपि नानक के ग्रंथ में हिन्दुओं की बातें भरी पड़ी हैं तथापि कबीर की अपेक्षा उसकी टोन में इस्लाम का प्रतिफलन अधिक है। सिक्खों के मंदिर की पूजा-प्रक्रिया हिन्दुओं की अपेक्षा, मुसलमानों से अधिक मिलती है। 'जपजी' का आरम्भिक वाक्य इस प्रकार है—'ईश्वर एक ही है, उसी का नाम सत्य है, वही संसार का विधाता है।' परमात्मा को संसार का नियामक माना जाता है न कि एक ऐसा तत्त्व जो संसार के द्वारा अपने आपको विकसित करता है। उसी की

नानक जी के कुछ पद नीचे दिये जाते हैं—

१. इस दम का मैनूं की वे भरोसा,
आया आया न आया न आया।
या संसार रैन दा सुपना,
कहिं दीखा कहिं नाहिं दिखाया॥
सोच विचार करे मत मन में,
जिसने ढूंढा उसने पाया।
"नानक" भक्तन के पद परसे,
निस दिन राम चरण चित लाया॥

२. मन की मनहीं माहिं रही॥
ना हरि भजे न तीरथ सेवे चोटी काल गही॥
दारा मीत पूत रथ सम्पति धन जन पूर्न मही॥
और सकल मिथ्या यह जानो भजना राम सही॥
फिरत फिरत बहुते जग हार्यो मानस देह लही॥
"नानक" कहत मिलन की बिरियां सुमिरत कहा नहीं॥

३. सुमरन कर ले मेरे मना।
तेरि बीति जात उमर हरि नाम बिना॥
कूप नीर बिनु धेनु छीर बिन मन्दिर दीप बिना।
जैसे तरुवर फल बिन हीना तैसे प्राणी हरिनाम बिना॥
देह नैन बिन रैन चंद बिन धरती मेह बिना।
जैसे पण्डित वेद विहीना तैसे प्राणी हरिनाम बिना॥
काम क्रोध मद लोभ निहारो छांड़ दे अब संतजना।
कहे "नानकशा" सुन भगवंता या जग में नहीं कोइ अपना॥

४. साधो मन का मान त्यागो।
काम क्रोध संगति दुर्जन की ताते अहनिस भागो॥

आज्ञा से वस्तुजात प्रकट होते हैं। ऐसी बातों में इस्लाम की गन्ध आती है। कहीं-कहीं तो नानक कुरान ही के शब्दों का उपयोग कर बैठते हैं जैसे परमात्मा का दूसरा साथी नहीं इत्यादि।

सुख दुःख दोनों सम कर जाने और मान अपमाना।
हर्ष शोक ते रहै अतीता तिन जग तत्व पिछाना।।
अस्तुति निन्दा दोऊ त्यागै खोजै पद निरवाना।
जन "नानक" यह खेल कठिन है किनहूँ गुरुमुख जाना।।

रविदास या रैदास—ये रामानन्द जी के प्रमुख बारह शिष्यों में से एक और जाति के चमार थे। इनका आविर्भावकाल सं० १४८५ और १५७५ के मध्य माना जाता है। कहा जाता है कि ये काशी के रहने वाले थे। मीरांबाई को कई लोग इनका शिष्य मानते हैं। रैदास का सम्प्रदाय रैदासी-पंथ के नाम से प्रसिद्ध है। 'रविदास की वाणी' और 'रविदास के पद' नामक संकलनों में इनकी रचनाएँ संगृहीत की गई हैं। चमार जैसी नीच जाति में उत्पन्न एक सन्त को इतना महत्त्व-पूर्ण स्थान देना वैष्णव धर्म की उदारता व सारग्राहिता का परिचायक है। भक्ति के मार्ग में—

जात पात पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई।

के सिद्धान्त को भारतीयों ने क्रियात्मक रूप में स्वीकार किया है।

इनकी कविता का एक नमूना नीचे दिया जाता है—

रैदास रात न सोइये, दिवस न करिये स्वाद।
अहनिसि हरिजी सुमरिये, छाँड़ि सकल प्रतिवाद।।
अब कैसे छूटैं नाम रट लागी ।।टेक।।

प्रभु जी तुम चंदन हम पानी। जाकी अंग अंग बास समानी।।
प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा। जैसे चितवत चंद चकोरा।।
प्रभु जी तुम दीपक हम बाती। जाकी जोत बरै दिन राती।।
प्रभु जी तुम मोती हम धागा। जैसे सोनहि मिलत सोहागा।।
प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा। ऐसी भक्ति करै रैदासा।।

धर्मदास—यह बान्धव गढ़ के रहने वाले बनिये थे। इनका जन्म सं० १४७५ और १५०० के बीच तथा मृत्यु सं० १६०० के लगभग मानी जाती है। कबीर की मृत्यु के पश्चात् यह उनकी गद्दी पर बैठे थे। आरम्भ में ये साकारोपासक तथा तीर्थ, व्रत, पूजा आदि में बड़ी श्रद्धा रखते थे, किंतु कबीर के प्रभाव में आकर अपना सर्वस्व त्यागकर यह उनके अनुयायी शिष्य बन गये। इनकी प्रधान रचना 'सुख निधान' के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी रचनाओं में सरलता बहुत अधिक है और खंडन-मंडन बिल्कुल नहीं है। इनका एक पद नीचे दिया जाता है—

मोरा पिया बसै कौने देस हो ।
अपने पिया के ढूंढ़न हम निकसी कोई न कहत सनेस हो ।।
पिय कारन हम भई हैं बावरी धर्यो जोगिनिया कै भेस हो ।
ब्रह्मा विष्णु महेस न जाने का जानै सारद सेस हो ।।
धनि जो अगम अगोचर पइलन हम सब सहत कलेस हो ।
उहां के हाल कबीर गुरु जानैं आवत जात हमेस हो ।।

दादूदयाल—इनका जन्म सं० १६०१ में अहमदाबाद में हुआ। ये बच्चे के रूप में साबरमती नदी में बहते हुए लोदीराम नामक एक ब्राह्मण को मिले थे। ये जाति के मोची या धुनिया या ब्राह्मण भी माने जाते हैं। इनका गुरु कौन था यह ज्ञात नहीं। कबीर की वाणी में इनका नाम बहुत आया है जिससे ये उन्हीं के मतानुयायी सिद्ध होते हैं, पर इन्होंने दादूपन्थ नाम से अपना पृथक् मत चलाया। दादूदयाल आमेर (जयपुर), बीकानेर तथा भराने आदि स्थानों में रहे और १६६० में उक्त भराना नामक स्थान पर इन्होंने शरीर छोड़ा। दादूपन्थी लोग हाथ में एक सुमरनी रखते हैं और सत्तराम कहकर अभिवादन करते हैं। दादू की वाणी कबीर की साखी से मिलते-जुलते दोहों में है। कहीं-कहीं गाने के पद भी हैं। भाषा मिली-जुली पश्चिमी हिन्दी है, जिसमें राजस्थानी का मेल भी है। ये कबीर के समान खंडन-मंडन में नहीं पड़े और इनकी रचना में प्रेम की पीर कबीर से कहीं अधिक सरस एवं गम्भीर है। इन्होंने लगभग ५००० पद्य लिखे थे जिनमें से अधिकांश केवल मुख-परम्परा से प्राप्त होते हैं और शेष 'दादू की वानी' नामक संग्रह में उनके ५२ शिष्यों द्वारा स्थापित ५२ दादूद्वारों (दादूपन्थीमठों) में सुरक्षित हैं। इनका एक पद नीचे दिया जाता है :—

घीव दूध में रमि रह्या, व्यापक सब ही ठौर ।
दादू बकता बहुत हैं, मथि काढ़ैं ते और ।।३।।

कहि कहि मेरी जीभ रहि, सुणि सुणि तेरे कान ।
सतगुरु बपुरा क्या करै, जो चेला मूढ़ अजान ।।४।।

आव रे सजणाँ आव, सिर पर धरि पाँव ।
जानी मैंडा जिंद असाड़े ।
तू रावैं दा राव वे सजणाँ आव ।।

इत्थां उत्थां जित्थां कित्थां, हौं जीवां तो नाल वे ।
मीयां मैंडा आव असाड़े ।
तू लालों सिर लाल वे सजणाँ आव ।।

तन भी देवां मन भी देवां, देवां पिण्ड प्राण वे ।
सच्चा साँई मिलि इत्थाईं ।
जिन्दा कराँ कुरवाण वे सजणाँ आव ।।

तू पावे सिर पाव वे सजणा तूँ खोवौं सिर खोव ।
दादू भाँवै सजणाँ आवै ।
तू मीठा महबूब वे सजणाँ आव ।।

जागि रे सब रैंणि बिहाणी । जाइ जनम अंगुली कौ पाणी ।।
घड़ी घड़ी घड़ियाल बजावै । जे दिन जाइ से बहुरि न आवै ।।
सूरज चन्द कहैं समझाइ । दिन दिन आयू घटती जाइ ।।
सरवर पाणी तरुवर छाया । निसदिन काल गरासै काया ।।
हंस बटाऊ प्राण पयाना । दादू आतमराम न जाना ।।

मलूकदास—इनका जन्म सं० १६३१ में ला० सुन्दरदास खत्री के घर में कड़ा जिला इलाहाबाद में और देहान्त सं० १७३९ में हुआ। निर्गुण मत के नामी सन्तों में इनकी गिनती है। इनकी गद्दियां कड़ा, जयपुर, गुजरात, मुलतान, पटना, नैपाल और काबुल तक में कायम हुईं। इनके बहुत से चमत्कार प्रसिद्ध हैं। 'अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम। दास मलूका कह गए सब के दाता राम' यह पद इन्हीं का है। इनकी लिखी 'रत्न-खान' और 'ज्ञानबोध' नाम की दो पुस्तकें मिलती हैं, जिनमें भाषा सुव्यवस्थित और सुन्दर है। कहीं-कहीं अच्छे कवियों के से कवित्तादि छन्द भी पाये जाते हैं। इनका एक पद यहाँ उद्धृत किया जाता है—

लोयन जाहि कटाच्छ सर, मारि प्रान हर लीन्ह ।
अधर बचन ततखिन दोऊ, अमिय सींचि जिव दीन्ह ।।१।।

दीनदयाल सुनी जब तें तब ते हिय में कुछ ऐसी बसी है ।
तेरो कहाय के जाऊं कहां मैं तेरे हित की पट खैंच कसी है ।।
तेरोइ एक भरोस मलूक को तेरे समान न दूजो जसी है ।
एहो मुरारि पुकारि कहौं अब मेरी हंसी नहिं तेरी हंसी है।।२।।

जहाँ जहाँ बच्छा फिरै, तहां तहां फिरै गाय ।
कहें मलूक जहँ संतजन, तहां रमैया जाय ।।३।।

सुन्दरदास—आपका जन्म सं० १६५३ में द्यौसा में और मृत्यु सं० १७४६ में साँगानेर में हुई। ये परमानंद के पुत्र, दादूदयाल के शिष्य और निर्गुण-शाखा के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे। सं० १६६३ से लेकर ३० वर्ष तक काशी में रहकर इन्होंने वेद, पुराण, शास्त्र आदि का अध्ययन किया। ये बाल-ब्रह्मचारी अत्यन्त कोमल स्वभाव के महात्मा थे। निर्गुण शाखा में केवल यही ऐसे महात्मा हुए हैं जिन्होंने शास्त्र आदि का अध्ययन किया। अतः इनकी रचना सरस साहित्यिक है। भाषा भी परिमार्जित व्रजभाषा है। इन्होंने अन्य ज्ञानमार्गी कवियों की भाँति लोक और समाज से दूर रहकर केवल निर्गुण की उपासना का प्रचार करने वाली कविताएँ नहीं लिखीं और इस प्रकार लोक-धर्म की उपेक्षा नहीं की। युद्ध-क्षेत्र में मर मिटने वाले वीरों, पति-व्रता स्त्रियों आदि की इन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। व्यर्थ की तुकबंदी और ऊट-पटांग वाणी इनको रुचिकर न थी, इसलिए ये कहते हैं—

"बोलिए तो तब जब बोलिवै की बुद्धि होय ।
ना तो मुख मौन गहि चुप होय रहिए" ।।

इन्होंने कवित्त और सवैये बहुत सुन्दर लिखे हैं। इनका 'सुन्दरविलास' नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। संक्षेप में कह सकते हैं कि निर्गुणशाखा में एक-मात्र यही साहित्य-मर्मज्ञ कवि थे। इन्होंने केवल दोहों में साखी या गीतात्मक पद ही न लिखकर दुर्मिल, मनहरण आदि कवित्त सवैयों में भी बड़ी ही सरल अनेक रसों से युक्त रचनाएँ लिखी हैं। शृंगार को छोड़कर शेष सभी रसों पर वीर और हास्य पर भी, इनकी सुललित सूक्तियाँ प्राप्त हैं। 'दशों दिशाओं के सवैयों' में इन्होंने अपने भारत-भ्रमण से प्राप्त अनुभव का पूर्ण परिचय दिया है। इनकी रचनाओं में 'ज्ञान समुद्र' (पांच उल्लासों में) 'सुन्दर-विलास' और 'सुन्दरदास के पद' प्रसिद्ध हैं। इनकी कुछ कविताएँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं।

सुनत नगारे चोट·बिकसै कमल मुख अधिक उछाह भूल्यो मायहू न तन में । फेरे जब सांग तब कोई नहीं धीर धरे कायरपन होत देखि मन में ।। कूदि के पतंग जैसे परत पावक मांहि ऐसे टूटि परे बहु सावंत के घन में । मरि घमासान करि सुन्दर जुहारे स्याम सोई सूरबीर रोपि रहे जाइ रन में ।।

सुन्दर जो गाफ़िल हुआ, तौ वह साईं दूर ।
जो बन्दा हाज़िर हुआ, तौ हाजरां हज़ूर ॥
लौन पूतरि उदधि में, थाह लेन को जाइ ।
सुन्दर थाह न पाइये, विचही गई बिलाइ ॥

अक्षर अनन्य—श्री रामकुमार वर्मा ने इनका समय सं० १७६७ माना है किन्तु रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि सं० १७१० में इनके वर्तमान रहने का पता लगता है। अतः कह सकते हैं कि इनका समय सं० १७०१ से सं० १७६७ तक है।

ये दतिया रियासत के अन्तर्गत सेनुहारा के कायस्थ थे और कुछ दिनों तक दतिया के राजा पृथ्वीचन्द के दीवान रहे थे। पीछे ये विरक्त होकर पन्ना में रहने लगे। प्रसिद्ध छत्रसाल इनके शिष्य हुए। एक बार ये छत्रसाल से किसी बात पर अप्रसन्न होकर जंगल में चले गये। पता लगने पर जब महाराज छत्रसाल क्षमा-प्रार्थना के लिए इनके पास गये तब इन्हें एक झाड़ी के पास खूब पैर फैला कर लेटे हुए पाया। महाराज ने पूछा—"पाँव पसारा कब से ?" झट उत्तर मिला—"हाथ समेटा जब से"।

ये विद्वान् थे और वेदान्त के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने योग और वेदांत पर कई ग्रंथ—राजयोग, विज्ञानयोग, ध्यानयोग, सिद्धांतबोध, विवेकदीपिका ब्रह्मज्ञान, अनन्य-प्रकाश आदि लिखे और दुर्गा सप्तशती का भी हिन्दी पद्यों में अनुवाद किया। इन्होंने पद्धरी छंद का प्रयोग विशेष रूप से किया है।

रामचरण—इनका जन्म सं० १७७६ में जयपुर के समीपवर्ती सोड़ाग्राम में और निधन सं० १८५५ में शाहपुरा में हुआ। इनके सुख विलास, अमृत उपदेश, जिज्ञासा बोध, विश्वास बोध, विश्राम बोध, समता निवास, राम रसायण बोध, अनुभव विलास, ये आठ बड़े तथा शब्द प्रकाश आदि बारह छोटे ग्रन्थ हैं। इनके दृष्टान्त सागर में कबीर के जैसे अटपटे रूपक और उलटबासियों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। जैसे—

सात हाथ की काकड़ी बीज बध्यो नव हाथ।
आठ फाड़ अरु तीन रस माली संग सनाथ ॥

ये हिन्दी, संस्कृत आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे और इनकी वाणी में सभी प्रकार की भाषाएँ मिलती हैं। इनकी सम्पूर्ण रचनाएँ एक बृहद् ग्रन्थ के रूप में शाहपुरे में संग्रहीत हैं। इन्होंने निर्गुण और सगुण धारा के भेद को मिटा कर उनके एकीकरण का प्रयत्न किया। जैसेकि—

कोई सेवे आकार कोई निराकार का भाव ।
रामचरण वे सन्त जन मध का करे उपाय ।।

श्री डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि 'राम सनेही मत मुसलमानी मत से बहुत कुछ मिलता है, उसमें मूर्तिपूजा के लिए स्थान नहीं, दिन में नमाज़ की तरह पाँच बार निराकार ईश्वर की आराधना होती है, इसमें जातिबन्धन भी नहीं है'। यह कथन सर्वथा निराधार है क्योंकि राम सनेही मत पर न तो मुसलमानों का कुछ प्रभाव है न केवल प्रातःकालीन तथा संध्याकालीन उपासना को छोड़ कर नमाज़ की तरह पाँच बार आराधना ही होती है। हाँ वाणि में हिन्दू-मुस्लिम एकता पर अवश्य बल दिया है। ये मूर्तिपूजा के भी सर्वांशतः विरोधी नहीं और निःश्रेयस प्राप्ति में उसे प्रथम सोपान मानते हैं। यथा-'पहिली पहड़ी प्रतिमा, प्रतिमा में हरि सेव' राम सनेही मत में वर्ण-व्यवस्था भी यथावत् मानी गई है।

अन्य सन्त

उपर्युक्त प्रमुख संतों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक संत हो गये हैं, जिन्होंने अपनी-अपनी वाणी कही है। इन सबका पूर्ण परिचय न देकर उनका उल्लेख-मात्र नीचे किया जाता है—

१. **त्रिलोचन**—दक्षिण भारत के पण्ढारपुर में सं० १३२४ में उत्पन्न हुए थे। यह ज्ञानदेव के शिष्य और नामदेव के साथी थे।

२. **सदना**—यह सिंध के रहने वाले कसाई और नामदेव के समकालीन थे।

३. **धन्ना**—यह जाति के जाट थे और दुहवान (देवली, अजमेर मेरवाड़ा) में संवत् १४७२ में उत्पन्न हुए थे। एक ब्राह्मण को भगवान् की पूजा करते देख यह प्रभु की पूजा इतनी तन्मयता से करने लगे कि बिना पूजा किये पानी भी नहीं पीते थे। भक्तमाल में कृष्णरूप के दर्शन आदि इनकी अनेक अलौकिक कथाऐं लिखी हैं। अंतिम दिनों में ये काशी जाकर रामानन्द जी के शिष्य हो गये थे।

४. **पीपा**—इनका जन्म संवत् १४८२ में गगनौरगढ़ में हुआ। रामानन्द के शिष्य बनकर इन्होंने पर्याप्त पर्यटन किया था।

५. **सेन**—यह जाति के नाई व रामानन्द के शिष्य थे।

६. **सुथरादास**—यह सुथरा सम्प्रदाय के प्रवर्तक और मलूकदास के शिष्य थे।

७. **हरिदास**—यह नारायणी पंथ के प्रवर्तक थे।

८. स्वामी प्राणनाथ —इनका जन्म संवत् १७१० और मृत्यु सं० १७७१ में हुई। इन्होंने प्राणनाथी सम्प्रदाय चलाया जिसकी 'प्रनामी' और 'धामी' नामक दो शाखाएँ हैं। ये वेद और कुरान दोनों को मानते हैं और औरंगज़ेब तक की अवतारों में गणना करते हैं। दूसरे सम्प्रदाय वालों को यह अपने ग्रंथ और उद्देश्य कभी नहीं बताते।

९. चरणदास—जन्म संवत् १७६० में अलवर स्टेट में हुआ था। इनकी 'अमर-लोक', 'अखण्ड धाम' आदि पांच रचनाएं हैं।

१०. भीखा साहिब—इनका जन्म संवत् १७७० में और मृत्यु १८२० में हुई थी। इनकी रचनाओं में पाप और पुण्य का अच्छा विवेचन हुआ है। इनके अनेक ग्रंथों में से 'रामजहाज' नामक ग्रंथ बहुत बड़ा है।

११. गरीबदास—इनका जन्म संवत् १७७४ में रोहतक ज़िले में हुआ था। कहा जाता है कि इन्होंने ७००० पद्य लिखे थे जिनमें से केवल अब १८०० ही मिलते हैं। पंजाब में गरीबदास के अनुयायी अब भी कहीं-कहीं पाए जाते हैं।

१२. शेख फरीद, १३. शेख फिरदसानी, १४. सतनामी पंथ के प्रवर्तक वीर-भान[१], १५. भोजपुरी भाषा में लिखित प्रेम-प्रकाश और सत्य-प्रकाश के रचयिता धरनीदास। १६. लालदासी पंथ के प्रवर्तक अलवर निवासी लालदास। १७. दारा-शिकोह के गुरु बाबा लाल। १८. रज्जब, १९ बीरू साहब, २० यारी साहब २१. बुल्ला साहब, २२. दरिया सागर, ज्ञान दीपक आदि अनेक पुस्तकों के रचयिता तथा दरिया पंथ के प्रवर्तक, धरकंधा (आरा) निवासी मुसलमान दरिया साहब, २३. मारवाड़ के दरिया पंथ के प्रवर्तक धुनिया दरिया साहब। २४. बुल्ला साहब उपनाम बुलाकी राम, २५. गुलाब साहब उपनाम गोविन्द साहब, २६. यारी साहब के शिष्य तथा अमरघूंट के रचयिता केशवदास, २७. 'ध्यानमंजरी' 'नेह प्रकाश' आदि ग्रन्थों के रचयिता बालकृष्ण, २८. सतनामी पंथ को फिर से संगठित और जागृत करने वाले 'ज्ञान प्रकाश' 'महा प्रलय' और प्रथम ग्रन्थ के निर्माता जगजीवन दास, २९. लखनऊ निवासी कृष्णोपासक सन्त दूलनदास शिवनारायणी पंथ के प्रवर्तक स्वामी नारायण सिंह, ३०-३१ स्वामी चरणदास की शिष्या मेवात निवासिनी सहजोबाई और दया बाई, (जिन्होंने दयाबोध और विनयमालिका नामक ग्रन्थों की रचना की थी)। ३२. रामरूप, ३३. स्वामी नारायणी पंथ के प्रवर्तक स्वामी सहजानन्द, ३४.

---

१ औरङ्गज़ेब ने दो हज़ार सतनामियों को एक साथ मरवा डाला था।

'घट रामायण' 'शब्दावली' और 'रत्न सागर' के रचयिता तुलसी साहब; ३५. गाजीदास आदि। अन्यान्य अनेक सन्तों ने भी निर्गुण भक्ति सम्बन्धी वाणियाँ और दूसरी पुस्तकें लिखी हैं। इन सन्तों की वाणियों के संग्रह बैलवेडियर प्रैस इलाहाबाद से प्रकाशित हुए हैं। स्थानाभाव के कारण इन सबका यहाँ विस्तृत परिचय नहीं दिया जा सका।

अभ्यास

१. निर्गुण साहित्य की परम्परा का परिचय दें।
२. निर्गुणोपासक सन्तों ने भाषा, विषय, शैली में सिद्धान्त कहाँ से प्राप्त किये ?
३. कबीर ने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का इतना कड़ा खण्डन किस उद्देश्य से किया ? वे अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल हुए ?
४. कबीर के जन्म-स्थान, समय, जाति, माता-पिता, गुरु व स्वभाव आदि के आधार पर उनके जीवन का पूर्ण परिचय दें।
५. कबीर की रचनाओं की संक्षिप्त समालोचना करते हुए सिद्ध करें कि भारत की सात्विक सच्ची संस्कृति का प्रचार ही उनका मुख्य ध्येय है।
६. गुरु नानकदेव, दादूदयाल व सुन्दरदास का परिचय देकर इनके साहित्य की संक्षिप्त समीक्षा करें।

सातवाँ अध्याय

प्रेम प्रबन्ध-काव्य

चौदहवीं शताब्दी के लगभग हिन्दी में प्रेमात्मक आख्यान-काव्यों का आरम्भ हुआ। उनमें भारतीय और विदेशी तत्त्व इस प्रकार एकाकार हो गये कि चतुर समीक्षक के सिवा साधारण समाज उनमें कोई विदेशी रंग देख ही नहीं सकता। पद्मावत के प्रारम्भिक मंगलाचरण प्रकरण को (जिसमें मुहम्मद साहब की स्तुति है) न पढ़ा जाय तो आगे सारे महाकाव्य का स्वरूप भारतीय ही है। यह बात दूसरी है कि सर्गों के स्थान पर मसनवी शैली के अनुसार खण्डों में यह ग्रन्थ विभाजित किया गया है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी कादम्बरी, दशकुमारचरित, नलोपाख्यान या नैषधीयचरित आदि प्रेमकाव्य प्राप्त होते हैं, किन्तु जिस प्रकार संस्कृत नाटकों के रहते हुए भी आधुनिक हिन्दी नाटक संस्कृत नाटकों की शैली से सर्वथा स्वतन्त्र और विदेशी प्रभाव से प्रभावित हैं, उसी प्रकार सूफ़ी सन्तों द्वारा रचित प्रेमकाव्य भी संस्कृत साहित्य से स्पष्टतः कोई सम्बन्ध नहीं रखते, प्रत्युत पारसीक (फ़ारसी) प्रेम-प्रबन्धों की परम्परा पर ही चलते हैं। साथ ही यह भी सत्य है कि भारत में इस प्रकार के प्रेमकाव्य हिन्दी में भी मुसलमानों के द्वारा नहीं प्रत्युत सर्वप्रथम हिन्दुओं के द्वारा ही लिखे गये थे। जनता में इस प्रकार के काव्यों के प्रति पहले से ही रुचि चली आ रही थी और लोक-साहित्य के निर्माता हिन्दू-लेखक ऐसे काव्य प्रायः लिखते रहते थे। हाँ उस साहित्य की परम्परा को पल्लवित और पुष्पित अवश्य ही मुस्लिम कवियों ने किया। इन आख्यान-काव्यों में अनेक परस्पर-विरोधी तत्त्वों का बड़ा ही सुन्दर सामंजस्य हुआ है। ये प्राचीन पद्धति के विकसित स्वरूप होते हुए भी अपने रूप में सर्वथा मौलिक और नवीन तथा आर्यों की दोनों शाखाओं (ईरानी और भारतीय) के सिद्धान्तों के समन्वयात्मक स्वरूप में रहते हुए भी सर्वथा स्वतन्त्र हैं।

सिद्धान्त व परिचय—सूफ़ी सिद्धान्तों का संक्षिप्त सार पहले दिया जा चुका है। यहाँ कुछ अन्य अपेक्षित बातों पर प्रकाश डाला जाता है। ये लोग आत्मा और परमात्मा की एकरूपता स्वीकार करते हुए प्रेम के द्वारा उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते व लौकिक प्रेम से अलौकिक प्रेम तक पहुँचते हैं।

विश्व का यह एक सामान्य नियम है कि प्रेमी पुरुष ही अपनी प्रेमास्पद प्रेयसी को प्राप्त करने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न करता है, उसके लिए अनेक कष्ट

सहता है—विपत्तियाँ झेलता है। विपरीत इसके प्रेयसी तो कभी किसी की प्राप्ति के लिए अपनी ओर से प्रथम उपक्रम नहीं करती। इधर अध्यात्म पक्ष में भी आत्मा ही परमात्मा को पाने के लिए सचेष्ट रहता है न कि परमात्मा आत्मा को पाने के लिए। इसी सिद्धान्त को समक्ष रखते हुए सूफ़ी सन्तों ने आत्मा को 'नायक' या प्रिय तथा परमात्मा को प्रेयसी या 'नायिका' माना है। और इसके लिए लौकिक प्रेम-कथाएँ कहकर—किसी राजकुमार को किसी राजकुमारी के विरह में तड़पा कर—उसकी प्राप्ति के लिए अनेकों कष्ट सहकर—अन्त में उनका पारस्परिक मिलन दिखलाया है और समझा दिया गया है कि यह तो केवल प्रतीक स्वरूप या दृष्टान्त है। वास्तव में न कोई राजकुमार है न कोई राजकुमारी, प्रत्युत आत्मा परमात्मा की क्रीड़ा है।

इस साहित्य की विशेषताएँ

१. **रहस्यवाद**—इन काव्यों में यत्र-तत्र उस अज्ञात प्रियतम की अस्पष्ट-सी झलक दिखाई दे जाती है। कवि आत्म-तत्त्व का (या परमात्म-तत्त्व का, कुछ भी कहो बात एक ही है) संकेत-सा करता हुआ प्रतीत होता है। ऐसे स्थल रहस्यवादात्मक काव्य कहलाते हैं। जायसी के पद्मावत में रहस्यवाद की बड़ी सुन्दर अवतारणा हुई है।

२. **विरह-वर्णन**—इन प्रेमकाव्यों में विरह को बहुत ही अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। जो आत्मा जितना ही अधिक विरह की आँच में तपता है, वह उतना ही अधिक सोने के समान निखरकर परमात्मतत्त्व को पाने का अधिकारी हो जाता है। यहाँ तक कि उसके विरह में तड़पते-तड़पते अपनी सब कुछ सुध-बुध खो बैठता है—संज्ञाशून्य-सा हो जाता है। साधक रत्नसेन पद्मिनी को प्राप्त करने से पूर्व उक्त अवस्था में पहुँचा हुआ प्रतीत होता है, वह पद्मावती से साक्षात्कार होते ही मूर्च्छित हो जाता है।

यही कारण है कि सूफ़ी सिद्धान्तों पर आधारित समग्र प्रेम-पूर्ण-प्रबन्ध काव्यों में विरह का अत्यन्त विस्तृत वर्णन मिलता है। प्रत्येक कवि ने विविध रूपों में विरह के गीत गाए हैं। विरहाग्नि में तपता हुआ नायक अनेक कष्टों का सामना करके ही प्रियतम को प्राप्त कर सकता है। इस विरह के बिना कोई भी सच्चे साधक के पद पर नहीं पहुँच सकता। जैसे कि कहा है—

विरह अवधि अवगाह अपारा। कोटि माहि एक परैत पारा॥
विरह कि जगत अविरथा जाही। विरह रूप यह सृष्टि सबाहीं॥

नैन विरह अंजन जिन सारा। विरह रूप दरपन संसारा ।।
कोटि माहिं बिरला जग कोई। जाहि सरीर विरह दु:ख होई ।।
रतन कि सागर सागरहिं ? गज मोति गज कोई।
चन्दन कि बन-बन उपजै, विरह कि तन-तन होई ।।

शुक्लजी ने सूफ़ियों के इस विरह के सम्बन्ध में लिखा है कि 'जिसके हृदय में यह विरह होता है उसके लिए यह संसार स्वच्छ दर्पण हो जाता है और इसमें परमात्मा के आभास अनेक रूपों में पड़ते हैं। तब वह देखता है कि इस सृष्टि के सारे रूप, सारे व्यापार उसी का विरह प्रकट कर रहे हैं'। इस प्रकार विरह-वर्णन सूफ़ी साहित्य की एक प्रमुख विशेषता है। इसीलिए मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत में नागमती का बड़ा ही सुन्दर और हृदय-ग्राही विरह वर्णन किया है। नागमती के विरह में सारा संसार ही विरहाकुल हो रहा है। विरह की आंच में जलकर ही कोयल, भ्रमर आदि भी काले हो गये। नागमती के विरह का बारहमासा सचमुच हिन्दी साहित्य की एक निधि है।

३. सामयिक शासक आदि की स्तुतियां—मसनवी पद्धति पर निर्मित होने के कारण ही इन काव्यों के आरम्भ में ईश्वर, पैग़म्बर, गुरु और सामयिक शासक आदि की स्तुतियां भी विस्तृत रूप में रहती हैं।

मलिक मुहम्मद जायसी ने तात्कालिक शासक शेरशाह सूरी तथा अपने गुरु सय्यद अशरफ़ जहाँगीर आदि की प्रशंसा तथा स्तुतियां बड़े ही विस्तार के साथ की हैं।

४. योगियों का प्रभाव—भारतीय मुसलमान संत, सदा से योगियों और नाथों के सम्पर्क में रहते आए हैं। अतः उक्त सूफ़ी साहित्य पर नाथों का प्रभाव पर्याप्त रूप में लक्षित होता है। इन्होंने सिंहल द्वीप और उसमें पद्मिनी स्त्रियों का वर्णन, अनेक सिद्धियों का संकेत, इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा आदि नाड़ियों और 'षट् चक्रों' का उल्लेख आदि अनेक विषय नाथों या योगियों से ही लिए हैं।

५. हिन्दुत्व का आदर्श—इस साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके लेखक तो प्रायः मुसलमान हैं किन्तु उन्होंने भारतीय हिन्दू रूप को अपना लिया है। ये लोग ईरान और ईराक के शाहज़ादा और शाहज़ादियों की प्रेम-कथा न कहकर 'राजकुमार' और 'राजकुमारियों' की कथा कहते हैं और उन्हें पूरे भारतीय संस्कृति के प्रतीक के रूप में अंकित करते हैं। बीच-बीचमें पीर-पैग़म्बरों की अवतारणा न कर साधु, सन्तों व शिव रूप की अवतारणा करते हैं। इसी प्रकार इन पर

निर्गुण पंथियों का प्रभाव भी प्रचुर परिमाण में पड़ा है। इसके अतिरिक्त इस्लाम के प्रति आस्था भी इन सभी सूफ़ियों में समान रूप से पाई जाती है। इसे यूं कह सकते हैं कि ये लोग 'इस्लाम सम्प्रदाय के अनुयायी हिन्दू' या भारतीय थे। हम चाहते हैं कि वर्तमान के मुसलमान भी रहीम, रसखान और जायसी की भांति 'भारतीय मुसलमान' बन जायँ न कि 'अरबी मुसलमान'। ऐसा करने पर इस्लाम भारत के अन्यान्य सैंकड़ों सम्प्रदायों के साथ सन्निविष्ट होकर भारतीयों से स्थायी भाईचारा स्थापित कर सकता है।

समाज व साहित्य पर प्रभाव—भारतीय समाज व साहित्य पर भी इनका अत्यन्त हितकर प्रभाव पड़ा। हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को दूर करने का जो प्रयत्न निर्गुणपंथियों ने प्रारम्भ किया था उसका परिणाम तत्काल फलीभूत नहीं हो सकता था। एक तो उनकी खण्डन-मण्डनात्मक प्रवृत्तियों से दोनों धर्मों के अनुयायी उनसे कुछ चिढ़ से गये और दूसरे उनके उपदेशात्मक साहित्य में सरसता रसार्द्रता के स्थान पर नीरसता और शुष्कता मुख्य रूप से लक्षित होती थी, किन्तु सूफ़ियों का साहित्य समाज में सरसता का संचारक सिद्ध हुआ। उसने हिन्दुओं के घरों की कहानियों को अपना कर उनके प्रति मुस्लिम हृदयों को आकृष्ट कर इन दोनों के अजनबीपन को मिटाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। इनकी साहित्यिक अवधी भाषा तथा दोहा, चौपाइयों की शैली ने परवर्ती साहित्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। हम देखते हैं कि आगे चलकर गोस्वामी तुलसीदास जी ने हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य 'रामचरितमानस' की रचना इसी भाषा व शैली में की थी।

लेखकगण—

ईश्वरदास—इनका रचनाकाल सं० १५४६ से १५७४ तक माना जाता है। इन्होंने सत्यवती की कथा नामक एक प्रेमकाव्य दोहा-चौपाइयों की शैली में लिखा था। आचार्य शुक्ल जी ने इसे ही सर्वप्रथम प्रेम-प्रबन्ध काव्य माना है।

कुतबन—ये चिश्ती वंश के शेख़ बुरहान के शिष्य थे और जौनपुर के बादशाह हुसैनशाह के आश्रय में रहते थे। इन्होंने 'मृगावती' नाम की एक प्रेम-कहानी दोहे-चौपाई के रूप में सं० १५५८ में लिखी। इसमें रूपक द्वारा प्रेममार्ग के त्याग और उसकी कठिनाइयों का वर्णन किया गया है। इसकी कथा इस प्रकार है—

चन्द्रगिरि का राजकुमार कंचनपुर की राजकुमारी मृगावती पर आसक्त हो गया। राजकुमारी उड़ने की विद्या जानती थी। वह एक दिन राजकुमार को धोखा देकर उड़ गई। राजकुमार योगी बनकर उसे खोजने के लिए निकल पड़ा। रास्ते में उसने रुक्मणी नाम की एक सुन्दरी को एक राक्षस से बचाया। इस पर

रुक्मणी के पिता ने राजकुमार से उसका विवाह कर दिया। अन्त में वह राजकुमारी मृगावती को प्राप्त कर उसके साथ बारह वर्ष रहता है। बाद में राजकुमार पिता का सन्देश पाकर मृगावती सहित वहाँ से चल कर मार्ग में रुक्मणी को भी लेकर घर पहुँचा। वहां बहुत दिनों तक आनन्दपूर्वक सुखोपभोग करने के पश्चात् अन्त में हाथी से गिर कर मर गया। दोनों रानियां उसके साथ सती हो गईं।

दामौ कवि रचित लक्ष्मणसेन पद्मावती—दामौ नामक कवि का विशेष परिचय प्राप्त नहीं हुआ। इन्होंने सं० १५१६ में 'लक्ष्मणसेन-पद्मावती' नामक प्रबन्ध-काव्य लिखा था। इसकी कथा भी चित्तौड़ की रानी पद्मिनी और लक्ष्मणसेन से सम्बद्ध है और भाषा राजस्थानी। बीच-बीच में प्राकृत व संस्कृत के श्लोक भी हैं। इसमें प्रेम की अपेक्षा वीररस ही प्रधान है।

मंझन—इनका विस्तृत परिचय अभी तक कहीं प्राप्त नहीं हुआ। इनकी सं० १६०२ में लिखी रचना 'मधुमालती' की प्रति भी अधूरी ही मिली है। मृगावती की अपेक्षा यह रचना प्रौढ़, सरस व विस्तृत है। कहानी का सारांश यह है—मनोहर नामक राजकुमार को सोते हुए को उठाकर अप्सराएँ महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती की चित्रसारी में रख आईं। जागने पर दोनों एक-दूसरे पर मोहित होकर बातचीत करते-करते सो गये। तब अप्सरा मनोहर को उठाकर फिर उसके घर पहुँचा गई। जागने पर प्रेम से व्याकुल मनोहर मधुमालती को खोजने के लिए समुद्रमार्ग से चल पड़ा। रास्ते में जहाज के डूबने से एक तख्ते पर तैरता हुआ मनोहर किसी जंगल में जा लगा। वहाँ उसने एक राक्षस को मारकर उसके फंदे से प्रेमा नामा चित्तबिसरामपुर की राजकुमारी को बचाया। प्रेमा ने उसे बताया कि मैं तुम्हें मधुमालती से मिला दूंगी। वह मेरी सहेली है। मनोहर उसे लेकर जब उसके घर पहुँचा तब प्रेमा के पिता ने उसका विवाह प्रेमा से करना चाहा, परन्तु प्रेमा ने अस्वीकार करते हुए कहा कि यह मेरा भाई है। मैं इसे इसकी प्रेमिका से मिलाऊँगी। दूसरे दिन जब मधुमालती अपनी माता के साथ थी तब प्रेमा ने मनोहर को उससे मिलाया। सवेरे चित्रसारी में जब माता ने मधुमालती को मनोहर के साथ देखा तब उसने अपनी कन्या से मनोहर का प्रेम छोड़ने के लिए कहा। उसके न मानने पर माता ने उसे पक्षी बनाकर उड़ा दिया। एक दिन पक्षी बनी हुई मधुमालती को राजकुमार ताराचन्द्र ने पकड़ लिया। तब उसने अपनी सारी प्रेम-कहानी ताराचन्द्र को सुनाई जिसे सुनकर वह उसे मनोहर से मिलाने का वचन देकर उसकी माँ के पास ले गया। माँ पुत्री को पाकर बड़ी प्रसन्न हुई और

उसे फिर से कन्या बना दिया और ताराचन्द्र से विवाह का विचार प्रकट किया। उसने बताया कि यह मेरी बहन है, मैं इसे मनोहर से मिलाने के लिए वचन दे चुका हूँ। तब माता-पुत्री दोनों प्रेमा को पत्र लिखती हैं। पत्र मिलने पर प्रेमा विचार में बैठी ही थी कि इतने में योगी-वेश में मनोहर पहुँच गया। अन्त में मनोहर मधुमालती का विवाह हो गया। वहाँ प्रेमा को देखकर ताराचन्द्र मूर्छित हो गया। आगे प्रति खण्डित है। कविता का एक नमूना देखिए—

देखत ही पहिचानेउ तोही। एक रूप जेहि छँरयो मोही।।
एही रूप बुत अहै छिपाना। एही रूप सब सृष्टि समाना।।
एही रूप सकती औ सीऊ। एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ।।
एही रूप प्रकटे बहु भेसा। एही रूप जग रंक नरेसा।।

मलिक मुहम्मद जायसी—आपका जन्म सं० १५५० में जायस में और मृत्यु सं० १६०० में अमेठी में हुई। ये प्रेममार्गी शाखा के प्रतिनिधि एवं सर्वश्रेष्ठ कवि थे। इनका अमेठी के राजघराने में पर्याप्त सम्मान था। यह काने और कुरूप थे। एक बार शेरशाह इन्हें देखकर हँस पड़ा। इस पर इन्होंने कहा—"मोहि **का** हँससि कि कोहरहि" (मेरे रूप पर क्यों हँसता है, मेरे बनानेवाले कुम्हार—ईश्वर पर क्यों नहीं हँसता)। यद्यपि ये जन्म से मुसलमान थे तथापि हृदय से इन्हें हिन्दू कहा जा सकता है। मुसलमान होते हुए भी इन्होंने हिन्दू वीर-शिरोमणि मेवाड़ के महाराणा की प्रशंसा में अपना प्रसिद्ध महाकाव्य "पद्मावत" लिखा। पद्मावत प्रेम-प्रधान महाकाव्य है। पहले इसके पूर्वार्ध की कथा कवि की अपनी कल्पना कही जाती थी किन्तु प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् और रिसर्चस्कालर श्री पं० भगवद्दत्त बी० ए० ने 'श्री स्वाध्याय' पत्र के साहित्यांक में एक लेख द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न किया था कि पद्मावत के पूर्वार्ध से मिलती जुलती कथा एक दूसरे रूप में कल्किपुराण में भी मिलती है। इसका उत्तरार्ध ऐतिहासिक है। यद्यपि जायसी प्रेममार्गी शाखा के कवि थे, तथापि इसमें स्थान-स्थान पर वीर रस का भी सुन्दर परिपाक हुआ है। इनका यह महाकाव्य प्रेम-प्रधान ही है। इस काव्य की भाषा अवधी है और यह दोहा, चौपाई, छन्द में फ़ारसी की 'मस़नवी' पद्धति पर लिखा गया है। रहस्यवाद की जैसी सुन्दर अवतारणा इस काव्य में हुई है, वैसी अन्य किसी भी प्राचीन महाकाव्य में नहीं हो पाई। पुराने हिन्दी महाकाव्यों में 'रामचरितमानस' के पश्चात् पद्मावत का ही स्थान है। हिन्दू-मुस्लिम हृदय के अजनबीपन को मिटाकर एक-दूसरे को निकट लाने के लिए जायसी ने राष्ट्र-सेवा का अत्यन्त स्तुत्य कार्य किया, इसमें कुछ सन्देह नहीं।

उक्त कल्किपुराण की कथा के अतिरिक्त पद्मावत के तोते और पद्मिनी की कथा हिन्दू घरों में पर्याप्त, प्राचीन समय से प्रचलित रही है और दामो कवि ने लक्ष्मणसेन-पद्मावती की कथा जायसी से ५० वर्ष पूर्व लिख डाली थी। हमारा अनुमान है कि सम्भवतः जायसी ने अपने पद्मावत के लिए इसी पुस्तक से प्रेरणा प्राप्त की हो।

फिर भी अपने प्रस्तुत रूप में पद्मावत का पूर्वार्ध कवि की मौलिक व कुशल कल्पना ही कही जायगी क्योंकि कल्किपुराण की पद्मा, सिंहलद्वीप और शुक के नाम-साम्य के अतिरिक्त इन दोनों कथानकों में कुछ भी समता नहीं। और 'लक्ष्मण सेन पद्मावती की कथा' सर्वांशतः 'पद्मावत' से मिलने पर भी इसके पूर्वार्ध की कथा व सम्पूर्ण पुस्तक की भाषा व शैली तथा विषय-निरूपण का ढंग आदि जायसी के सर्वथा अपने हैं। इस प्रकार इस काव्य के पूर्वार्ध में केवल वैयक्तिक पक्ष प्रधान है और उत्तरार्ध में राष्ट्रीय या समाज-पक्ष प्रधान हो गया है।

जायसी की विशेषताएँ—अन्य प्रेममार्गी कवियों की अपेक्षा जायसी में अनेक विशेषताएँ हैं।

१. सर्वप्रथम तो इन्होंने अपने काव्य के लिए कथानक कल्पित न रख कर ऐतिहासिक रखा। अतएव वह एक कोरा प्रेमकाव्य न होकर राष्ट्रीय गौरव की वस्तु बन गया।

२. अन्य प्रेमकाव्यों में रति, शोक, स्नेह आदि हृदय की कोमल प्रवृत्तियों का ही समावेश हो पाया है, किन्तु पद्मावत का एक बहुत बड़ा अंश क्रोध, उत्साह, भय, स्वाभिमान आदि हृदय की उद्दाम प्रवृत्तियों से भी परिपूर्ण है, इसलिए पद्मावत जहां एक ओर प्रेम-प्रबन्ध है वहां वह अंशतः 'वीरकाव्य' भी कहा जा सकता है।

३. अन्य प्रेमकाव्य के नायक और नायिकाएँ कल्पित होने के कारण जन-सामान्य के लिए अपरिचित या अज्ञात रहती थीं, इसीलिए साधारण समाज का उनकी ओर विशेष आकृष्ट न होना स्वाभाविक ही है, किन्तु पद्मावत के नायक-नायिकाएँ प्रातः स्मरणीय लोकविश्रुत वन्दनीय वीर पुरुष हैं। नायिका पद्मिनी तो इने-गिने भारतीय नारी रत्नों में से एक मानी गई है। ऐसे नायक-नायिकाओं को पाकर जायसी की प्रतिमा परम पुनीत हो गई है।

४. वर्णनों की स्वाभाविकता, सरसता और व्यापकता भी अन्य प्रेम-काव्यों की अपेक्षा इनमें विशेष महत्त्व रखती है। इसका सौन्दर्य-वर्णन तो विश्व-साहित्य में अपनी समता नहीं रखता।

५. नागमती के विरह-वर्णन का बारहमासा तथा स्थान-स्थान पर रहस्यवाद की अवतारणा भी जायसी की अपनी विशेषता है।

६. सबसे बड़ी बात यह है कि मुस्लिम शासकों और जनता या मौलवियों के द्वारा दिये जाने वाले 'कुफ़्र' के फ़तवे की कुछ भी परवाह न कर इस कवि ने मुसलमानों के साथ निरन्तर लोहा लेने वाले शीशोदिया वंश के एक ऐसे महाराणा—जिसने अलाउद्दीन के सब सुख-स्वप्नों को मिट्टी में मिला दिया था—की कीर्ति-कथा कहकर अपने गुण-ग्राहक, पक्षपात रहित, निर्भय और साहसी स्वभाव का परिचय दिया।

७. ऐसा प्रतीत होता है कि पद्मिनी और रत्नसेन की पावन गाथा कहते-कहते उसके प्रवाह में बहकर लेखक अपने आपको व अपने काव्य के लक्ष्य को भी भूल बैठता है, इसीलिए युद्धवर्णन आदि अनेक ऐसी घटनाओं का विस्तृत वर्णन करने के मोह को वह संवरण नहीं कर पाता जिनका सम्बन्ध अध्यात्म-पक्ष में किसी प्रकार घट ही नहीं सकता। पुनः स्मरण आने पर कवि उनमें से बहुत-सी घटनाओं का तो ठोक-पीटकर अध्यात्म में भी सम्बन्ध बैठाने का प्रयत्न करता है किन्तु फिर भी अनेकों घटनाएँ इस सम्बन्ध से सर्वथा अछूती ही रह जाती हैं। इन सब बातों को देखते हुए ऐसा भी कह सकते हैं कि अपने सहधर्मियों की आंखें पोंछने के लिए ही जायसी ने अन्त में स्पष्ट शब्दों में अध्यात्म-पक्ष का उल्लेख कर दिया हो, क्योंकि अभी तक मुस्लिम समाज व शासकवर्ग अकबर के समय के समान साम्प्रदायिकता के सम्बन्ध में सहिष्णु या उदार नहीं बन पाये थे।

जायसी की रचनाएँ—अब तक जायसी की य तीन रचनाएँ प्राप्त हो चुकी हैं:—१. पद्मावत, २. अखरावट, ३. आख़िरीकलाम। ये तीनों की तीनों रचनाएँ मूलतः फ़ारसी लिपि में ही लिखी गई थीं और उन्हीं से देवनागरी लिपि में रूपान्तरित की गई हैं। फ़ारसी लिपि में लिखे जाने के कारण इनके मूल रूप प्रायः विशेष परिवर्तित नहीं हो पाये। यह बात दूसरी है कि लिपि की दुर्बोधता के कारण कहीं-कहीं पाठ-भेद या पाठ-भ्रम अवश्य हो गया है।

अखरावट में 'ककहरे' के क्रम से दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। आखिरी कलाम में मुसलमानी सिद्धान्तों के आधार पर कयामत तथा उसके बाद होने वाले अल्लाहताला के इन्साफ़ का उल्लेख है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन तीनों ग्रंथों का बहुत ही सुन्दर सम्पादन कर उसे 'जायसी ग्रन्थावली' के नाम से काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित करवाया। श्रीयुत डा० सूर्यकान्त ने पद्मावत का कुछ अंश अत्यन्त ही सुन्दर और

प्रामाणिक रूप में सम्पादित कर शब्दार्थ सहित प्रकाशित करवाया था।

'पद्मावत' की कथा का संक्षेप इस प्रकार है—

सिंहल द्वीप के राजा गन्धर्वसेन की कन्या पद्मावती अद्वितीय सुन्दरी थी। उसके पास हीरामन नाम का एक बड़ा विद्वान् तोता था। एक दिन वह पद्मावती से उसे योग्य वर न मिलने के सम्बन्ध में कुछ कह रहा था कि राजा ने सुन लिया और बहुत कोप किया। तोता राजा के डर से एक दिन उड़ गया। जंगल में वह एक बहेलिये के हाथ पकड़ा जाकर चित्तौड़ के ब्राह्मण के हाथों बेच दिया गया। ब्राह्मण ने उसे चित्तौड़ के राजा रत्नसेन के पास पहुँचा दिया। एक दिन राजा जब शिकार के लिए गये तब रानी नागमति ने तोते से पूछा कि क्या कहीं मेरे जैसी दूसरी सुन्दरी भी है? तोते ने पद्मावती का वर्णन किया। रानी ने इस डर से कि कहीं यह राजा से भी न कह दे उसे मारने की आज्ञा दे दी। परन्तु दासी ने उस पर राजा का प्रेम जानकर उसे मारा नहीं। लौटने पर तोते के बिना राजा व्याकुल हुआ तब तोता लाया गया और उसने सारी कथा कह सुनाई। पद्मिनी के रूप का वर्णन सुनकर राजा तोते को साथ लेकर उसकी खोज में जोगी बनकर घर से निकल सिंहल-द्वीप की ओर चल पड़ा। वहां अनेक कष्टों और बाधाओं के बाद शिवजी की तपस्या के परिणामस्वरूप पद्मावती से उसका विवाह हो गया और कुछ दिनों के बाद दोनों चित्तौड़ आ गये।

एक दिन राजा ने राघवचेतन नामक एक पंडित को जिसने अपने योग-बल से 'प्रतिपदा' के दिन 'द्वितीया' का चाँद दिखाया था, अपने देश से निकाल दिया। वह दिल्ली गया और अलाउद्दीन से पद्मावती के रूप की प्रशंसा कर उसे चित्तौड़ पर आक्रमण करने के लिए उत्तेजित किया। सुलतान १२ वर्ष तक चित्तौड़ को घेरे रहा पर उसे तोड़ न सका। अन्त में उसने रत्नसेन को सन्धि के लिए बुलाकर छल से पकड़ लिया और दिल्ली ले आया। रानी को जब यह पता लगा तब वह अपने चातुर्य और गोरा-बादल की वीरता से राजा को कैद से छुड़ा लाई। लौटने पर राजा ने सुना कि उसकी बन्दी अवस्था में कुम्भलनेर के राजा देवपाल ने पद्मावती को फुसलानेके लिए दूती भेजी थी तब वह देवपाल के साथ युद्ध करने गया। वहाँ देवपाल को मारते हुए राजा स्वयं मर गया। राजा का शव चित्तौड़ लाया गया और दोनों रानियां उसके साथ सती हो गईं। इधर अलाउद्दीन भी पद्मावती की इच्छा से चढ़कर वहाँ आया परन्तु उसे वहां भस्म के अतिरिक्त कुछ भी न मिला।

इस कथा के वर्णनों से भी साधना के मार्ग, उसकी कठिनाइयों और सिद्धि के स्वरूप आदि की पूरी व्यंजना होती है। जैसा कि कवि ने स्वयं कहा है—

तन, चितउर, मन राजा कीन्हा ।
हिय सिंहल बुधि पदिमनि चीन्हा ॥
गुरु सुआ जेहि पन्थ देखावा ।
बिन गुरु जगत को निरगुन पावा ॥
नागमती यह दुनिया धन्धा ।
बांचा सोइ न एहि चित बन्धा ॥
राघव दूत सोई सैतानू ।
माया अलाउदीं सुलतानू ॥

जायसी की रचनाओं के कुछ उद्धरण नीचे दिये जाते हैं:—

१. गढ़ सौंपा तेहिं बादल, गये टेकत बसुदेव ।
छोड़ी राम अयोध्या, जो भावै से लेव ॥
पद्मावति पुनि पहरि पटोरा । चली साथ पिय के ह्वै जोरा ॥
सूरज छिपा रयनि ह्वै गई । पूनो शशि सो अमावस भई ॥
छोरे केश मोति लट छूटी । जानो रयनि नखत सब छूटी ॥
सेंदुर परा जो शीस उघारी । आग लाग चहि जग अँधियारी ॥
यही दिवस हों चाहत नाहीं । चली साथ पिय दै गलबाहीं ॥
सारस पंखि नहिं जिये निरारे । हौं तुम बिन का जियों पियारे॥
न्योछावर कै तन छहराऊँ । छार होऊँ संग बहुर न आऊँ ॥
दीपक प्रीति पतंग ज्यों, जन्म निबाहु करेंउ ।
न्योछावर चहुँ पास ह्वै, कंठ लाग जिय देउं ॥

२. ठा ठाकुर बड़ आप गोसाईं । जेइ सिरजा जग अपनइ नाईं॥
आपुहि आप जो देखइ चहा । आपन प्रभुता आपसे कहा ॥
सबइ जगत दर्पन कै लेखा । आपुहि दर्पन आपुहि देखा ॥
आपुहि बन औ आप पखेरू । आपुहि सउजा आपु अहेरू ॥
आपुहि पुहुप फूल वन फूले । आपुहि भंवर बासरस भूले ॥
आपुहि फल आपुहि रखवारा । आपुहि सो रस चाखन हारा॥

उसमान—ये ग़ाज़ीपुर निवासी शेख हुसैन के पुत्र और चिश्ती की परम्परा में हाजीबाबा के शिष्य थे । इन्होंने जहाँगीर के राज्यकाल में सं० १६७० में 'चित्रावली' नाम की रचना लिखी । अपनी रचना में इन्होंने जायसी का अनुकरण किया था ।

एक काल्पनिक कहानी के द्वारा प्रेम मार्ग के संकटों का वर्णन किया है। यह कहानी कवि-कल्पित है, जैसा कि कवि ने स्वयं कहा है:—

कथा एक मैं हिय उपजाई। कहत मीठ और सुनत सुहाई॥

जायसी की भाँति इसमें भी चौपाइयों के बाद दोहे का क्रम रखा गया है। इसका कथानक इस प्रकार है:—

नैपाल के राजा धरनीधर का पुत्र सुजानकुमार एक दिन शिकार में मार्ग भूल कर देव (प्रेत) की मढ़ी में जा सोया। एक दिन वह देव रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की वर्षगाँठ का उत्सव देखने के लिए उसे साथ ले गया। उसे राजकुमारी की चित्रसारी में रख स्वयं उत्सव देखने लगा। सुजान राजकुमारी के टंगे चित्र को देख आसक्त हो गया और अपना भी एक चित्र बनाकर वहां टांगकर सो गया। देव उसे सोते को उठा लाया। जागने पर वह चित्रावलीके प्रेम में व्याकुल हो उठा। उस मढ़ी में उसने पिता के घर से बहुत-सा सामान लाकर 'अन्नसत्र' खोल दिया। चित्रा-वली भी उस चित्र को देख प्रेम-विह्वल हो उठी और उसने अपने कई नौकरों को कुमार का पता लगाने के लिए भेजा। एक कुटीचर ने कुमारी की माँ से चुगली की और चित्र धो डाला। इस पर कुमारी ने उसे सिर मुंडा कर निकाल दिया। कुटीचर ने शिव-मन्दिर में कुमारी से मिलते देख राजकुमार को अन्धा करके एक गुफ़ा में डाल दिया जहाँ उसे अजगर निगल गया। उसकी विरह की अग्नि से डर कर साँप ने उसे उगल दिया। वहाँ एक बनमानुस से अंजन पाकर उसने फिर दृष्टि पाई। एक दिन बन में एक हाथी ने उसे पकड़ लिया। इतने में उस हाथी को एक पक्षी ले उड़ा, तब हाथी ने घबराकर कुमार को फेंक दिया। वहां से वह एक दिन सागरगढ़ की राजकुमारी कँवलावती की फुलवारी में जा पहुँचा। उस पर मोहित होकर कुमारी ने उसे चोरी का झूठा अपराध लगाकर पकड़वा दिया। इसी बीच सोहिल नाम का राजा कँवलावती को पाने की इच्छा से चढ़ आया। सुजान ने उसे मार भगाया। अंत में कँवलावती से विवाह कर उसे लेकर गिरनार की यात्रा के लिए निकला। वहां से चित्रावली के दूत के साथ रूपनगर आया। राजा को जब यह पता मिला कि सोहिल को सुजान ने मारा था तो उसने अपनी कन्या चित्रावली के साथ उसका विवाह कर दिया। अन्त में चित्रावली को लेकर सुजान स्वदेश की ओर चल पड़ा और मार्ग में कँवलावति को भी साथ ले लिया और स्वदेश पहुँचकर दोनों रानियों के साथ बहुत दिनों तक राज्य किया।

इनके अतिरिक्त जौनपुर जिले के निवासी शेख़ नबी की सं० १६७६ में लिखी हुई ज्ञानदीप नामक प्रेमकथा, बारहबाँकी जिले के रहने वाले कासिम शाह की

सं० १७८८ में रचित 'हंस जवाहर' नामक प्रेम-कहानी, और नूरमुहम्मद की इन्दरावती मिलती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक मुस्लिम तथा हिन्दू कवियों ने भी 'माधवानल-काम-कंदला', 'ढोला मारूरा दोहा' आदि प्रेम-कथाएँ लिखीं। इनमें अध्यात्म-तत्त्व आदि कुछ भी नहीं। साहित्य की दृष्टि से भी यह रचनाएँ सामान्य सी हैं। अतः इनका यहाँ विस्तृत विवेचन नहीं किया गया।

अभ्यास

१. प्रेम-प्रबन्ध परम्परा का प्रारम्भ कब, कहाँ और किस रूप में हुआ ?
२. सूफ़ी सिद्धान्तों व साहित्य का संक्षिप्त परिचय दें और बतायें कि उस पर भारतीय और विदेशी प्रभाव किस रूप व परिमाण में पड़ा है ?
३. मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत का पूर्ण परिचय दें।
४. जायसी की साहित्य व समाज-सेवाओं पर प्रकाश डालें।
५. मञ्झन, कुतबन, उसमान तथा ईश्वरदास के काव्यों का परिचय देकर किसी एक की कथा का सार लिखें।
६. भाषा, विषय, शैली वा सिद्धान्तों के आधार पर सूफ़ी साहित्य की समालोचना करें।

आठवाँ अध्याय

राम-भक्ति-साहित्य

राम-भक्ति का आरंभ कब हुआ---राम को ईश्वरावतार के रूप में कब से माना जाने लगा---इस संबंध में विभिन्न मतभेद हैं। कोई भगवान् राम के समय से, कोई महाभारत-काल से, अनेक ईसा की प्रथम शताब्दी से, बहुत से छठी सदी से तथा एक लेखक बारहवीं शताब्दी से रामोपासना का आरंभ मानते हैं। अतः इस संबंध में यहां पर ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ विचार करना उपयुक्त होगा। श्रीयुत जयचन्द्र जी विद्यालंकार ने अपनी 'भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न' नामक ऐतिहासिक पुस्तिका की भूमिका में राम-भक्ति के संबंध में लिखा है कि---

"बचपन में जब मैंने अमरकोष पढ़ा, उसके देवकांड के विषय में मुझे यह बात खटकती कि वहाँ विष्णु के नामों में केवल कृष्णावतार के नाम क्यों गिनाये हैं, मैं सोचता, या तो सब अवतारों के नाम होते या किसी का न होता, वैसा सोचकर मैं अमरसिंह की विषय-विभाग-शैली को दोष दिया करता। अब इतिहास पढ़ने पर यह बात समझ में आई कि अमरसिंह के समय तक रामावतार का विचार उठा ही न था।"

इसका आशय यह है कि राम को ईश्वरावतार अमरसिंह या कालीदास के समय (ई० पू० पहली शताब्दी से ई० छठी शताब्दी तक) के बाद माना जाने लगा। इधर देहली के पुरातन वैद्य और सुप्रसिद्ध हिंदी-कहानीकार श्री चतुरसेन शास्त्री अपने साहित्य के इतिहास में राम-भक्ति शाखा का इतिहास बताते हुए, लिखते हैं कि---'इन बातों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने (रामानन्द जी ने) विष्णु के स्थान में वाल्मीकि वर्णित और देश-पूजित राम को इष्ट देवता का स्थान दिया। पूर्व-पूजित देवता विष्णु का उन्हें मनुष्यावतार कहा।'

इसी प्रकार कृष्ण-भक्ति के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं कि---'यह बात विचारने योग्य है कि श्रीकृष्ण, कालीदास (५ वीं शताब्दी) भारवि (छठी शताब्दी) बाणभट्ट (७ वीं शताब्दी) और भवभूति (८ वीं शताब्दी) से अधिक परिचित नहीं हैं। उनसे ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में भास[1] और जयदेव का परिचय हुआ है। वे हिंदुओं के सर्वाधिक पूज्य देवता हो गये हैं।'

---

१. चतुरसेन जी ने अपने इतिहास में पहले स्वयं भास को पाणिनि से भी पूर्ववर्ती लिखा है।

इस संबंध में हमारा निवेदन यह है कि चतुरसेन जी का तो यह अपना विषय नहीं इसलिए उन्होंने यदि राम और कृष्ण का अवतार रूप में प्रचलित होना या प्रसिद्ध होना १५ वीं शताब्दी में माना और भास (जो निश्चित रूप से कालीदास से पूर्ववर्ती है) को जयदेव के साथ ११ वीं शताब्दी का लिख दिया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। वे अपनी कल्पना से भास को ग्यारहवीं शताब्दी छोड़ इक्कीसवीं शताब्दी में भी ला बैठा सकते हैं। किंतु श्री जयचन्द्र जी विद्यालंकार जैसे प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता का यह कथन कि 'अमरसिंह के समय तक रामावतार का विचार उठा ही न था', विशेष आश्चर्यजनक है। क्योंकि अमरसिंह कालीदास के सम-कालीन हैं और भास कालीदास से पूर्ववर्ती। भास के अभिषेक आदि नाटकों में राम को केवल ईश्वरावतार ही नहीं प्रत्युत प्रत्यक्ष परब्रह्म भी कहा गया है। अतः स्पष्ट सिद्ध होता है कि अमरसिंह (या कालीदास) और भास से भी बहुत समय पूर्व ही राम और कृष्ण को ईश्वरावतार के रूप में माना जाने लग पड़ा था।

श्रीयुत भाण्डारकर महोदय ने वैष्णवधर्म का जन्म ईसा से ५०० वर्ष पूर्व माना है। अवतारवाद की प्रतिष्ठा महाभारत से कितने समय पश्चात् हो गई थी। इस संबंध में हम अपनी ओर से सुनिश्चित कुछ कहने का साहस न करते हुए भांडार-कर जी के उक्त मत तथा अन्य कई एक प्रमाणों के आधार पर कह सकते हैं कि ईसा से ५०० वर्ष पूर्व ही अवतारवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी अर्थात् राम और कृष्ण ईश्वरावतार के रूप में स्वीकार किये जा चुके थे। अतः राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति का प्रचार ईसा से ५ वीं शताब्दी पूर्व ही से मानना इतिहासानुकूल प्रतीत होता है।

यह सब कुछ होते हुए भी इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि राम और कृष्ण-भक्ति के अनेक वर्तमान रूप पर्याप्त प्राचीन नहीं हैं। वे अपने इस रूप में १३ वीं १४ वीं शताब्दी में ही आये हैं।

रामानुजाचार्य ने ११ वीं शताब्दी में लक्ष्मीनारायण की उपासना पर बल दिया। ये नारायण सगुण साकार होते हुए भी अमानवीय और अलौकिक हैं। वे चतुर्भुजधारी और मनुष्यलोक से ऊपर वैकुण्ठ के विहारी हैं। किंतु मनुष्य की प्रवृत्ति है कि वह अपने ही समान स्वरूप के प्रति विशेष आकृष्ट होता है। उसे प्रभु का वह रूप अधिक प्रिय प्रतीत होता है जो हर्ष, शोक, विपत्ति, संपत्ति, दुःख, दैन्य आदि प्रत्येक अवस्था में उसके साथ रहता और समय-समय पर दुष्टदलन के लिए समाज में प्रकट होता है। नारायण रूप की उक्त विलक्षणता उसके लिए

इतनी हृदयहारी नहीं हो सकती थी, इसलिए आगे चलकर रामानन्द स्वामी ने चतुर्भुज नारायण के स्थान पर द्विभुजधारी मानवलीलाकारी रामरूप की उपासना का प्रचार प्रारंभ कर दिया। रामानन्द का यह रामनाम वास्तव में ही भारत के लिए 'तारकमन्त्र' प्रमाणित हुआ। इसी नाम के सहारे एक ओर तो निर्गुण-पंथियों ने अपने सात्विक सदाचार-प्रधान सम्प्रदायों का सूत्रपात किया, दूसरी ओर राम-भक्ति शाखा का सुधास्रोत बह निकला। आगे चलकर इसी राम-भक्ति शाखा में हिंदी साहित्याकाश के सूर्य श्री गोस्वामी तुलसीदास का उदय हुआ।

लेखक तथा उनकी रचनाएँ

रामानन्द—अनेक प्रमाणों के आधार पर इनका समय विक्रम की १५ वीं शती के मध्य भाग से १६ वीं शताब्दी के चतुर्थ चरण तक (सं० १४४६ से १५८० तक) सिद्ध किया गया है। इनके पिता का नाम पुण्यसदन शर्मा और माता का नाम सुशीला था। काशी में श्री स्वामी राघवानन्द जी से विद्याध्ययन कर इन्होंने अपनी योग्यता से उनके उत्तराधिकारी का पद प्राप्त कर लिया। यद्यपि सिद्धान्त की दृष्टि से ये रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी थे तथापि इन्होंने अपना मार्ग बहुत कुछ किसी सम्प्रदाय विशेष की संकीर्णता से स्वतन्त्र कर लिया था जैसे कि—१. नारायण के स्थान पर राम की उपासना के प्रचार को परिपुष्ट किया। २. जटिल कर्मकाण्डों की अपेक्षा सरल भक्ति की साधना को प्रधानता दी। ३. व्यावहारिक क्षेत्र में वर्णाश्रम-व्यवस्था की मर्यादा के महत्त्व को मानते हुए भी भक्ति के क्षेत्र में मनुष्यमात्र की समानता के सत्य सिद्धान्त को स्वीकार किया। ४. अपने उपदेश केवल पंडितों में प्रचलित संस्कृत भाषा में न देकर जनसाधारण की हिन्दी भाषा में भी दिये। इस प्रकार धर्म के स्वरूप को अत्यन्त व्यापक और लोकप्रिय बना दिया। रामानन्दजी के बनाये हुए १. वैष्णवमताब्ज-भास्कर और २. 'श्री रामार्चन पद्धति' नामक दो संस्कृत ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त 'योग चिन्तामणि' और 'रामरक्षा स्तोत्र' आदि अन्य कई पुस्तकें भी इनके नाम पर प्रचलित हैं किन्तु प्रामाणिक इतिहासकार इन्हें इनकी बनाई हुई नहीं मानते हैं। इनके लिखे हुए कुछ पद हिन्दी में भी प्राप्त हुए हैं। निम्नलिखित पद इनका स्वरचित माना जाता है:—

आरति कीजै हनुमान लला की। दुष्ट दलन रघुनाथ-कला की॥
जाके बल-भर ते महि काँपै। रोग सोग जाकी सिमा न चाँपै॥
अंजनी-सुत महाबल-दायक। साधु संत पर सदा सहायक॥

बाएँ भुजा सब असुर सँहारी। दहिन भुजा सब संत उबारी ।।
लछिमन धरति में मूर्छि परयो। पैठि पताल जमकातर तर्‌यो ।।
आनि संजीवन प्रान उबारयो। मही सबन कै भुजा उपार्‌यो ।।
गाढ़ि परे कपि सुमिरौं तोही। होहु दयाल देहु जस मोही ।।
इत्यादि ।।

गोस्वामी तुलसीदासजी—इनका जन्म सं० १५५४ राजापुर में और साकेतवास सं० १६८० में काशी में हुआ था। इनके जन्म-स्थान, समय आदि के सम्बन्ध में अनेक मतभेद प्रचलित हैं। कुछ विद्वान् १५८३ तो दूसरे १५८९ और अनेक समालोचक १५५४ में इनका जन्म स्वीकार करते हैं। मृत्यु तो इनकी निश्चित रूप से सं० १६८० श्रावण कृष्णा तृतीया शनिवार को ही हुई थी, जैसा कि बाबा बेनीमाधवदास के 'गोसाईं चरित'[1] के निम्न दोहे से स्पष्ट है:—

संवत सोलह सो असी, असी गंग के तीर।
श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर ।।

तुलसीदास के अनन्य मित्र 'भदैनीं' गांव के ठाकुर टोडर के वंशज अब भी श्रावण कृष्णा तृतीया ही को गोस्वामीजी के नाम पर सीधा दिया करते हैं। अतः गोस्वामीजी की पुण्यतिथि श्रावण शुक्ला सप्तमी नहीं प्रत्युत श्रावण कृष्णा तृतीया शनिवार ही है। अब शेष रहा प्रश्न जन्म-संवत् का। बाबा बेनीमाधवदास-कृत 'गोसाईं चरित' और बाबा रघुवरदास-कृत 'तुलसी चरित' में वर्णित सं० १५५४ श्रावण शुक्ला सप्तमी ही प्रमाणित जन्म-तिथि और संवत् है, जैसा कि निम्न दोहे से स्पष्ट है:—

पंद्रह सो चव्वन विषे, तरणि तनूजा—तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी धर्‌यो शरीर ।।

पर्याप्त ऊहापोह और आलोचना-प्रत्यालोचना करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि गोस्वामीजी का जन्म अवश्य ही उक्त संवत् और तिथि को हुआ था। केवलमात्र इसलिए कि १५५४ में जन्म मान लेने पर गोस्वामीजी की आयु १२६ वर्ष हो जाती है, बिना किसी अन्य कारण, प्रमाण या ऐतिहासिक साक्ष्य के किंवदन्ती के आधार पर १५८३ या ८९ में उनका जन्म मानना उचित नहीं,

---

१. यद्यपि मूल गोसाईं चरित के वर्तमान रूप की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है, तथापि उसकी सभी बातें असत्य नहीं कही जा सकतीं।

क्योंकि गोस्वामीजी सरीखे वीतराग पवित्र आचरण वाले महापुरुष की इतनी दीर्घ आयु होना कोई बड़ी बात नहीं है।

इसके अतिरिक्त इनका जन्म १५८९ में मान लेने पर मीराबाई का इन्हें पत्र लिखना असंभव-सा जान पड़ता है क्योंकि मीराबाई की मृत्यु सं० १६२० के लगभग मानी जाती है। यदि गोस्वामीजी का जन्म १५८९ माना जाय तो उक्त पत्र-लेखन के समय इनकी अवस्था अधिक-से-अधिक ३० वर्ष की ठहरती है। इस छोटी आयु में यह इतने विख्यात नहीं हो सकते थे कि मीराबाई इनसे सम्मति माँगती। १५५४ में जन्म मान लेने पर ही यह घटना सर्वथा स्वाभाविक और सत्य सिद्ध होती है। आचार्य शुक्लजी तथा डा० श्यामसुन्दरदास आदि समालोचकों ने भी उक्त तथ्य को स्वीकार किया है। मीराबाई का उक्त प्रसिद्ध पत्र और उसका उत्तर आगे मीराबाई के जीवन-चरित्र में दिया गया है।

● **गोस्वामीजी का जन्म-स्थान**—गुसाईंजी के जन्म-समय के समान इनके जन्म-स्थान के सम्बन्ध में भी कुछ समय से मतभेद उपस्थित हो गया है। यद्यपि 'गुसाईं चरित' में राजापुर ही उनका जन्म-स्थान लिखा है फिर भी रामनरेश त्रिपाठी आदि कुछ-एक आलोचकों ने रामचरितमानस की 'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत' इस पंक्ति के आधार पर 'सूकर खेत' आधुनिक 'सोरों' नाम से प्रसिद्ध तीर्थ को गोस्वामीजी का जन्म-स्थान सिद्ध किया है। किन्तु शुक्लजी ने उक्त कथन को बड़ी दूर की कल्पना मानकर बड़ी दृढ़ता के साथ राजापुर को गोस्वामीजी का जन्म-स्थान प्रमाणित किया और बताया कि उक्त 'सूकर खेत' एटा जिले का 'सोरों' नहीं प्रत्युत गोंडा जिले का 'शूकर क्षेत्र' है। माताप्रसाद जी गुप्त ने भी दोनों पक्षों पर पर्याप्त विचार करने के पश्चात् लिखा है कि 'यह अवश्य निश्चित जान पड़ता है कि गोस्वामीजी बहुत समय तक राजापुर रहे थे और उन्होंने उस सूकर क्षेत्र की यात्रा की थी जो "सोरों" कहलाता है।' हमारा विचार है कि गोस्वामीजी का राजापुर और शूकर क्षेत्र (सोरों) इन दोनों स्थानों से सम्बन्ध था। उनका जन्म राजापुर में हुआ और वे कुछ समय शूकर खेत में भी रहे।

कहा जाता है कि गंडमूल नक्षत्रों में उत्पन्न होने के कारण माता-पिता ने इन्हें जन्मते ही त्याग दिया था। इनके पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता का नाम हुलसी था। महात्मा नरहरिदास ने इनका पालन-पोषण किया। तत्पश्चात् ये काशी चले गये और २५-३० वर्ष तक सभी शास्त्रों का व्यापक अध्ययन किया। तदनन्तर ये गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए और अपनी पत्नी के प्रति इतने आसक्त रहने लगे कि एक बार उसके मायके चले जाने पर ये भी पीछे हो लिये। इस पर उसने

सच्चे अर्थों में प्रकट करता है वही वास्तविक भारतीय साहित्य कहलाने का अधिकारी है।

तुलसी से पूर्व के हिन्दी साहित्य में उदारता के दर्शन नहीं होते। सूरदास तो कृष्ण को छोड़कर अन्य किसी की उपासना को कामधेनु को छोड़ बकरी को दुहने के समान तुच्छ समझते हैं। वे कहते हैं कि:—

मेरो मन अनत कहाँ, सचु पावे।
....
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावे।

कबीर ने दूसरे सम्प्रदायों का जो खंडन किया वह प्रसिद्ध ही है। ये थे तात्कालिक साहित्य के संकीर्णता के संस्कार। तुलसी ने इस संकीर्णता को त्याग कर परम उदारता का पाठ पढ़ाया। उन्होंने राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, गणेश आदि प्रभु के नाना रूपों पर समान आस्था प्रकट कर तात्त्विक दृष्टि से शंकराचार्य के अद्वैत के महत्त्व को मानते हुए व्यावहारिक रूप में विशिष्टाद्वैत को स्वीकार किया। इस प्रकार उन्होंने अपने दार्शनिक विचारों में भी उदारता प्रकट की।

निष्काम कर्म की ओर हमारी प्रवृत्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती जा रही थी। यहाँ तक कि केवल पूजा-पाठ या जपादि से ही हम बड़े-बड़े असाध्य कार्य सिद्ध कर लेने की सोचने लगे। दूसरी ओर समाज में—

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कहि गये, सबके दाता राम॥

के अकर्मण्यता और आलस्य-भरे सिद्धांतों का प्रचार हो रहा था।

तुलसी ने अपने साहित्य के द्वारा घर-बार व काम-धंधों को छोड़ केवल भक्ति में लगे रहने या राम की रट लगाने की भावनाओं के विरुद्ध युद्ध और संघर्ष तथा कर्म के साहित्य का सृजन किया।

तप और त्याग के स्थान पर उस समय भारतीय समाज विलासिता का उपासक बन गया था। कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा इस विलासिता की प्रवृत्तियाँ उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थीं। योगिराज कृष्ण एक छैल-छबीला विलासी रूप धारण कर बैठ थे। तुलसी को उक्त विलासिता किसी प्रकार सह्य नहीं हो सकती थी। कहा जाता है कि एक बार नन्ददासजी तुलसीदासजी को श्रीनाथजी के दर्शन कराने के लिए ले गये। तुलसीदास जी ने श्रीनाथ जी की उस छबीली झाँकी के

आगे अपना सिर नहीं झुकाया और निम्न पद पढ़ा—

'कहा कहौं छवि आज की, भले विराजे नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बाण लेहु हाथ' ।।

कुछ लोग तुलसी की उदारता को देखते हुए इस घटना के प्रति आशंका प्रकट करते हैं, और सोचते हैं कि कीट-पतंगों और दुष्ट प्राणियों तक को प्रणाम करने वाला तुलसीदास भगवान् कृष्ण के आगे सिर न झुकाये यह कैसे सम्भव हो सकता है। किंतु यहाँ राम और कृष्ण का तो कोई प्रश्न ही नहीं, यहाँ तो विलासी छैल-छबीले रूप और धनुर्धर वीर रूप का प्रश्न है। तुलसीदासजी ने यह नहीं कहा कि तुम रामरूप बन जाओ प्रत्युत यह कहा कि धनुष-बाण हाथ में लेकर कर्मवीर बन जाओ—विलासिता को छोड़ तपस्वी और युद्धवीर बन जाओ, तभी मैं तुम्हारे सामने नत-मस्तक हो सकता हूँ।

"हिन्दी साहित्य के इतिहास पर सरसरी दृष्टि डालते हुए हम यह कह सकते हैं कि कबीर ने समय की आवश्यकताओं को देखते हुए मानव-जीवन की धार्मिक भावयोग के रूप में व्याख्या की और हिन्दू तथा मुसलमानों के आरोपित प्रकारवाद का खंडन करके एक विश्व-जनीन धर्म की स्थापना की। जायसी ने जीवन के आध्यात्मिक और ऐन्द्रिय दोनों पहलुओं की व्याख्या कर कबीर के 'नीरस' उपदेशों से उत्पन्न हुई शुष्कता का परिहार किया। परन्तु जायसी के व्याख्यान में सरलता तथा भावसंघर्ष का अभाव है। बिहारी ऐन्द्रिय है, उसके प्रेम में धार्मिकता तथा उत्पतन और पतन के आभास का अभाव है। उसे इन्द्रिय-मलिनतावादी कहना अनुचित न होगा। देव की ऐन्द्रियता में धर्म की आभा है, वह इस बात को समझता है कि सौंदर्य तथा सत्य दो वस्तु नहीं प्रत्युत एक ही वस्तु के दो रूप हैं। परन्तु उसमें भी भाव-संकलन का अभाव है। केशवदास बिहारी की श्रेणी में हैं। उसमें यथार्थ कविता की न्यूनता है। भूषण में रौद्ररस की पराकाष्ठा है। उसमें प्रकृति की गंभीर और घोर गर्जना है। उसके वातावरण में सुकुमारता को स्थान नहीं है। उसकी कविता में प्रेम का विकास नहीं है।

तुलसीदास सरलता, भावमयता और ऐन्द्रियता के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। कबीर के विश्व-जनीन धर्म को जनता नहीं समझ सकी थी। संसार-बन्धनों का परित्याग मनुष्य के लिए असम्भव था। हाँ, कबीर के अक्षरों पर जन-समाज की मूढ़ श्रेणी ने धर्म की ध्वजा उठा ली थी। समाज में शैथिल्य आ गया था और हिंदू धर्म की आधारशिला—वर्णव्यवस्था डोलने लगी थी। इसमें कबीर का अपराध

नहीं। हिन्दू और मुसलमानों के प्रकारवादजन्य भेदों के कारण भारत रक्त की होली खेल रहा था। कबीर ने प्रकारवाद का खंडन कर हिन्दू और मुसलमान दोनों को धर्म के यथार्थ स्वरूप का आभास दिया। इसमें कबीर को लेनिन कहकर फटकारना अन्याय है। याद रहे कि यदि संसार सैकड़ों ज़ार पैदा करता है तो वह एक लेनिन को भी अवश्यमेव जन्म देगा।

यदि संसार में ज़ारशाही न हुई होती तो लेनिनशाही का जन्म भी न हुआ होता। यदि भारत "पशुरिव यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्" जैसे विकट और निराधार वाक्यों की घोषणा करने वाले आचार्यों को जन्म दे सकता है, तो उसके लिए कबीर और नानक जैसे सुधारकोंका उत्पन्न हो जाना नितान्त सम्भव है। संसार की इस स्वाभाविक उथल-पुथल में न लेनिन को दोष देना चाहिए न कबीर को। ये दोनों संसार के सार्वजनिक भ्रातृत्व के लिए दिव्य सम्पत्ति छोड़ गये। क्रांति के यह पुच्छल तारे कभी-कभी उदय होते हैं। क्रांति-चंडी के ये अवतार सदा नहीं होते, इनका उद्देश्य होता है क्रूरों का दमन और पतितों का उद्धार। इनके जीवन का मन्त्र होता है—"वसुधैव कुटुम्बकम्"। "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।"

परन्तु सुधारकों के पुनीत आदर्शों को किस देश के समाज ने सदा याद रक्खा है। हिंसा का प्रत्युत्तर अहिंसा में किस जाति या देश ने दिया है। ऐश्वर्य की सनक में संसार बौरा हो जाता है। निदान कबीर-प्रवर्तित क्रांति का मुख्य उद्देश्य भुला दिया गया और उसके अक्षरों का पालन होने लगा। उसके विधेयात्मक कार्यक्रम को छोड़ कर निषेधात्मक कार्यक्रम का पालन किया जाने लगा। लोकसंग्रह के स्थान में लोक-विग्रह का भय हो गया। कबीर के प्रयत्नों से हिन्दू और मुसलमानों के भेद नष्ट हो उनमें ऐक्य का प्रादुर्भाव तो हुआ परन्तु विशीर्ण हुए भारतीय समाज को उससे सामाजिक व्यवस्था के नियमों की शिक्षा न प्राप्त हो सकी। भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से चली आने वाली, संकोचात्मक और विकासात्मक दोनों शक्तियों में से (जिनका समय-समय पर ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के पारस्परिक संघर्ष द्वारा प्रकाशन होता आया है) पिछली शक्ति कबीर में पूर्ण रूप से थी। परन्तु पहली का उसमें नितान्त अभाव था। तुलसी ने इस अभाव को पूरा किया और हिन्दू तथा मुसलमानों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुए विमनस्क जनसमाज को फिर से वर्णाश्रम धर्म की दीक्षा देते हुए उसे ऐक्य के उस आदर्श की ओर चलाया जिसकी प्राप्ति के लिए संकोचात्मक तथा विकासात्मक दोनों शक्तियों की समानरूपेण आवश्यकता है। दोनों शक्तियों के इस अद्वितीय संकलन में ही तुलसी की अनुपम विशेषता है और यही

कारण है कि उसकी रामायण, ब्राह्मण और क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी की दृष्टि में समान रूप से पूजनीय है ।

राम में संकोचात्मक और विकासात्मक दोनों शक्तियों का अभिराम संकलन था । इन दोनों शक्तियों का तुलसी में पेशल समन्वय हुआ । रामायण में दोनों शक्तियों का अनुपम व्याख्यान है । फलतः तुलसीदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं और संसार के गिने-चुने कवियों में उनका स्थान ऊँचा है ।

तुलसीदास की कविता में आत्मा का स्वच्छ प्रवाह है । मानसिक वृत्तियों का विषय है । उसमें आत्मा और विश्वात्मा के ऐक्य का आदर्श प्रतिफलन है । उसकी कविता में भाव और भाषा दोनों साथ चलते हैं । भावों के अन्तस्तल में पहुँच तुलसी कभी-कभी भाषा के धरातल को भूल जाता है । वह केवल स्वप्न-साम्राज्य में ही नहीं विचरता, उसका हृदय विश्व की विविध भावनाओं की वीणा है । उसके गीतों में संसार का प्रमोद खिल रहा है, उसके शोकोच्छ्वासों में संसार का चिन्तानल दहक रहा है । संक्षेप में तुलसीदास अनन्त ब्रह्माण्ड के अनन्त भावों का यथार्थ ग्रामोफ़ोन है ।"[1]

इस प्रकार तुलसी को भारतीयता का प्रतिनिधि कह सकते हैं । इन्हीं सब बातों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि वाल्मीकि और व्यास की भाँति तुलसी की रचनाओं में भी रचयिता के अपने व्यक्तित्त्व की अपेक्षा भारत ही प्रमुख रूप से झलक रहा है । समाज की उक्त दूषित प्रवृत्तियों को दूर कर राष्ट्र में पुनः प्राचीन समन्वय-मूलक श्रौत-स्मार्त धर्म का प्रचार करने का बहुत-कुछ श्रेय गोस्वामी जी को है । तात्कालिक शैवों और वैष्णवों के भयंकर विरोध को गोस्वामीजी जैसे साहसी और स्पष्टवादी सत्यवक्ता दूर कर सके थे । उत्तर भारत में शैवों और वैष्णवों में जिस पारस्परिक प्रेम का प्रदर्शन हो रहा है, वह तुलसी के प्रयत्नों का ही परिणाम है । दक्षिण भारत में जहाँ तुलसी की रचनाएँ पूरी तरह प्रचलित न हो पाईं, वहाँ शैवों और वैष्णवों में अब तक भयंकर विद्वेष बना हुआ है ।

इन्हीं सब बातों को देखते हुए मिश्रबन्धु आदि विवेचकों ने ठीक ही कहा है कि भारत के वर्तमान हिन्दू धर्म को 'तुलसी धर्म' कह दिया जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी ।

इस प्रकार गोस्वामीजी भक्तशिरोमणि महाकवि तो थे ही साथ ही सब से बड़े सुधारक थे । उन्होंने शैवों और वैष्णवों का विरोध दूर किया, निर्गुण-पंथी

१ श्री डा० सूर्यकान्त का हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास ।

कबीर आदि के द्वारा प्रचारित वेद-शास्त्रों की निंदा और प्राचीन भारतीय संस्कृति के खंडनात्मक विषैले प्रभाव को अपनी अमृतमयी वाणी से दूर कर भारतीय जनता को फिर से वास्तविक धर्म का स्वरूप दिखाया और वेद-शास्त्रों के प्रति श्रद्धा जागृत की। कृष्ण-भक्तों द्वारा प्रचारित विलासिता की बाढ़ को रोक कर कर्मयोग का प्रचार किया। इसके अतिरिक्त अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के द्वारा संस्कृत, अवधी तथा व्रज तीनों भाषाओं में प्रबन्ध, मुक्तक, गीत, कवित्त, सवैये आदि सभी शैलियों में भक्ति, वात्सल्य, करुण, वीर, शृंगार आदि विविध रसों और विषयों पर मनोहारिणी रचनाएँ लिखकर साहित्य और समाज की जो सेवा गोस्वामीजी ने की है वह भारतीय साहित्य में चिरस्मरणीय रहेगी। गोस्वामीजी वस्तुतः हिन्दी साहित्याकाश के सूर्य ही थे। उन्होंने लगभग २० पुस्तकें लिखीं जिनमें से ये अत्यन्त प्रसिद्ध और प्रामाणिक हैं—१. रामचरितमानस। २. कवितावली। ३. गीतावली। ४. विनयपत्रिका। ५. कृष्ण-गीतावली। ६. दोहावली। ७. पार्वती मंगल। ८. जानकी मंगल। ९. रामललानहछू। १०. वैराग्य संदीपिनी। ११. बरवै रामायण। १२. रामाज्ञा प्रश्न। शेष ग्रंथ संदिग्ध हैं।

शुक्लजी ने 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ में गोस्वामी जी की विशेषताओं का अत्यन्त गम्भीर, व्यापक और पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है। यहां गोस्वामीजी की कुछ कविताएं उद्धृत की जाती हैं:—

१. जन्म सिंधु पुनि बंधु बिष, दिन मलीन सकलङ्क।
सियमुख समता पाव किमि, चन्द्र बापुरो रङ्क॥

२. का वर्षा जब कृषी सुखाने। समय चूकि पुनि का पछताने।
३. दुइ कि होइ इक संग भुवाला। हंसब ठठाइ फुलाउब गाला॥

४. जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी।

५. कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

६. पुर ते निकसी रघुवीर बधू
धीर धरि दये मग में डग द्वै।

झलकी भरि भाल कनी जल की
पुट सूखि गए मधुराधर वै ॥
फिर बूझति हैं चलनोऽब केतिक
पिय पर्नकुटी करि हौ कित ह्वै ।
तिय की लखि आतुरता पिय की
अंखियां अति चारु चलीं जलच्वै ॥

७ सीस जटा उर बाहु विशाल विलोचन लाल तिरछी सी भौंहें ।
तून सरासन बान धरे तुलसी बन मारग में सुठि सोहैं ॥
सादर बारहि बार सुभाय चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं ।
पूछति ग्रामबधू सिय सों कहो साँवरो सो सखि रावरो को हैं ॥

अग्रदास—ये तुलसीदासजी के समकालीन और नाभादासजी के गुरु थे। यद्यपि ये 'अष्टछाप' के कवि कृष्णदास पटवारी के शिष्य थे फिर भी इन्होंने रामभक्ति के ही पद बनाए। इसलिए रामभक्त कहलाए। ये जयपुर के गलता नामक स्थान के रहने वाले थे। इनकी बनाई हितोपदेश, उपखाणांबावनी, ध्यान-मंजरी, रामध्यान मंजरी, कुंडलियां ये ४ पुस्तकें हैं। इनका रचनाकाल सं० १६३२ के लगभग माना जाता है। पद्य का नमूना देखिए—

कुंडल ललित कपोल जुगल अस परम सुदेशा ।
तिनको निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा ॥
मेचक कुटिल विसाल सरोरुह नैन सुहाए ।
मुख पंकज के निकट मनो अलि-दौना आए ॥

नाभादास—ये अग्रदास के शिष्य थे। सं० १६५७ के लगभग वर्तमान थे। इनकी रचना 'भक्तमाल' एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें २०० भक्तों के चमत्कार-पूर्ण चरित्र ३०० छप्पयों में लिखे हुए हैं। राम-भक्ति के भी अनेक पद रचे हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने दो 'अष्टयाम' भी बनाये हैं। एक ब्रज भाषा गद्य में दूसरा रामचरितमानस की शैली पर दोहा-चौपाइयों में। ये जाति के डोम बताए जाते हैं। तुलसीदासजी का भी इनसे साक्षात्कार हुआ था। श्री गोस्वामी तुलसीदासजी की प्रशंसा में लिखा इनका निम्नलिखित पद्य दर्शनीय है—

त्रेता काव्य निबंध करी सतकोटि रमायन।
इक अक्षर उच्चरे ब्रह्म हत्यादि-परायन ॥
अब भक्तन सुखदैन बहुरि लीला बिस्तारी।
राम चरन रसमत्त रहत अहनिसि ब्रतधारी ॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लियौ।
कलि कुटिल जीव निस्तार-हित बालमीकि तुलसी भयो ॥

हृदयराम—ये पंजाब के रहने वाले थे। सं० १६८० में इन्होंने संस्कृत के हनुमन्नाटक के आधार पर भाषा हनुमन्नाटक की रचना की। तुलसीदासजी ने स्वयं रूपक या नाटक के ढंग पर कोई रचना नहीं की थी पर उनसे प्रभावित दूसरे रामोपासक लेखकों ने उस काल में कई नाटक लिखे, जिनमें इनका हनुमन्नाटक बहुत प्रसिद्ध है। उसमें कवित्त सवैयों की बहुत सुन्दर रचना है। इसका एक सवैया देखिए—

एहो हनू ! कह्यौ श्री रघुवीर कछु सुधि है सिय की छिति माँहीं।
है प्रभु लंक कलंक बिना सु बसै तहँ रावन बाग की छाँहीं ॥
जीवित है ? कहिबेइ को नाथ, सु क्यों न मरी हमतें बिछुराहीं?
प्रान बसैं पदपंकज में जम आवत है पर पावत नाहीं ॥

प्राणचन्द्र चौहान—ये सं० १६६७ में जहाँगीर के समय में विद्यमान थे। इन्होंने 'रामायण महानाटक' लिखा। रचना पद्यों में है परन्तु संवाद के रूप में होने के कारण नाटक कहलाई।

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक कवियों ने भी राम-भक्ति सम्बन्धी रचनाएँ लिखी थीं। उनका परिचय आगे यथास्थान दिया जायगा।

अभ्यास

१. राम-भक्ति का प्रारम्भ कब से मानना चाहिए ?
२. रामानुजाचार्य और रामानन्द के सिद्धान्तों में साम्य वैषम्य दिखाइए और बताइए कि इन दोनों आचार्यों में से समाज का हित किसने अधिक किया ?
३. गोस्वामी जी के जन्म व निधन के समय और स्थान का सप्रमाण निर्धारण करें।

४. राम-भक्ति के क्षेत्र में अन्य राम-भक्त साहित्यकार क्यों न चमक पाये ?

५. गोस्वामी तुलसीदास जी ही वर्तमान धार्मिक भारत के निर्माता हैं, इस उक्ति की समालोचना करें।

६. गोस्वामी जी की साहित्य व समाज-सेवाओं पर समालोचनात्मक प्रकाश डालते हुए सिद्ध करें कि तुलसीदास वास्तव में हिन्दी साहित्याकाश के सूर्य हैं।

७. गोस्वामी जी की सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय देकर उनका साहित्य में स्थान निर्धारित करें।

नवाँ अध्याय

कृष्ण-भक्ति-साहित्य

यह पहले सिद्ध किया जा चुका है कि राम और कृष्ण को ईश्वरावतार के रूप में आज से कम-से-कम २५ सौ वर्ष पूर्व अवश्य स्वीकार किया जाने लग पड़ा था। तभी से यह कृष्णोपासना अनेक रूपों में परिवर्तित होती हुई उत्तरोत्तर प्रगति पथ पर बढ़ती चली आ रही है। विक्रम की १५ वीं १६ वीं शताब्दि में जब हिन्दी-साहित्य अपनी करवट बदल रहा था, वीरवेश के बानक को उतार कर अपने में भक्ति की भव्य व भद्र भावनाओं को भर रहा था—तो हमने देखा कि समय व समाज की परिस्थितियोंके प्रभावसे भक्ति-साहित्य की एक ही मूल धारा चार भागों में विभक्त होकर बहने लगी थी। हिन्दू-मुस्लिम-समन्वय की भावनाओं ने ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी धाराओं को प्रकट किया। राष्ट्र में पुनः स्वधर्म की प्रतिष्ठा के उत्साह तथा कर्मण्यता की प्रवृत्तियों को प्रेरित करने के लिए राम-भक्ति की धारा बह निकली। किन्तु अभी जनजीवन में सरसता का संचार करना शेष था। उक्त तीनों धाराएँ समाज के शुष्क प्राणों में सरसता और रसार्द्रता का संचार करने में पूरी तरह समर्थ न हो पाई थीं।

हम देखते हैं कि ११ वीं सदी से १४ वीं सदी तक लड़ाई-भिड़ाई, मार-काट और संघर्ष के कारण राष्ट्र के प्राण कठोर और रूक्ष से हो रहे थे। काट-छाँट और खण्डन-मण्डन से भरी 'अलख' को निरखने का उपदेश देने वाली निर्गुण पंथ की वाणियां भी उस शुष्कता में किसी प्रकार से कोमल वृत्तियों का समावेश करने में समर्थ न हो सकीं। इसलिए समाज सरस साहित्य की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहा था। कृष्ण-भक्त कवियों ने उक्त महत्त्वपूर्ण और अत्यन्त उपयोगी समयोचित साहित्यिक कार्य सम्पादित कर दिखाया।

इस साहित्य की विशेषताएँ—१. किसी एकाध कवि की रचना को छोड़ कर शेष सम्पूर्ण कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी हिन्दी-साहित्य कृष्ण की जन्मभूमि की भाषा (व्रजभाषा) ही में लिखा गया है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि संसार भर की भाषाओं में सरसता और कोमलता की दृष्टि से संस्कृत के पश्चात् व्रजभाषा का ही स्थान है। इसलिए भावनाओं के साथ भाषा के कारण कृष्ण साहित्य में विशेष सरसता का आ जाना सर्वथा स्वाभाविक था।

२. यह साहित्य अधिकांश मुक्तक रूप में ही लिखा गया है। उसमें भी गीतों की पहले प्रायः प्रधानता रही। परवर्ती कवियों ने कवित्त, सवैया छप्पय, दोहा आदि को भी अपना लिया था। कृष्ण-साहित्य में गुमान मिश्र की 'कृष्ण-चन्द्रिका' एक ही सफल प्रबन्ध-काव्य लिखा गया। इसका कारण यह था कि कृष्ण-भक्तों ने कृष्ण के बालरूप को ही अपने काव्य के लिए अपनाया था। उसमें प्रबन्ध-काव्य के लिए आवश्यक जीवन की अनेकरूपता तथा विभिन्न प्रवृत्तियों और भावनाओं के दर्शन नहीं होते। जीवन की जितनी विविधरूपता अथच सर्वाङ्गीणता कृष्ण के जीवन में विद्यमान थी उतनी संभवतः विश्व के अन्य किसी महापुरुष में न होगी। हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों ने ऐसे महान् अनेक-गुण-सम्पन्न महापुरु को अपना चरित-नायक बनाकर भी उसकी व्यापकता से कुछ लाभ न उठाया। प्रत्युत उसी को अपनी रुचि के अनुसार संकीर्ण व सीमित बना डाला। अतः कह सकते हैं कि कृष्ण के बालरूप में यथेष्ट व्यापक सामग्री न मिलने के कारण इस शाखा में प्रबन्ध-काव्यों की रचना न हो पाई।

३. बाललीला, विनय, रूपमाधुरी, शृंगार के संयोग-वियोग दोनों पक्ष तथा गोपी-उद्धव-संवाद इस साहित्य की विषयगत विशेषताएँ हैं। क्योंकि गोपियां उद्धव को प्रायः 'अलि' 'षट्पद' आदि भ्रमर के नामों से सम्बोधित करती हैं, इसलिए गोपी-उद्धव-संवादों को 'भ्रमर-गीत' के नाम से भी पुकारा जाता है।

४. वर्ण्यवि यों की संख्या सीमित होने के कारण एक ही कवि की अनेक रचनाओं में या अनेक कवियों की कविताओं में भाव-साम्य या अर्थ की पुनरुक्ति अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गई है। बात यह है कि कृष्ण-कीर्तन के समय मन्दिरों में गाने के लिए भावुक भक्त नित्य नये गीत बना लिया करते थे। काव्य के संगीत का रूप ग्रहण करते ही उनमें भावों की अपेक्षा लय या स्वरों के आरोहावरोह की प्रधानता हो जाती है। अर्थ की अपेक्षा नाद-सौन्दर्य मुख्य बन बैठता है। यही कारण है कि इस साहित्य में इतनी अधिक एकरूपता पाई जाती है।

५. इस साहित्य पर सूफ़ियों का भी कहीं-कहीं कुछ प्रभाव लक्षित होता है। मतवाली मीरा तथा चैतन्य महाप्रभु आदि प्रेम में तन्मय होकर बेसुध हो जाया करते थे, यह सूफ़ियों की 'हाल' से मिलती-जुलती दशा ही है।

समाज व साहित्य पर प्रभाव—समाज व साहित्य पर सबसे अधिक प्रभाव कृष्ण-भक्तों का ही पड़ा। समाज की अपेक्षा साहित्य को तो इन्होंने बहुत ही

अधिक प्रभावित किया। भक्तिकाल तथा रीतिकाल के प्रायः सभी कवि किसी-न-किसी रूप में इस साहित्य से अवश्य प्रभावित हुए हैं। सूरदास से लेकर आधुनिक युग के प्रवर्तक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र तक प्रत्येक कवि ने इस साहित्य से कुछ-न-कुछ अवश्य ग्रहण किया। आगे चल कर हिन्दी में जो शृङ्गारिक कविताओं का प्रवाह उमड़ा वह भी कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी-साहित्य का ही परिवर्तित रूप कहा जा सकता है। व्रज भाषा के कृष्ण-भक्ति-साहित्य की जो स्वच्छ और सरस सुरसरी सूरदास के महान् व्यक्तित्व रूपी गंगोत्तरी से अत्यन्त पवित्र रूप में प्रवाहित हुई थी वही अनेक रूपों में बहती हुई रीतिकाल में आकर शृंगारिक काव्य रूपी 'हुगली' का रूप धारण कर बैठी और अन्त में आधुनिक युग के साहित्य-सागर में समाकर वह नाम-शेष रह गई।

समाज पर इस साहित्य का प्रभाव भले-बुरे दोनों रूपों में लक्षित होता है। जहां तक समाज में सरसता-संचार का सम्बन्ध है, वहां तक तो इसे शुभ ही कहा जायगा, किंतु जब इसका प्रभाव जनता में विलासिता की प्रवृत्ति को विकसित करता प्रतीत होता है, तो इस प्रभाव को हम अवांछनीय ही कहेंगे।

कृष्णोपासक सम्प्रदायाचार्य

अब यहां पर पहले कृष्ण-भक्ति के प्रचार करने वाले सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्यों का संक्षिप्त परिचय देकर तत्पश्चात् इस शाखा के कवियों का विवेचन किया जायगा।

१. **रामानुजाचार्य**—आपका जन्म सं० १०७४ में परम विद्दूरग्राम में हुआ था। यमुनाचार्य के पश्चात् यह अपने सम्प्रदाय के आचार्य प्रतिष्ठित हुए। इन्होंने दो बार सम्पूर्ण भारत की यात्रा की थी और अंत में श्रीरंगपुरम् (त्रिचनापल्ली-मद्रास) में अपना शेष जीवन व्यतीत किया। इनका वैकुण्ठवास सं० ११९४ में हुआ था। कहने को तो ये विशिष्टाद्वैतवादी हैं किन्तु वस्तुतः इन्हें 'त्रैतवादी' ही कहना चाहिए। क्योंकि ये १. ब्रह्म (विष्णु), २. चित् अर्थात् चैतन्य जीव और ३. अचित्—दृश्य जगत्—तीनों को ही नित्य मानते हैं। जीव और जगत् ब्रह्म के अंश अवश्य हैं किंतु ब्रह्म नहीं। इसीलिए मुक्ति में जीव ब्रह्म का सामीप्य लाभ कर सकता है सारूप्य नहीं। अर्थात् वह ब्रह्म के समीप तो अवश्य पहुंच जाता है पर उसी का स्वरूप नहीं बन सकता।

२. **निम्बार्काचार्य**—इनका समय सं० ११७० और १२५० के बीच में माना जाता है। इनके सिद्धान्तों में कृष्ण ही परब्रह्म हैं। राधा और गोपिकाएँ भी उन्हीं का रूप हैं। उनके मत से भक्ति के द्वारा पृथक् सत्ता वाला जीव भी ब्रह्मरूप हो सकता

है। इसे सायुज्य मुक्ति कहा जाता है। प्रसिद्ध 'गीत-गोविन्द' के रचयिता जयदेव इन्हीं के शिष्य थे।

३. **मध्वाचार्य**—इनका जन्म सं० १२१४ में मंगलौर के समीप उदीपी में हुआ था। ये स्पष्टतः द्वैतवादी और भागवत के सिद्धांतों के समर्थक हैं।

४. **विष्णुस्वामी**—इनका समय सं० १३०० से १३७५ के लगभग माना जाता है। मध्वाचार्य के शिष्य होते हुए भी शुद्धाद्वैतवाद के मूल प्रवर्त्तक ये ही कहे जाते हैं। आगे चलकर इन्हीं के सिद्धांतों को चैतन्य महाप्रभु और वल्लभाचार्य जी आदि ने स्वीकार किया था।

५. **चैतन्य महाप्रभु**—इनका जन्म सं० १५४२ में बंगाल के प्रसिद्ध न्यायशास्त्र के केन्द्र नदिया में हुआ था। पहले इन्होंने मध्व सम्प्रदाय के सिद्धांतों को अपनाया, किंतु बाद में निम्बार्क और विष्णुस्वामी के सिद्धांतों को स्वीकार कर लिया। ये प्रथम संकीर्तनाचार्य कहे जा सकते हैं। जयदेव, चण्डीदास और विद्यापति के गीतों को गाते-गाते और कीर्तन करते-करते ये आत्मविभोर हो संज्ञाशून्य हो जाते थे। बंगाल में और आजकल उत्तर भारत के अन्य प्रान्तों में भी इनके कीर्तनों का पर्याप्त प्रचार हो रहा है। सं० १५९० में ये गोलोक सिधारे थे।

६. **वल्लभाचार्य**—इनका जन्म सं० १५३५ में उत्तर प्रदेश के मिर्ज़ापुर ज़िले में अरेल नामक ग्राम में और गोलोकवास १५८७ में हुआ था। ये तत्त्वतः विष्णुस्वामी और निम्बार्क के अनुयायी होते हुए भी अपने स्वतन्त्र 'वल्लभ सम्प्रदाय' या 'पुष्टि-मार्ग' के प्रवर्तक हैं। इनके मतानुसार कृष्ण ही परब्रह्म हैं। वह अपनी आविर्भाव तिरोभाव शक्ति से जगत् के रूप में परिणत होता हुआ भी उससे निर्लिप्त या दूर रहता है। वह सच्चिदानन्द स्वरूप है। किन्तु जड़ जगत् में केवल इसका सत् स्वरूप, जीवों में सत् और चित् स्वरूप तथा ब्रह्म में सत्-चित् और आनन्द तीनों रूप प्रकट रहते हैं। इसलिए जीव और जगत् भी मायात्मक या मिथ्या नहीं है। यही कारण है कि उनके शुद्धाद्वैत में माया को कहीं स्थान नहीं। और माया से रहित या शुद्ध होने से ही उसे शुद्धाद्वैत कहते हैं। इनके ब्रह्म (श्रीकृष्ण) विष्णु के वैकुण्ठ से भी ऊपर 'व्यापी वैकुण्ठ' के एक खण्ड 'गोलोक' में नित्य लीला किया करते हैं। यमुना, वृन्दावन आदि इसी गोलोक की वस्तुएं हैं, जो पृथ्वी पर भी प्रतिबिम्बित हो रही हैं। ईश्वर के अनुग्रह-स्वरूप-प्राप्त भक्ति से ही जीव मुक्त हो सकता है। इस भक्ति को ही 'पुष्टि' कहा जाता है। यूं तो यह पुष्टि ईश्वर की कृपा द्वारा प्राप्त होने वाली वस्तु है, पर उस ईश्वर का अनुग्रह आचार्य जी की कृपा होने पर विशेष आत्माओं

को ही प्राप्त होता है, और आचार्य जी स्वयं भी अग्नि के अवतार या साक्षात् कृष्ण कहे जाते हैं। अतः आचार्यों का महत्व ईश्वर से बढ़कर नहीं तो ईश्वर के समान तो अवश्य है।

प्रमुख लेखक—

जयदेव—इनके समय के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। अनेक विद्वानों ने इनका समय १३ वीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग माना है, क्योंकि ये बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन से सम्मानित थे, और लक्ष्मणसेन का समय सं० १२२७ निश्चित हो चुका है। इनका जन्म वीरभूम जिले के 'किंदुविल्व' नामक ग्राम में बंगाल में हुआ था। इनकी संस्कृत रचना 'गीत-गोविन्द' भारतीय साहित्य में अपना अनुपम स्थान रखती है। आगामी सम्पूर्ण कृष्ण-साहित्य जयदेव के गीत-गोविन्द से प्रेरणा प्राप्त करता प्रतीत होता है। भाषा का लालित्य, सौन्दर्य, मार्दव और माधुर्य गीत-गोविन्द जैसा अन्यत्र कहीं भी लक्षित नहीं होता। यह सरस शृंगारिक गीत-काव्य है। संस्कृत के अतिरिक्त हिंदी में भी जयदेव के लिखे हुए दो एक पद गुरुग्रन्थ साहिब में मिलते हैं। किंतु सौन्दर्य की दृष्टि से संस्कृत रचना के समक्ष वे अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होते हैं। इनका एक गीत देखिए—

ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुंजकुटीरे॥
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते।
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते॥
उन्मदमदनमनोरथपथिकवधूजनजनितविलापे।
अलिकुलसंकुल कुसुमसमूहनिराकुलबकुलकलापे॥

विद्यापति—बंगाल में विद्यापति की पदावली का प्रचार प्रचुर परिमाण में रहा है। चैतन्य महाप्रभु से लेकर आज तक के सभी कृष्ण-कीर्तन करने वाले कलाकार और भक्त विद्यापति के पदों को गाते-गाते एक अलौकिक तन्मयता प्राप्त कर लेते हैं। गेय गीतों के रूप में होने के कारण इनकी रचना की भाषा का परिवर्तित हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है। अब से कुछ वर्ष पूर्व तक विद्यापति बंगाल के और बंग भाषा के ही कवि माने जाते रहे, किन्तु अब यह निश्चित हो चुका है कि विद्यापति का जन्म सं०१४२५ के लगभग बिहार के दरभंगा जिले के बिसपी नामक ग्राम में हुआ था। और वे तिरहुत के महाराज शिवसिंह के आश्रय

में रहते थे। अतः विद्यापति को किसी भी अवस्था में बंगाली कवि नहीं कहा जा सकता। यह बात दूसरी है कि मुख परम्परा में रहने के कारण अन्यान्य गीत-काव्यों की भांति बंगाल में प्रचलित इन गीतों का स्वरूप भी प्रायः बंगलामय हो गया, किन्तु बिहार आदि प्रान्तों में ये गीत अपने मूल रूप में ही पाये जाते हैं।

इतना होने पर भी जार्ज ग्रियर्सन आदि पश्चिमी विद्वानों ने बिहारी भाषा को हिन्दी से स्वतन्त्र भाषा मानकर विद्यापति को हिन्दी कवियों की पंक्ति से निकालने का प्रयत्न किया, किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि बिहारी भाषा भी व्रज, अवधी या राजस्थानी की भांति हिन्दी की एक उपभाषा है। बिहारी या मैथिली को किसी भी अवस्था में हिन्दी से स्वतन्त्र भाषा नहीं कह सकते। अतः जिस प्रकार राजस्थानी के बीसलदेवरासो, पंजाबी के श्री गुरु नानक के पदों, अवधी के पद्मावत व व्रजभाषा के सूरसागर पर हिन्दी-साहित्य का अधिकार है और इन सब भाषाओं के कवि हिन्दी के कवि कहलाते हैं, उसी प्रकार विद्यापति की रचनाओं पर हिन्दी का अधिकार है और वे हिन्दी ही के कवि माने जायेंगे।

विद्यापति ने संस्कृत, अपभ्रंश तथा देशभाषा आदि में रचनाएं लिखीं हैं। १. 'शैव सर्वस्वसार' २. शैव सर्वस्वसार प्रमाण-भूत-पुराण-संग्रह ३. 'भूपरिक्रमा' ४. 'पुरुष-परीक्षा' ५. 'लिखनावली' ६. 'गंगा-वाक्यावली' ७. 'दान-वाक्यावली' ८. 'विभाग-सार' ९. 'गया पत्तलक' १०. 'वर्ण कृत्य' ११. 'दुर्गा भक्ति तरंगिणी' ग्यारह संस्कृत पुस्तकें हैं। इनके अतिरिक्त कीर्तिलता और कीर्तिपताका नामक दो अपभ्रंश-काव्य और पदावली देशभाषा का काव्य है। विषय की दृष्टि से ये रचनाएँ १. भक्ति २. सामयिक समाज और ३. शृंगार सम्बन्धी इन तीन भागों में विभक्त की गई हैं।

वस्तुतः विद्यापति कृष्ण-भक्त नहीं प्रत्युत शिव-भक्त थे। अतः भक्तिभाव से प्रेरित होकर उन्होंने केवल शिव सम्बन्धी रचनाएँ लिखीं। शैव-धर्म के योग-प्रधान होने के कारण उसमें विलासिता या प्रेम की प्रवृत्तियों को कहीं स्थान नहीं है, अपने प्रेमोद्गार प्रकट करने के लिए उन्होंने जयदेव के गीत-गोविन्द के आधार पर राधा-कृष्ण को नायक-नायिका मानकर अपने पदों या गीतों की रचना की। इस दृष्टि से इनकी पदावली को भक्ति-काव्य की अपेक्षा शृंगार-काव्य कहना ही अधिक उपयुक्त है :

विद्यापति की कीर्तिलता और कीर्तिपताका में उनके आश्रयदाता शिवसिंह की वीरता का बड़े ही प्रभावपूर्ण और ओजस्वी शब्दों में वर्णन है। जयदेव के

गीत-गोविन्द के अनुकरण पर लिखे जाने के कारण इनके गीत भी अत्यन्त कोमल-कान्त पदावली से परिपूर्ण हैं। इन्होंने शिवसिंह और उनकी रानी लखिमा देवी की प्रणय-लीलाओं का बड़ा ही सजीव व मार्मिक चित्रण किया है। नख-शिख का वर्णन और कवियों ने भी किया है, परन्तु विद्यापति ने सब का सार निचोड़ कर एक जगह रख दिया। सौन्दर्य के इस समुद्र में स्वयं नख-शिख भी डूबे जा रहे हैं। राधा का शरीर क्या है सौन्दर्य की एक वल्लरी है जिस पर नाना प्रकार के रुचिर पुष्प फूल रहे हैं। उसके प्रत्येक अंग से मंजुलता टपक रही है। प्रत्येक श्वास से सौरभ उमड़ रहा है, प्रत्येक क्रिया से सौन्दर्य का रुचिर नृत्य व्यक्त हो रहा है। सुधा के इस कासार में राधारूपी कमल को खिलाकर विद्यापति ने सचमुच कमाल की बाजीगरी खेली है। इसीलिए उन्हें 'अभिनव जयदेव' और 'मैथिल कोकिल' आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है। विद्यापति अपनी अलौकिक कविता की कीर्ति-कौमुदी फैलाकर सं० १५३२ के लगभग स्वर्ग सिधारे। इनका एक गीत देखिए—

सरस बसंत समय भल पावलि, दछिन पवन बह धीरे।
सपनहु रूप बचन इक भाषिय, मुख से दूरि करु चीरे॥
तोहर बदन सम चांद हो अथि नाहिं, कैयो जतन बिह केला।
कै बेरि काटि बनावल नव कै, तैयो तुलित नहीं भेला॥
लोचन तुअ कमल नहिं भै सक, से जग के नहिं जानै।
से फिरि जाइ लुकैलन्ह जल महँ, पंकज निज अपमानें॥
भन विद्यापति सुन बर जोवित, ई सब लछमि समाने।
राजा 'सिवसिंह' रूप नरायन, 'लखिमा देई' प्रति भाने॥

सूरदास—आपका जन्म सं० १५४० में रुणकता में और गोलोकवास सं० १६२० में पारसोली में हुआ। महात्मा सूरदास कृष्ण-भक्ति शाखा के प्रतिनिधि एवं सर्वश्रेष्ठ कवि थे। इनके जन्म-स्थान के सम्बन्ध में मतभेद हैं। रुणकता (रेणुका क्षेत्र) अथवा सिहीं नामक ग्राम में इनका जन्म माना गया है। ये मथुरा और आगरा के मध्य में गऊघाट नामक स्थान पर रहा करते और भगवद्भक्ति के गीत गाया करते थे। इनके अन्धे होने के सम्बन्ध में भी बहुत से मत हैं। चाहे ये किसी रोग से अन्धे हुए हों, अथवा अन्य किसी कारण से, यह तो निश्चित है कि वह जन्मान्ध नहीं थे। एक बार गऊ-घाट पर महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी महाराज ने इनके

पद सुनकर बहुत प्रसन्नता प्रकट की और इन्हें श्रीनाथ जी के मन्दिर में लाकर कीर्तन का मुखिया बना दिया। ये तभी से भगवान् कृष्ण की भक्ति में तन्मय होकर नित्य नये पद बनाकर अपने प्रभु को रिझाने लगे। इन्हें 'अष्टछाप' के आठ कवियों में प्रधान स्थान दिया गया।

इनकी जाति सारस्वत ब्राह्मण थी या ब्रह्मभट्ट, इनके माता-पिता कौन थे, वे कहां और किससे पढ़ते थे, उनके विवाह और सन्तान आदि हुए थे या नहीं, ये सब विषय अनिश्चित और संदिग्ध हैं। फिर भी इतना तो निश्चित है कि बिल्वमंगल की कथा का सूरदास तथा इलाहाबाद में अकबर से निमन्त्रित सूरदास इस महाकवि से सर्वथा भिन्न हैं। ये कभी अकबर के दरबार में न रहे और न उनसे मिलने ही गये, यह अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है।

सूरदास सो कहा निठुरई, नैननि हू की हानि।

इस पद्यांश में सूरदास अपने प्रभु को उलाहना दे रहे हैं कि हे प्रभो, तुम मेरे लिए इतने कठोर क्यों हो गये हो जो मेरी आँखें भी जाती रहीं? इन शब्दों से ध्वनि निकलती है कि उन्होंने अपनी आँखें अपने हाथों से स्वयं नहीं फोड़ी थीं, अतः बिल्वमंगल वाले सूरदास कदापि नहीं हो सकते।

इन्होंने विभिन्न रंगों का जितना स्वाभाविक और वास्तविक वर्णन किया है उसको देखते हुए यह निश्चित होता है कि ये जन्मान्ध नहीं थे कुछेक आलोचक ऐसा कहते हैं कि सूरदास वृद्धावस्था में अन्धे हुए थे, किन्तु हम इससे सहमत नहीं। वे निश्चित रूप से तीस वर्ष की अवस्था में चक्षुहीन हो चुके थे। वल्लभाचार्य जी के मिलने के समय और 'सूरसागर' की रचना के समय वे अवश्य अन्धे थे। और वल्लभाचार्य जी तथा सूरदास का प्रथम साक्षात्कार सं० १५६७ के लगभग माना जाता है। इससे पूर्व ही वे "प्रज्ञाचक्षु" के नाम को क्रियात्मक रूप में चरितार्थ कर चुके थे।

यह निश्चित है कि भाषा, विषय, शैली आदि सभी दृष्टियों से सूर के गीत हिन्दी साहित्य के शृंगार हैं। वे किसी भाषा या शैली के आरम्भिक स्वरूप के नहीं प्रत्युत विकसित और प्रौढ़ रूप के परिणाम दिखाई देते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर सूर की गीत-शैली की परम्परा तो प्रत्यक्ष ही पूर्व-प्रचलित है। जयदेव और विद्यापति उनसे बहुत पूर्व राधाकृष्ण के प्रेमगीत लिख चुके थे। सूरदास ने अनेक स्थानों पर विद्यापति को केवल भाषान्तरित मात्र कर दिया है। इस से सिद्ध होता है कि विषय और शैली तो सूर को अपने पूर्ववर्ती कवियों से

विरासत में प्राप्त हो गई थी। किन्तु व्रज-भाषा में वे कृष्ण-काव्य कहने वाले प्रथम कवि ही हैं। कबीर के पद भी यद्यपि शुद्ध साहित्यिक व्रज-भाषा में प्राप्त होते हैं, तथापि एक तो कबीर की भाषा सूर से पर्याप्त पुरानी है और दूसरे उसका विषय भी सर्वथा पृथक। इसलिए व्रज-भाषा में कबीर से भिन्न कोई ऐसी गीतों की पूर्व परम्परा अवश्य होनी चाहिए जिसका निखरा हुआ और विकसित रूप हमें सूर के साहित्य में प्राप्त होता है। केवल सूर ही क्यों तुलसी और नन्ददास आदि अन्य सम-सामयिक लेखकों ने भी व्रज-भाषा में वैसे ही अत्यन्त समुन्नत गीत लिखे हैं। वे सूर के अनुकरण पर कदापि नहीं लिखे गये होंगे। इन सूर, तुलसी आदि सभी कवियों ने व्रज-भाषा में गीत लिखने के लिए किसी समान स्रोत से प्रेरणा प्राप्त की होगी। भले ही वे गीत मुख परम्परा में क्यों न रहे हों। ऐतिहासिकों ने 'बैजू बावरे' के गीतों को सूर से पूर्ववर्ती स्वीकार किया है। सूरदास आदि कृष्ण-काव्यकारों ने उसी पुरानी परम्परा से प्रचलित विषय व शैली को अत्यन्त ही सुललित साहित्यिक रूप प्रदान कर अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचा दिया। साथ ही यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सूरदास पूर्व परम्परा के विकसित रूप होते हुए भी अपने आप में सर्वथा मौलिक और नित्य नवीन हैं, क्योंकि विद्यापति के राधाकृष्ण के प्रेम-सम्बन्धी गीतों में नायिका-भेद, नख-शिख-वर्णन, दूतीशिक्षा, अभिसार आदि प्रधान वर्ण्य-विषय हैं। इसलिए वे भक्ति-काव्य की अपेक्षा शृंगार काव्य कहलाने के ही अधिक अधिकारी हैं। सूर के गीत प्रेमपूर्ण होते हुए भी भक्ति की भव्य भावनाओं से भूषित हैं। पुराने व्रज गीतों की भाषा सामान्य लोक-भाषा-मात्र थी। जैसे जायसी की लौकिक अवधी भाषा को तुलसीदास ने सुसंस्कृत साहित्यिक रूप प्रदान किया वैसे ही सूर ने व्रज-भाषा को। १. 'सूरसागर' २. 'साहित्य लहरी', ३. 'सूरसारावली' इनके बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। सूरसागर में श्रीमद्भागवत का हिन्दी गीतों में स्वतन्त्र भावानुवाद किया गया है। इस अनुवाद के लिए वल्लभाचार्यजी ने आदेश दिया था। पहले नौ स्कन्धों का संक्षिप्त चलता-सा वर्णनमात्र कर दिया गया है, किन्तु दशम स्कन्ध का बड़ा विस्तृत वर्णन है। उसमें भी भगवान् कृष्ण की बाललीला, रूपमाधुरी, प्रणय, विरह-वर्णन, विनय, शृंगार, गोपी-उद्धव-संवाद अथवा भ्रमरगीत बड़े विस्तृत रूप से कहे गये हैं। क्योंकि यह मुक्तक गीतकाव्य है अतः इसमें एक ही भाव के अनेकों पद बन गये।

सूरदास वस्तुतः वात्सल्य रस की मूर्ति ही हैं। इन्होंने बालकृष्ण का बड़ा ही स्वाभाविक सरस, सुन्दर चित्र चित्रित किया, इसलिए 'सूर' का दूसरा नाम 'वत्सल-रस' कहा गया है। केवल वत्सलरस ही नहीं, रूपमाधुरी, गोपी-उद्धव-संवाद आदि

अन्य विषयों में भी सूरदास अपने उपमान आप ही हैं। भाषा की कोमलता का तो कहना ही क्या? एक तो यूंही व्रज-भाषा संस्कृत के पश्चात् सर्वाधिक कोमल है, और फिर वह सूर-सरीखे महाकवि की वाणी से निकल कर सुगन्धि और मृदुलता से युक्त स्वर्ण बन गई है। इन सब बातों के आधार पर ही सूरदास और तुलसीदास को सर्वश्रेष्ठ कवि का प्रतिष्ठित पद प्रदान किया गया है। जैसी तन्मयता, सरसता और निश्चल सात्त्विक भक्ति सूर और तुलसी में पाई जाती है वैसी अन्य किसी कवि में नहीं। अतः ये दोनों ही कवि सचमुच साहित्याकाश के सूर्य और चन्द्र हैं। और इनके सम्बन्ध में कहा गया निम्न पद—

किधौं सूर को सर लग्यो किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो,बेध्यो सकल शरीर ।।

अक्षरशः सत्य सिद्ध होता है। इनके दो सरस पद यहां दिये जाते हैं—

१. खेलन अब मेरी जात बलैया।
जबहिं मोहिं देखत लरिकन संग तबहिं खिझत बल भैया ।।
मोसों कहत तात बसुदेव को देवकी तेरी मैया।
मोल लियो कछु दे बसुदेव को करि करि जतन बटैया ।।
अब बाबा कहि कहत नन्द को यसुमति को कहै मैया।
ऐसेहि कहि सब मोहिं खिझावत तब उठि चलौ खिसैया ।।
पाछे नंद सुनत हैं ठाढ़े हंसत हंसत उर लैया।
"सूर" नंद बलरामहि धिरचो सुनि मन हरख कन्हैया ।।

२. प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सों आपै प्राण दह्यो ।।
अलिसुत प्रीति करी जलसुत सों सम्पुट माँझ गह्यो।
सारंग प्रीति करी जो नाद सों सन्मुख बाण सह्यो ।।
हम जो प्रीति करी माधव सों चलत न कछू कह्यो।
"सूरदास" प्रभु दरसन कारन ऐसी भांति बिचारै ।।

नन्ददास—इनका रचनाकाल सं० १६२५ के लगभग माना जाता है। यद्यपि "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता" में नन्ददास जी को तुलसीदास का भाई

लिखा है, तथापि यह सिद्ध हो चुका है कि तुलसीदास जी और नन्ददास जी का आपस में कोई सम्बन्ध न था। ये गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। अष्टछाप में सूरदास जी के पश्चात् इन्हीं का स्थान है। सूर की भाषा स्वाभाविक और चलती है किन्तु नन्ददास जी की भाषा में अनुप्रास और संस्कृत-पदविन्यास की पर्याप्त पुट है। नन्ददास जी का "भ्रमरगीत" बहुत से समालोचकों की दृष्टि में सूरदास जी के भ्रमर गीत से भी उत्कृष्ट है। इस भ्रमर-गीत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि नन्ददास के उद्धव, सूर के उद्धव की भाँति मूक और अप्रतिम से नहीं हैं, वे समय-समय पर गोपियों के तर्कों का बड़े सुन्दर ढंग से खंडन करते हैं। साथ ही एक नवीन छन्द के सौन्दर्य से भी इनके भ्रमर-गीत में बहुत उत्कृष्टता और सरसता आ गई है। संभवतः इसी कारण ही—"और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया" की उक्ति प्रचलित हुई हो।

वस्तुतः इनकी रचना इतनी रोचक और भावपूर्ण है कि उसकी टक्कर लेने वाली हिन्दी में बहुत कम रचनाएँ मिलेंगी।

नाभादास जी ने इनके विषय में सत्य ही कहा है:—

लीलापद रस रीति, ग्रन्थ रचना में नागर।
सरस उक्ति युक्त युक्ति, भक्ति रसगान उजगार॥
प्रचुर पद्य लौं सुयसु रामपुर ग्राम निवासी।
सकल सुकल संवलित, भक्तपद रेनु उपासी॥
चन्द्रहास अग्रज सुहृद, परम प्रेम पथ में पगे।
श्री नन्ददास आनन्द निधि, रसिक सुप्रभु हित रंगमगे॥

इनके लिखे हुए निम्नलिखित ग्रन्थ हैं—१. रास पंचाध्यायी, २. भ्रमर-गीत, ३. भागवत दशम स्कंध, ४. रुक्मणी मंगल, ५. सिद्धान्त पंचाध्यायी, ६. रूप मंजरी, ७. मान मंजरी, ८. विरह मंजरी, ९. नाम चिन्तामणि माला, १०. अनेकार्थ नाम माला, ११. दानलीला, १२. मानलीला, १३. अनेकार्थ मंजरी, १४. ज्ञान मंजरी, १५. सुदामा चरित, १६. श्याम सगाई, १७. नासिकेतोपाख्यान (गद्य में)। इनके रास पंचाध्यायी और भ्रमर-गीत के कुछ पद नीचे दिये जाते हैं—

१. तहं राजत ब्रजराज कुंअर वर रसिक पुरन्दर॥
निकर विभाकर दुति मेंटत सुभ मनि कौस्तुभ अस।
सुन्दर नन्द कुंअर उर पर सोइ लागत उडु जस॥

मोहन अद्‌भुत रूप कहि न आवत छबि ताकी।
अखिल खण्ड व्यापी जु ब्रह्म आभा है जाकी ।।

२. सुनत श्याम को नाम, ग्राम गृह की सुधि भूलीं।
भरि आनन्द रस हृदय, प्रेम बेली द्रुम फूली ।।
पुलकि रोम सब अङ्ग भये, भरि आये जल नैन।
कण्ठ घुटे गदगद गिरा, बोले जात न बैन ।।
व्यवस्था प्रेम की ।।

सुनत सखा के बैन, नैन भरि आये दोऊ।
बिबस प्रेम आवेस रही नाहीं सुधि कोऊ ।।
रोम रोम प्रति गोपिका, ह्वै रहीं सांवरे गात।
कल्प तरोरुह सांवरो, ब्रजवनिता भई पात ।।
उलहि अंग अंग तें ।।

कृष्णदास—ये भी वल्लभाचार्य जी के शिष्य और अष्टछाप में थे। ये शूद्र थे फिर भी आचार्य जी के कृपापात्र होने के कारण मन्दिर के प्रधान मुखिया बन गये थे। इन्होंने भी अन्य कृष्ण-भक्तों की तरह राधा-कृष्ण के प्रेम को लेकर शृंगार के ही पद बनाए। फुटकर पदों की इनकी 'जुगलमान चरित्र', 'भ्रमर-गीत', 'प्रेमतत्त्व निरूपण' पुस्तकें मिलती हैं। इनकी रचना साधारण कोटि की है। एक पद देखिए—

कंचन मनि मरकत रस ओपी।
नंद सुवन के संगम सुखकर अधिक विराजति गोपी ।।
मनहुँ विधाता गिरिधर पिय हित सुरत-धुजा सुख रोपी।
बदन कांति कै सुनु री भामिनि! सघन चंद-श्री लोपी ।।
प्राणनाथ के चित चोरन को भौंह भुजंगम कोपी।
कृष्णदास स्वामी बस कीन्हे, प्रेम पुंज की चोपी ।।

परमानन्ददास—ये सं० १६०६ के आस-पास वर्तमान थे और वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे। वल्लभाचार्य जी से हरि-कथा सुनकर उसे इन्होंने जन्म से प्रवास

तक शृंखला-बद्ध लिखा। इनकी कविता बड़ी सरस, सरल और भावपूर्ण है। इनके एक पद को सुनकर आचार्य जी कई दिन तक सुधबुध भूले रहे थे। 'परमानन्द सागर' में ८३५ पद हैं। नमूना देखिए—

राधे जू हारावलि टूटी।
उरज कमलदल-माल मरगजी, बाम कपोल अलक लट छूटी।
वर उर उरज करज बिच अंकित, बाहु जुगल वलयावलि फूटी॥
कंचुकि चीर विविध रँग रंजित गिरधर-अधर माधुरी घूंटी।
आलस-वलित नैन अनियारे, अरुन उनींदे रजनी खूटी।
परमानन्द प्रभु सुरति समय रस मदन नृपति की सेना लूटी॥

कुम्भनदास—ये बड़े विरक्त पुरुष थे। अकबर के बुलाने पर सीकरी गये। वहां इनका बड़ा सम्मान हुआ। इस पर इन्होंने कहा कि—

'संतन को कहा सीकरी से काम।
आवत जात पनहिया टूटी विसरि गयो हरिनाम॥

इनके फुटकर पद मिलते हैं जिनमें कृष्ण की बाललीला और प्रेमलीला का वर्णन है। ये भी परमानन्द के समकालीन थे।

चतुर्भुजदास—ये कुम्भनदास जी के पुत्र और विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। इनकी भाषा चलती और व्यवस्थित है। इनके बनाए द्वादश यश, भक्तिप्रताप, हितजू को मंगल, ये तीन ग्रन्थ और फुटकर पद भी मिलते हैं।

छीतस्वामी—पहले ये मथुरा के पण्डा थे और राजा बीरबल जैसे लोग इनके यजमान थे। इनकी रचनाओं का समय सं० १६१२ के लगभग है। इनके फुटकर पद ही इधर-उधर सुने जाते हैं। इनके पदों में शृंगार के अतिरिक्त ब्रजभूमि के प्रति प्रेमनिरूपण भी पाया जाता है। इनके पद भी सरस और मधुर हैं।

गोविन्दस्वामी—इनका रचनाकाल सं० १६०० और १६२५ के भीतर माना जाता है। इनके पदों से प्रसन्न होकर विट्ठल नाथ जी ने इन्हें अष्टछाप में लिया। गोवर्धन पर्वत पर 'गोविन्दस्वामी की कदमखण्डी" प्रसिद्ध है। ये बड़े अच्छे गवैये थे। तानसेन भी कभी-कभी इनका गाना सुनने के लिए आया करते थे।

सूरदास से लेकर गोविन्दस्वामी तक ये आठों कवि अष्टछाप के कवि कहे जाते हैं। इनमें से प्रथम चार श्री वल्लभाचार्य जी के तथा बाद के चार वल्लभाचार्य

जी के सुपुत्र श्री गो० विट्ठलनाथ जी के शिष्य हैं। विठठलनाथ जी ने ही उक्त आठों कवियों को लेकर 'अष्टछाप' नामक अपने एक कवि-समाज की स्थापना की थी।

रसखान—इनका जन्म सं० १६१७ दिल्ली में और मृत्यु सं० १६९० में हुई। अनन्य कृष्ण-भक्त मुस्लिम कवि रसखान दिल्ली के पठान सरदार थे। ये शाही खानदान के थे जैसा कि प्रेमवाटिका में लिखा है:—

देखि ग़दर हित साहिबी दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादशाह वंश की ठसक छांड़ि रसखान॥

ये बड़े भारी कृष्ण-भक्त और गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के अत्यन्त कृपापात्र शिष्य व आरम्भ से ही प्रेमी जीव थे। कहा जाता है कि ये पहले किसी पर आसक्त थे और वही मानवीय प्रेम अलौकिक प्रेम में परिणत हो गया। इनकी भाषा बड़ी ही सरल, सरस और शब्दाडंबर से रहित है। इनके सवैयों में प्रेम अपनी पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ प्रतीत होता है। इसीलिए जन-साधारण प्रेम-सम्बन्धी कवित्त सवैयों को ही 'रसखान' कहने लगे। यद्यपि इनकी रचना परिमाण में स्वल्प ही है तथापि कृष्ण-भक्त-प्रेमियों के मर्म को स्पर्श करने वाली है। अन्यान्य कृष्ण-भक्त कवियों ने गीत लिखे हैं परन्तु इन्होंने अपनी कविता के लिए कवित्त सवैयों का आश्रय लिया है। अनुप्रास की सुन्दर लय से युक्त चुस्त और मनोहर भाषा में प्रेम व भक्ति का सजीव चित्र खींचने में तो रसखान अपने उपमान आप ही हैं।

इनकी दो रचनाएँ अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं। १. सुजानरसखान, २. प्रेमवाटिका। सुजानरसखान में १२० पद्य सवैया, घनाक्षरी छन्दों में हैं तथा कुछ-एक दोहे-सोरठे भी हैं। प्रेमवाटिका में ५२ दोहे हैं। इनकी कुछ सरस रचनाएँ यहां दी जाती हैं—

मानस हौं तौ वही रसखानि बसों ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन।
जौ पसु हौं तौ कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धरयो कर छत्र पुरंदर धारन।
जौ खग हौं तौ बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदंबकी डारन॥
कानन दै अँगुरी रहियौ, जबही मुरली धुनि मंद बजै है।
सोहनी तानन सों रसखानि, अटा चढ़ि गोधन गैहै तो गैहै॥

टेरि कहौं सिगरे ब्रज लोगनि, कालिह कोऊ कितनौ समुझै है।
माई री वा मुख की मुसकान, सह्यारि न जैहै न जैहै न जैहै ।।

ध्रुवदास—इनकी रचनाओं में दिये गये संवतों के आधार पर इनका रचनाकाल सं० १६५० से १७०० तक माना जाता है। ये प्राय: वृन्दावन में रहते थे। इनकी रचनाएँ परिमाण, गुण और विषय सभी दृष्टियों से अत्यन्त व्यापक हैं। सिंगार सत, रस रत्नावली आदि इनके ४० ग्रन्थों में अनेक छन्दों, रसों तथा विषयों का उपयोग हुआ है, जिनमें प्रेम की प्रमुखता है। नाभादास की 'भक्तमाल' के अनुकरण पर लिखी गई इनकी 'भक्त नामावली' में उस समय तक के प्राय: सभी भक्तों का जीवन-परिचय दिया गया है ।

मीराबाई—आपका जन्म सं० १५५५ मेड़ता में और मृत्यु संवत् १६२० के लगभग द्वारका में हुई। सर्वश्रेष्ठ कृष्ण-भक्त स्त्री-कवयित्री मीराबाई मेड़ता के राव रत्नसिंह की पुत्री व मेवाड़ के महाराणा सांगा के सुपुत्र भोजराज की पत्नी थीं। विवाह के सात वर्ष पश्चात् ही वे विधवा हो गईं। आरम्भ ही से वे भगवान्-श्रीकृष्ण की अनन्य भक्त थीं। विधवा होने पर उनकी यह भक्ति पराकाष्ठा पर पहुंच गई। अब वे श्रीकृष्ण की पति-रूप में उपासना करने लगीं। साधु-संगति, श्रीकृष्णलीला चर्चा, पूजा-अर्चा को छोड़ अब उन्हें दूसरा काम नहीं रह गया। इस पर इनका देवर विक्रमादित्य बहुत रुष्ट रहने लगा और विरोध करने लगा। यहां तक कि एक बार तो उसने विषमिश्रित दूध भी पीने के लिए भेजा जिसे वे सहर्ष पी गईं किन्तु उस हलाहल विष का कुछ भी प्रभाव न हुआ। अन्त में रात-दिन के विरोध को न सहकर वे चित्तौड़ को छोड़कर वृन्दावन की यात्रा को चली गईं। इससे पूर्व उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास जी से निम्नलिखित पत्र लिखकर पूछा था कि ऐसी परिस्थिति में मेरा क्या कर्तव्य है—

स्वस्ति श्री तुलसी कुल भूषन दूषन हरन गोसाईं ।
बारहिं बार प्रनाम करहुँ, अब हरहु सोक समुदाई ।
घर के स्वजन हमारे जेते, सबन्ह उपाधि बढ़ाई ।
साधु संग अरु भजन करत, मोहि देत कलेस महाई ।
मेरे मात-पिता के सम हौ हरि भक्तन सुखदाई ।
हमको कहा उचित करिबो है, सो लिखिए समझाई ।

इस पर गोस्वामी जी ने विनयपत्रिका का यह पद लिखकर भेजा—

जाके प्रिय न राम वैदेही ।
सो नर तजिये कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही ।।
नाते सबे राम के मानियत सुखद सुसेव्य जहां लौं ।
अँजन कहाँ आँखि जो फूटै बहुतक कहौं कहां लौं ।।

वृन्दावन से वे द्वारका चली गईं । आदि

मीरा की भक्ति माधुर्य-भाव से परिपूर्ण है । इनकी कविता की उत्कृष्टता को देखते हुए समालोचक जगत् ने उन्हें हिन्दी-कवियों में बहुत उच्च स्थान दिया है । कृष्ण-भक्त स्त्री-कवयित्रियों में तो उनका स्थान सर्वश्रेष्ठ है ही । वे अपने इष्टदेव कृष्ण की उपासना प्रियतम या पति के रूप में करती थीं । इस प्रकार की उपासना में रहस्य का समावेश अनिवार्य है । सूफ़ियों की 'हाल' की-सी अवस्था में तन्मय होकर उन्होंने माधुर्य-भाव से अपने भक्तिभाव का स्वरूप निर्धारित किया और स्वयं विरहिणी बनकर अपने प्राणप्रिय से प्रणय की भिक्षा मांगी । इसीलिए मीरा के काव्य में गीत-काव्य अपने परमोत्कृष्ट रूप में प्रकट हुआ है ।

इतना होने पर भी मीरा की भक्ति-भावना अन्य कृष्ण-भक्तों से सर्वथा नवीन रूप लिए हुए है । उन्होंने अन्य कवियों की भांति कृष्ण की विभिन्न बाल-लीलाओं या नखशिख-वर्णन आदि की कहीं चर्चा नहीं की । वे तो उस पूर्ण परब्रह्म के पूरे स्वरूप का चित्र खींचने में तल्लीन दिखलाई देती हैं । वे स्वयं अपने आपको एक गोपी के रूप में परिणत पाती हैं, इसलिए उन्होंन राधाकृष्ण की नहीं प्रत्युत केवल कृष्ण की ही उपासना के पद गाये हैं । उन्होंने बहुत से पद निर्गुण सन्तों की परम्परा पर भी कहे । मीरा की कविताओं में हमें उस काल में प्रवाहित भक्ति की त्रिधारा के दर्शन होते हैं । वे साकार कृष्ण के गुण गाती हुई भी—

'नयनन वनज बसाऊँ री जो मैं साहब पाऊँरी ।
इन नयनन मेरा साहिब बसता, डरती पलक न नाऊँरी ।
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँरी ।
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ सुख की सेज बिछाऊँरी ।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर बार बार बलि जाऊँरी ।

इत्यादि पदों में सन्तों के निर्गुण भक्ति-भाव का वर्णन कर जाती हैं । संक्षेप में कह सकते हैं कि अपने अन्तर्तम की वेदना या हृदय के उद्‌गारों की अभिव्यक्ति ही

मीरा की कविता के रूप में फूट निकली है। उसमें न साहित्यिक बाह्य सौन्दर्य है न शब्दों की सजावट। मीरा ने अपने आपको एक भावुक-हृदया-प्रोषितपतिका के रूप में अंकित किया है, कुशल कवि के रूप में नहीं। इसीलिए किसी सिद्धान्त या सम्प्रदाय के बन्धन में न बँधकर उन्होंने अपने व्यवहार में आने वाली (१) राजस्थानी (२) व्रज (३) गुजराती इन तीनों भाषाओं तथा कृष्ण के साम्प्रदायिक प्रभाव से रहित शुद्ध सात्त्विक कृष्ण रूप परब्रह्म को ही नाना प्रकार से रिझाने के लिए अपने आपको कविता के रूप में प्रकट किया है। इनकी नरसी जी का मायरा, गीत गोविन्द की टीका, राग गोविन्द, राग सोरठ के पद ये चार रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। इनका एक गीत ऊपर दे दिया गया है।

हितहरिवंश—इनका जन्म सं० १५५९ में बाद गांव जिला मथुरा में हुआ। इनके पिता का नाम पं० केशवदास और माता का नाम तारावती था। ये पहले मध्वानुयायी थे। पीछे इन्हें स्वप्न में राधाजी ने मन्त्र दिया तब से इन्होंने राधा-वल्लभ के नाम से अपना अलग सम्प्रदाय चलाया। ये संस्कृत और हिन्दी भाषा के अच्छे विद्वान् थे। ओरछा नरेश मधुकरशाह के राजगुरु हरिराम जी व्यास इनके शिष्य थे। 'राधासुधानिधि' आप ही का लिखा हुआ है। आपके पदों का संग्रह 'हित चौरासी' नाम से प्रसद्ध है। इनकी रचना यद्यपि थोड़ी है तथापि बहुत सरस और हृदयग्राहिणी है। इसी सरसता के कारण आप 'वंशी के अवतार' कहे जाते हैं।

गदाधर भट्ट—ये दक्षिणी ब्राह्मण थे। इनका रचनाकाल सं० १५०० से १६०० तक माना जाता है। कहा जाता है कि ये चैतन्य महाप्रभु को भागवत सुनाया करते थे। ये संस्कृत के प्रकांड पण्डित थे अतः इनकी रचनाएँ संस्कृतनिष्ठ सरस साहित्यिक भाषा में है। इनकी कोई विशेष रचना नहीं प्राप्त हो सकी, केवल फुटकर कविताएँ ही मिली हैं।

स्वामी हरिदास—ये निम्बार्क शाखा के अन्दर टट्टी सम्प्रदाय के संस्थापक थे। इनके जन्म-मरण के विषय में कुछ ज्ञात नहीं। तानसेन इन्हें अपना गुरु मानते थे। स्वयं अकबर वेश बदल कर इनका गाना सुनने के लिए आया करते थे। ये परम भक्त सुकवि और संगीत-कला के विशेषज्ञ थे। इनका कविता काल सं० १६०० से १६१७ तक ठहरता है।

सूरदास मदनमोहन—ये संडीले के रहने वाले ब्राह्मण, अमीन थे। ये इतने उदार थे कि एक बार सरकारी खजाने के लाखों रुपये साधुओं को लुटा बैठे और शाही खजाने में कंकर-पत्थरों से भरे सन्दूक भेज दिये। इनके स्वभाव से परिचित होने के कारण अकबर ने इन्हें क्षमा कर दिया। इनकी रचना भी सूरदास के समान

ही सरस होने के कारण उनसे भिन्न नहीं प्रतीत होती। इनकी कोई पुस्तक नहीं मिली।

श्रीभट्ट—इनका जन्म सं० १५९५ के लगभग माना जाता है। 'युगलशतक' नामक इनकी रचना बड़ी सरल और सरस है। 'आदिबानी' भी इनकी लिखी हुई एक और पुस्तक कही जाती है।

हरिराम व्यास—इनका रचनाकाल सं० १६२० के लगभग माना गया है। ये ओरछा-नरेश मधुकरशाह के गुरु थे। पहले ये शास्त्रार्थी पण्डित थे। एक बार हितहरिवंश जी से शास्त्रार्थ करने गये और उल्टे उन्हीं के शिष्य बनकर राधावल्लभी हो गये। इनकी रचना परिमाण तथा विषयों की दृष्टि से बहुत व्यापक है। बाललीला और शृंगारलीला में लीन रहते हुए भी लोकपक्ष की इनहोंने कभी उपेक्षा नहीं की। ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि सभी विषय इनकी रचनाओं में प्राप्त हैं। इनकी 'रासपंचाध्यायी' सूर के सागर में समा गई थी पर आलोचकों के प्रयत्नों से पुनः अपने पृथक् रूप में प्रकट हो गई है।

अभ्यास

१. कृष्णोपासना का प्रारम्भ कब हुआ और उसे वर्तमान रूप किस समय प्राप्त हुआ?
२. निम्बार्काचार्य चैतन्य महाप्रभु और वल्लभाचार्य जी के जीवन व सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय दें।
३. जयदेव और विद्यापति के साहित्य पर प्रकाश डालते हुए सिद्ध करें कि विद्यापति हिन्दी के ही कवि हैं।
४. कृष्ण-भक्ति-साहित्य की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए बतायं कि इस साहित्य में प्रबन्ध काव्यों का निर्माण क्यों न हो पाया?
५. कृष्ण-साहित्य का आगामी समाज व साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा?
६. सूरदासजी का जीवन-वृत्त लिखकर उनकी साहित्य-सेवाओं पर विस्तृत प्रकाश डालें।
७. 'भ्रमर-गीत' व 'अष्टछाप' से क्या प्रयोजन है, अष्टछाप के कवियों का परिचय देकर लिखें कि भ्रमर-गीतों की रचना किन-किन कवियों ने की है; और आप किसकी रचना को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं?
८. नन्ददास, रसखान व मीराबाई का परिचय देकर इनके साहित्य की समालोचना करें।

दसवाँ अध्याय

भक्तिकाल की फुटकर रचनाएँ अथवा मुग़ल दर्बार से प्रभावित साहित्य

भक्तिकाल में अनेक कवि ऐसे हुए हैं जिनकी गणना पूर्वोक्त भक्ति की चारों शाखाओं में से किसी में भी नहीं की जा सकती। ये साम्प्रदायिक सिद्धान्तों से परे रहकर निर्गुण, सगुण, राम, कृष्ण सभी रूपों की उपासना करते थे। ये लोग भक्त की अपेक्षा शृंगारिक कवि, आचार्य अथवा लोकसाहित्य-स्रष्टा के रूप में आविर्भूत हुए हैं। इनमें से अधिकांश अकबरी दर्बार से भी प्रेरणा प्राप्त करते रहते थे। रहीम, केशव आदि हिन्दी के उत्कृष्ट कविगण भी इसी श्रेणी के हैं। इसी कारण इन्हें साहित्य के इतिहास में एक पृथक् अध्याय प्राप्त हो गया।

अकबर के शान्तिमय, सुव्यवस्थित और कलापूर्ण शासन-काल की महत्ता को बढ़ाते हुए कुछ आलोचक यहाँ तक कहने का साहस कर गये हैं कि हिन्दी-साहित्य में सूर और तुलसी-सरीखे उत्कृष्ट कवियों के प्रादुर्भाव में भी अकबर के शासन-काल की शान्तिमय परिस्थितियाँ ही मुख्य कारण हैं। किन्तु उनका यह कथन किसी प्रकार सत्य और उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि सूर और तुलसी का साहित्य समाज की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का परिणाम है। उस पर किसी शासन-काल का कुछ भी प्रभाव नहीं। इसे एक आकस्मिक घटना समझना चाहिए कि राजनैतिक दृष्टि से मुस्लिम शासन-काल का जो भाग 'स्वर्णयुग' कहलाया, हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भी वही समय 'स्वर्णयुग' बना। अतः अकबर के शासन-काल का यह सौभाग्य ही समझना चाहिए कि सूर और तुलसी-सरीखे साहित्य-स्रष्टा उस समय को सुशोभित कर रहे थे।

निःस्सन्देह अकबर आदि मुग़ल शासकों ने साहित्य की श्रीवृद्धि में पर्याप्त सहयोग दिया। ये सम्राट् स्वयं भी साहित्य-रचना करते रहे। अकबर ने अपने सुपुत्र जहाँगीर को हिन्दी सिखाई और अपने पौत्र खुसरो को तो छः वर्ष की अवस्था ही में हिन्दी सीखने के लिए भूदत्त भट्टाचार्य के सुपुर्द कर दिया था। शाहजहाँ का भी हिन्दी पर अच्छा प्रभाव था। उसने हिन्दी-कवियों का खूब सम्मान किया। शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र दारा ने इस विषय में सबसे अधिक उन्नति की। उसने उपनिषदों का फ़ारसी में अनुवाद भी किया था। औरंगज़ेब हिन्दुओं का तो शत्रु था

पर हिन्दी के प्रति उसने भी अपने प्रेम का परिचय दिया। उसने अपने पुत्र मुहम्मद आज़िम की कुछ नवीन जाति के आमों के कुछ नये नाम रखने की प्रार्थना पर लिखा था कि—"तुम स्वयं विद्वान् होकर अपने बूढ़े बाप को क्यों कष्ट देते हो ? ख़ैर, तुम्हारी प्रसन्नता के लिए आमों के नाम मैंने 'सुधारस' और 'रसना-विलास' रक्खे हैं"। ये कितने सुन्दर नाम हैं। अस्तु।

यह साहित्य पूर्वोक्त भक्ति-सम्बन्धी साहित्य से सर्वथा भिन्न है। इसमें उपर्युक्त विशेषताएँ व नवीनताएँ लक्षित होती हैं इसीलिए उन्हें किसी भक्ति-शाखा की विशेष परम्परा में नहीं बैठाया जा सकता। यहां यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि जब उन्हें भक्ति-परम्परा में स्थान प्राप्त नहीं हो सकता तो 'रीतिकाल' में क्यों न रख दिया जाय—उनके लिए पृथक अध्याय की क्या आवश्यकता ? इसके सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि यद्यपि कृपाराम और केशव ने रीति-ग्रन्थों का निर्माण आरम्भ कर दिया था और रहीम ने भी 'बरवै नायिका भेद' लिख कर उस परिपाटी के प्रारम्भ का परिचय दे दिया था, तथापि रीति-ग्रन्थों की परिपुष्ट परम्परा इससे ५० वर्ष पश्चात् ही प्रारम्भ हुई और वह भी एक नवीन रूप और सिद्धान्तों को लेकर। क्योंकि केशव, कृपाराम आदि आचार्य अलंकार-चमत्कार को प्रधानता देने वाले थे। और रीति-काल के मतिराम, दास आदि परवर्ती आचार्यों ने भावों और विभावों की या यूं कहें कि रस की प्रधानता स्वीकार की। अतः केशव आदि आचार्य अलंकारवादी दण्डी के मतानुयायी और दास आदि रसवादी मम्मट और विश्वनाथ की परम्परा पर चलने वाले कहे जाते हैं। इन्हीं सब बातों को देखते हुए आचार्य शुक्ल जी ने रीति-काल का आरम्भ केशव और कृपाराम से न मानकर चिन्तामणि से माना और इसे सभी परवर्ती विज्ञ साहित्यिक इतिहासकारों ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया है। तभी केशव, बीरबल आदि कविगण रीतिकाल में न जाकर भक्तिकाल में अपना एक स्वतन्त्र स्थान और अध्याय बनाए बैठे हैं।

प्रमुख लेखक गण—

अब यहां इस काल के प्रमुख लेखकों का परिचय दिया जाता है—

सम्राट् अकबर—इनका जन्म सं० १५९९ में अमरकोट में हुआ था। इन्होंने सं० १६६२ तक राज्य किया। इस काल के प्रथम व प्रमख लेखकों में सर्वप्रथम स्वयं सम्राट् अकबर का नाम लिया जाना उचित प्रतीत होता है। अकबर काव्य-रसिक और कला-प्रेमी तो थे ही—उनके नवरत्न—रहीम, बीरबल और तानसेन आदि ने साहित्य और संगीत को अनुपम सुषमा प्रदान की। साथ ही इस सम्राट् ने स्वयं भी हिन्दी में सुन्दर रचनाएँ की हैं। यद्यपि ये कुछ विशेष पढ़े-लिखे न थे

फिर भी कबीर की भाँति बहुश्रुत होने के कारण अनेक विषयों के ज्ञाता थे। इनकी रचनाएँ परिमाण में बहुत स्वल्प प्राप्त हुई हैं। इन्होंने जो कुछ लिखा वह है एकदम अनूठा। देखिए, बीरबल की मृत्यु के समय इनके अन्तस्तल से निकले हुए शोकोद्गार निम्न सोरठे में कितने मार्मिक रूप में प्रकट हो रहे हैं—

दीन जानि सब दीन्ह, एक न दीनों दुसह दुःख ।
सो अब हम कहँ दीन्ह, कछु नहीं राख्यो बीरबल ।।

इनका एक और पद्य देखिए—

शाह अकब्बर एक समै चले कान्ह विनोद विलोकन बालहिं ।
आहटतें अबला निरख्यौ चकि चौंकि चली करि आतुर चालहिं ।
त्यों बलि वेनी सुधारिधरी सुभई छबि यों ललना अरुलालहिं ।
चंपक चारु कमान चढ़ावत काम ज्यों हाथ लिये अहि बालहिं ।

तानसेन—विश्वविख्यात तानसेन केवल गायक या संगीताचार्य ही न थे, वे हिन्दी के एक अच्छे कवि भी थे। उनकी रचना देखिए—

चढ़ो चिरंजीव साह अकबर साहनसाह,
बादशाह तखत बैठो छत्र फिरे निशान ।
दिल्लीपति तुम नवीजी को नायब अति सुन्दर सुलतान,
चारों देश लिये कर जोर कमान ।
राजा राव उमराव सब मानत तोरी आन,
कहें 'मियां तानसेन' सुनिये महाजान ।
तुमसे तुमही और नाहीं दूजो-गुणी जनन के राखत मान

बीरबल—ये अकबर के नवरत्नों में बड़े ही वाक्-चतुर और प्रत्युत्पन्नमति थे। स्वयं ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे और दूसरे कवियों का भी आदर करते थे। एक बार केशवदास जी की कविता से प्रसन्न होकर इन्होंने उन्हें ६ लाख रु० दिये थे और उनके ही कहने से अकबर द्वारा ओरछा-नरेश पर किया हुआ एक करोड़ रुपये का जुर्माना मुआफ़ करा दिया था। इनका जन्म-स्थान तिकवांपुर और उपनाम 'ब्रह्म' था। इनकी फुटकर रचनाओं का संग्रह भरतपुर से प्राप्त हुआ है।

टोडरमल—ये अकबर के भूमि-कर-विभाग के मन्त्री थे। इनका जन्म सं० १५८० में और मृत्यु सं० १६४६ में हुई। इन्होंने शाही दफ्तरों में हिन्दी के स्थान

में फ़ारसी का प्रचार किया। ये प्रायः नीति-सम्बन्धी पद्य कहते थे। इनके फुटकर कवित्त इधर-उधर मिलते हैं।

महापात्र नरहरि बन्दीजन—इनका जन्म सं० १५६२ और मृत्यु सं० १६६७ में कही जाती है। अकबर ने इन्हें महापात्र की उपाधि दी थी। इनके निम्न छप्पय को सुनकर अकबर ने गोवध बन्द करा दिया था। इनके 'रुक्मणी-मंगल' और 'छप्पय-नीति' दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

१. अरिहुं दन्त तृन धरैं, ताहि मारत न न सबल कोइ।
हम संतत तृन चरहिं, बचन उच्चरहिं दीन होइ॥
अमृत पय नित स्रवहिं, बच्छ महि थंभन जावहिं।
हिन्दुहिं मधुर न देहिं, कटुक तुरुकहिं न पियावहिं॥
कह कवि "नरहरि" अकबर सुनो, बिनवत गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहिं मारियत, मुयहु चाम सेवइ चरन॥

२. ज्ञानवान हट करै, निधन परिवार बढ़ावै।
बंधुआ करै गुमान, धनी सेवक व्है धावै॥
पण्डित किरिया हीन, रांड दुरबुद्धि प्रमाने।
धनी न समझे धर्म, नारि मरजाद न माने॥
कुलवंत पुरुष कुलविधि तजै, बन्धु न मानै बन्धुहित।
संन्यास धारि धन संग्रहै, ये जग में मूरख विदित।

होलराय—ये भी कभी-कभी अकबरी दरबार में आया करते थे। रचना इनकी पुष्ट होती थी। ये राजा-रईसों की विरुदावली वर्णन किया करते थे। इन्होंने अकबर बादशाह की प्रशंसा में भी पद्य-रचना की है।

कृपाराम—इनके जीवन के विषय में कुछ ज्ञात नहीं। इन्होंने सं० १५९८ में रस-रीति पर 'हित तरंगिणी' नामक ग्रन्थ दोहों में बनाया। हिन्दी में प्राप्त रीति-ग्रन्थों में ये सबसे पुराना है। इसके दोहे बहुत ही सरस, भावपूर्ण तथा परिमार्जित हैं। यहां तक कि इनके अनेक दोहे बिहारी की सम्पत्ति समझे जाने लग पड़े। इनका एक दोहा देखिए—

लोचन चपल कटाच्छ सर अनियारे विषपूरि।
मन-मृग बेधैं मुनिन के जगजन सहत बिसूरि॥

गंग—इनकी जन्म-मरण की तिथि निश्चित नहीं है। अनुमानतः इनका जन्म सं० १६१० और देहान्त १७०० के लगभग हुआ होगा। ये अकबर के दरबारी कवि माने जाते हैं। कहा जाता है कि औरंगज़ेब ने भी इन्हें एक बूढ़ी हथिनी पुरस्कार में दी थी जिसका वर्णन एक कवित्त में बड़ा ही सुन्दर हुआ है।

तिमिरलङ्ग लई मोल चली बब्बर के हल के।
रही हुमायूँ साथ गई अकबर के दल के।
जहाँगीर जस लियो पीठि को भार छुड़ायो।
शाहजहाँ करि न्याय ताहि को माँड चटायो।
बल रहित भई पौरुष थक्यो, भगी फिरत बन स्यार डर।
औरङ्गजेब करिनी सोई, लै दीन्हीं कवि गंग घर।

इस कवित में बूढ़ी हथिनी का वर्णन सुन्दर है पर ऐतिहासिक दृष्टि से इसका गंग से कोई सम्बन्ध नहीं।

ये बड़े अच्छे 'नरकाव्य' लेखक थे। इन्होंने रहीम के सम्बन्ध में इतने अच्छे कवित्त कहे कि उन्होंने निम्नलिखित एक छप्पय पर ही इन्हें ३६ लाख रुपया इनाम दे दिया।

चकित भंवर रहि गयौ गमन नहीं करत कमल बन।
अहि फनि मनि नहिं लेत तेज नहीं गहत पवन घन॥
हंस मानसर तज्यो चक्क चक्की न मिलै अति।
बहु सुन्दर पद्मिनी पुरुष न चहें न करें रति॥
खलभलित सेस कवि गंग भनि अमित तेज रवि रथ खस्यो
खानानखान बैरम सुवन जि दिन क्रोध करि तुंग कस्यो॥

कहते हैं किसी कारण ये किसी राजा या नवाब द्वारा हाथी से चिरवा दिये गये थे।

आलम—ये भी अकबर के समकालीन मुस्लिम कवि हैं। इन्होंने सं० १६४० में 'माधवानल-काम-कंदला' नामक प्रेम-प्रबन्धकाव्य लिखा। यह रचना साधारण है। श्री प्रो० सरनदास जी भनोत ने अनेक प्रमाणों के द्वारा यह सिद्ध किया है कि 'आलमकेलि' का लेखक भी यही आलम है और शेखरंगरेजिन की कथा और किसी ब्राह्मण का मुसलमान होकर 'आलम' नाम से प्रसिद्ध होने की घटना कपोल-कल्पित है।

प्रोफ़ेसर साहब ने इनकी 'स्यामसनेही' नामक एक अज्ञात रचना का सुन्दर सम्पादन कर इस विषय पर उसकी भूमिका में पर्याप्त प्रकाश डाला है।

मुबारक—इनका जन्म बिलग्राम में सं० १६४० में हुआ था। इनके 'अलक शतक' और 'तिलक शतक' अच्छे शृंगारी काव्य हैं। इन्होंने नायिका के दसों अंगों पर सौ-सौ दोहे बनाये थे पर अब उक्त दो रचनाएँ ही प्राप्त हैं।

बनारसीदास—ये आमेर (जयपुर) के निवासी जैन जौहरी थे। इनका जन्म सं० १६४३ में हुआ था। 'अंधकथानक' नामक इन्होंने अपना जीवन-चरित्र लिखा जो कि हिन्दी का सर्वप्रथम स्वरचित जीवन-चरित्र है। इसके अतिरिक्त १. बनारसी-विलास, २. नाटक-समयसार, ३. नाममालाकोश, ४. बनारसी-पद्धति, ५. मोक्षपदी, ६. ध्रुव-वन्दना, ७. कल्याण-मन्दिर भाषा, ८. वेदनिर्णयपंचाशिका, ९. मारगन-विद्या ये ९ पुस्तकें इनकी और भी कही जाती हैं। इनकी कविता का उदाहरण—

काया सों विचार प्रीति, माया ही में हार जीति,
  लिए हठ रीति जैसे हारिल की लकरी।
चंगुल के जोर जैसे गोह गहि रहै भूमि,
  त्योंही पायँ गाड़े पै न छांड़ै टेक पकरी॥
मोह की मरोर सों मरम को न ठौर पावै,
  धावै चहुँ ओर ज्यों बढ़ावै जाल माकरी।
ऐसी दुरबुद्धि भूलि, झूठ के झरोखे भूलि,
  फूलि फिरै ममता जंजीरन सों जकरी॥

नरोत्तमदास—इनका रचना-काल सं० १६०२ के लगभग है। वे सीतापुर ज़िले के बाड़ी नामक कस्बे के निवासी थे। इनकी जाति तथा जन्म और मृत्यु-तिथि का उल्लेख नहीं मिला। शिवसिंह-सरोज में इनका सं० १६०२ में वर्तमान रहना लिखा है। यही इनका रचना-काल है।

इनकी केवल एक छोटी-सी रचना 'सुदामा-चरित' उपलब्ध है। पर ये इसी एक रचना ही से अमर और हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों की कोटि में विराजमान हो गये हैं। यद्यपि सुदामा-चरित छोटा-सा काव्य है किन्तु इसकी रचना बहुत ही सरस, प्रौढ़ तथा हृदयग्राहिणी है और कवि की भावुकता का परिचय देती है। दरिद्रता-ग़रीबी का जैसा सुन्दर सजीव चित्र नरोत्तमदास ने इस काव्य में अंकित किया है वैसा अन्य कोई

भी कवि नहीं कर पाया। वर्णन की विशदता और भावों की उत्कृष्टता के साथ ही साथ भाषा भी अत्यन्त परिमार्जित, प्रांजल एवं सुव्यवस्थित है। इस प्रकार भव्य भावों के साथ-साथ कोमल-कान्त-पदावली सोने में सुगन्धि का काम कर रही है। इनकी कविताओं में शब्दाडम्बर या अनावश्यक भरती का एक भी शब्द नहीं है। भाषा और भावों की ऐसी उत्कृष्टता इनके परवर्ती रीतिकालीन अन्य कवियों में बहुत ही कम देखने में आती है। इन्हीं गुणों के कारण पाठक सुदामा-चरित पढ़ते-पढ़ते आत्म-विभोर-सा हो जाता है। 'ध्रुव-चरित' भी इनकी ही रचना कही जाती है। इनकी रचना का नमूना देखिए :—

सीस पगा न झगा तन पै प्रभु जानै को आहि बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी-सी लटी-दुपटी अरु पांय उपानह की नहिं सामा॥
द्वार खरो द्विज दुर्बल एक रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल के धाम बतावत आपनो नाम सुदामा॥
ऐसे बेहाल बेवाइन सौं पग कंटक जाल लगे पुनि जोये।
हाय महा दुख पायो सखा तुम आये न इतै न कितै दिन खोये।
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि रोये।
पानी परात को हाथ छुयौ नहिं नैनन के जल सों पग धोये॥

केशव—इनका जन्म सं० १६१२ और मृत्यु सं० १६७३ में हुई। ये शीघ्रबोध (संस्कृत) नामक परम प्रसिद्ध ज्योतिष ग्रन्थ के रचयिता पं काशीनाथ के पुत्र थे तथा ओरछा-नरेश महाराजा रामसिंह के भाई इन्द्रजीतसिंह के आश्रय में रहते और उनके मन्त्र-गुरु एवं मन्त्री भी थे। इन्होंने इन्द्रजीतसिंह पर अकबर द्वारा किये हुए एक करोड़ रु० जुर्माने को माफ़ करा दिया था। ये काव्य में अलंकार का स्थान मुख्य मानने वाले चमत्कारवादी कवि थे। जैसा कि इन्होंने स्वयं कहा है—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुवरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न बिराजई कविता, बनिता, मित्त॥

केशव कवि तथा आचार्य भी थे। इन्होंने संस्कृत-साहित्य से सामग्री लेकर अपने पांडित्य व रचना-कौशल का अच्छा परिचय दिया है। इनके संवादों में पात्रों के अनुकूल क्रोध, उत्साह आदि की व्यंजना बड़ी प्रभावपूर्ण और हृदयहारिणी हुई है। वाक्पटुता और राजनैतिक दावपेंच का आभास भी प्रभावोत्पादक है। इनके रावण-अंगद-संवाद, लव-कुश-संवाद तथा युद्ध-वर्णन एक दृष्टि से तो तुलसी से भी बढ़कर

हैं। इनकी अनेक कविताएँ तत्काल समझ में नहीं आतीं उनके लिए कुछ विचार की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु जितना ही अधिक विचार किया जाता है उतनी ही मिठास बढ़ती जाती है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। इनकी रामचन्द्रिका एक कलात्मक प्रबन्ध-काव्य है जिसमें विभिन्न छन्दों में रामकथा कही गई है। जनसामान्य में इसका प्रचार भले ही 'मानस' के समान नहीं हो पाया तथापि विद्वत्ता व पांडित्य की दृष्टि से इसका पर्याप्त आदर हुआ है।

'मनुष्य-जीवन के अन्दर तो केशव की अन्तर्दृष्टि कुछ दिखाई भी देती है पर प्रकृति के जितने वर्णन उन्होंने किये हैं वे प्रकृति-निरीक्षण का नाममात्र को परिचय नहीं देते। क्लिष्टता की दृष्टि से केशव की कविवर मिल्टन के साथ तुलना की जाती है परन्तु यह मिल्टन पर सरासर अन्याय है। मिल्टन के साथ केशव की इतनी ही समानता है कि उन्होंने भी प्रकृति का परिचय कवि-परम्परा से पाया है। मिल्टन लावा पक्षी को खिड़की पर ला बैठाते हैं तो ये कहीं बिहार की तरफ़ विश्वामित्र के तपोवन में—

एला ललित लवंग संग पुंगी फल सोहैं।

का वर्णन कर डालते हैं। प्रकृति के सौंदर्य से उनका हृदय द्रवीभूत नहीं होता। उनके हृदय का वह विस्तार नहीं जो प्रकृति में भी मनुष्य के सुख-दुःख के लिए सहानुभूति ढूंढ सकता है, जीवन का स्पन्दन देख सकता है, परमात्मा के अन्तर्हित स्वरूप का आभास पा सकता है। इनके लिए फूल निरुद्देश्य फूलते हैं, नदियां निःस्वार्थ बहती हैं, वायु निरर्थक चलती है। केशव की पुस्तकें पढ़ते चले जाइए सारा वर्णन चमत्कार से परिपूर्ण मिलेगा। इनकी कल्पना मस्तिष्क की उपज-मात्र है हृदय-जात नहीं।

हां, केशवदास कला में प्रवीण हैं। इनकी बुद्धि प्रखर है और दरबारी होने के कारण उनका वाग्वैदग्ध्य ऊंचे दर्जे का है। रामचन्द्रिका सुन्दर सजीव वार्तालापों से भरी पड़ी है। व्यंजनाएँ कई स्थानों पर खरी हैं पर वे वस्तु या अलंकार की हैं भाव की नहीं।[1]

भाषा इनकी काव्योपयोगी नहीं है। प्रसाद-गुण का इनमें अभाव है। परन्तु इनके नाम और करामात का ऐसा जादू है कि इन्हें महाकवि केशवदास कहे बिना जी नहीं मानता।

---

[1] हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास

केशव बड़े रसिक और प्रेमी प्राणी थे। इन्द्रजीतसिंह की सभा की पातुर 'प्रवीणराय' के प्रति इनका प्रेम प्रसिद्ध है। *कहा जाता है कि एक बार पनघट पर पानी भरने आई हुई कुछ युवतियों ने बूढ़ा होने के कारण इन्हें 'बाबाजी' कहकर सम्बोधित कर दिया। इस पर इनके हृदय से निम्न निराशा-भरे उद्‌गार निकल पड़े—

केसव केसनि अस करी बैरिहु जस न कराहिं।
चंद्रवदनि मृगलोचनी 'बाबा' कहि कहि जाहिं॥

यह भी प्रसिद्ध है कि बीरबल ने इन्हें निम्नलिखित एक कवित्त पर ही छः लाख रुपया दे दिया था।

पावक पंछि पसू नग नाग, नदी नद लोग रच्यो दसचारी,
केशव देव अदेव रच्यो, नर देव रच्यो रचना न निवारी।
रचिकै नरनाह बली बलवीर, भयो कृतकृत्य महाव्रतधारी,
दै करतापन आपन ताहिं, दियो करतार दुहुँ करतारी॥

केशवदास को किसी ने 'प्रकृत कवि' भी कहा है किन्तु प्रमुख समालोचकों की सम्मति में वे प्रकृत नहीं प्रत्युत श्रमसाध्य कवि हैं। उन्होंने अपने आपको आचार्य और कवि इन दोनों रूपों में प्रकट कर दोनों में से किसी एक के भी पूर्णरूप को प्राप्त न किया। हाँ, यदि वे हमारे संमुख सर्वथा आचार्य के रूप में ही उपस्थित होते तो सम्भवतः अधिक सफलता प्राप्त कर पाते। रामचन्द्रिका को प्रबन्ध काव्य के रूप में लिखते हुए भी ये उसमें प्रबन्ध-काव्योचित गुणों का समावेश न कर पाये। उत्प्रेक्षा, रूपक, श्लेष आदि चमत्कारक अनेक अलंकारों, छोटे से लेकर बड़े से बड़े तक नानाविध छन्दों के पाण्डित्यपूर्ण प्रयोगों या वर्णनों अथवा तार्किक अथच मार्मिक संवादों के सिवा 'रामचंद्रिका' में अन्य किसी वस्तु के दर्शन नहीं होते। रसार्द्रता, भावपक्ष या अंतर्वृत्तियों का वहाँ चिन्ह भी नहीं है। इसलिए कह सकते हैं कि केशव ने कवि हृदय की अपेक्षा अपने पण्डिताऊपन को प्रायः प्रकट किया है। वे कवि की अपेक्षा पण्डित ही प्रमुख रूप से कहे जाते हैं। रामचंद्रिका, कविप्रिया, रसिकप्रिया, विज्ञान-गीता, वीरसिंहदेव-चरित, रतनबावनी, जहांगीर-जस-चंद्रिका ये इनकी सात रचनाएँ हैं। कविप्रिया और रसिकप्रिया में अलंकारों व रसों का विवेचन है, जिनके उदाहरण सुन्दर हैं। कविताओं के नमूने देखिए—

पंडित पुत्र, सुधि पतिनी नु पतिव्रत प्रेम परायन भारी।
जानै सबै गुण, मानै सबै जग, दान विधान दया उर धारी॥

केशव रोग नहीं सो वियोग, संयोग सुभोग न सो सुखकारी।
सांच कहे, जग मांह लहे यश मुक्ति यहै चहुं वेद विचारी ।।

कवि कुल ही के श्रीफलन, उर अभिलाष समाज ।
तिथि ही को छय होत है, रामचन्द्र के राज ।।
कुटिल कटाक्ष कठोर कुच, एकै दुःख अदेय ।
द्विस्वभाव अश्लेष में, ब्राह्मण जाति अजेय ।।

विधि के समान है विमानीकृत राजहंस,
विविध विबुध-युत मेरु सो अचल है ।
दीपति दिपति अति सातौ दीप देखियत,
दूसरो दिलीप सो सुदक्षिणा को बल है ।।
सागर उजागर सो बहु बाहिनी को पति,
छन दान प्रिय कैधों सूरज अमल है ।
सब बिधि समरथ राजै राजा दसरथ,
भगीरथ-पथ-गामी गंगा कैसो जल है ।।

सेनापति—ये अनूपशहर के निवासी ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १६४६ में और मृत्यु सं० १७०६ के पश्चात् हुई। इनके 'काव्यकल्पद्रुम' और 'कवित्त रत्नाकर' नामक दो ग्रंथ परम प्रसिद्ध हैं। कवित्त-रत्नाकर की अनेकों कविताएँ भक्ति की भव्य भावनाओं से ओतप्रोत हैं। इनके ऋतुवर्णन में प्रकृति के वास्तविक स्वरूप का चमत्कृत प्रतिफलन हुआ है। इस पर कोमलकान्त पदावली ने तो सोने में सुगन्ध का काम कर दिखाया। ये भगवान् राम के परम भक्त थे। भाषा सानुप्रास, अत्यन्त अलंकृत होते हुए भी अपने स्वाभाविक प्रवाह में बह रही है। श्लेष यमक आदि अलंकारों के भी इन्होंने बड़े ही सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इनकी दो कविताएँ देखिए—

नाहीं नाहीं करै थोरे मांगे बहु देन कहै,
मंगन को देखि पट देत बार-बार है ।
जिनके लखत भली प्रापति की घटी होत,
सदा सब जन मन भाय निरधार है ।।

भोगी ह्वै रहत बिलसत अवनी के मध्य,
कन कन जोरे दानपाठ परवार है।
सेनापति बचन की रचना बिचारि देखो,
दाता और सूम दोऊ कीन्हे एकसार है ॥

दूरि जदुराई सेनापति सुखदाई देखो,
आई ऋतु पावस न पाई प्रेम-पतियाँ ॥
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी औ,
दरकी सुहागिन की छोह-भरी छतियाँ ॥
आई सुधि बर की, हिये में अनि खरकी,
सुमिरि प्रान प्यारी वह प्रीतम की बतियाँ।
बीती औधि आवन की लाल मनभावन की,
डग भई बावन की सावन की रतियाँ ॥

पुहकर कवि—इनका रचनाकाल सं० १६७३ के लगभग माना जाता है। इनकी जन्मभूमि तो ज़िला मैनपुरी थी किन्तु बाद में ये गुजरात में जा रहे। किसी कारणवश जहाँगिर ने इन्हें आगरे में कैद कर दिया जहाँ इन्होंने 'रसरत्न' नामक ग्रंथ में रूम्भावती और सूरसेन की कल्पित प्रेमकथा लिखी। इस पर प्रसन्न होकर जहाँगीर ने इन्हें छोड़ दिया। शुक्लजी ने इसे शुद्ध भारतीय परम्परा पर लिखित एक-मात्र प्रेम-प्रबन्ध काव्य माना है।

सुन्दर—ये ग्वालियर निवासी पंडित और शाहजहाँ के दरबारी कवि थे। इन्होंने सं० १६८८ में 'सुन्दर शृंगार' नामक नायिका-भेद का ग्रन्थ और 'सिंहासन-बत्तीसी' व 'बारहमासा' नामक दो अन्य ग्रन्थ लिखे थे।

इनके अतिरिक्त १. 'पंचसहेली' नामक आख्यान के रचयिता राजस्थानी कवि छीहल (सं० १५७५) २. 'हरि चरित्र' और 'भागवत-दशम-स्कन्ध-भाषा' के लेखक लालचदास (सं० १५८५) ३. शत-प्रश्नोत्तरी के रचयिता अकबर के दरबारी शृंगारिक कवि मनोहर (सं० १६२०) ४. 'पद्मिनी-चरित्र' के लेखक मेवाड़ी कवि लालचन्द या लब्धोदय (सं० १६८५) आदि अन्य कवि भी इसी काल के अन्तर्गत माने गये हैं।

ग्यारहवाँ अध्याय

भक्ति-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन

निर्गुण और सगुण धारा

समता—निर्गुण और सगुण दोनों धाराओं में पर्याप्त साम्य है। दोनों ही के प्रवर्तक भारतीय समाज में भक्ति की भावनाएँ भरनेवाले हैं। दोनों ही ईश्वरोपासना को प्रमुखता देते हैं। दोनों ने ही अपना अधिकांश साहित्य जनसाधारण में प्रचलित देशभाषाओं में लिखा है। दोनों ही के प्रमुख साहित्यकार किसी-न-किसी सम्प्रदाय के प्रवर्तक या संत रहे हैं। दोनों ही ने तात्कालिक समाज को अपने साहित्य-सुधारस से पर्याप्त आप्लावित किया। इन दोनों प्रकार के साहित्य से जनता ने नवजीवन, नवीनोत्साह और अपूर्व स्फूर्ति प्राप्त की। इस प्रकार निर्गुण और सगुण साहित्य में अनेक प्रकार की समता दिखाई जा सकती है।

विषमता—उक्त समताओं के साथ-साथ इनमें पारस्परिक विषमताएँ भी कम नहीं। एक कवि निर्गुण निराकार की महिमा का बखान करते हैं तो दूसरे सगुण साकार के सौंदर्य सम्बन्धी साहित्य से रस का संचार कर रहे हैं। निर्गुण साहित्य कई अंशों में विदेशी मुस्लिम और सूफ़ी भावनाओं से प्रभावित है। सगण साहित्य शुद्ध भारतीय तत्वों पर आधारित है। निर्गुण साहित्य तीर्थ-व्रत-पूजा आदि क्रिया-कलापों का या तो खण्डन करता है या उनके प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करता है, किन्तु दूसरी ओर सगुण साहित्य एक प्रकार से इन्हीं सब बातों पर आश्रित है। निर्गुण साहित्य का प्रधान लक्ष्य हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायों का समन्वय रहा है। किन्तु सगण साहित्य का मुख्य उद्देश्य भारतीय संस्कृति का पुनः प्रचार है। सगुण-साहित्य की भाषा संस्कृतनिष्ठ शुद्ध हिन्दी (व्रज या अवधी) है, किन्तु निर्गुण साहित्य की भाषा आम बोलचाल की अवधी या खिचड़ी है। निर्गुण साहित्य दार्शनिक सिद्धान्तों, हठयोग की प्रक्रियाओं या प्रेमाख्यानों से परिपूर्ण है, तो इधर सगुण-साहित्य मानव जीवन की प्रेम, दया, वीरता, वात्सल्य आदि अनेक चित्तवृत्तियों का परिचायक व प्रवर्तक है। इसीलिए इसमें सरसता या कोमलता बहुत अधिक है। ज्ञानमार्गी साहित्य अपनी उपदेशात्मक शुष्कता के कारण, तथा प्रेममार्गी साहित्य एक अजनबी फ़ारसी लिपी में लिखित होने के कारण, तथा भाषा में प्रांतीयता की पुट के होने से सामान्य भारतीय जनता के लिए वैसा परिचित और प्रीतिपात्र न बन पाया। वह केवल संतों, विशेषज्ञों

या परीक्षार्थियों तक ही सीमित रह गया। विपरीत इसके रहीम, रसखान, तुलसी-दास आदि सगुणोपासक कवियों के रचनारत्न तो प्रत्येक हिन्दी प्रेमी के कण्ठहार बने हुए हैं। वे तो आबाल-वृद्ध साक्षर-निरक्षर सभी हिन्दी-भाषियों में पर्याप्त प्रतिष्ठा पाये हुए हैं। इनमें सबसे बड़ा अन्तर यह है कि निर्गुणमार्गी दोनों शाखाएँ अद्वैत सिद्धान्तों की समर्थक हैं पर सगुण साहित्य शंकराचार्य के अद्वैत के विरोध में है। शुद्धा-द्वैत हो या विशिष्टाद्वैत सभी के सभी ये सम्प्रदाय अद्वैत की प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप ही प्रचलित प्रतीत होते हैं। इस प्रकार सगुण व निर्गुण दोनों साहित्यों में भाषा, विषय, शैली आदि सभी दृष्टियों से विषमताएँ स्पष्ट लक्षित होती हैं।

ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी साहित्य—इन दोनों साहित्यों में भी समता और विषमता समान रूप से प्रतीत होती हैं। निर्गुणोपासक साहित्य की समताओं का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अब इनकी पारस्परिक विषमताओं पर प्रकाश डाला जाता है।

ज्ञानमार्गी साहित्य अंशतः विदेशी सिद्धान्तों से समन्वित या सूफ़ियों से प्रेरणा प्राप्त करते हुए भी मूलतः भाषा, विषय, शैली आदि सभी दृष्टियों से भार-तीय रंगरूप लिए हुए है। किन्तु प्रेममार्गी साहित्य में भारतीय प्रभाव के रहते हुए भी मसनवी शैली और विदेशी सूफ़ी तत्त्वों की प्रधानता है। ज्ञानमार्गियों ने अपने साहित्य में वैष्णवों के अहिंसावाद, नाथों के योग के अंगों (षट्चक्र, कुण्डलिनी, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि नाड़ियों) तथा वज्रयानी सिद्धों के अलख को निरखने सम्बन्धी सिद्धा-न्तों का समन्वय करते हुए भी सर्वत्र स्पष्टतः भारतीय ज्ञानमूलक अद्वैतवाद या वेदान्त को ही प्रधानता दी है। किन्तु सूफ़ियों ने उक्त सभी मतों के तथ्यों को अपनाते हुए भी प्रेममूलक अद्वैत ही का प्रचार किया है। ज्ञानमार्गियों ने अपनी रचनाएँ 'सधु-क्कड़ी' भाषा व उपदेशात्मक रूप में लिखी हैं, और बीच-बीच में 'उलटबासियां' जैसी अस्त-व्यस्त तथा व्यर्थ पाण्डिय को प्रकट करने वाली पहेलियां लिखकर अपनी बहु-ज्ञता और प्रतिभा का परिचय दिया है। प्रेममार्गी कवियों ने अपने सरस साहित्य को प्रबन्धात्मक स्वरूप प्रदान कर वास्तविक अर्थों में लोकोपकारक काव्यों की रचना की है। ज्ञानमार्गी साहित्य का संकलन प्रायः भारतीय लिपियों में ही हुआ, किन्तु प्रेममार्गी साहित्य प्रथम फ़ारसी लिपि में अंकित किया गया था। प्रम को समान रूप से प्रधानता देते हुए भी ज्ञानमार्गियों ने ईश्वर को प्रीतम के रूप में अपनाया। प्रेम-मार्गियों ने उसे प्रियतमा के रूप में रिझाया। उनकी भाषा व्रज, खड़ी बोली, अवधी और पंजाबी का विचित्र संमिश्रण-सा है। प्रेममार्गियों की भाषा निश्चित, सुसंस्कृत प्रचलित व साहित्यिक अवधी है। ज्ञानमार्गी साहित्य ने अपने विभिन्न सम्प्रदायों के

रूप में भारतीय समाज को प्रभावित किया, तो प्रेममार्गी साहित्य ने आरम्भ में मुस्लिम जनता को और बाद में साहित्यिक या समालोचक वर्ग को ही विशेष प्रभावित किया। इसीलिए साहित्य पर प्रेममार्गियों का और समाज पर ज्ञानमार्गियों का विशेष प्रभाव लक्षित होता है। ज्ञानमार्गियों ने जहां अपने सत्य उपदेशों से समाज को सुसंस्कृत करने का प्रयत्न किया वहां समाज उनकी कटुतथ्य-निरूपक खण्डन-मण्डनात्मक वाणियों से कुछ चिढ़ भी गया, किन्तु खण्डनादि की प्रवृत्तियों से परे रहने के कारण प्रेममार्गी साहित्य या तो जनता का प्रीतिपात्र या उपेक्षापात्र रहा। वह कभी समाज को चिढ़ाने वाला प्रमाणित नहीं हुआ। प्रेममार्गी और ज्ञानमार्गी साहित्य की ये विषमताएं हैं

राम-साहित्य और कृष्ण-साहित्य की तुलना——इनकी समताएं पहले प्रदर्शित की जा चुकी हैं अतः यहां केवल विषमताओं पर ही प्रकाश डाला जाता है। इन दोनों साहित्यों में सर्वप्रथम व प्रमुख अन्तर यह है कि राम-साहित्य के सर्वोत्कृष्ट स्रष्टाओं की पंक्ति में केवल एक तुलसीदास ही प्रतीत होते हैं किन्तु कृष्ण-भक्त कलाकारों में सूरदास, नन्ददास, रसखान, मीराबाई आदि अनेक अपनी विशेष सत्ता व स्थिति वाले कवि लक्षित हो रहे हैं, जो अपने उपमान आप ही हैं। बात तो यह है कि राम-साहित्य में हिन्दी-साहित्य का सूर्य (तुलसीदास) जगमगा रहा है। उसकी उपस्थिति में और कोई ज्योति प्रकाशमान हो नहीं सकी। यूं उसकी आरती के लिए भले ही कोई कितने दीप क्यों न जलाया करे, किन्तु इसके सिवा उनकी और आवश्यकता या उपयोगिता स्वीकार नहीं की जा सकती। इसीलिए राम-साहित्य में प्राणचन्द, हृदयराम, केशव आदि दीपक की भांति टिमटिमाते हुए इस साहित्यिक सूर्य (तुलसीदास) की मानो पूजा के लिए ही प्रस्तुत हो रहे हैं। उनकी उपस्थिति की अन्य कोई उपयोगिता प्रतीत नहीं होती। चूंकि सूर्य दो हो नहीं सकते। और वह राम-साहित्य में उदित हो रहा है, अतः इधर कृष्ण-साहित्य के सौध में चन्द्रमा, तारे, दीपक, आदि अनिवार्य अथच वाञ्छनीय तथा प्रिय प्रतीत होते हैं। अपने-अपने स्थान पर इन सभी की महत्ता स्पष्ट सिद्ध है। अस्तु।

रामभक्ति-साहित्य प्रबन्धात्मक रूप में है, और कृष्णभक्ति-साहित्य मुक्तक गीतों के रूप में। एक व्रज की कोमलकान्त पदावली से पूरित है, तो दूसरा अवधी भाषा की विशदता को प्रदर्शित कर रहा है। एक में समाज-कल्याण या लोकसंग्रह की भावनाएं मुख्य हैं तो दूसरे साहित्य का परम लक्ष्य समाज में सरसता का संचार करता है। राम-साहित्य दोहा, चौपाई, कवित्त, छप्पय, हरिगीतिका आदि विविध छन्दों में निर्मित हुआ है, कृष्ण-साहित्य विविध रागों, गीतों और सवैयों में ही

लिखा गया है। राम-साहित्य ने समाज को अत्यधिक प्रभावित, पुनर्जीवित, जागृत, अथच संगठित किया, कृष्ण-साहित्य ने आगामी साहित्य को नवीन प्रेरणाएँ, अलौकिक रूप व दिव्य रसात्मकता प्रदान कर उसे पर्याप्त प्रभावित किया। राम-साहित्य से समाज प्रबुद्ध व हिताहित की विवेक-भावनाओं से युक्त हो अपने प्राचीन हितपथ का पथिक बन गया, कृष्ण-साहित्य से उसने उल्लास व अन्तश्चेतना प्राप्त की। इस प्रकार राम व कृष्णभक्ति सम्बन्धी साहित्य में साम्यमूलक विभिन्नताएं भी अनेक हैं।

सूरदास और तुलसीदास

सूरदास कविता के सरलता तथा ऐन्द्रियता इन दोनों लक्षणों का तादात्म्य कर संयोगात्मक शृंगार द्वारा मनुष्य की सरल, स्वाभाविक तथा रुचिर वृत्तियों के विकास और वियोगात्मक शृंगार द्वारा उन वृत्तियों के सामयिक मलों का निरास करते हुए मनुष्य को प्रेम के सुरभित मार्ग में चला मौलिक रूपेण तद्भिन्न श्याम में विलीन करना चाहते थे। इसलिए उनकी कविता में शृंगार की सुषमा है और माधुर्य गुण की पराकाष्ठा है। उनके प्रत्येक शब्द में प्रेम का पराग है; चाह की चमक है और उत्सुकता का सीत्कार है। सूर की कविता को पढ़कर पाठक लोकोत्तर प्रेम में,आनन्द में, आनन्दमयी वेदना में मस्त हो जाता है।

दूसरी ओर तुलसीदास कविता को सरलता तथा ऐंद्रियता में ही न समाप्त कर उसका कविता के तृतीय लक्षण अर्थात् भावमयता में पर्यवसान करते हैं। फलतः जिस प्रकार उपवन में फूले व फले पुष्पों तथा फलों को एक साथ देख गृध्नु बालक सुरभित पुष्पों को जल्दी-जल्दी समेट उत्सुकता के साथ फलों पर जा पहुँचता है और उनके आस्वादन में मस्त हो जाता है उसी प्रकार भक्तप्रवर तुलसीदास परस्पर विरोधी भावों से उत्पन्न हुए जीवन-संघर्ष से प्रकट होने वाले जीवन-विकास को कविता का आदर्श ध्येय समझ उसकी ऐन्द्रियता पर रास्ते चलते थाड़ा-सा परन्तु अनोखा और अपूर्व-सा लिख जाते हैं। तुलसी आत्मा को तड़पाते हैं,विषाद के प्रोन्नत तुंग पर खड़ा कर नंगा नचा देते हैं, परन्तु यह विषाद, यह वेदना प्रत्यक्षतः प्रेम से नहीं प्रत्युत नियति के कुंचित नर्त्तन से, दुर्दान्त दैव की वज्रमयी चपेटों से उत्पन्न होती है। तुलसी की शान्ति का प्रत्यक्ष मूल है—कैकयी की ईर्ष्या, दशरथ का क्रन्दन, भरत का विलाप, राम का वनवास, रावण का उन्माद, विभीषण का आत्मसंघर्ष आदि आदि। रामायण आत्मा को प्रतीपी भावों की भट्टी में गला उसके मल को स्वच्छ करती है, उसके प्रत्येक शब्द में जीवन के अन्धड़ का भयंकर कंपन है। उसमें कैकयी और दशरथ का श्मशान-नृत्य है, शूर्पणखा का प्रेम-संग्राम है, राम-रावण का युद्ध है, विभीषण का

भ्रातृप्रेम तथा कर्त्तव्य की चक्की में पिसना है। रामायण में जीवन के अन्दर होने वाले भावों के क्रूर संघर्ष द्वारा परिपक्व हो कर यह आत्मा राम के प्रेम का अधिकारी होता है, सूरसागर में वह अपनी रुचिर वृत्तियों के अनवरत उत्थान और पतन से इस ध्येय को प्राप्त करता है। तुलसी की कविता में भावमयता अधिक है और सूर की कविता में ऐन्द्रियता का प्राधान्य है।

वैयक्तिक विकास की दृष्टि से भावमयता तथा ऐन्द्रियता दोनों समान हैं। चैतन्य और चण्डीदास ने स्थूल ऐन्द्रियता को सूक्ष्म ऐन्द्रियता में परिणत कर आत्मिक विकास पाया था। शेक्सपीयर (Shakespeare) ने भाव-संघर्ष के द्वारा अपने आत्मा को विकसित किया था। 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' जैसी जिसकी बन आई वैसा ही उसने साध लिया। परन्तु लोकहित की दृष्टि से देखने पर ऐन्द्रियता की अपेक्षा भावमयता को ऊँचा स्थान देना होगा। भावसंघर्ष में ही धर्म का क्रियात्मक रूप विकास को प्राप्त होता है। जिस मनुष्य में भावों का संघर्ष नहीं वह आत्मिक रुदन को भले ही प्राप्त कर ले, उससे आत्मिक बल कोसों दूर रहता है। जो आत्मा भाव-संघर्ष पर विजय प्राप्त करके आगे बढ़ जाता है उसके लिए विरति तथा तज्जन्य राम-भक्ति सुलभ हो जाती है। वेद कहता है 'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः' श्रान्ति के बिना परमात्मदेव जीव का हाथ नहीं उभारते। परन्तु जो लोग भाव-संघर्ष के जाल में फंस सत्ता के चरम ध्येय को भुला देते हैं उनका हेमलेट (Hamlet) ब्रूटस (Brutus) तथा मेकबेथ (Macbeth) की भाँति संहार हो जाता है।

भाव-संघर्ष के द्वारा आत्म-विकास कैसे सम्भव है, इस बात को तुलसी ने केकैयी-दशरथ, लक्ष्मण-शूर्पणखा, रावण-विभीषण, सीता और रावण आदि के चरित्र-चित्रण द्वारा खूब समझाया है। तुलसी के मत में कोई जीव निष्कलंक नहीं, कोई प्रतिमा पूर्ण नहीं, क्योंकि सूक्ष्मतया देखने पर पूर्णता ही अपूर्णता का रूपान्तर ठहरती है। इसी तत्त्व को मन में रख कर तुलसी ने राम के हाथों बालि को ताड़ की आड़ में मरवाया है, सीता के मन में हठ का बीज बो उसके द्वारा लक्ष्मण को राम की खोज में भिजवाया है। दूसरी ओर सुग्रीव की वधू पर आसक्त हुआ बालि राम के हाथों युद्धक्षेत्र में मारा जाकर भाव-संघर्ष के द्वारा पूतात्मा बन जाता है और सीधा स्वर्गलोक को पहुँच जाता है। इस प्रकार पाप और पुण्य का, भलाई और बुराई का रामायण में अपूर्व समन्वय है।

अभ्यास

१. निर्गुण और सगुण साहित्य की तुलनात्मक समीक्षा करते हुए स्पष्ट कीजिए कि इनमें से किसने समाज को अधिक उपकृत किया ?

२. भाषा, विषय, शैली व सिद्धान्तों के आधार पर प्रेममार्गी व ज्ञान-मार्गी साहित्य की तुलनात्मक समालोचना करते हुए बतायँ कि परवर्त्ती साहित्य पर किसका प्रभाव अधिक पड़ा ?

३. राम-साहित्य और कृष्ण-साहित्य का पारस्परिक साम्य और वैषम्य दिखाकर उनकी गुण-दोष-विवेचनात्मक तुलना करें।

४. भक्ति-साहित्य की चारों शाखाओं में से आप किसके साहित्य को सर्व-श्रेष्ठ समझते हैं, व्यापक विचार प्रकट करें।

५. धार्मिक साहित्य की चारों शाखाओं ने समाज को किस रूप में लाभ या हानि पहुँचाई। और इनकी प्रतिक्रियाएँ किस रूप में प्रकट हुईं, सप्रमाण सिद्ध करें।

६. भक्ति-साहित्य की चारों शाखाओं के प्रतिनिधि-कवियों का परिचय दें।

७. कबीर और जायसी तथा सूर और तुलसी के साहित्य की तुलनात्मक समीक्षा करें।

बारहवाँ अध्याय

रीति-काल की सामयिक परिस्थितियाँ

हिन्दी में अब तक कबीर की 'पदावली', तुलसी का 'मानस', सूर का 'सागर', आदि सहस्रों साहित्य-ग्रन्थ या लक्ष्यग्रन्थ निर्मित हो चुके थे। अनेकों कुशल कलाकारों ने काव्य-कानन को स्वकीय कविता-कुसुमों से अतिकलित और कुसुमित बना दिया था। किन्तु अभी तक हिन्दी में लक्षण-ग्रन्थों का जन्म नहीं हो पाया था। लक्ष्यग्रन्थों के निर्मित हो जाने के पश्चात् ही लक्षण-ग्रन्थों के निर्माण का समय आता है। पहले वस्तु या रचना बन जाती है तदनन्तर उसके गुण-दोषों, विशेषताओं, विभागों, उपविभागों का विश्लेषण या वर्गीकरण किया जाता है। तदनुसार अब हिन्दी में लक्षण-ग्रन्थों के निर्माण का आरम्भ होना सर्वथा स्वाभाविक था।

काव्य के कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, प्रबन्ध या खण्ड-काव्य आदि सभी भेदों को संस्कृत में साहित्य या काव्य कहते हैं और साहित्य के विवेचन करने वाले लक्षण-ग्रन्थों या शास्त्रों को 'साहित्य-शास्त्र' कहा जाता है। इन साहित्य-शास्त्रों में अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि शब्द-शक्तियों तथा गुण, दोष, रस, अलंकार आदि अन्यान्य काव्य के अंगोपांगों का विवेचन रहता है। इसलिए इन साहित्य-शास्त्रों या लक्षण-ग्रन्थों को 'काव्यांग-निरूपक' ग्रन्थ या 'रीतिग्रन्थ' भी कहा जाता है। इस काल में इन्हीं रीति-ग्रन्थों की प्रायः प्रधानता रही। प्रत्येक लेखक ने किसी न किसी रीति-ग्रन्थ की रचना अवश्य की। यदि बिहारी सरीखे किसी एक-आध कवि ने प्रत्यक्षतया किसी रीति-ग्रन्थ का निर्माण न किया हो—कोई लक्षण-ग्रन्थ न बनाया हो—तो भी किसी न किसी अलंकार, रस या भाव आदि का उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित करना ही उनकी रचना का एक-मात्र उद्देश्य था। जैसे कि—

कनक कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
उहि खाये बौराय जग, वा पाये बौराय॥
दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
गाँठ परति दुर्जन हिये, नई दई यह रीति॥

बिहारी के उक्त पद्यों में ऐश्वर्य की मादकता और प्रेम की विलक्षणता का भाव गौण तथा 'यमक' और 'असंगति' अलंकारों का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करने का भाव मुख्य लक्षित होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल के अधिकांश कवि लोग पहले यह सोच लेते थे कि मुझे अमुक काव्यांग का एक सुन्दर उदाहरण उपस्थित करना है, और फिर उसके लिए अपनी कल्पना की कुलाचें भरते हुए कमनीय कलात्मक कविता लिखने बैठते थे।

भाव और कला ये काव्य के दो पक्ष माने गये हैं। किसी कविता में भावपक्ष तो किसी में कलापक्ष प्रधान रहता है। रति, हास्य, शोक आदि मनोवेगों को तरंगित करने वाली तथा मनोभावों के उद्दीप्त होने पर कवि के अन्तस्तल से स्वतः प्रकट होने वाली रचना भाव-प्रधान कहलाती है। ऐसे काव्य का कलाकार किन्हीं अलंकारादिकों के लिए नहीं प्रत्युत अपने अन्तर् के उद्गार प्रकट करने के लिए ही कुछ लिखता या कहता है। उसमें अपने आप स्वाभाविक रूप से अलंकार आदि भी झलकने लग पड़ते हैं। उनके लिए वह श्रम नहीं करता।

जन्म सिन्धु पुनि बन्धु विष, दिन मलीन सकलंक।
सिय मुख समता पाव किमि, चन्द्र बापुरो रङ्क॥

तुलसी की उक्त कविता में अनुप्रास, व्यतिरेक आदि अनेक अलंकार स्वतः भासित हो रहे हैं। किन्तु उसका उद्देश्य इन अलंकारों का उदाहरण उपस्थित करना नहीं प्रत्युत सीता के सौन्दर्य को स्पष्ट करना है। इस प्रकार संक्षेप में कह सकते हैं कि उत्तर-मध्यकाल के आरम्भ होने से पूर्व जितनी भी कविताएँ हिन्दी में लिखी गईं, वे सब भाव-प्रधान रचनाएँ थीं और इस रीतिकाल की रचनाएँ कला-प्रधान हैं। यह तो हुआ कलापक्ष और भावपक्ष का अन्तर। अब रस या विषय पर भी विचार कर लिया ज़ाय। इस दृष्टि से देखने पर हमें पता चलता है कि इस समय का समाज प्रभु-प्रेम की पवित्र अंक से निकल कर सुखोपभोग व विलासिता तथा प्रणय के प्रांगण में कलित-केलियाँ करने लग पड़ा था। मिर्ज़ा राजा जयशाह की विलासिता का एक नमूना पहले दिखाया जा चुका है। केशव के आश्रयदाता इन्द्रजीतसिंह का सभा-भवन सर्वदा 'पातुरों' से अलंकृत रहता था। यही स्थिति अन्य राजाओं की थी। महाराज शिवाजी, छत्रसाल तथा मेवाड़ के महाराणा आदि को छोड़कर शेष सभी सामंत-सर्दार तथा शासकवृन्द विलासिता या श्रृंगार की श्रृंखलाओं में बुरी तरह से जकड़े पड़े थे। इस समय का मुग़ल दरबार भी विलासिता का आगार बना हुआ था। राजाओं के समान प्रजा भी पूरी तरह प्रणय के पंक

में फंस रही थी। यहाँ तक कि पंडितराज जगन्नाथ और आलम सरीखे विद्वान् कवि और ब्राह्मण अपनी मुस्लिम प्रेमिकाओं के लिए जाति व कुल की मर्यादा तक को तिलांजलि देते दिखाई देते हैं।

उधर कृष्ण-भक्त साहित्यकारों ने राधा-कृष्ण के जो प्रेम-गीत गाये वे क्रमशः लौकिक प्रेमी-प्रेमिकाओं की प्रणय-लीलाओं के रूप में परिणत होने लगे। कृष्ण-प्रेम का उक्त पावन प्रवाह इस काल में आकर पंकिलरूप में परिवर्तित हो गया। सं० १७०० से समाज व साहित्य की ऐसी ही स्थिति हो रही थी। तदनुसार ही इस काल का साहित्य भी रस या विषय की दृष्टि से शृंगार और वीर-प्रधान, तथा रचना-शैली की दृष्टि से कला या रीति-परम्परा की प्रधानता लिए हुए निर्मित होने लगा। इसी कारण इस काल को 'रीति-काल' या 'कला-काल' का नाम दिया गया है।

इस साहित्य की विशेषताएँ

शृंगार-काल का साहित्य भाषा, विषय, शैली आदि सभी दृष्टियों से अपने पूर्ववर्ती साहित्य से सर्वथा विशिष्ट व विभिन्न दिखाई देता है। संस्कृत में लक्षण-ग्रन्थों के निर्माता 'आचार्य' तथा काव्य या लक्ष्य-ग्रन्थों के निर्माता 'कवि' यह दोनों विभिन्न श्रेणियों के व्यक्ति थे। इन कवि और आचार्यों के कार्यक्षेत्र सर्वथा पृथक थे। आचार्य अपने लक्षण-ग्रन्थों में अलंकारादिकों के लक्षण तो अपने देते थे किन्तु उनके उदाहरण अन्य कवियों की रचनाओं से उपस्थित करते थे। आचार्य स्वयं कविता बना कर उदाहरण देने का कभी प्रयत्न नहीं करता। ऐसा करने से काव्यांगों का विवेचन नित्य नवीन रूप से होता रहा। सदा नई-नई उद्भावनाएँ और नये-नये सिद्धान्त प्रकट किये जाने लगे। एक ही 'ध्वनि' विषय को लेकर बहुत कुछ विचार किया गया। अनेक ग्रन्थ और निबन्ध लिख डाले गये। अलंकारों आदि की संख्या में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। इस प्रकार संस्कृत के काव्य और काव्यांग-निरूपक ग्रन्थ दोनों ही अपने-अपने रूप में परिपूर्ण अथच परिपुष्ट होते गये। किन्तु इस काल के हिन्दी-साहित्य की दशा बड़ी विलक्षण दिखाई देती है। यहाँ प्रायः सभी आचार्य और सभी कवि हैं। इसका यह अर्थ है कि न कोई पूरा कवि है और न कोई पूर्ण आचार्य। प्रत्येक कलाकार ने कोई-न-कोई अलंकारादि सम्बन्धी ग्रन्थ अवश्य बनाया और विशेषता यह है कि उनके उदाहरण भी स्वनिर्मित ही दिये। यहाँ तक कि भूषण सरीखा, राष्ट्रीय और वीर कवि भी अपने समय की परिस्थितियों के प्रभाव में पड़कर अपनी प्रतिभा का पूर्ण उपयोग न कर पाया। यदि उनका 'शिवराजभूषण' ग्रन्थ अलंकारों के लक्षणोदाहरणों के रूप में न लिखा जाकर प्रबन्ध-

काव्य के रूप में लिखा जाता तो वह आज अवश्य ही अत्यन्त लोकप्रियता प्राप्त कर लेता। अतः कह सकते हैं कि आचार्य और कवि के इस सामंजस्य का साहित्य पर कोई सुप्रभाव नहीं हुआ। काव्यांगों का सम्यक् विवेचन बिल्कुल ही न हो पाया। सभी लोग पद्यों में अलंकारों के अधूरे और टूटे-फूटे लक्षण देकर कविकर्म या उदाहरण देने के लिए प्रस्तुत हो जाते। गद्य में लिखने की परिपाटी न होने के कारण पद्य में काव्य के विभिन्न अंगों पर सम्यक् विचार प्रायः असंभव हो गया। इसलिए रीतिकाल के साहित्य से शब्द-शक्तियों की सांगोपांग समीक्षा की आशा जाती रही। ऐसी स्थिति में दृश्यकाव्यों का विकास तो भला हो ही कैसे सकता था। रसों में भी केवल श्रृंगार और वीर प्रमुखता ले बैठे। वत्सल, हास्य, करुण और शान्त के तो क्वचित् ही दर्शन होते हैं। प्रबन्धकाव्य और मुक्तक-काव्यों में से मुक्तक ही मुख्य थे। प्रबन्ध तो बड़ी कठिनता से दो-चार ही लिखे गये होंगे। उनमें से उत्कृष्ट तो संभवतः एक-आध ही होगा। विषयों का पिष्ट-पेषण इस साहित्य की एक विशेषता है। मौलिक भावनाएँ नाम-मात्र को रह गई थीं। इस काल की भाषा भी अव्यवस्थित हो गई। सुसंस्कृत, नियमित और व्यवस्थित हो जाने के स्थान पर वह अस्त-व्यस्त और अनिश्चित-सी थी। उसमें अरबी, फ़ारसी और तुर्की शब्द भी यथेष्ट रूप में प्रयुक्त होने लगे। व्रज, अवधी और खड़ी बोली का संमिश्रण साधारण-सी बात थी। अतः कह सकते हैं कि व्रजभाषा का साहित्य सूर के साथ अपने प्रकर्ष पर पहुँच कर प्राकृतिक नियम के अनुसार श्रृंगार का बाना धार एक प्रकार से पतनोन्मुख-सा हो चला था।

इधर औरंगज़ेब के क्रूर व आतंकमय शासन ने सम्राट् अकबर से चले आ रहे भारतीय प्रशान्त वातावरण को विक्षुब्ध कर दिया। औरंग रूपी धूमकेतु ने उदित होकर भारत की शान्त परिस्थितियों में अकथनीय उथल-पुथल, उपद्रव और उत्पात उत्पन्न कर दिये। फलतः कई सौ वर्षों से सुप्त वीरतात्मक प्रवृत्तियाँ पुनः जागृत हो उठीं। दक्षिण में महाराज शिवाजी, पश्चिमोत्तर में गुरु गोविन्दसिंह, राजस्थान में महाराणा राजसिंह और जसवन्तसिंह का सेनापति दुर्गादास तथा मध्यप्रदेश में छत्रसाल आदि वीर औरंगज़ेब से लोहा लेकर स्वदेश तथा स्वधर्म-रक्षा के लिए उठ खड़े हुए। इस प्रकार एक ओर ये वीर अपने शिष्यों, सैनिकों व प्रजा-जनों में अपूर्व पराक्रम का संचार कर रहे थे, दूसरी ओर मुस्लिमोपाधि-लोलुप कुछ हिन्दू राजा शिवाजी जैसे हिन्दू शासकों को मुग़लों का गुलाम बनाने के लिए अग्रसर थे। इस प्रकार इस कला-काल में दो विरुद्ध प्रवृत्तियाँ साथ-साथ चलती दिखाई देती हैं। अतः इस काल का साहित्य भी १. रीति परम्परा पर आधारित

शृंगारिक साहित्य और २. राष्ट्र रक्षण की प्रवृत्तियों का परिचायक वीर-साहित्य इन दो मुख्य भागों में विभक्त किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त नीति, हास्य और भक्ति आदि विविध विषयों का साहित्य भी इस काल में निर्मित होता रहा। शृंगारिक साहित्य १. रीति परम्परा पर आधारित तथा २. रीति परम्परा से मुक्त इन दो भागों में बाँटा जा सकता है। और वीर-साहित्य भी उक्त रूढ़ि पर आधारित तथा प्रबन्ध-काव्य इन दो रूपों में प्राप्त होता है। नीचे के चित्र से उपर्युक्त विभाजन स्पष्ट हो जाता है—
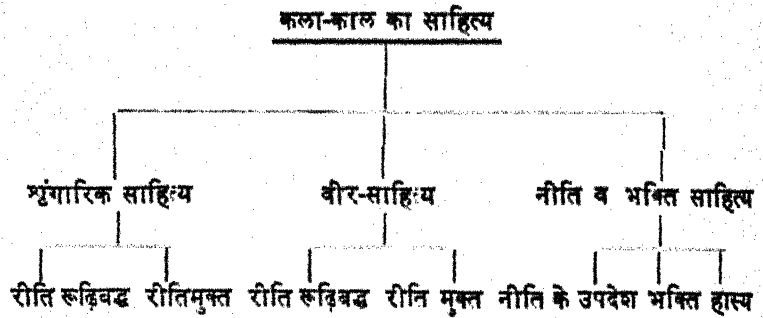
शृङ्गारिक कवि और आचार्य

चिन्तामणि त्रिपाठी—ये तिकवांपुर के निवासी थे। इनका जन्म सं० १६६६ के लगभग तथा मृत्युकाल अनिश्चित है। कहा जाता है कि यह भूषण और मतिराम के सगे भाई थे। और जटाशंकर नामक इनका चौथा भाई और था। किन्तु यह विषय अभी विवादास्पद है।

इन्हें तात्कालिक मुग़ल सम्राट् शाहजहां और बाबू रुद्रसिंह सोलंकी ने पर्याप्त पुरस्कार दिये थे। इनकी भाषा सुन्दर और अलंकृत है और वर्णन-शैली भी उत्कृष्ट है। इनके कवि-कल्पतरु, काव्य-विवेक, काव्य-प्रकाश, छन्द-विचार और रामायण नामक पांच ग्रन्थ प्राप्त हो चुके हैं। इनकी रचना का एक नमूना नीचे दिया जाता है—

आँखिन मूँदिबे के मिस आनि अचानक पीठ उरोज लगावै।
कैहूँ कैहूँ मुसकाय चितै अँगराय अनूपम अंग दिखावै॥
नाह छुई छल सों छतियाँ, हँसि भौंह चढ़ाय अनंद बढ़ावै।
जोबन के मद मत्त तिया हित सों पति को नित चित्त चुरावै॥

जसवन्तसिंह—ये जोधपुर के अत्यन्त पराक्रमी, देश-भक्त विद्वान् और साहित्य-रसिक शासक थे। इनका जन्म सं० १६८३ में और मृत्यु सं० १७३५ में काबुल में अफ़गानों से लड़ते-लड़ते हुई थी। बात यह थी कि औरंगज़ेब ने इन्हें हृदय से शिवाजी के साथ मिला हुआ जान कर काबुल-विजय के लिए भेज दिया, किन्तु पीछे से सहायता नहीं भेजी। जब औरंगज़ेब ने इन्हें शाइस्ताखाँ के साथ शिवाजी से लड़ने के लिए भेजा था तब शिवाजी के संकेत से ये तो उनसे बिना लड़े ही वापिस लौट आए और शिवाजी को समझा आए कि अभी पूना खाली कर दो और फिर अवसर पाते ही शाइस्ताखाँ को दबोच लिया जाय। इससे पूर्व भी जसवन्तसिंह शाहजहाँ व दारा के पक्ष में अनेक लड़ाइयाँ लड़ चुके थे। इसके पश्चात् इनकी पत्नी तथा सेनापति दुर्गादास ने अनेक बार औरंगज़ेब के दांत खट्टे किये। इन्होंने स्वयं अनेक ग्रन्थ लिखे और दूसरे विद्वानों से भी लिखवाये। हिन्दी-साहित्य में केवल शुद्ध आचार्य के रूप में प्रकट होने वाले ये एक ही व्यक्ति हैं। इनका 'भाषाभूषण' नामक अलंकार-ग्रन्थ अत्युत्कृष्ट कहा जाता है। इसमें संस्कृत के ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' के आधार पर एक ही पद्य में अलंकार के लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। आधुनिक समालोचनात्मक युग से पूर्व छात्रों के लिए हिन्दी में इससे श्रेष्ठ अन्य कोई अलंकार-ग्रन्थ नहीं था। इनके निम्न ग्रन्थ प्राप्त हो चुके हैं—१. अपरोक्ष सिद्धान्त, २. अनुभव प्रकाश, ३. आनन्दविलास, ४. सिद्धान्त बोध, ५. सिद्धान्त सार, ६. प्रबोध चन्द्रोदय नाटक। ये सभी ग्रन्थ तत्त्वज्ञान सम्बन्धी हैं। इनके भाषा-भूषण की तीन टीकाएँ भी थोड़े दिनों पीछे हो गई थी। इनकी रचना का एक उद्धरण नीचे दिया जाता है—

अत्युक्ति—अलंकार अत्युक्ति यह बरनत अतिसय रूप।
जाचक तेरै दान तें भए कल्पतरु भूप॥

पर्य्यस्तापह्नुति—पर्यस्त जुगुन एक को और विषय आरोप।
होइ सुधाधर नाहिं यह बदन सुधाधर ओप॥

बिहारी—इनका जन्म सं० १६६० बसुआ गोविन्दपुर में और मृत्यु सं० १७२० मथुरा में हुई। सर्वोत्कृष्ट शृंगारी कवि बिहारीलाल चौबे ब्राह्मण थे। इनकी बाल्यावस्था बुन्देलखंड में बीती। युवावस्था में कुछ वर्षों तक ये जयपुर के राजा मिर्ज़ा जयशाह के आश्रय में रहते रहे। तदनन्तर अपने ससुराल मथुरा में जा बसे। आचार्य केशव इनके कविता-गुरु थे। इनकी रचना परिमाण में अत्यन्त ही स्वल्प—सात सौ दोहे-मात्र है। फिर भी जितनी अधिक ख्याति इनकी हुई है उतनी

अन्य किसी शृंगारी कवि की नहीं। इनकी रचना की महत्ता इसी से स्पष्ट है कि बिहारी-सतसई की अब तक बीसियों टीकाएँ, आलोचनाएँ, प्रत्यालोचनाएँ आदि हो चुकी हैं। तुलसी को छोड़ कर अन्य किसी भी कवि पर इतना अधिक साहित्य निर्मित नहीं हुआ। एक दृष्टि से यह तुलसी से भी बढ़ जाते हैं। तुलसी का स्वनिर्मित साहित्य ही इतना विशाल है कि उससे किसी पुस्तकालय का एक पूरा विभाग विभूषित हो सकता है किन्तु जैसा कि पहले कहा गया है बिहारी का स्व-निर्मित साहित्य केवल पचास पृष्ठ से अधिक नहीं है। अतः यह मानना ही होगा कि इन्होंने जो कुछ लिखा वह अत्यन्त चमत्कारपूर्ण, सरस और मार्मिक है।

शृंगार के अतिरिक्त नीति, भक्ति आदि अन्यान्य विषयों पर भी इन्होंने बहुत सुन्दर लिखा है। वाग्वैदग्ध्य तो इनका अपना विशेष गुण है। मुक्तक रचना प्रबन्ध-काव्य की अपेक्षा क्लिष्ट मानी गई है। मुक्तक काव्य के लिए आवश्यक सभी गुण बिहारी की रचना में चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि किसी कवि का यश उसकी रचनाओं के परिमाण से नहीं प्रत्युत गुणों के हिसाब से होता है। बिहारी की रचना इस तथ्य का ज्वलन्त और सजीव प्रमाण है।

इतना सब कुछ होने पर भी यह तो मानना ही होगा कि बिहारी ने अपनी रचनाओं के लिए अधिकांश विचार संस्कृत कविताओं से लिए हैं और उनकी व्यंजना-शैली पर फ़ारसी साहित्य का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है।

आड़े दैं आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहस कैं कै नेहबस सखी सबै ढिग जाति॥

अर्थात् उस विरहिणी नायिका का विरह-ताप इतना तीव्र है कि जाड़े की रातों में भी सखियां स्नेह के वश होकर ही अपने आगे गीले कपड़े लगा-लगा कर उसके शरीर के समीप तक पहुँच पाती हैं। देखा! कितनी भयंकर विरह की लपटें निकल रही हैं। बिना गीले कपड़े लगाए तो सखियां उस तक पहुँच भी न पातीं और देखिए—

सीरे जतननि सिसिर ऋतु सहि बिरहिनि तन ताप।
बसिबे को ग्रीषम दिननि पर्‌यो परोसिनि पाप॥

यहाँ तो विरह-ताप के सम्बन्ध में कवि की कल्पना की उड़ान या अत्युक्ति अपने उत्कर्ष की पराकाष्ठा पर पहुँच कर एक अस्वाभाविक और उपहासास्पद रूप ग्रहण कर बैठी है। इसका आशय यह है कि इस विरह-ताप में झुलसती हुई नायिका के पास के घरों में रहने वाले पड़ोसियों ने सर्दियों की रातें तो अपने घरों

में खस की टट्टियां और बरफ़ के ढेर आदि लगा कर अनेक शीतल उपचारों से उसके तन के ताप को किसी-न-किसी प्रकार सह लिया, किन्तु ग्रीष्म ऋतु के दिनों को तो वहाँ बिताना सर्वथा असंभव हो गया।

बिहारी ने इस प्रकार विरह के साथ जो खिलवाड़ की है या और भी अनेक अत्युक्तिपूर्ण मज़मून बांधे हैं, कल्पना की इन अस्वाभाविक और अलौकिक उड़ानों के लिए इन्हें फ़ारसी-साहित्य से ही प्रेरणा प्राप्त हुई होगी। आर्या-सप्तशती और गाथा-सप्तशती नामक जिन संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थों से इन्होंने अधिकांश साहित्यिक सामग्री संग्रहीत की, इसमें कुछ संदेह नहीं कि उस सामग्री में कहीं-कहीं ये अपनी उक्त उपजीव्य रचनाओं से भी बढ़ जाते हैं, किन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं। अतः श्रीयुत पण्डित पद्मसिंह जी शर्मा की बिहारी की तुलनात्मक समालोचना को प्रायः पक्षपात-पूर्ण ही मानना होगा फिर भी उसका अपना एक विशेष साहित्यिक मूल्य व स्थान है।

हमें तो बिहारी में मानव-जीवन के साधारण और स्वाभाविक प्रणय-व्यापारों का सूक्ष्मतम निरीक्षण, कला-कुशलता और वाग्वैदग्ध्य ये तीन विशेष गुण लक्षित होते हैं, जिनके कारण वे अपने काल के अन्य कवियों की अपेक्षा असामान्य स्थिति पर पहुँच कर प्रतिनिधि-कवि के प्रतिष्ठित पद को प्राप्त कर सके। इनके लिए शुक्लजी ने स्पष्ट सुन्दर विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं:—"बिहारी की कृति का मूल्य जो बहुत अधिक आँका गया है उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यतः दृष्टि रखने वाले पारखियों के पक्ष से समझना चाहिए—उनके पक्ष से समझना चाहिए जो किसी हाथी-दांत के टुकड़े पर महीन बेल-बूटे देख घंटों वाह-वाह किया करते हैं। पर जो हृदय के अन्तस्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं, किसी भाव की स्वच्छ निर्मल धारा में कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते हैं उनका संतोष बिहारी से नहीं होता।" बिहारी के ये छोटे-छोटे से दोहे रस के छींटे नहीं प्रत्युत गागर में भरे हुए रस के सागर हैं, जो कमनीय कामिनियों के कलित हावभावों और अनुभावों की लहरियों से निरन्तर तरंगायित रहते हैं। इस दृष्टि से देखने पर बिहारी का अपने सम्बन्ध में कहा गया निम्न दोहा—

सतसइया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगें घाव करें गम्भीर॥

अक्षरशः सत्य सिद्ध होता है।

बिहारी सतसई की अनेक टीकाएँ तथा आलोचना-प्रत्यालोचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। उन सब में जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की 'बिहारी रत्नाकर' नामक टीका अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण व सज-धज के साथ प्रकाशित हुई, जिसमें बिहारी की बारीकियों को खूब समझा तथा समझाया गया है।

देखिए निम्न दोहों में प्रणय-व्यापारों और विविध वृत्तियों की कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है—

बतरस-लालच लाल कँ मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, देन कहै, नटि जाइ॥

नासा मोरि, नचाइ दृग, करि कका की सौंह।
काँटे सी कसकै हिए, गड़ी कँटीली भौंह॥

ललन-चलन सुनि पलन में अँसुवा झलके आइ।
भई लखाइ न सखिन्ह हू झूठैं हीं जमुहाइ॥

पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्यो ई रहै आनन-ओप-उजास॥

छाले परिबे के डरन सकै न हाथ छुवाइ।
झिझिकति हियैं गुलाब कैं झवा झवावति पाइ॥

इत आवति, चलि जात उत, चली छ सातिक हाथ।
चढ़ी हिंडोरें सो रहै लगी उसासन साथ॥

मतिराम—इनका जन्म सं० १६७४ तिकवाँपुर में और मृत्यु सं० १७७३ में हुई।

मतिराम की गणना रीतिकाल के प्रमुख कवियों में है। ये चिन्तामणि और भूषण के भाई कहे जाते हैं। ये बूँदी के महाराव भावसिंह के आश्रय में रहते रहे। मतिराम की रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसकी सरसता अत्यन्त स्वाभाविक है, न उसमें भावों की और न भाषा की ही कृत्रिमता है। जितने शब्द और वाक्य हैं वे सब भावव्यंजना ही में प्रयुक्त हुए हैं। ऐसी भाषा रीतिकालिक इने-गिने ही कवियों में मिलती है।

भावों को आकाश पर चढ़ाने और दूर की कल्पना के फेर में ये नहीं पड़े। इनका सच्चा कवि-हृदय था। यदि ये रीतिकालीन परम्परा पर न चल कर अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार चल पाते तो और भी स्वाभाविक और सच्ची भाव विभूति दिखाते, इसमें कुछ संदेह नहीं। भारतीय जीवन से छांट कर लिए गये इनके मर्मस्पर्शी चित्रों में जो भाव भरे हैं वे समान रूप से सबकी अनुभूति के अंग हैं। इनका 'रसराज' परम मनोहर तथा अत्यन्त सरस ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त इनके ये ५ ग्रन्थ और हैं—ललित-ललाम, छन्दसार, साहित्यसार, लक्षणसार और मतिराम-सतसई। इनकी कविता का नमूना यहाँ दिया जाता है—

केलि कै राति अघाने नहीं दिन ही में लला पुनि घात लगाई।
'प्यास लगी, कोउ पानी दै जाइयो', भीतर बैठि कै बात सुनाई॥
जेठी पठाई गई दुलही, हँसि हेरि हरैं मतिराम बुलाई।
कान्ह के बोल पै कान न दीन्हीं, सुगेह की देहरि पै धरि आई॥
दोऊ अनंद सों आँगन माँझ बिराजै असाढ़ की साँझ सुहाई।
प्यारी के बूझत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई॥
आई उनै मुँह में हँसी, कोहि तिया पुनि चाप सी भौंह चढ़ाई।
आँखिन तें गिरे आँसू के बूँद, सुहास गयो उड़ि हँस की नाईं॥

देव—इनका जन्म सं० १७३० इटावा में और मृत्यु सं० १८२० में (संदिग्ध) हुई।

महाकवि देवदत्त, उपनाम, देव, इटावा के रहने वाले थे। इन्होंने सबसे पहले १६ वें वर्ष के आरम्भ में 'भावविलास' बना कर औरंगजेब के बड़े पुत्र, काव्यरसिक आज़मशाह को सुनाया। इसके बाद अष्टयाम की रचना की। ये दोनों ग्रंथ शृंगार रस में अनूठे हैं। देवजी भवानीदत्त वैश्य, कुशलसिंह, राजा उदोतसिंह आदि के आश्रय में रहे, पर इन्हें भोगीलाल के अतिरिक्त इच्छानुकूल अन्य कोई आश्रयदाता न मिला। भारत के कई प्रान्तों में घूमने से इन्हें बड़ा अनुभव हो गया था। इसी अनुभव के फलस्वरूप इन्होंने 'जाति-विलास' जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थ की रचना की। आश्रयदाताओं के प्रति असंतुष्ट रहने के कारण अन्त में इन्हें कुछ विरक्ति-सी हो गई और यह शान्तरस में उतर आये। इन्होंने शान्तरस में भी कमाल कर दिखाया। 'देव-माया-प्रपंच नाटक' * 'वैराग्य-शतक' आदि ग्रन्थों को लिख कर यह सिद्ध कर

* देव-माया-प्रपंच-नाटक को शुक्ल जी ने किसी अन्य 'देव' कवि का माना है।

दिया कि विशुद्ध शृंगार के उपासक शान्तरस को भी सफलता से अंकित कर सकते हैं।

देव की कविता शुद्ध ब्रजभाषा में है, पर कहीं-कहीं इन्होंने शब्दों का तोड़-मरोड़ बुरी तरह से किया है। इनकी कविता में ओज, प्रसाद और माधुर्य खूब पाये जाते हैं। उक्तियाँ तो बड़ी ही अनूठी हैं। इनके लिखे हुए निम्न २७ ग्रन्थों का पता चला है—१. भावविलास, २. भवानीविलास, ३. जातिविलास, ४. रस विलास, ५. अष्टयाम, ६. नीतिशतक, ७. सुजानविनोद, ८. प्रेमतरंग, ९. रागरत्नाकर, १०. देवचरित्र, ११. प्रेमचन्द्रिका, १२. काव्य रसायन, १३. वृक्षविलास, १४. ब्रह्मदर्शन पच्चीसी, १५. तत्त्वदर्शन पच्चीसी, १६. रसानन्दलहरी, १७. जगद्दर्शन पच्चीसी, १८. आत्मदर्शन पच्चीसी, १९. पावस-विलास, २०. प्रेमदीपिका, २१. राधिकाविलास, २२. नखशिख-प्रेमदर्पण, २३. सुमिल विनोद, २४. कुशलविलास, २५. सुखसागर-तरंग, २६. देव-माया-प्रपंच-नाटक, और २७. वैराग्यशतक।

इनमें से अधिकांश ग्रन्थों में एक-दूसरे ग्रन्थों से कविताएँ संकलित कर एक नये ग्रन्थ का नाम दे दिया गया है। इनकी कविता का नमूना देखिए—

सखी के सकोच, गुरु-सोच मृगलोचनि,
रिसानी पिय सों जो उन नेकु हँसि छुयो गात।
देव वै सुभाय मुसकाय उठि गए, यहाँ,
सिसकि सिसकि निसि खोई, रोय पायो प्रात॥
को जानै, री बीर! बिनु बिरही बिरह-बिथा,
हाय हाय करि पछिताय न कछु सुहात।
बड़े-बड़े नैनन सों आँसू भरि-भरि ढारि,
गोरो-गोरो मुख ओरो सो बिलानो जात॥

झहरि झहरि झीनी बूँद हैं परति मानो,
घहरि घहरि घटा घेरि है गगन में।
आनि कह्यो स्याम मो सौं 'चलौ झूलिबे को आज',
फूली ना समानी भई ऐसी हौं मगन मैं॥
चाहत उठ्योई, उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गए भाग मेरे जागि वा जगन में।

आँख खोलि देखौं तौ न वन हैं, न घनस्याम,
वेई छाई बूंदें मेरे आँसु ह्वै दृगन में ॥

कुलपति मिश्र—ये आगरा निवासी माथुर चौबे और महाकवि बिहारी के भानजे थे। ये जयपुर-नरेश रामसिंह के आश्रय में रहते थे। इन्होंने सं० १७२७ में रसरहस्य नामक लक्षण-ग्रन्थ लिखा जो प्रकाशित हो चुका है। इसमें कहीं-कहीं पर गद्य में भी विवेचन किया गया है। इसके अधिकांश लक्षणोदाहरण काव्य-प्रकाश के आधार पर दिये गये हैं। उदाहरणों में रामसिंह की प्रशंसा भी यत्र-तत्र पाई जाती है। रसरहस्य के अतिरिक्त द्रोणपर्व, युक्ति-तरंगिणी, नखशिख व संग्रामसार ये चार पुस्तकें और भी हैं।

सुखदेव मिश्र—ये कम्पिला के रहने वाले थे। असोरथ के राजा भगवन्तराय खीचीं और औरंगज़ेब के मंत्री फ़ाजिलअलीशाह के आश्रय में भी रहते थे। अन्तिम दिनों ये दौलतपुर (ज़िला रायबरेली) में जा बसे थे। इनके कवित्व और आचार्यत्व दोनों ही से प्रौढ़ता प्रकट होती है। छन्दों का भी इन्होंने अनुपम वर्णन किया है। वृत्तविचार, छन्दविचार, फाज़िलअलीप्रकाश, रसार्णव, शृंगारलता, अध्यात्मप्रकाश, दशरथराय ये इनकी सात रचनाएँ मिली हैं। इनका कविता-काल १७२० से १७६० तक है। कविता का एक नमूना देखिए--

ननद निनारी, सासु मायके सिधारी,
अहै रैनि अँधियारी भरी, सूझत न करु है।
पीतम को गौन कविराज न सोहात भौन,
दारुन बहत पौन, लाग्यो मेघ झरु है॥
संग ना सहेली, बैस नवल अकेली,
तन परी तलबेली-महा, लाग्यो मैन-सरु है।
भई अधिरात, मेरो जियरा डरत,
जागु जागु रे बटोही! यहाँ चोरन को डरु है॥

कालीदास त्रिवेदी—ये अन्तर्वेद के रहने वाले थे और जम्मू के महाराजा जोगजीतसिंह के आश्रय में भी कुछ दिन रहे थे। इनका रचनाकाल सं० १७४५ से सं० १७७६ तक है। कविता से ये एक अच्छे सहृदय रसिक कवि प्रतीत होते हैं। इनके पुत्र कवीन्द्र और पौत्र दूलह भी अच्छे कवि थे। वारवधूविनोद, ज़ंजीराबन्द,

राधा-माधव, बुध-मिलन-विनोद, इन तीन छोटी रचनाओं के अतिरिक्त इनका कालीदासहजारा नामक बहुत बड़ा संग्रह-ग्रन्थ पर्याप्त प्रसिद्ध है। इसमें २१२ कवियों के १००० पद्य संग्रहीत हैं। इस संग्रह से प्राचीन कवि तथा उनकी कविताओं के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इनकी एक कविता आगे दी जाती है—

चूमौं करकंज मंजु अमल अनूप तेरो,
रूप के निधान, कान्ह ! मो तन निहारि दै।
कालिदास कहै मेरे पास हरैं हेरि हेरि,
माथे धरि मुकुट, लकुट कर डारि दै॥
कुँवर कन्हैया मुखचंद की जुन्हैया, चारु,
लोचन-चकोरन की प्यासन निवारि दै।
मेरे कर मेहँदी लगी है नंदलाल प्यारे,
लट उरझी है नेकु बेसर सँभारि दै॥

राम—इनका विशेष परिचय प्राप्त नहीं हो सका। इनका सं० १७३० के लगभग लिखा हुआ 'हनुमान नाटक' प्राप्त हुआ है। 'कालीदासहजारा' में भी इनके कुछ कवित्त संग्रहीत हैं।

नेवाज—ये अन्तर्वेद के रहने वाले थे। इन्होंने सं० १७३७ में शकुन्तला नाटक का आख्यान दोहा, चौपाई, छप्पय, सवैया आदि छन्दों में लिखा। इनकी भाषा प्रांजल और भावानुसारिणी है। ये संयोग-शृंगार का वर्णन करने वाले एक कुशल कवि माने जाते हैं। औरंगज़ेब के पुत्र आज़मशाह के यहाँ भी ये कुछ समय तक रहे थे। इनकी एक कविता देखिए—

आगे तौ कीन्ही लगालगी लोयन, कैसे छिपै अजहूँ जो छिपावति
तू अनुराग को सोध कियो, ब्रज की बनिता सब यों ठहरावति॥
कौन सँकोच रह्यो है नेवाज, जो तू तरसै, उनहू तरसावति।
बावरी! जोपै कलंक लग्यो तौ निसंक ह्वै क्यों नहिं अंक लगावति॥

अलीमुहिबखाँ (प्रीतम)—ये आगरे के रहने वाले सहृदय मुस्लिम कवि थे। इन्होंने खटमल-बाईसी नामक पुस्तक में खटमल को लेकर बड़ी ही मार्मिक हास्यपूर्ण कविताएँ लिखीं, जिनका मूल आधार संस्कृत का यह श्लोक है—

कमला कमले शेते हरश्शेते हिमालये ।
क्षीराब्धौ च हरिश्शेते मन्ये मत्कुण-शंकया ।।

प्राचीन हिन्दी-काव्य में हास्य रस के ये एक ही लेखक हैं। इनकी उक्त रचना में केवल २२ सवैये ही हैं पर अपनी विषयगत विचित्रता के कारण इनका भी हिन्दी-कवियों म अच्छा स्थान बन गया। एक कवित्त देखिए—

जगत के कारन करन चारौ वेदन के,
कमल में बसे वै सुजान ज्ञान धरिकै ।।
पोषन अवनि, दुख-सोषन तिलोकन के,
सागर में जाय सोए सेस सेज करिकै ।।
मदन जरायो जो, सँहारैं दृष्टि ही में सृष्टि,
बसे हैं पहार वेऊ भाजि हरवरिकै ।।
बिधि हरि हर, और इनतें न कोऊ तेऊ,
खाट पै न सोवैं खटमलन कों डरिकै ।।

आलम और शेख—कहा जाता है कि आलम जाति के ब्राह्मण थे और औरंगज़ेब के पुत्र मुअज्ज़म (सम्राट् बहादुरशाह) के आश्रय में रहते थे। इनका रचनाकाल १७४० से १७६० तक माना जाता है। इन्होंने एक बार शेख़ रंगरेज़िन नामक एक मुसलमान कपड़े रंगनेवाली स्त्री को अपनी पगड़ी रंगने के लिए दी। उसके पल्ले पर एक चिट बंधी हुई चली गई, जिस पर निम्न आधा दोहा लिखा हुआ था—

'कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन'।

शेख़ रंगरेज़िन भी एक अच्छी प्रत्युत्पन्नमति कवयित्री थी। उसने उक्त आधे दोहे का उत्तरार्ध—

'कटि को कंचन काटि विधि कुचन मध्य धरि दीन'।।

लिख कर उस चिट सहित पगड़ी दे दी। बस इस काव्य-कुशलता पर आलम ऐसे

रीझे कि उसके प्रेम में मुसलमान होकर उससे विवाह भी कर लिया।* शेख की प्रत्युत्पन्नमति या हाजिरजवाबी का एक और भी उदाहरण है। एक बार शाहजादा मुअज्ज़म ने हँसी में पूछा कि 'क्या आलम की औरत आप ही हैं ?' शेख ने तत्काल उत्तर दिया कि 'हां जहांपनाह, जहान की मां मैं ही हूँ'। शेख की कविताएँ भी सुन्दर हैं। 'आलम केलि' नामक पुस्तक में आलम और शेख की रचनाएँ संकलित हैं। कुछ कवित्त सवैये एसे हैं जिनका कुछ अंश आलम ने और कुछ अंश शेख ने लिखा है। उक्त पुस्तक में संगृहीत कविताओं के अतिरिक्त दूसरे ग्रन्थों में भी इनकी कविताएँ मिली हैं। ये उत्कृष्ट शृंगारिक कवि हैं। प्रेम की पीर को प्रकट करने में तो ये रसखान और घनानन्द से टक्कर लेते हैं। इनकी परिमार्जित प्रांजल पदावली में प्रेम की पीर परम रम्य रूप में प्रकट हुई है। ये कल्पना की ऊँची और अस्वाभाविक उड़ानों के चक्कर में न पड़कर अपनी अनुभूतियों को बड़ी ही तन्मयता से कविता में उतारते हैं। इन्होंने रेखता या उर्दू भाषा में भी कुछ कविताएँ लिखी थीं। इनका एक कवित्त देखिए—

रात के उनींदे, अरसाते, मदमाते राते,
अति कजरारे दृग तेरे यों सुहात हैं।
तीखी तीखी कोरनि करोरि लेत काढ़े जीउ,
केते भए घायल औ केते तलफात हैं॥
ज्यों-ज्यों लै सलिल चख 'सेख' धोवै बारबार,
त्यों-त्यों बल बुंदन के बार झुकि जात हैं।
कैंबर के भाले, कैधों नाहर नहनवाले,
लोहू के पियासे कहूँ पानी तें अघात हैं ?

श्रीधर या मुरलीधर—इनका जन्म सं० १७३७ में प्रयाग में हुआ था। इनके 'जंगनामा' काव्य में फर्रुखसियर और जहांदार के युद्ध का वर्णन है।

* श्री डा० सरनदास भनोत ने आलम की 'स्याम सनेही' नामक एक अज्ञात पुस्तक का सम्पादन कर प्रकाशित करवाया है। इसकी भूमिका में आपने प्रबल प्रमाणों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सम्राट् अकबर का समकालीन 'माधवानल काम कँदला' का लेखक आलम और आलम केली के रचयिता आलम ये दोनों एक ही हैं तथा आलम के ब्राह्मण होने व शेख रंगरेजिन के साथ विवाह की कथा कल्पित है।

सूरतिमिश्र—इनका रचनाकाल सं० १७६६ से १७९४ तक है। ये आगरे के रहनेवाले ब्राह्मण थे। इनकी लिखी हुई बिहारी सतसई, कविप्रया और रसिक-प्रिया की टीकाओं से इनका व्यापक पांडित्य प्रकट होता है। इनके अतिरिक्त 'वैतालपंचविंशति' का ब्रज-भाषा-गद्य में अनुवाद, अलंकार-माला, रस-रत्नमाला, सरस रस, रस-ग्राहक-चन्द्रिका, नखशिख, काव्य-सिद्धान्त तथा रस-रत्नाकर नामक आठ ग्रन्थ भी मिले हैं। इनकी कविता का नमूना देखिए—

तेरे ये कपोल बाल अति ही रसाल,
मन जिनकी सदाई उपमा विचारियत है।
कोई न समान जाहि कीजै उपमान,
अरु बापुरे मधूकन के देह जारियत है॥
नेकु दरपन समता की चाह करी कहूँ,
भये अपराधी ऐसी चित्त धारियत है।
'सूरति' सो याही तें जगत बीच आज लौं,
उनके बदन पर छार डारियत है॥

उदयनाथ (कवीन्द्र)—ये कालीदास त्रिवेदी के पुत्र अन्तर्वेद के निवासी थे। सं० १७३६ में उत्पन्न हुए थे। रस-चन्द्रोदय, विनोदचन्द्रिका, जोगलीला नामक इनकी तीन पुस्तकें प्राप्त हुई हैं। इनकी कल्पना अपने विषय के अनुकूल और भाषा प्रसाद-गुण सम्पन्न है। नमूना देखिए—

शहर मंझार ही पहर एक लागि जैहै,
छोरे पै नगर के सराये है उतारे की।
कहत कविन्द मग मांझ ही परैगी सांझ,
ख़बर उड़ानी है बटोही द्वैक मारे की॥
घर के हमारे परदेश को सिधारे,
याते दया कै बिचारी हम रीति राहवारे की।
उतरौ नदी के तीर, बर के तरे ही तुम,
चौंकौ जनि चौंकि तहि पाहरू हमारे की॥

श्रीपति—ये कालपी के रहने वाले ब्राह्मण थे। इनका रचनाकाल सं० १७७७ से आरम्भ होता है। काव्य-सरोज, कवि-कल्पद्रुम, रस-सागर, अनुप्रास-विनोद, विक्रम-विलास, सरोज-कलिका, अलंकार-गंगा ये सात ग्रन्थ इनके बनाये मिलते हैं। इन्होंने अन्य आचार्यों की अपेक्षा काव्यांगों का निरूपण अधिक समीक्षात्मक दृष्टि से किया है। दोषों के उदाहरणों में केशव की कविताएँ उद्धृत कर इन्होंने अपनी समालोचनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है। आगे चल कर भिखारीदास जी ने अपने काव्य-निर्णय में इनकी बहुत-सी बातें अपना लीं। इनकी रचनाओं में कृत्रिम शब्दाडम्बर का दोष नहीं है। भाषा सरस-साहित्यिक, सुललित और अलंकृत है, अतः रीतिकाल के उत्कृष्ट कवि व आचार्यों में इनकी गणना की जा सकती है। इनकी रचना का एक नमूना देखिए—

घूँघट उदय गिरिवर तें निकसि रूप,
सुधा सों कलित छवि-कीरति बगारो है।
हँसि डिठौना स्याम सुखसील बरषत,
करषत सोक, अति तिमिर विदारो है॥
श्रीपति विलोकि सौति-वारिज मलिन होत,
हरषि कुमुद फूलै नंद को दुलारो है।
रंजन मदन, तन गंजन बिरह, बिवि,
खंजन सहित चंद वदन तिहारो है॥

कृष्ण कवि—प्रसिद्ध है कि ये बिहारी के पुत्र थे। इन्होंने बिहारीसतसई की टीका सं० १७८५ से १७९० के बीच में लिखी। इस टीका में काव्यांगों का विवेचन भी किया गया है। टीका का नमूना देखिए—

सीस मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानिक मो मन सदा, बसौ बिहारीलाल॥
छबि सों फबि सीस किरीट बन्यो, रुचिसाल हिये बनमाल लसै।
कर कंजहि मंजु रली मुरली, कछनी कटि चारु प्रभा बरसै॥
कवि कृष्ण कहैं लखि सुन्दर मूरति यों अभिलास हिए सरसै।
वह नंदकिसोर बिहारी सदा यहि बानिक मो हिय माँझ बसै॥

वीर—ये दिल्ली निवासी श्रीवास्तव कायस्थ थे। इन्होंने सं० १७७९ में कृष्ण-चन्द्रिका नामक रस और नायिका-भेद का ग्रन्थ बनाया था।

गंजन—ये काशी निवासी ब्राह्मण थे। इन्होंने अपने आश्रयदाता दिल्ली के बादशाह के वज़ीर कमरुद्दीनखाँ के नाम पर 'कमरुद्दीनखाँ-हुलास' नामक शृंगार रस का ग्रन्थ सं० १७८६ में बनाया था। एक कवित्त देखिए—

मीना के महल जरफाब दर परदा हैं,
हलबी फनूसन में रोशनी चिराग़ की।
गुलगुली गिलम गरक आब पग होत,
जहाँ बिछी मसनद लालन के दाग़ की॥
केती महताब मुखी खचित जवाहरिन,
गंजन सुकवि कहैं बौरी अनुराग की।
एत मादु दौला कमरुद्दीनखाँ की मजलिस,
सिसिर में ग्रीषम बनाई बड़ भाग की॥

भिखारीदास—ये प्रतापगढ़ के निकट ट्योंगा गाँव के निवासी कायस्थ कृपालदास के पुत्र थे। इनका कविता-काल सं० १७८५ से १८०७ तक माना जाता है। इन्होंने प्रतापगढ़-नरेश पृथ्वीपतिसिंह के भाई हिन्दुपतिसिंह के आश्रय में रह कर रस-सारांश, छन्दोऽर्णव-पिंगल, काव्य-निर्णय, नाम-प्रकाश, विष्णुपुराण भाषा, छन्द-प्रकाश, शतरंज-शतिका, अमर-प्रकाश आदि ग्रन्थों की रचना की। ये सामान्यतया अपने विषयों को स्पष्ट करने में अधिक सफल हुए हैं और विषयों का विवेचन भी व्यापक है किन्तु गद्य का प्रचार न होने के कारण इनकी रचनाएँ भी रीतिकाल के अन्य आचार्यों के समकक्ष ही स्वीकार की गई हैं। उनमें कुछ विशेष नवीनता नहीं दिखाई देती और साथ ही इन्होंने श्रीपति से बहुत-कुछ सामग्री ली है। ये रस-विवेचन, भाषा की स्वाभाविक सरसता आदि दृष्टियों से देव से उत्कृष्ट प्रतीत होते हैं। इन्होंने कल्पना की ऊँची उड़ानें नहीं भरी हैं और प्रत्येक बात को बड़े ही सीधे और स्वाभाविक ढंग से कहा है। इनकी एक रचना देखिए—

अँखियाँ हमारी दई मारी सुधि बुधि हारीं,
मोहू तें जु न्यारी दास रहैं सब काल में।

कौन गहै ज्ञानै, काहि सौंपत सयाने, कौन,
लोक ओक जानै, ये नहीं हैं निज हाल में।
प्रेम पगि रहीं, महामोह में उमगि रहीं,
ठीक ठगि रहीं, लगि रहीं बनमाल में।
लाज को अँचै कै, कुलधरम पचै कै वृथा,
बंधन सँचै कै भईं मगन गोपाल में॥

भूपति (राजा गुरुदत्तसिंह)—ये अमेठी के नरेश और बड़े ही काव्यरसिक थे। ये वीर भी थे और कवि भी। इनकी बनाई हुई शृंगार रस की सतसइ, कण्ठा-भूषण और रसरत्नाकर नामक तीन पुस्तकें कही जाती हैं। सतसई सं० १७९१ में बनी थी। इनकी कविता देखिए—

घूँघट पट की आड़ दै हँसति जबै वह दार।
ससि-मण्डल तें कढ़ति छनि जनु पियूष की धार॥
भये रसाल रसाल हैं भरे पुहुप मकरन्द।
मान-सान तोरत तुरत भ्रमत भ्रमर मद-मन्द॥

तोष निधि—यह इलाहाबाद ज़िले के सिगरौर (शृंगवेरपुर) नामक ग्राम के निवासी थे। इनका रचनाकाल सं० १७९१ के लगभग है। सुधानिधि, विनयशतक और नखशिख नामक इनके तीन ग्रन्थ हैं। इनकी रचना बड़ी सरस और अलंकृत है। एक कविता देखिए—

भूषन-भूषित दूषन-हीन प्रवीन महारस मैं छबि छाई।
पूरी अनेक पदारथ तें जेहि में परमारथ स्वारथ पाई॥
औ उकतैं मुकतैं उलही कवि तोष-अनोष धरी चतुराई।
होत सबै सुख की जनिता बनि आवति जौ बनिता कविताई॥

दलपतिराय और बंसीधर—ये दोनों कवि अहमदाबाद के निवासी थे। इन्होंने सं० १७९२ में महाराज जसवन्तसिंह के भाषा-भूषण के आधार पर 'अलंकार-रत्नाकर' नामक ग्रन्थ उदयपुर के महाराणा जगतसिंह के नाम से बनाया। इसमें दिये गये उदाहरणों में अलंकारों का समन्वय भी गद्य में किया गया है, यही इस ग्रन्थ की विशेषता है। कविता भी इनकी अच्छी है। नमूना देखिए—

अरुन हरौल नभ-मंडल-मुलुक पर,
चढ्यो अक्क चक्कवै कि तानि के किरिन-कोर ।
आवत ही साँवत नछत्र जो धाय धाय,
घोर घमसान करि काम आए ठौर ठौर ।
ससहर सेत भयो, सटक्यो सहमि ससि,
आमिल-उलूक जाय गिरे कंदरन और ।
दुंद देखि अरबिंद-बंदीखाने तें भगाने,
पायक पुलिंद वै मलिंद मकरंद चौर ।।

सोमनाथ—ये भरतपुर-निवासी ब्राह्मण थे और भरतपुर के राजकुमार प्रतापसिंह के आश्रय में रहते थे । इन्होंने अपने १७९४ में निर्मित रसपीयूष-निधि नामक रीतिग्रन्थ में काव्यांगों का व्यापक विवेचन किया है । इस दृष्टि से ये श्रीपति और भिखारीदास के समकक्ष कहे जाते हैं । कृष्ण-लीलावती-पंचाध्यायी, सुजान विलास तथा माधव-विनोद नाटक नामक इनकी अन्य रचनाओं से इनकी परिपक्व प्रतिभा, कुशल-कल्पना व उत्कृष्ट काव्य-शक्ति का परिचय मिलता है । एक कविता नीचे दी जाती है—

दिसिविदिसन तें उमड़ि मढ़ि लीनो नभ,
छांड़ि दीने धुरवा, जवासे-जूथ, जरिगे ।
डहडहे भए द्रुम रंचक हवा के गुन,
कहूँ कहूँ मोरवा पुकारि मोद भरिगे ।।
रहि गये चातक जहाँ के तहाँ देखत ही,
सोमनाथ कहै बूँदा बूँदिहू न करिगे ।
सोर भयो घोर चारों ओर महिमंडल में,
'आए घन-आए घन' आयके उघरिगे ।।

रघुनाथ—ये काशी नरेश महाराज बरबिंडसिंह के सभासद् थे । इन्होंने सं० १७९० से १८१० तक काव्य-कलाधर, रसिक-मोहन, जगत-मोहन, इश्क-महोत्सव, और बिहारी सतसइ की टीका नामक पाँच पुस्तकें लिखीं । रसिक-मोहन

में दिये गये अलंकारों के उदाहरणों के प्रत्येक पद में वह अलंकार विद्यमान है, यही इसकी विशेषता है। एक उदाहरण देखिए—

फूलि उठे कमल से अमल हितू के नैन,
कहै रघुनाथ भरे चैनरस सिय रे।
दौरि आए भौंर से करत गुनी गुनगान,
सिद्ध से सुजान सुखसागर सों नियरे ॥
सुरभी सी खुलन सुकवि की सुमति लागी,
चिरिया सी जागी चिंता जनक के जियरे।
धनुष पै ठाढ़े राम रवि से लसत आजु,
भोर कैसे नखत नरिंद भए पियरे ॥

दूलह—ये कालीदास त्रिवेदी के पौत्र और उक्त उदयनाथ के पुत्र थे। इनका रचनाकाल १८०० से १८२५ तक है। इनका कवि-कुल-कण्ठाभरण नामक अलंकार-ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इनकी रचना सरस, सुन्दर और स्वाभाविक होते हुए भी अनूठी कल्पनाओं से युक्त है। इसीलिए इनके सम्बन्ध में किसी ने यहाँ तक कहा है कि "और बराती सकल कवि दूलह दूलह राय।"

कविता का एक नमूना देखिए—

धरी जब बाँही तब करी तुम 'नाहीं',
पाँय दियौ पलिकाही 'नाहीं नाहीं' कै सुहाई हौ।
बोलत में नाहीं, पट खोलत में नाहीं,
कवि दूलह उछाही लाख भाँतिन लहाई हौ ॥
चुंबन में नाहीं, परिरंभन में नाहीं,
सब आसन बिलासन में नाहीं ठीक ठाई हौ ॥
मेलि गलबाहीं, केलि कीन्हीं चितचाही, यह,
'हाँ' तें भली 'नाहीं' सो कहाँ ते सीखि आई हौ ॥

रसनिधि—ये दतिया के ज़मींदार थे। इनका वास्तविक नाम पृथ्वीसिंह और रचनाकाल सं० १७६० के लगभग था। इनके बनाये हुए रतनहज़ारा, अरिल्ल-

और माँझो, जगन्नाथप्रसाद द्वारा संग्रहीत दोहों का संग्रह ये तीन संकलन प्राप्त हुए हैं। ये बिहारी के अनुकरण पर लिखने वाले शृंगारी कवि थे और अपनी कविता में फ़ारसी पदावली का प्रयोग प्रचुरता से करते थे। इनके कुछ दोहे देखिए—

हित करियत यहि भाँति सों मिलियत है वही भाँत।
छीर नीर तैं पूछि लै हित करिबे की बात॥
रूप नगर बस मदन नृप दृग जासूस लगाई।
नेहनि मन कौ भेद उन लीनो तुरत मंगाइ॥
सुन्दर जोबन रूप जो बसुधा में न समाइ।
दृग तारन तिल बिच तिन्हैं नेही धरत लुकाइ॥
उड़ौ फिरत जो तूल सम जहाँ तहाँ बेकाम।
ऐसे हरुये को धर्‌यो कहा जानि मन नाम॥
अद्‌भुत गति यह प्रेम की लखौ सनेही आइ।
जुरे कहूँ टूटै कहूँ कहूँ गाँठि परि जाइ॥

रसलीन—बिलग्राम-निवासी इस मुस्लिम कवि का पूरा नाम सय्यद गुलाम नबी था। इन्होंने सं० १७९४ में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक अंग-दर्पण लिखी। इसमें उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से युक्त अंगों का अत्यन्त चमत्कृत वर्णन है। इनके दोहे इतने चमत्कृत हैं कि लोग उन्हें बिहारी का समझ बैठते हैं। अंग-दर्पण के अतिरिक्त 'रस-प्रबोध' नामक छोटे से रीतिग्रन्थ में रस, भाव, नायिका-भेद आदि का सुन्दर विवेचन किया है। इनकी रचनाओं में उक्ति-वैचित्र्य की प्रमुखता है। कुछ दोहे देखिए—

अमी हलाहल, मद भरे सेत स्याम रतनार।
जियत, मरत, झुकि-झुकि, परत, जेहिं चितवहिं इक बार॥
चख चलि स्रवन मिल्यो चहत, कच बढ़ि छुवन छवानि।
कटि निज दरब धर्‌यौ चहत, वक्षस्थल नें आनि॥
रमनी मन पावत नहीं, लाज प्रीति को अंत।
दूहूं ओर ऐंच्यो रहै, जिमि बिबि तिय को कंत॥

रसिक सुमति—इन्होंने सं० १७८५ के लगभग संस्कृत-ग्रन्थ कुवलयानंद के आधार पर अलंकार-चन्द्रोदय नामक ग्रन्थ बनाया था। नमूना देखिए—

प्रत्यनीक अरि सों न बस, अरि हितूहि दुख देय।
रवि सों चलै न, कंज की दीपति ससि हरि लेय ॥

कुमार मणिभट्ट—गोकुलग्राम निवासी इस कवि ने सं० १८०३ के आसपास 'रसिक-रसाल' नामक सुन्दर रीति-ग्रन्थ की रचना की थी। इनकी कविता का उदाहरण देखें—

गावैं बधू मधुरे सुरगीतन, प्रीतम संग न बाहिर आई।
छाई कुमार नई छिति में छबि, मानो बिछाई नई दरियाई ॥
ऊँचे अटा चढ़ि देखि चहूँ दिसि बोली यौं बाल गरो भरि आई।
कैसी करौं हहरे हियरा, हरि आए नहीं उलही हरियाई ॥

शम्भुनाथ मिश्र—इस नाम के तीन कवि हुए हैं। सबसे पहले कवि ने सं० १८०६ में रसतरंगिणी, रस-कल्लोल और अलंकार-दीपक नामक तीन ग्रन्थ असोथर के राजा भगवन्तराय खीची के आश्रय में रह कर बनाये थे।

शिवसहायदास—जयपुरनिवासी इस कवि ने सं० १८०९ में शिव-चौपाई और लोकोक्ति-रसकौमुदी नामक ग्रन्थ बनाये। दूसरी पुस्तक में कहावतों में नायिका-भेदों का वर्णन किया गया है। कविता देखें—

करौ रुखाई नाहिंन बाम। बेगहि लै आऊँ घनश्याम ॥
कहै पखानो भरि अनुराग। बाजी तांत, कि बूझ्यो राग ॥
बोले निठुर पिया बिनु दोस। आपुहि तिय बैठी गेहि रोस ॥
कहै पखानो जेहि गहि मोन। बैल न कूद्यो कूदी मोन ॥

रूपसाहि—पन्नानिवासी उक्त कवि ने सं० १८१३ में रूपबिलास नामक रीति-ग्रन्थ लिखा। इनकी कविता का नमूना देखें—

जगमगाति सारी जरी झलमल भूषन ज्योति।
भरी दुपहरी तिया की भेंट पिया सों होति ॥
लालन बेगि चलो न क्यों? बिना तिहारे बाल।
मार मरोरनि सों मरति; करिए परसि निहाल ॥

ऋषिनाथ—आसनी-निवासी इस कवि ने काशीराज के मन्त्री सदानन्द के आश्रय में रह कर सं० १८३१ में अलंकारमणि-मंजरी बनाई।

बैरीसाल—ये आसनी के रहने वाले ब्रह्मभट्ट थे। इनका भाषाभरण नामक सुन्दर अलंकार-ग्रन्थ सं० १८२५ में लिखा गया था। इनके दोहे अत्यन्त सरस और अलंकारों के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। दो दोहे देखिए—

नहिं कुरंग नहिं ससक यह, नहिं कलंक नहिं पंक।
बीस बिसै बिरहा दही गड़ी दीठि ससि अंक॥
करत कोकनद मदहि रद तुव पद हर सुकुमार।
भए अरुन अति दबि मनो पायजेब के भार।

दत्त—कानपुर ज़िले के निवासी इस कवि ने अपनी सं० १८३० में निर्मित 'लालित्यलता' में अलंकारों के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। नमूना देखने ही योग्य है—

ग्रीषम में तपे भीषम भानु, गई बनकुंज सखीन की भूल सों।
घाम सों बामलता मुरझानी, बयार करैं घनस्याम दुकूल सों॥
कंपत यों प्रगट्यो तनस्वेद उरोजन दत्तजू ठोढ़ी के मूल सों।
द्वै अरबिंद-कलीन पै मानों गिरै मकरंद गुलाब के फूल सों॥

रतन कवि—इन्होंने अपने आश्रयदाता श्रीनगर (गढ़वाल)-नरेश फ़तहसाह के नाम पर फ़तेह-भूषण नामक सं० १८३० में अलंकार-ग्रन्थ लिखा जिसके उदाहरणों में उक्त नरेश के प्रशंसात्मक पद भी पर्याप्त मात्रा में हैं।

हरिनाथ—(नाथ) काशी-निवासी इस कवि ने सं० १८२६ में निर्मित अलंकार-दर्पण नामक छोटे-से ग्रन्थ में एक ही पद्य में अलंकारों के कई उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। नमूना देखें—

तरुनी लसति प्रकास तें, मालति लसति सुबास।
गोरस गोरस देत नहिं, गोरस चहति हुलास॥

मनिराम मिश्र—कन्नौज के रहने वाले इस कवि ने सं० १८२९ में छन्दछप्पनी और आनन्द-मंगल नामक पुस्तकों में क्रमशः छन्दों का सुन्दर विवेचन और भागवत के दशम स्कन्ध का अनुवाद किया।

चन्दन—ये शाहजहाँपुर ज़िले के निवासी बन्दीजन थे और गौड़राजा केसरीसिंह के आश्रय में रहते थे। इनका रचनाकाल सं० १८२० से १८५० तक है। शृंगार-सागर, काव्याभरण, कल्लोल-तरंगिणी, केसरी-प्रकाश, चन्दन-सतसई, पथिक-बोध, पत्रिका-बोध नाममाला, नख-शिख, तत्त्व-संग्रह, सीतबसन्त, कृष्ण-काव्य और प्राज्ञ-विलास ये इनके तेरह ग्रन्थ प्राप्त हैं। हिन्दी के अतिरिक्त फारसी में भी ये 'सन्दल' के नाम से अच्छी शायरी करते थे और अनेक विषयों के ज्ञाता थे। इनकी कविता का नमूना देखिए—

ब्रजवारी गँवारी दै जाने कहा, यह चातुरता न लुगायन में।
पुनि बारिनि जानि अनारिनि है, रुचि एतो न चंदन नायन में।
छबि रंग सुरंग के बिंदु बने, लगैं इंद्रबधू लघुतायन में।
चित जो चहैंदी चकि सी रहैंदी, केंहि दी मेंहदी इन पायन में।

देवकीनन्दन—ये कन्नौज के निकटवर्ती मकरन्द नगर के निवासी थे। इनका रचनाकाल सं० १८४० से १८६० तक माना जाता है। इन्होंने अपने आश्रयदाता महन्त सफ़राजगिरि के नाम पर सफराज-चन्द्रिका और अवधूतसिंह के नाम पर अवधूत-भूषण नामक ग्रन्थ बनाये। शृंगार-चरित्र भी इनकी एक तीसरी रचना है। नमूना देखिए—

बैठी रंग रावटी में हेरत पिया की बाट,
आए न बिहारी भई निपट अधीर मैं।
देवकीनन्दन कहै स्याम घटा घिर आई,
जानि गति प्रलय की डरानी बहु, बीर! मैं॥
सेज पै सदासिव की मूरति बनाय पूजी,
तीनि डर तीनहू की करी तदबीर मैं।
पाखन मैं सामरे, सुलाखन में अखैबट,
ताखन में लाखन की लिखी तसबीर मैं॥

महाराज रामसिंह—इस नवलगढ़-नरेश ने अलंकार-दर्पण, रस-निवास और रसविनोद नामक ग्रन्थ सं० १८३० से १८६० तक बनाये।

भानकवि—सं० १८४५ में रचित इनके 'नरेन्द्र-भूषण' में वीर, भयानक, अद्भुत आदि अनेक रसात्मक उदाहरणों के द्वारा अलंकारों का विवेचन किया गया है। नमूना देखिए—

घन से सघन स्याम, इंदु पर छाय रहे,
बैठी तहाँ असित द्विरेफन की पाँति सी।
तिनके समीप तहाँ खंजन की सी जोरी, लाल!
आरसी से अमल निहारे बहु भाँति सी॥
ताके ढिग अमल ललौहैं बिविविद्रुम से,
फरकति ओप जामैं मोतिन कीं कांति सी।
भीतर ते कढ़ति मधुर बीन कैसी धुनि,
सुनि करि भान परि कानन सुहाति सी॥

थान कवि—ज़िला रायबरेली के निवासी इस कवि ने अपने आश्रयदाता दलेलसिंह के नाम पर 'दलेल-प्रकाश' की रचना की। इसमें छन्द, अलंकार, संगीत आदि अनेक विषयों की खिचड़ी है। लघु अक्षरों की इनकी रचनाएँ सुन्दर बनी हैं। इनकी रचना का नमूना देखें—

कलुष - हरनि सुख - करनि सरनजन,
बरनि बरनि जस कहत धरनिधर।
कलिमल-कलित बलित-अघ खलगन,
लहत परमपद कुटिल कपटतर॥
मदन-कदन सुर-सदन बदन ससि,
अमल नवल दुति भजन भगतवर।
सुरसरि! तव जल दरस परस करि,
सुर सरि सुभ गति लहत अधम नर॥

बेनी बन्दीजन—बैंती ज़िला रायबरेली के निवासी इस कवि ने अपने आश्रयदाता टिकैतराय के नाम पर 'टिकैतराय-प्रकाश' तथा रस-विलास नामक ग्रन्थ बनाये और अपने उपहास काव्य 'भडौवा-संग्रह' के कारण ये अत्यन्त लोकप्रिय और प्रसिद्ध हो गये हैं। इन्होंने समकालीन कवियों तथा कंजूस दानियों आदि की खूब

हंसी उड़ाई है। कहीं किसी के छोटे आमों का तो कहीं किसी की रजाई का बड़ा ही हास्यपूर्ण वर्णन किया है। इनका रचनाकाल १८४९-१८८० तक माना जाता है। इनके आमों का नमूना देखिए—

चींटी की चलावै को ? मसा के मुख आपु जाय,
स्वास की पवन लागे कोसन भगत है।
ऐनक लगाए मरु मरु कै निहारे जात,
अनु परमानु की समानता खगत है॥
बेनी कवि कहै हाल कहाँ लौं बखान करौं,
मेरी जान ब्रह्म को बिचारिबो सुगन है।
ऐसे आम दीन्हें दयाराम मन मोद करि,
जाके आगे सरसों सुमेर सों लगत है॥

बेनी प्रवीन—ये लखनऊ-निवासी बाजपेयी ब्राह्मण थे और लखनऊ के नवाब के मंत्री के पुत्र नवल कृष्ण के आश्रय में रहते थे। इनके नवरस-तरंग, शृंगारभूषण, तथा बिठूर के महाराज नानाराव के नाम पर लिखित नानाराव-प्रकाश तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनके अन्तिम दिन आबू में बीते थे। नवरस-तरंग में इनके उदाहरण अत्यन्त ललित और सरस बन पड़े हैं। इसलिए इन्हें मतिराम और पद्माकर का समकक्ष कवि कहा गया है। इनका रचनाकाल १८६० से आरम्भ होता है। कविता का नमूना देखिए—

भोर ही न्योति गई ती तुम्हें वह गोकुल गाँव की ग्वालिन गोरी।
आधिक राति लौं बेनी प्रवीन कहा ढिग राखि करि बरजोरी॥
आवे हँसि मोहि देखत लालन, भाल में दीन्ही महावर घोरी।
एते बड़े ब्रजमंडल में न मिली कहुँ माँगेहु रंचक रोरी॥
जान्यो न मैं ललिता अलि ताहि जो सोवत मांहि गई करि हाँसी।
लाए हिए नख केहरी के सम, मेरी तउ नहिं नींद बिनासी॥
ले गई अंबर बेनी प्रवीन ओढाय लटी दुपटी दुखरासी।
तोरि तनी तन छोरि अभूषन भूलि गई गर देन की फाँसी॥

जसवन्तसिंह द्वितीय—इनका अनुमानित रचनाकाल १८५६ है। इस 'तेरवाँ-नरेश' के लिखे सालिहोत्र और शृंगार-शिरोमणि नामक दो ग्रन्थ हैं।

यशोदानन्दन—इनका जन्म संवत् १८२८ है। इनके रचे हुए बरवै-नायिका-भेद में नौ बरवै संस्कृत में और त्रेपन अवधी भाषा में हैं। सरसता की दृष्टि से यह रचना रहीम के टक्कर की कही गई है। इनका विशेष कुछ वृत्त ज्ञात नहीं है।

करन कवि—इन्होंने छत्रसाल के वंशज पन्नानरेश हिन्दूपतिसिंह के आश्रय में सं० १८६० में साहित्य रस और रस कल्लोल नामक रीति-ग्रन्थों की रचना की। ये रचनाएँ सामान्यतया श्रेष्ठ हैं। नीचे कविता का नमूना दिया जाता है—

कंटकित होत गात विपिन समाज देखि,
हरी हरी भूमि हेरि हियो लरजतु है।
एते पै करन धुनि परत मयूरन की,
चातक पुकारि तह ताप सरजतु है।
निपट चबाई भाई बन्धु जे बसत गाँव,
दाँव परे जानि कै न कोऊ बरजतु है।
अरज्यो न मानी तू, न गरज्यो चलत बार,
एरे घन वैरी! अब काहे गरजतु है॥

गुरुदीन पाण्डे—इनके सं० १८६० में बनाये हुए बाग मनोहर नामक ग्रन्थ में केशव की कविप्रिया के आधार पर काव्यांगों का सर्वांगपूर्ण निरूपण किया गया है। छन्दों का निरूपण इस ग्रन्थ की विशेषता है। उदाहरण देखिए—

मुख-ससि ससि दून कला धरे। कि मुकता-गन जावक में भरे।
ललित कुंदकली अनुहारि के। दसन हैं वृषभानु-कुमारि के॥
सुखद जंत्र कि भाल सुहाग के। ललित मंत्र किधौं अनुराग के।
भ्रुकुटि यों वृषभानु-सुता लसैं। जनु अनंग-सरासन को हँसैं॥
मुकुर तौ पर-दीपति को धनी। ससि कलंकित, राहु-बिथा घनी
अपर ना उपमा जग में लहै। तव प्रिया! मुख के सम को कहै?

ब्रह्मदत्त—इन्होंने अपने आश्रयदाता काशी-नरेश के अनुज दीपनारायण सिंह के नाम पर दीप-प्रकास तथा एक दूसरे ग्रन्थ विद्वद्विलास की रचना सं० १८६० से १८६५ तक की।

रसिक गोविन्द—ये जयपुर निवासी थे। इनके रामायण-सूचनिका, रसिक-गोविन्दानन्द-घन, लछमन-चंद्रिका, अष्टदेश-भाषा, पिंगल, समय-प्रबन्ध, कलिजुग-रासो, रसिक-गोविन्द, युगल-रसमाधुरी ये नौ ग्रन्थ मिले हैं। इनके रसिक-गोविन्दानन्दघन में काव्याङ्गों का अत्यन्त विस्तृत विवेचन हुआ है। रीतिकाल में यही एक ऐसे आचार्य हुए हैं जिन्होंने लक्षण गद्य में दिये और रस, शक्ति आदि का शास्त्रीय विवेचन करते हुए अपने पूर्ववर्ती संस्कृत के आचार्यों के मतों का भी उल्लेख किया। ये व्रजभाषा के साहित्यिक गद्य के सर्वप्रथम लेखक भी कहे जा सकते हैं, क्योंकि गोस्वामी विट्ठलनाथ और गोकुलनाथ का गद्य कथावाचकों की शैली का व साधारण है और और इनसे पूर्ववर्ती टीकाकारों का गद्य बिल्कुल बेठिकाने का था। किन्तु रसिक गोविन्द का गद्य अत्यन्त परिमार्जित है। इनके गद्य और विवेचन-शैली का एक नमूना देखिए—

'अन्य ज्ञानरहित जो आनन्द सो रस। प्रश्न—अन्य-ज्ञान-रहित आनन्द तो निद्रा हू है। उत्तर—निद्रा जड़ है यह चेतन। भरत आचार्य सूत्रकर्ता को मत—कारण कारज सहायक हैं जे लोक में इन्हीं की नाटच में, काव्य में, विभाव संज्ञा है। अथ टीका कर्ता को मत तथा साहित्यदर्पण को मत—सत्त्व,विशुद्ध, अखण्ड,स्वप्रकाश, आनन्दचित्त, अन्यज्ञान, नहीं संग, ब्रह्मास्वाद, सहोदर रस।'

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि मम्मट, विश्वनाथ आदि के काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण आदि प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर इस आचार्य ने काव्यांगों का अधिक से अधिक सुन्दर विवेचन करने का प्रयत्न किया है। स्वरचित, उद्धृत या अनूदित सभी उदाहरण भी अत्यन्त सरस हैं, अतः इन्हें रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ आचार्यों में से एक कहा जा सकता है। इनका रचनाकाल सं० १८५० से १९५० तक है।

आलस सो मंद मंद धरा पै धरती पाय,
भीतर तें बाहर न आवै चित चाय कै,
रोकती दृगनि छिन छिन प्रति लाज साज,
बहुत हँसी की दीनी बानि बिसराय कै॥
बोलति वचन मृदु मधुर बनाय, उर—
अंतर के भाव की गम्भीरता जनाय कै।
बात सखी सुन्दर गोविन्द की कहात तिहै॥
सुन्दरी बिलोकै बंक भृकुटि नचाय कै॥

पद्माकर भट्ट—ये बान्दे के रहने वाले तैलंग ब्राह्मण मोहनलाल भट्ट के पुत्र थे। इनका जन्म १८१० में और मृत्यु १८९० में कानपुर में गंगा-तट पर हुई। भारत के अनेक राजा रावों द्वारा इनका पर्याप्त सम्मान हुआ और इन्होंने भी उनके नामों पर अनेक ग्रन्थ लिखे। जैसे कि—सितारा के महाराज रघुनाथराव या राघोबा, पन्ना के महाराज हिन्दुपति, जयपुर-नरेश प्रतापसिंह तथा उनके पुत्र महाराज जगतसिंह, सुगरा के नोने अर्जुनसिंह, गुसाईं अनूपगिरि उपनाम हिम्मत बहादुर, उदयपुर के महाराणा भीमसिंह, ग्वालियर-नरेश दौलतराव सिन्धिया, और बून्दी-नरेश आदि अनेक राजा-महाराजाओं ने इन्हें अपना राजगुरु व राजकवि मानकर खूब धन-दौलत और सम्मान दिया। इनके हिम्मत-बहादुर-विरुदावली, जगद्विनोद, पद्माभरण, प्रबोध-पचासा, गंगा-लहरी और रामरसायन नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

हिम्मत-बहादुर विरुदावली में हिम्मत बहादुर की वीरता का ओजस्वी वर्णन है। जगद्विनोद और पद्माभरण शृंगार रस व अलंकारों के सुन्दर ग्रन्थ हैं। इसकी कथा की कल्पनाएँ बड़ी ही सुन्दर बन पाई हैं। कोमलकान्त पदावली और सरस भावनाओं का इसमें मणिकांचन योग हो रहा है। परिस्थितियों के प्रवाह के अनुसार इनकी भाषा नित्य नवीन रूप धारण करती रहती है। 'गनगोर-वर्णन' में उदयपुर के महाराणा के कहने पर उक्त मेले का वर्णन किया है। रामरसायन तुलसीदास जी की दोहा-चौपाई-शैली पर लिखा हुआ रामचरित-सम्बन्धी ग्रन्थ है। किन्तु इसे सफल काव्य नहीं कहा गया। इन्होंने अपनी अन्तिम अवस्था में प्रबोध-पचासा तथा गंगा-लहरी नामक वैराग्य व भक्तिपूर्ण काव्यों की रचना की थी। इनकी उत्कृष्ट कल्पना की उड़ान, विषय-विवेचन की विशुद्धता और पदावली की मधुरता व शब्दों की लाक्षणिकता आदि विशेषताओं ने इन्हें रीतिकाल के बिहारी आदि महाकवियों की पंक्ति में ला बैठाया। भाषा की अनुप्रासमयता यद्यपि इनमें भी पर्याप्त रूप में पाई जाती है तथापि यह सर्वत्र नहीं है। इनकी कुछ कविताएँ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

जैसो ते न मोंसों नेकहू डरात हुतो,
तैसो अब होहूँ तोसो नेकहूँ न डरिहौं।
कहै पद्माकर प्रचंड जो परैगो तो,
उमंड करि तोसो भुजदंड ठोकि लरिहौं॥
चलोचलु चलोचलु विचलु न बीचही ते,
कीच बीच नीच तो कुटम्बको कचरिहौं।

प्रतापसाही—ये रतनसेन बन्दीजन के पुत्र थे और चर्खारी-नरेश विक्रम-साही के आश्रय में रहते थे। इनका रचनाकाल सं० १८८० से १९१० तक है। व्यंग्यार्थ-कौमुदी, काव्य-विलास, जयसिंहप्रकाश, श्रृंगार-मंजरी, श्रृंगार-शिरोमणि, अलंकार-चिन्तमणि, काव्यविनोद, रसराज की टीका, रत्न-चन्द्रिका, जुगल-नखशिख, बलभद्र-नखशिख की टीका आदि कई ग्रन्थ बनाये। इनकी व्यंग्यार्थ-कौमुदी और काव्य-विलास सुन्दर रीति-ग्रन्थ हैं। आचार्यत्व की दृष्टि से ये अपने काव्य में पूर्ण सफल होने के कारण श्रीपति और दास के समकक्ष हैं। काव्य-कुशलता के कारण ये मतिराम और पद्माकर की कोटि में जा बैठते हैं। इनकी भाषा और भावोत्कृष्टता कविता के चारों पदों में समरस और एकरूपता लिए रहती है। इन्हीं सब बातों को देखकर इनकी गणना पद्माकर आदि प्रमुख कवियों में की गई है। इनकी रचना के दो नमूने देखिए—

तड़पै तड़िता चहुँ ओरन तें छिति छाई समीरन की लहरें।
मदमाते महा गिरिश्रृंगन पै गन मंजु मयूरन के कहरैं॥
इनकी करनी बरनी न परै, मगरूर गुमानन सौं गहरैं।
घन ये नभ मंडल में छहरैं, घहरैं कहुँ जाय, कहूँ ठहरैं॥
कानि करै गुरु लोगन की, न सखीन की सीखन ही मन लावति।
एड़-भरी अँगराति खरी, कत घूंघट में नए नैन नचावति॥
मंजन कै दृग अंजन आँजति, अंग अनंग-उमंग बढ़ावति।
कौन सुभाव री तेरो परयो, खिन आँगन में, खिन पौरि में आवति॥

बोधा—ये राजापुर (ज़िला बाँदा) के निवासी सरयूपारीण ब्राह्मण थे और बचपन से पन्ना-नरेश के आश्रय में रहते थे। इनका पूरा नाम बुद्धसेन था पर उक्त महाराज इन्हें प्यार से "बोधा" कहकर पुकारा करते थे, इसलिए इनका यह नाम प्रसिद्ध हो गया। इनका रचनाकाल सं० १८३० से १८६० तक माना जाता है। बोधा एक बड़े रसिक प्रकृति के प्राणी थे। पन्ना दरबार की सुभान नामक वश्या से इनका प्रेम हो जाने पर महाराज ने रुष्ट होकर इन्हें ६ महीने के लिए देश-निकाला दे दिया। अपनी प्रेयसी सुभान के विरह में ६ महीने तक तड़पते हुए इस कवि ने विरह-वारीश नामक एक प्रेमपूर्ण काव्य-संग्रह तैयार कर दिया। ६ महीने की अवधि बीत जाने पर इन्होंने दरबार में जाकर महाराज को अपनी उक्त रचना की कुछ कविताएँ सुनाईं, तो महाराज बहुत प्रसन्न हुए और मनचाही चीज़ मांगने को कहा, इस पर

इन्होंने कहा "सुभान अल्लाह"[1] महाराज ने बड़ी प्रसन्नता से सुभान को इन्हें देकर इनकी इच्छा पूर्ण कर दी। इश्कनामा भी इनकी एक दूसरी पुस्तक प्रसिद्ध है। इनकी कविताओं में प्रेम की पीर अत्यन्त मार्मिकता के साथ प्रकट हुई है। सरस साहित्यिक रचनाओं के साथ इन्होंने कुछ बाज़ारू और चलती तुकबन्दियाँ भी लिखी थीं। इनकी कविता के कुछ नमूने लीजिए :—

लोक की लाज औ सोक प्रलोक को वारिये प्रीति के ऊपर दोऊ।
गांव को गेह को देह को नातो सनेह में हांतो करै पुनि सोऊ॥
बोधा सुनीति निबाह करै घर ऊपर जाके नहीं सिर होऊ।
लोक की भीति डरात जो मीत तौ प्रीति के पैंड़े परे जनि कोऊ॥

बोधा सब जग ढूँढ्यो फिरि फिरि धाइ।
जेहि मनहीं मन चाहत सो न लखाइ॥

हिलि मिलि जानै तासों मिलि कै जनावै हेत
हित को न जानै ताको हितू न बिसाहिये।
होय मगरूर तापै दूनी मगरूरी कीजै
लघु ह्वै चलै जो तासों लघुता निबाहिये॥
बोधा कवि नीति को निबेरो यही भांति अहै
आपको सराहै ताहि आपहू सराहिये।
दाता कहा, सूर कहा, सुन्दर सुजान कहा,
आपको न चाहै ताके बाप को न चाहिये॥

सम्मन—ये जिला हरदोई के निवासी थे। इस ब्राह्मण कवि के दोहे पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। दोहों के अतिरिक्त पिंगल काव्य-भूषण नामक एक रीति-ग्रन्थ भी इनका मिला है। इनका रचनाकाल सं० १८६० से १८८० तक माना जाता है। इनका एक दोहा देखिए—

निकट रहे आदर घटै, दूर रहे दुख होय।
सम्मन या संसार में प्रीति करो जनि कोय॥

---

[1] मुसलमान अपने हृदय के हर्षसूचक उद्‌गारों को प्रकट करने के लिए उक्त पद का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ 'ईश्वर को धन्यवाद' से मिलता-जुलता है।

आसनी वाले पहले ठाकुर—ये संवत् १७०० के लगभग विद्यमान थे। इनकी केवल कुछ-एक फुटकर कविताएँ ही मिली हैं। ये ब्रह्मभट्ट थे।

आसनी वाले दूसरे ठाकुर—ये शिवनाथ कवि के पुत्र, सेवक कवि के पितामह और सरयूपारीण ब्राह्मण थ। किन्तु एक बार मझोली के राजा के विवाह-अवसर पर इनके किसी पूर्वज ने भाटों की तरह कुछ कवित्त पढ़कर पुरस्कार प्राप्त किया। इस पर इनके भाई-बन्धुओं ने इन्हें जाति से निकाल दिया और वे आसनी के भाट नरहरी कवि की कन्या से अपना विवाह कर आसनी में जा रहे और भाट हो गये। इसीलिए ब्रह्मभट्ट कहलाये। ये काशी-नरेश के सम्बन्धी बाबू देवकीनन्दन के आश्रय में रहते थे। इन्होंने सतसई वरनार्थ नाम की बिहारी सतसई की टीका लिखी थी। इनकी स्वतन्त्र कविताएँ भी सुन्दर हैं। इनका रचनाकाल १८६० के लगभग है।

तीसरे बुंदेलखण्डी ठाकुर—ये काकोरी-निवासी कायस्थ थे और जैतपुर-नरेश केसरीसिंह के आश्रय में रहते थे। बाँदा-नरेश हिम्मत बहादुर आदि अन्य राजा राव भी इनका पर्याप्त आदर करते थे। पद्माकर जी से इनकी अपनी-अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में कुछ नोक-झोंक प्रायः हो जाया करती थी। एक बार पद्माकर जी ने कहा 'ठाकुर कविता तो बहुत अच्छी करते हैं पर पद कुछ हलके पड़ते हैं।' इस पर ठाकुर बोले 'तभी तो हमारी कविता उड़ी-उड़ी फिरती है'। एक बार किसी बात पर क्रुद्ध होकर इन्होंने हिम्मत बहादुर के सामने तलवार तक निकाल ली थी। इनकी कविताओं में भावों की सरलता और स्वाभाविकता, भाषा की सुन्दरता और कला की रमणीयता आदि गुण पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। इन्होंने लोकोक्ति और मुहावरों का भी बड़ा ही सुन्दर और सुव्यवस्थित प्रयोग किया है। प्रधानतः प्रेमनिरूपक कवि होते हुए भी इन्होंने जीवन की अनेक दशाओं का सुन्दर चित्रण किया है। इनका रचनाकाल १८५० से १८८० तक है। इनकी कुछ कविताएँ देखिए—

अपने अपने सुठि गेहन में चढ़े दोऊ सनेह की नाव पै री।
अँगनान में भीजत प्रेम भरे, समयो लखि में बलि जावँ पै री॥
कहै ठाकुर दोउन की रुचि सों रंग व्है उमड़े दोउ ठावँ पै री।
सखी, कारी घटा बरसै बरसाने पै, गोरी घटा नँदगाँव पै री॥
पिया प्यार करै जेहि पर सजनी तेहि की सब भाँतिन सैयत है।
मन मार करौं तौ परौ भ्रम में, फिर पाछे परे पछितैयत है॥

कवि ठाकुर कौन की कासौं कहों? दिन देखि दसा बिसरैयत है।
अपने अटके सुन ए री भटू ? निज सौत के मायके जैयत हैं ।।

पजनेस—पन्नानिवासी इस कवि का विशेष परिचय और ग्रन्थ नहीं मिले, पर इधर-उधर प्राप्त फुटकर रचनाओं ने ही इन्हें हिन्दी के अच्छे कवियों की श्रेणी में ला बैठाया। भारतजीवन प्रेस से प्रकाशित 'पजनेस-प्रकाश' नामक संग्रह में इनके एक सौ सत्ताईस कवित्त-सवैये संकलित किये गये हैं। इनका वाक्य-विन्यास व्यवस्थित और कविताएँ चमत्कृत हैं। इन्होंने बीच-बीच में फ़ारसी शब्दों का प्रयोग किया है। इससे फ़ारसी के भी अच्छे ज्ञाता प्रतीत होते हैं। इनका रचनाकाल सं० १९०० के लगभग है। नमूना यह है—

पजनेस तसद्दुकता बिसमिल जुलफे फुरकत न कबूल कसे।
महबूब चुनां मदमस्त सनम् अज़दस्त अलाबल ज़ुल्फ़ बसे ।।
मजमूये न काफ़ सफ़ाक़ रुए सम क्यामत चश्म से खूं बरसे।
मिज़गां सुरमा तहरीर दुतां नुक़ते बिन बे किन ते किन से ।।

द्विजदेव महाराज मानसिंह—ये अयोध्या के महाराज थे। इनका जन्म सं० १८८० और देहान्त १९३० में हुआ था। इनकी श्रृंगार-बत्तीसी और श्रृंगारलतिका नामक पुस्तकों में ऋतुओं का वर्णन बँधी हुई परम्परा पर नहीं प्रत्युत स्वाभाविक और सरस हुआ है जिनसे प्रकृति के प्रति इनके अन्तर् का प्रेम प्रकट होता है। भाषा शब्दाडम्बरहीन होते हुए भी अत्यन्त सुललित और अलंकृत है। श्रृंगारलतिका का एक सटीक बड़ा भारी संस्करण अयोध्या की महारानी ने प्रकाशित कराया था। इनकी कुछ कविताएँ देखिए—

बांके संकहीने राते कंज-छवि छीने माते,
झुकि झुकि झूमि झूमि काहू को कछू गनै न।
'द्विजदेव' की सौं ऐसी बानक बनाइ बहु,
भांतिन बगारे चित चाह न चहूंधा चैन ।।
पेखि परे पात जो पै गातन उछाह भरे,
बार बार तातैं तुम्हें बूझती कछूक बैन।
एहो ब्रजराज मेरे प्रेमधन लूटिबे को,
बीरा खाइ आये कितै आपके अनोखे नैन ?

सेवक—यह आसनी वाले ठाकुर कवि के पौत्र थे। इनका जन्म १८७२ म और देहान्त १९३८ में हुआ था। वाग्विलास नामक इनका नायिका-भेद का ग्रन्थ

सुन्दर है। इसके अतिरिक्त इनके सवैये भी पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। एक कवित्त देखिए——

बंसी बजावत आनि कढ़े बनिता घनी देखन को अनुरागीं;
हौं हूँ अभाग भरी डगरी मगरी गिरे चौंकि सबै डरि भागीं।
लागै कलंक सेवक सो इन्हें फेरि हों सौति सुभाव लै जागीं;
हाय हमारी जरैं अँखियाँ विष बान ह्वै मोहन कै उर लागीं।

सरदार—यह काशी-नरेश के आश्रित थे। इनका रचनाकाल संवत् १९०० के लगभग माना जाता है। वाग्विलास, साहित्य-सरसी, तुलसीभूषण, शृंगार-संग्रह, राग-रत्नाकर, साहित्यसुधाकर आदि इनकी सुन्दर रचनाएँ हैं। बिहारी सतसई, सूर के दृष्टकूट तथा केशव की रसिक प्रिया और कवि प्रिया पर भी इन्होंने सुन्दर टीकाएँ लिखी थीं। नमूना नीचे दिया जाता है—

मनि मन्दिर चन्द मुखी चितवै हित मंजुल मोद मवासिन को;
कमनीय करोरिन काम कला करि थामि रही पिय पासिन को।
सरदार चहूँ दिसि छाय रहे सब छंद छरा रस रासिन को;
मन मंद उसासन लेन लगी मुख देखि उदास खवासिन को।

लच्छीराम भट्ट—इनका जन्म संवत् १८९८ में अमोढ़ा (ज़िला बस्ती) में हुआ था। इन्होंने अपने आश्रयदाताओं के नाम पर प्रेमरत्नाकर, प्रतापरत्नाकर, मानसिंहाष्टक, लक्ष्मीश्वररत्नाकर, रावणेश्वरकल्पतरु, कमलानंद-कल्पतरु इत्यादि ग्रन्थ बनाये।

अभ्यास

१. आचार्य और कवि की परिभाषा लिखकर स्पष्ट करें कि इनके एकीकरण का साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा?
२. साहित्य की भक्ति-सम्बन्धी धारा क्रमशः शृङ्गार के रूप में क्यों परिवर्तित हो गई?
३. रीतिकाल के साहित्य की गुण-दोष-विवेचनात्मक समालोचना करें और बताएं कि इसे 'रीति-काल' कहना कहाँ तक उपयुक्त है?
४, बिहारी के साहित्य की समालोचना करें?
५. देव, भिखारीदास, पद्माकर भट्ट तथा महाराज जसवन्तसिंह के जीवन व साहित्य पर प्रकाश डालें।
६. आप रीतिकाल के किस लेखक को पूर्ण आचार्य या प्रकृत-कवि के रूप में उपस्थित कर सकते हैं, युक्ति व प्रमाणों से अपने पक्ष को पुष्ट करें।

तेरहवाँ अध्याय

रीतिकालिक वीर-साहित्य या वीर-गाथा का द्वितीय उत्थान

जैसा कि पहले कहा गया है सं० १७०० से १९०० तक सामाजिक, राजनैतिक आदि विविध कारणों से भारतीय समाज में जहाँ एक ओर विलासिता की प्रवृत्तियाँ विकसित हो रही थीं, वहाँ दूसरी ओर राष्ट्रीय वीरतात्मक विचारधारा भी अपने नये रूप में प्रकट हो रही थी। वर्तमान-युग के प्रारम्भ में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और उनकी मण्डली के लेखकों की रचनाओं में जिस वीरता और राष्ट्रीयता के दर्शन होते हैं वह भूषण आदि पूर्ववर्ती कवियों की वीरता का ही विकसित स्वरूप है। यद्यपि रीतिकाल में परिमाण की दृष्टि से वीरता की रचनाएँ अपेक्षाकृत स्वल्प हुई हैं तथापि समाज व साहित्य पर इनका प्रभाव भी शृंगारी कवियों से कम नहीं प्रत्युत कुछ विशेष ही है। अतः इतिहास में रीतिकाल के वीर-कवियों को भी एक स्वतन्त्र स्थान अवश्य मिलना चाहिए।

शृंगार के विरोधी या उसकी प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट होने वाले इस काल के वीर-साहित्य की भी अपनी विविध विशेषताएँ हैं। वीर-गाथा-काल के साहित्य से यह साहित्य सर्वथा भिन्न है। उसकी भाषा प्रायः अपभ्रंशनिष्ठ डिंगल थी किन्तु इस युगका साहित्य अधिकतर व्रज-भाषा में लिखा गया। वह गीत या प्रबन्ध-काव्यों के रूप में प्रकट हुआ था किन्तु यह रीति-परम्परा के अनुसार मुक्तक और प्रबन्ध-काव्यों के रूप में उपस्थित हुआ। छन्द भी प्रायः कुछ परिवर्तित हो गये। इन दोनों साहित्यों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि वीर-गाथा-काल का साहित्य वीर राजाओं की प्रशस्तियों में लिखा जाने पर भी राष्ट्रीयता, स्वधर्म-रक्षा आदि वीर वृत्तियों का परिचायक नहीं है। चारणों ने इस साहित्य में अपने आश्रयदाता राजाओं का बखान-मात्र किया है। उनकी वीरता का वर्णन भी सर्वांशतः वैयक्तिक रूप लिए हुए है। समाज, राष्ट्र और धर्म से उसका बहुत ही स्वल्प सम्बन्ध है। यहाँ तक कि वीर-गाथा-काल के साहित्यकारों ने युद्ध के स्पष्टतः राष्ट्रीय और राजनैतिक स्वरूप को छिपा कर उसे वैयक्तिक रूप दे दिया है। शहाबुद्दीन ग़ौरी के भारत पर आक्रमण का भी एक स्त्री को कल्पित कारण बता दिया गया। इसीलिए वीर-गाथा-काल के साहित्य में न तो सच्ची वीरता के ही दर्शन होते हैं और न कवि के अन्तर्तम के। विपरीत इसके इस दूसरे उत्थान के वीर-साहित्य के निर्माता राजाओं

की स्तुति-मात्र गाने वाले भाट या चारण न थे। वे सच्चे कवि थे, उन्होंने किसी राजा की प्रशंसा के लिए नहीं प्रत्युत स्वराष्ट्र और स्वधर्म की रक्षा करने वाले वीर पुरुषों की कर्त्तव्य-भावनाओं को प्रेरित करने के लिए अपनी कविताएँ कही थीं—

इन्द्र जिमि जम्भ पर वाड़व सुअम्भ पर,
रावण सदम्भ पर रघुकुल-राज है।
पौन वारिवाह पर, सम्भु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है।
दावा द्रुम दण्ड पर, चीता मृग झुण्ड पर,
भूषण वितुण्ड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ-वंस पर सेर सिवराज है॥

आदि इस काल की सहस्रों रचनाओं में रचयिता का अन्तर्तम प्रकट हो रहा है। ये कविताएँ किसी व्यक्ति की प्रशंसा के लिए नहीं प्रत्युत स्वराष्ट्र में स्वधर्म और आत्मगौरव का संचार करने के लिए कवि के मानस से स्वतः प्रकट हुई प्रतीत होती हैं। इस वीर-साहित्य के चरित-नायक और चरित-लेखक अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ खो बैठे हैं। वे वीर और बीर-भावनाओं के साथ एकाकार हो गये हैं। चन्दवरदायी और पृथ्वीराज आकार-प्रकार में एक जैसे थे या नहीं ये विषय तो विवादास्पद हैं। किन्तु भूषण और शिवाजी सर्वथा भिन्न देशीय, भिन्न भाषा-भाषी और भिन्न आकार-प्रकार के होते हुए भी इस प्रकार एकाकार हो गये हैं कि उनकी पृथक् सत्ता प्रतीत ही नहीं होती। इस सम्बन्ध में श्रीयुत डाक्टर सूर्यकान्त जी अपने विवेचनात्मक इतिहास में कैसे प्रौढ़ विचार व्यक्त करते हैं—

'दूसरी ओर भूषण का शिवराजभूषण अलंकार-ग्रन्थ होने पर भी उत्कृष्ट काव्य है, क्योंकि यहाँ शिवाजी की प्रशंसा झूठी नहीं अपितु यथार्थ है, और सच्चे दिल से की गई है। कविता करते समय भूषण के दिल में बेचैनी थी, भाव उमड़ रहे थे। उसने किसी प्रकार का पारितोषिक पाने की नीयत से अपना यह पद्य—'इन्द्र जिमि जम्भ पर' आदि नहीं लिखा, प्रत्युत अपने दिल का आवेश निकाल कर उसे हलका करने के लिए, हिन्दुत्व के संदेश को जन-साधारण के दिल की गहराई तक पहुँचाने के लिए, और उसकी रक्षा के सत्य स्वरूप को प्रत्यक्ष कराने के लिए लिखा। शिवाजी और भूषण पृथक्-पृथक् दो व्यक्ति नहीं थे। वे एक ही घटना

के दो पक्ष थे। हिन्दुत्व की प्रदीप्त आत्मा कर्मक्षेत्र में शिवाजी और भावनाक्षेत्र में भूषण के रूप में जाज्वल्यवती हुई थी। भूषण प्रोद्वर्तित भावना-क्षेत्र के शिवाजी थे और शिवाजी कठोर कर्मक्षेत्र के भूषण। संक्षेप में भूषण के काव्य को पढ़ हमारे हृदय में रागात्मक सम्बन्ध का संचार हो जाता है। हमारा हृदय वीरता के समुद्र में हिलोरें लेने लगता है। उसकी तन्त्री झनक उठती है और भावना रणक्षेत्र की तलवारों पर नाचने लगती है। भूषण का ध्येय यही था और यही उसकी कविता थी।

उक्त मन्तव्य महाकवि लाल और महाराज छत्रसाल आदि अन्य इस काल के चरित-नायक और चरित-लेखकों तथा गुरु गोविन्दसिंह आदि राष्ट्र-रक्षक कवियों के सम्बन्ध में भी सर्वांशतः या अंशतः चरितार्थ होता है। यही इस वीर-साहित्य के द्वितीय उत्थान-काल के काव्यों की विशेषता है और वीर-गाथा-काल के साहित्य की अपेक्षा भिन्नता है। अब यहाँ ऐसे ही कवियों का वर्णन किया जाता है। सामान्यतया वीर-गाथा-काल के इस द्वितीय उत्थान का आरम्भ महाकवि भूषण से होता है, किन्तु बीकानेर के पृथ्वीराज राठौर की रचना में राष्ट्रीय स्वाभिमानपूर्ण वीरोल्लास का सर्वप्रथम दर्शन होता है इसलिए पृथ्वीराज का उल्लेख यहाँ समीचीन है।

राठौर पृथ्वीराज—ये बीकानेर नरेश के छोटे भाई थे। और प्रायः अकबर के दरबार में रहा करते थे। इनके हृदय में वीर, शृंगार और भक्ति की त्रिवेणी बह रही थी। इन्होंने काबुल के मिर्ज़ा हकीम से लोहा लिया था। अकबर के दरबारी सामन्त होते हुए भी इन्होंने महाराणा प्रताप के स्वातन्त्र्य-प्रेम की पर्याप्त प्रशंसा की और अपनी अत्यन्त ओजस्विनी रचनाओं के द्वारा उनके साहस को प्रबल प्रोत्साहन दिया। वस्तुतः इस कवि के हृदय में स्वदेशाभिमान की भावनाएँ सदा हिलोरें लेती रहती थीं। इसीलिए अपने स्वामी और सम्राट अकबर को 'नौ रोज़' का मेला लगाने पर स्पष्ट फटकार लगाने में ये नहीं हिचकिचाये। महाराणा प्रताप के नाम लिखा हुआ इनका एक पत्र ही इन्हें हिन्दी-साहित्य में प्रतिष्ठित पद पर पहुँचा देता है, किन्तु राजस्थानी साहित्य में ये अपनी शृंगारी रचना के कारण अत्यन्त लोकप्रिय हैं। 'कृसन रुकमणी री वेल' नामक इनकी शृंगारिक रचना अत्यन्त सरस और सुन्दर है। यहाँ महाराणा प्रताप के नाम लिखे गये पत्र का कुछ अंश उद्धृत किया जाता है—

धर बांकी दिन पाधरा, मरद न मूकै माण।
वणां नरिन्दा घेरियो, रहै गिरिन्दां राण॥

पातल राण प्रवाड़ मल, बांकीं घड़ा बिभाड़।
खूंदाड़ै कुण है खुरां, तो ऊभां मेवाड़॥
माई एहा पूत जण, जेहा राण प्रताप।
अकबर सूतो ओधकै, जाण सिराणै सांप॥
अकबर समद अथाह, तिहं डूबा हिन्दू तुरक।
मेवाड़ो तिड़ मांह, पोयण फूल प्रतापसी॥

बनवारी—इनका रचनाकाल सं० १६९०—१७०० तक है। विशेष वृत्त कुछ ज्ञात नहीं हो सका। महाराजा जसवन्तसिंह के बड़े भाई अमरसिंह ने उन्हें 'गँवार' कहनेवाले सलावतखाँ को भरे दरबार में शाहजहाँ के सामने तलवार के घाट उतार दिया था। बनवारी ने अमरसिंह की उक्त वीरता का बड़ा ही ओजस्वी वर्णन किया है। एक नमूना देखिए—

धन्य अमर छिति छत्रपति अमर तिहारो नाम।
सहाजहां की गोद में, हन्यो सलावत खान॥
उत गकार मुखते कढ्यो, इतै कढ़ी जमधार।
बार कहन पायो नहीं, भई कटारी पार॥

भूषण—इनका जन्म सं० १६७० तिकवाँपुर में और मृत्यु सं० १७७२ में हुई।

वीररस के प्रसिद्ध महाकवि 'भूषण' प्रसिद्ध कवि मतिराम व चिंतामणि त्रिपाठी के भाई थे। चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र ने इन्हें 'कविभूषण' की उपाधि दी थी। तभी से ये भूषण के नाम ही से प्रसिद्ध हो गये। इनका वास्तविक नाम किसी को ज्ञात नहीं। पहले यह अनेक राजाओं के यहाँ रहे, पर अन्त में अपनी विचारधारा के अनुकूल छत्रपति महाराज शिवाजी के यहाँ जा पहुँचे। पन्ना के महाराज छत्रसाल भी इनका बहुत सम्मान करते थे। यहाँ तक कि एक बार उन्होंने इनकी पालकी में अपना कन्धा लगाया था। इन्हें एक-एक कविता पर महाराज शिवाजी से लाखों रुपये, कई गाँव तथा हाथी प्राप्त हुए थे।

अन्यान्य रीति-कालिक कवियों ने या तो शृंगारिक वर्णन किये हैं अथवा अपने आश्रय-दाताओं की झूठी प्रशंसा में पृष्ठ के पृष्ठ रंग डाले हैं। किन्तु भूषण ने न तो जनता की कुत्सित वृत्तियों को जागृत करने वाली शृंगारिक रचना ही लिखी

और न किसी राजा की चाटुकारितापूर्ण झूठी प्रशंसा ही की। इन्होंने अत्याचार का दमन करने वाले, देश की स्वतन्त्रता के सच्चे पुजारी महापराक्रमी महापुरुषों की सच्ची वीरता का बखान कर कवि-कर्त्तव्य का पूर्णरूपेण पालन किया है। यही कारण है कि अन्यान्य कवियों द्वारा अपने आश्रय-दाता की प्रशंसा में लिखी हुई किसी रचना या कविता का आज कोई नाम भी नहीं लेता, किन्तु भूषण के कवित्तों को जनता बड़े उत्साह से पढ़ती है। इनके 'शिवराज-भूषण' 'शिवा-बावनी' और 'छत्रसाल-दशक' ये तीन ग्रन्थ हैं।

भूषण की राष्ट्रीयता—पिछले दिनों हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का आभास पाकर कुछ नेतागण भूषण की रचनाओं में राष्ट्रीयता के विरोधी तत्त्वों की गन्ध पाने लगे और उन्होंने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की परीक्षा में से शिवा-बावनी को निकलवा दिया। इस सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि एक तो किसी उत्कृष्ट साहित्यकार का बहिष्कार वैसे ही नितान्त अनुचित है, उस पर भूषण को राष्ट्रीयता का विरोधी कहना तो किसी प्रकार युक्ति-संगत दिखाई नहीं देता। माना कि भूषण ने औरंगज़ेब आदि म्लेच्छ शासकों की निन्दा में कुछ पद लिखे हैं, किन्तु उन्होंने केवल मुसलमान होने के नाते न तो किसी की निन्दा की है और न हिन्दू होने के कारण किसी की स्तुति। वे जाति, धर्म या सम्प्रदाय के भेदभाव या पक्षपात के बिना अत्याचारियों की निन्दा और अत्याचार के विरोधियों की प्रशंसा में अपनी प्रतिभा का प्रयोग करते रहे। उन्होंने औरंगज़ेब आदि की निन्दा इसलिए नहीं की कि वे मुसलमान थे प्रत्युत अत्याचारी होने के कारण उनकी निन्दा करनी पड़ी। जो लोग भूषण की रचनाओं में किसी प्रकार की अराष्ट्रीयता की गन्ध पाते हैं उनके मत में कोई भी रचना स्थायी राष्ट्रीय साहित्य की श्रेणी में नहीं आ सकेगी। क्योंकि राष्ट्रीयता या देश-भक्ति की परिभाषा परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। आज से सौ-डेढ़सौ वर्ष पूर्व तक हमारे लिए मुसलमान वैसे ही विदेशी शासक थे जैसे कि इस युग में अंग्रेज़। और आज अंग्रेज़ भी विदेशी शासक के रूप में यहाँ नहीं रहा वह भी भाईचारे की भावना से ही भारत में रह रहा है। अतः शरत्‌बाबू का 'पथेरदावी' (पथ के दावेदार) सरीखे उपन्यास और सुन्दरलाल जी के 'भारत में अंग्रेज़ी राज्य' जैसे इतिहास जो कि पहले अंग्रेज़ों के विरोधी होने के कारण या यूं कहें कि राष्ट्रीय होने के कारण सदा ज़ब्त किये जाते रहे थे अब अंग्रेज़ और भारतीय भाइयों में वैमनस्य के प्रचारक होने के कारण अराष्ट्रीय करार दे दिये जाने चाहिएँ। ऐसा करना यदि न्याय्य और युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता तो कोई कारण नहीं कि भूषण की रचनाओं को अराष्ट्रीय कहकर परीक्षाओं से निष्कासित कर दिया जाय।

भूषण की भाषा में अव्यवस्थिता का दोष दिखाया जाता है, और यह सत्य भी है, किन्तु यह दोष रीतिकाल के प्रायः सभी लेखकों में पाया जाता है। छत्रसाल दशक आदि भूषण की प्रवाहात्मक रचनाओं की भाषा अत्यन्त ही परिष्कृत और सुव्यवस्थित है। भाषा का दोष केवल उन्हीं रचनाओं में आ गया जो किसी घटना को लेकर किसी अलंकार के उदाहरण के रूप में लिखी गई हैं। अर्थात् शिवराज भूषण की भाषा में ही कहीं-कहीं शैथिल्य है अन्यत्र नहीं।

इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिए, कि तात्कालिक कवि-परम्परा की परिपाटियों से परिवेष्टित होने के कारण इस कवि की रचना पर्याप्त लोक-प्रियता प्राप्त न कर सकी। इनका सबसे बड़ा ग्रंथ 'शिवराज भूषण' शिवाजी की यशोगाथा का विस्तारक होते हुए तथा अपना ऐतिहासिक मूल्य रखते हुए भी जन-साधारण के सम्पर्क में नहीं आ पाया। क्योंकि यह अलंकारों के लक्षणोदाहरणों के रूप में लिखा गया है। यदि यह प्रबंधकाव्य के रूप में प्रस्तुत होता तो अवश्य हीं प्रजाजनों से पर्याप्त प्रशंसा और प्रेम प्राप्त कर लेता।

कुछ वर्ष हुए भूषण के समय के सम्बन्ध में एक विवाद उठ खड़ा हुआ था। कुछ आलोचकों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि महाकवि भूषण शिवाजी के समय में नहीं प्रत्युत शिवाजी के पौत्र महाराज शाहूजी के समय में हुए थे। किन्तु—'शाहू को सराहूँ कि सराहूँ छत्रसाल को' इत्यादि काव्यांशों में उन्होंने महाराज शाहूजी की प्रशंसा अवश्य की है और वे शाहूजी के समय तक विद्यमान भी रहे थे। पर वे निश्चित रूप से शिवाजी के दरबार में रहने वाले कवि थे। उन्होंने शिवाजी की वीरता का आँखों देखा ऐतिहासिक वर्णन किया है। स्थान-स्थान पर वर्तमान काल का प्रयोग है। उन दिनों कोई भी परवर्ती कवि ऐसा सजीव सत्य वर्णन नहीं कर सकता था। अतः जो लोग यह कहते हैं कि भूषण शिवाजी के समय में नहीं प्रत्युत शाहूजी के समय में हुए थे, वे सर्वथा भ्रम में हैं। भूषण की कुछ रचनाओं के नमूने नीचे दिये जाते हैं—

दारा की न दौर यह, रार नहीं खजुवे की,
बाँधिबो नहीं है कैधौं मीर सहवाल को।
मठ विश्वनाथ को, न बास ग्राम गोकुल को,
देवी को न देहरा, मंदिर गोपाल को॥
गाढ़े गढ़ लीन्हें अरु बैरी कतलाम कीन्हें,
ठौर ठौर हासिल उगाहत है साल को।

बूड़ति है दिल्ली सो,सँभारै क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकाल को ।।
चकित चकत्ता चौंकि-चौंकि उठै बारबार,
दिल्ली दहसति चितै चाहि करषति है ।
बिलखि बदन बिलखत विजैपुर-पति,
फिरत फिरंगिन की नारी फरकति है ।।
थर-थर कांपत कुतुबसाहि गोलकुंडा,
हहरि हबस-भूप-भीर भरकति है ।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि,
केते बादसाहन की छाती धरकति है ।।

जिहि फन फूतकार उड़त पहार भार,
कूरम कठिन जनु कमल बिदलिगो ।
विषजाल-ज्वालामुखी लवलीन होत जिन,
झारन चिकारि मद दिग्गज उगलिगो ।।
कीन्हो जिहि पान पयपान सो जहान कुल,
कोलहू उछलि जलसिंधु खलभलिगो ।
खग्ग-खगराज महाराज सिवराजजू को,
अखिल भुजंग मुगल दल निगलिगो ।।

गुरु गोविन्दसिंह—ये सिक्खों के दसवें और अन्तिम गुरु थे। इनका जन्म सं० १७२३ में पटने में और सत्य-लोक-वास सं० १७६५ में दक्षिण हैदराबाद में गोदावरी नदी के तट पर अविचल नामक नगर में हुआ था। यहीं पर भादों वदी चतुर्थी को दो पठानों ने पेट में छुरा भोंककर इनकी इहलोकलीला समाप्त कर दी। आपने भी उनमें से एक आततायी का वहीं अन्त कर दिया। आपके पिता श्री गुरु तेग़बहादुर का यवनों ने बड़ी क्रूरता के साथ वध किया था। दिल्ली का चाँदनी चौक वाला शीशगंज नामक गुरुद्वारा श्री गुरु तेग़बहादुर के अमर बलिदान को अहर्निश घोषित कर रहा है। गुरु गोविन्दसिंह ने अपने पूर्ववर्ती नौ अहिंसा के

उपासक सन्तस्वभाव के गुरुओं की विचारधारा में सहसा क्रांति उपस्थित कर इस सन्त सम्प्रदाय के अनुयायियों को वीरव्रत की दीक्षा दे उन्हें कर्मयोगी शिष्य या सिक्ख बना दिया। इस प्रकार एक बड़ी दृढ़ वीरवाहिनी प्रस्तुत कर हिन्दु धर्म की रक्षा के लिए इस महापुरुष ने अपने तथा अपने परिवार के प्राणों की बाज़ी लगा दी। तिलक और जनेऊ की रक्षा के लिए इनकी तलवार सदा खुलकर खेला करती और ये अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए सदा सन्नद्ध रहते। यहाँ तक कि अपने दोनों लाड़ले लालों को जीते जी सरहिंद की दीवारों में चुने जाते देखकर भी इनके या उन बच्चों के हृदय में हिंदु धर्म के प्रति आस्था तिल भर भी शिथिल न हुई। इस वीर और विद्वान् महापुरुष ने एक बड़ा भारी सैनिक संगठन तो अवश्य कर दिया किन्तु सेनापति के स्थान पर शोभित होने वाले, परम्परा से प्राप्त गुरु के प्रतिष्ठित पद का भी अन्त कर दिया। उन्होंने शायद (गुरुडम) की बुराइयों को देखकर ही ऐसा किया होगा। गुरुजी ने सुनीतिप्रकाश, सर्वलोहप्रकाश, प्रेमसुमार्ग, बुद्धिसागर, चण्डीचरित्र, आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की। चण्डीचरित्र दुर्गासप्तशती के आधार पर लिखा हुआ इनका बड़ा ही ओजस्वी वीर काव्य है। इनकी भाषा भी अत्यन्त सुव्यवस्थित, प्रौढ़ साहित्यिक व्रज है। इन्होंने स्वयं तो बहुत कुछ लिखा ही, साथ ही सूर्यप्रकाश आदि काव्य महाकवि संतोषसिंह आदि दूसरे विद्वानों से भी लिखवाये। ऐसे विद्वानों में सन्त गुलाबसिंह का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनके लिखे हुए वेदान्त-सम्बन्धी चार ग्रंथों का वेदान्त-प्रेमी सिक्खों में बड़ा आदर है। गुरुजी ने अपने अनेक शिष्यों को काशी भेज कर वेदों का सांगोपांग अध्ययन करवाया। दशम गुरुग्रन्थ में इनकी बाणियों का संग्रह है। इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

> निर्जर निरूप हो कि सुन्दर स्वरूप हो कि,
> भूपन के भूप हो कि दाता महादान हो ?
> प्रान के बचैया दूध पूत के दिवैया,
> रोग सोग के मिटैया किधौं मानी महामान हो ?
> विद्या के विचार हो अद्वैत अवतार हो कि,
> सुद्धता की मूर्ति हो कि सिद्धता की सान हो ?
> जोबन के जाल हो कि कालहू के काल हो कि,
> सत्रुन के सूल हो कि मित्रन के प्रान हो ?

कहा भयो जो सब जग जीत सु लोगन को बहुत्रास दिखायो।
और कहा जु पै देस विदेसन मांहि भले गज गाहि बंधायो ।।
जो मन जीतत है सब देस वहै तुमरे नृप हाथ न आयो।
लाज गई कछु काज सरचो नहिं लोक गयो परलोक गमायो ।।

लालकवि—इनका जन्म सं० १७१४ तथा मृत्यु सं० १७६४ के बाद किसी समय महाराजा छत्रसाल के साथ किसी युद्ध में हुई थी।

मऊ निवासी इस वीर कवि का पूरा नाम गोरेलाल पुरोहित था। इन्होंने अपने छत्रप्रकाश काव्य में चम्पतराय के पुत्र प्रसिद्ध देश-भक्त महाराज छत्रसाल की वीरता का अत्यन्त विशद, ओजस्वी और सरल भाषा में वर्णन किया है। इसमें शब्दाडम्बर या व्यर्थ के वर्णन-विस्तार का कहीं नाम भी नहीं है। ऐतिहासिक घटनाएँ भी बिना किसी तोड़-मरोड़ के सर्वथा सत्य रूप में अंकित की गई हैं। बुन्देलवंश की उत्पत्ति, चम्पतराय के विजय-वृत्तान्त व उन पर मुग़लों के आक्रमण, तथा छत्रसाल द्वारा औरंगज़ेब के हाथों से पुन: अपने राज्य का उद्धार और अनेक प्रदेशों पर विजय आदि ऐतिहासिक तथ्यों तथा प्रबन्ध-काव्योचित सभी गुणों के सर्वांगीण समावेश के कारण छत्रप्रकाश का हिन्दी साहित्य में विशेष स्थान है। इसके अतिरिक्त विष्णु-विलास और राज्य-विनोद नामक इनके दो अन्य ग्रन्थ भी कहे जाते हैं। 'छत्रप्रकाश' काशी-नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुका है। क्योंकि उक्त ग्रंथ में छत्रसाल का जीवन वृत्त सं० १७६४ तक का दिया गया है। इसलिए प्रतीत होता है कि ये उक्त सं० में ही इस संसार से उठ गये थे। या यह ग्रंथ अधूरा है। 'छत्र-प्रकाश' दोहा, चौपाई, छन्द में लिखा गया है। वीर रस का परिपाक, उक्त दोहा-चौपाई आदि में ठीक नहीं हो सकता अत: यदि ये कवित्त आदि छन्दों में अपनी रचना करते तो अत्यधिक सफलता और लोक-प्रियता प्राप्त कर लेते। इनकी रचना का एक नमूना देखिए—

जिन में छिति छत्री जाये। चारिहु युगन होत जे आये ।।
भूमि भार भुज दंडिन थम्भे। पूरन करे जु काज अरम्भे ।।
गाय वेद द्विज के रखवारे। जुद्ध जीति जे देत नगारे ।।
छत्रिन की यह वृत्त बनाई। सदा जंग की खांय कमाई ।।
गाय वेद विप्रन प्रतिपालैं। घाउ ऐंड़धारिन पर घालैं ।।
उद्यम तें संपति घर आवै। उद्यम करै सपूत कहावै ।।

उद्यम करै संग सब लागै । उद्यम तें जग में जस जागै ।।
समुद उतरि उद्यम तें जैये । उद्यम तें परमेश्वर पैये ।।
जब यह सृष्टि प्रथम उपजाई । जंग वृत्ति क्षत्रिन तब पाई ।।
यह संसार कठिन रे भाई । सबल उमड़ि निर्बल को खाई ।।
छनिक राज-सम्पति के काजै । बंधुन मारत बन्धु न लाजै ।।
कछु कालगति जानि न जाई । सब में कठिन कालगति भाई।।
सदा प्रबुद्धि बुद्धि है जाकी । तासों कैसे चले कजा की ।।
साहस तजि उर आलस मांड़े । भाग भरोसे उद्यम छांड़ै ।।
ताहि तजै जग सम्पति ऐसे । तरुनी तजै वृद्धपति जैसे ।।

सूदन—ये मथुरा-निवासी चौबे ब्राह्मण थे, और भरतपुर नरेश सुजान सिंह उपनाम सूरजमल के आश्रय में रहते थे । इन्होंने अपने आश्रयदाता की वीरता के वर्णन में सुजानचरित्र नामक प्रबन्ध-काव्य लिखा । भरतपुर के इन जाट नरेशों का भारतीय वीरता के इतिहास में अपना एक विशेष स्थान है। मुग़ल साम्राज्य के अंतिम दिनों में इनकी वीरता अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी। पानीपत की तीसरी लड़ाई में भरतपुर-नरेश ने अपने प्रचण्ड पराक्रम के अपूर्व जौहर दिखाए थे, किन्तु अन्तिम दिनों में पासा पलटा और इनकी इच्छानुसार सैन्य-संचालन न हो पाया इसलिए ये पेशवा से रूठ कर वापिस भरतपुर को लौट आये । फलतः मराठों को पराजय का मुंह देखना पड़ा ।

प्रस्तुत पुस्तक में ऐतिहासिक घटनाओं का बिल्कुल यथार्थ वर्णन है। अहमदशाह बादशाह के सेनापति असदखाँ ने जब फ़तहअली पर चढ़ाई कर दी तो सूरजमल ने फ़तहअली की सहायता कर असदखाँ की सेना के परखचे उड़ा दिये और असदखाँ का काम तमाम कर दिया । इन्होंने मांडवगढ़ और मेवाड़ के कुछेक प्रदेशों को जीतकर जयपुर-नरेश की सहायता की, और मराठों का मुंह मोड़ दिया । फिर इन्होंने बादशाह के सेनापति सलावतखाँ को परास्त किया, पठानों पर आक्रमण किया , और बादशाह से लड़ कर दिल्ली को भी लूट लिया । सुजान-चरित्र में य सब घटनाएँ अपने वास्तविक रूप में घटित की गई हैं । इसीलिए यह काव्य अपना विशेष ऐतिहासिक महत्त्व रखता है । सूदन ने युद्ध तथा सैनिकों में अपूर्व उत्साह का संचार कर देने वाली वीरोल्लासमयी वक्तृताओं व साहसी शूर-वीरों के हृदयों की उमंगमयी उत्ताल तरंगों का बड़ी सजीव और ओजस्वी भाषा में वर्णन किया है । यह काव्य वास्तव में एक वीर

काव्य है, अतः रणक्षेत्र में सन्नद्ध वीरों को इसके कड़कड़ाते कवित्त जैसे प्रभावित कर पाते हैं वैसे आज के शान्तचित्त रसिक पाठकों को नहीं। इसमें एकमात्र वीररस ही आदि से अन्त तक प्रवाहित हो रहा है। कवि ने इसके अध्यायों का नाम भी जंग रखा है। यह ग्रन्थ सात जंगों तथा विविध छन्दों में लिखा गया है। उक्त विशेषताओं के साथ-ही-साथ इसमें कुछ-एक त्रुटियाँ भी हैं। जैसे कि वर्णनों का अत्यधिक विस्तार, घोड़ों, शस्त्रों आदि के असंख्य नामों की भरमार। यह इसके साहित्यिक सौन्दर्य को न्यून कर देती हैं। ऐसे विस्तृत वर्णन प्राचीन-काव्य-शैली के एक आवश्यक अंग समझे जाते रहे। आज के पाठकों का भले ही उनको पढ़ते-पढ़ते चित्त ऊब जाय पर पुराने पाठक उनमें भी खूब रस लेते थे, इसमें कुछ सन्देह नहीं। प्रस्तुत पुस्तक का रचनाकाल संवत् १८१०-१८२० के लगभग माना गया है, क्योंकि इसमें सं० १८०२ से १८१० तक की घटनाओं का वर्णन है। इसकी कुछ एक कविताएँ देखिए—

सेलनु धकेला ते पठान मुख मैला होत,
केते भट मेला हैं भजाये भुव भंग में।
तंग के कसे ते तुरकानी सब तंग कीनी,
दंग कीनी दिली औ दुहाई देत बंग में॥
सूदन सराहत सुजान किरवान गहि,
धायो धीर धरि वीरताई की उमंग में।
दक्खिनी पछेला करि खेला ते अजब खेल,
हेला मारि गंग में रुहेला मारे जंग में॥

आप विख चाखै भय्या षट् मुख राखे देखि,
आसन में राखै बस बास जाको अँचलै।
भूतन के छैया आस पास के रखैया और,
कलि के नथैया हूँ के ध्यान हूँ ते न चलै॥
बैल बाघ बाहन बसन को गयन्द खाल,
भांग को धतूरे को पसारि देत अंचलै।
घर को हवाल यहै संकर की बाल कहै,
लाज रहै कैसे, पूत मोदक को मचलै॥

धड़धद्धरं धड़धद्धरं भड़भब्भरं भड़भब्भरं,
तड़तत्तरं तड़तत्तरं कड़कक्करं कड़कक्करं ।
दब्बत लुत्थिन अब्बत, इक सुखब्बत से,
चब्बत लोह अचब्बत सोनित गब्बत से ।।
चुट्टित खुट्टित केस सुलुट्टित इक्क मही,
चुट्टित पुट्टित सीस सुखुट्टित तंग गही ।
कुट्टित घुट्टित काय बिघुट्टित प्रान सही,
छुट्टित आयुध हुट्टित गुट्टित देह दही ।।

जोधराज—ये बालकृष्ण गौड़ ब्राह्मण के पुत्र थे और नीमराणा (अलवर) के राजा चन्द्रभान के आश्रय में रहते थे । इन्होंने रणथम्भोर के महाराज हम्मीरदेव की वीरता का वर्णन करने के लिए 'हम्मीररासो' संवत् १८७५ में लिखा था । महाराज हम्मीर ने अलाउद्दीन से डटकर लोहा लिया था । इतिहास के इसी गौरवशाली पृष्ठ की कथा जोधराज ने बड़े ही ओजपूर्ण शब्दों में कही है । इसमें न कहीं विशेष अत्युक्ति है न अनैतिहासिक कल्पनाएँ ही । मुसलमानों से टक्कर लेने वाले प्राचीन वीर की कथा जोधराज ने बड़ी ही उपयुक्त और प्रभावपूर्ण कविताओं में कहकर कवि-कर्त्तव्य का पूरा-पूरा पालन किया । इनकी कविता का एक-एक पद कवि-हृदय की भावनाओं को अभिव्यक्त करता है । इनकी कविता के कुछ नमूने देखिए—

कब हठ करै अलावदी रणथंभवर गढ़ आहि ।
कबै सेख सरनै रहै बहुरचो महिमा साहि ।।
सूर सोच मन में करौ, पदवी लहौ न फेरि ।
जो हठ छांड़ो राव तुम, उत न लजै अजमेरि ।।
सरन राखि सेख न तजौ, तजौ सीस गढ़ देश ।
रानी राव हमीर कों, यह दीनों उपदेश ।।
कहँ पँवार जगदेव सीस आप कर कट्टचो ।
कहाँ भोज विक्रम सुराव जिन पर दुख मिट्टचो ।।
सवा भार नित करन कनक विप्रन को दीनो ।
रह्यो न रहिये कोय देव नर नाग सु चीनो ।।

यह बात राव हम्मीर सू रानी इमि आसा कही।
जो भई चक्कवै-मंडली सुनौ राव दीखै नहीं॥
जीवन-मरन-संजोग जग कौन मिटावै ताहि।
जो जनमै संसार में अमर रहै नहिं आहि॥
कहाँ जैत कहँ सूर, कहाँ सोमेश्वर राणा।
कहाँ गये प्रथिराज साह दल जीति न आणा॥
होतब मिटै न जगत में कीजै चिन्ता कोहि।
आसा कहै हमीर सों अब चूको मत सोहि॥

चन्द्रशेखर वाजपेयी—ये मुअज्जमाबाद के निवासी थे। इनका जन्म सं० १८५५ और देहान्त सं० १९३० में हुआ था। ये जोधपुर के महाराज मानसिंह के यहाँ रहे। अन्तिम दिनों में ये पटियाला-नरेश कर्मसिंह के आश्रय में जा पहुँचे। पटियाला के महाराज नरेन्द्रसिंह की प्रेरणा से इन्होंने अपना प्रसिद्ध काव्य 'हम्मीर-हठ' लिखा। इस काव्य में वीर दर्प की बड़ी सुन्दर और ओजपूर्ण व्यंजना हुई है। काव्य के पद-पद में उत्साह का प्रभाव उमड़ रहा है। इनकी-सी सुव्यवस्थित, परिमार्जित और ओजस्वी भाषा इने-गिने ही वीर कवियों में दिखाई देती है। व्यर्थ के शब्दाडम्बर या नामों की भरमार या अनावश्यक वर्णन नहीं किया गया। भूषण में वीर काव्योचित अनेक गुणों के रहते हुए भी रीति की रूढ़िबद्धता से उसका महत्त्व कम हो गया। लाल के छत्र-प्रकाश की दोहा-चौपाई-पद्धति वीर काव्यों के लिए अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ती। दोहा, चौपाई, छन्द में हृदय की उद्दाम प्रवृत्तियों का निरूपण भली-भाँति हो ही नहीं सकता। व्यर्थ के वर्णन-विस्तार ने सूदन के काव्य को साधारण कोटि में ला बैठाया किन्तु चन्द्रशेखरके 'हम्मीरहठ' में उक्त किसी प्रकार की त्रुटि नहीं है। नवीन उद्भावनाएँ या कल्पनाएँ करने के पचड़े में न पड़कर इस कवि ने प्राचीन साहित्यिक परम्परा से प्राप्त घटनाओं और कल्पनाओं के सहारे ही इस काव्य की रचना की है और अधिकतर जोधराज के हम्मीर रासो का सहारा लिया गया है। फिर भी यह उससे सर्वथा स्वतन्त्र, मौलिक और साहित्यिक महत्त्व से युक्त रचना है। हम्मीरहठ का वीर साहित्य में पर्याप्त सम्मानपूर्ण स्थान है। इस कवि की भाषा अत्यन्त अलंकृत व स्वाभाविक सौन्दर्य-समन्वित है। विषय के अनुसार पदावली में परिवर्तन चन्द्रशेखर की अपनी विशेषता है।

इनकी वीर रसात्मक कविताओं को पढ़ते-पढ़ते पाठक के भुज-दण्ड फड़कने लगते हैं, तो उधर शृंगारी कविताएँ रसिक के अन्तर्तम को रस-विभोर कर देती हैं। यह काव्य सचमुच हिन्दी साहित्य का एक उज्ज्वल रत्न है। हम्मीर हठ के अतिरिक्त

इस कवि ने विवेक-विलास, रसिक-विनोद, हरि भक्तिविलास, नखशिख, वृन्दावन-शतक, गुहपंचाशिका, ताजिक ज्योतिष, माधवी वसन्त ये आठ अन्य पुस्तकें भी लिखी थीं। इनके हम्मीर हठ की कुछ कविताएँ देखिए—

उवै भानु पच्छिम प्रतच्छ, दिन चंद प्रकासै।
उलटि गंग बरु बहै, काम रति प्रीति बिनासै॥
तजै गौरि अरधंग, अचल ध्रुव आसन चल्लै।
अचल पवन वरु होय, मेरु मन्दर गिरि हल्लै॥
सुरतरु सुखाय, लोमस मरै, मीर! संक सब परिहरौ।
मुख-बचन वीर हम्मीर को बोलि न यह कबहूँ टरौ॥

भागे मीरजादे पीरजादे और अमीरजादे,
भागे खानजादे प्रान मरत बचाय कै।
भागे गज बाजि रथ पथ न सँभारैं, परैं,
गोलन पै गोल, सूर सहमि सकाय कै॥
भाग्यो सुलतान जान बचत न जानि बेगि,
बलित वितुण्ड पै बिराजि बिलखाय कै।
जैसे लगे जंगल में ग्रीषम की आगि,
चलै भागि मृग महिष बराह बिललाय कै॥

थोरी थोरी बैसवारी नवल किसोरी सबै,
भोरी भोरी बातन विहँसि मुख मोरतीं।
बसन विभूषन विराजत विमल वर,
मदन मरोरनि तरकि तन तोरतीं॥
प्यारे पातसाह के पास अनुराग-रंगीं,
चाय भरी चायल चपल दृग जोरतीं।
काम-अबला सी, कलाधर की कला सी,
चारु चंपक-लता सी चपला सी चित-चोरती॥

डिंगल भाषा का परवर्ती साहित्य

डिंगल भाषा के वीरगाथाकालीन साहित्य का परिचय पहले दिया जा चुका है। पूर्वनिर्दिष्ट रचनाओं के अतिरिक्त भी डिंगल भाषा में सैकड़ों छोटी-मोटी रचनाएँ लिखी जाती रहीं। इस भाषा का साहित्य 'ख्यात' अर्थात् इतिहास, 'बात' अर्थात् वार्ता या कल्पित कथा, 'गीत', 'प्रसंग', 'दासतान', 'वाचनिका' आदि कई

रूपों में उपलब्ध हैं। इसके जिन प्रमुख साहित्यकारों का उल्लेख पहले नहीं हुआ उनका परिचय यहाँ दिया जाता है—

श्रीधर—इन्होंने सं० १४५४ में 'रणमल छन्द' नामक रचना में ईडर के राठौर राजा रणमल की वीरता का वर्णन किया था।

शिवदास—गगरोलगढ़ (कोटा राज्य) के राजा अचलदास खींची के आश्रित इस कवि ने सं० १४७० में 'अचलदास खीचीरी वाचनिका' नामक पुस्तक में उक्त महाराज के साथ मांडू के सुलतान के युद्ध का वर्णन किया है।

सूजो—बीठू खाप के इस चारण कवि ने 'राऊ जेइतसी रा छन्द' नामक रचना में बाबर के द्वितीय पुत्र कामरान के साथ बीकानेर के राव जैतसिंह के युद्ध का वर्णन है। पुस्तक ऐतिहासिक दृष्टि से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। इसका रचनाकाल सं० १६०० है।

ईश्वरदास—मारवाड़ के भद्रसेन नामक ग्राम के निवासी इस भक्त चारण ने हरिरस, बाललीला, गरुड़पुराण, सभापर्व, हालाझालारा कुंडलियाँ, गुणआगम, रासकैलाश आदि कई ग्रन्थ सं० १६१५ से १६७५ तक लिखे।

दयालदास—मेवाड़निवासी इस भाट कवि ने 'राणारासो', ''रासो को अंग' और 'अकल को अंग' ये तीन ग्रन्थ सं० १६७५ के लगभग लिखे। ये एक अच्छे भावुक कवि थे। अतः राणारासो में मेवाड़ का इतिहास पर्याप्त सफलतापूर्वक लिख सके।

जग्गाजी—इस चारण कवि के 'रतन महेसदासोतरी वाचनिका' नामक ग्रन्थ में जोधपुर के महाराज जसवन्तसिंह के साथ शाहजहाँ के विद्रोही पुत्र औरंगजेब के युद्ध का वर्णन है। इस युद्ध में रतलाम-नरेश रतनसिंह ने विशेष वीरता दिखाई थी अतः उन्हीं के नाम पर यह पुस्तक उक्त युद्धकाल सं० १७१५ के लगभग लिखी गई थी। पुस्तक में गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है।

मुहणोत नैणसी—ये जोधपुर-नरेश जसवन्तसिंह के मंत्री थे। इन्होंने सं० १७२० के लगभग 'मुहणोत नेणसीरी ख्यात' नामक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक गद्य-ग्रन्थ में राजपूताना के ३६ राजवंशों का विस्तृत इतिहास लिखा।

मान—इस मेवाड़ी कवि ने सं० १७३७ में उदयपुर के महापराक्रमी महाराणा राजसिंह की वीरता का वर्णन करने के लिए 'राजविलास' नामक सुन्दर ऐतिहासिक काव्य लिखा। ग्रन्थ में शृंगार और वीर रस प्रधान हैं।

हरिदास—इस भाट कवि ने सं० १७६३ में 'अजीतसिंह-चरित्र' नामक ग्रन्थ में महाराजा जसवन्तसिंह और उनके पुत्र अजीतसिंह का इतिहास संवतों के साथ लिखा था।

वीरभाण—इस चारण सुकवि ने 'राजरूपक' में जोधपुर के महाराज अभयसिंह और अहमदाबाद के सूबेदार सरबलंदखाँ के युद्ध का वर्णन सं० १८०६ में किया था।

करणीदान—मेवाड़ के शूलवाला ग्राम के निवासी इस चारण कवि ने 'सूरजप्रकाश' में महाराज अभयसिंह तक का जोधपुर का इतिहास दिया है।

गोपीनाथ—बीकानेर-नरेश के आश्रित इस कवि ने 'ग्रन्थराज' (गजसिंह-रूपक) में महाराज गजसिंह का चरित्र सं० १८०० में लिखा था। ये डिंगल भाषा के श्रेष्ठ कवि थे।

हुक्मीचन्द—जयपुर के भड़ेडिया नामक ग्राम के निवासी और जयपुर-नरेश प्रतापसिंह के आश्रित, इस कवि के दोहे, कुण्डिलियाँ, छप्पय आदि राजस्थान में अत्यन्त ही लोकप्रिय हैं। इनका रचनाकाल सं० १८२० है।

मंछाराम—जोधपुर के निवासी इस कवि ने सं० १८६३ में 'रघुनाथ रूपक' नामक रीतिग्रन्थ लिखा जिसके उदाहरणों में रामायण की कथा क्रम से कही गई है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अनुपम है।

महाराजा मानसिंह—जोधपुर के इन महाराज ने हिन्दी और संस्कृत में लगभग २५ ग्रन्थ लिखे थे। इनका जन्म सं० १८३९ में हुआ था।

बांकीदास—इस चारण कवि ने २७ ग्रन्थ लिखे, जिनसे राजपूताने के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ये ग्रन्थ काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा से प्रकाशित हो चुके हैं। कवि का जन्म सं० १८२८ में और देहान्त १८९० में हुआ था।

किशनजी—मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह के आश्रित इसकवि ने भीमविलास, रघुवरजसप्रकाश नामक ग्रन्थों में क्रमशः महाराणा भीमसिंह का जीवनचरित्र और छन्दों का वर्णन किया है। इनकी भाषा प्रौढ़ और परिमार्जित है। इनका रचनाकाल सं० १८३४ से १८८८ है।

बख्तावरजी—इस मेवाड़ी कवि ने सं० १९०० के लगभग केहरप्रकाश, रसोत्पत्ति संचार्णव, आदि ११ ग्रन्थ बनाये थे।

सूर्यमल—बून्दी-राज्य के आश्रित इस कवि ने वंशभास्कर और वीरसतसई नामक दो ग्रन्थ लिखे। इनका वंश-भास्कर अत्यन्त प्रसिद्ध है। किन्तु साहित्यिक दृष्टि से वीरसतसई अत्युत्कृष्ट रचना है। इनकी कविता में वीर भावनाओं की बड़ी ही मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। इनका जन्म सं० १८७२ और देहान्त १९२० में हुआ था।

दुरसा जी—इस मेवाड़ी कवि ने महाराणा प्रताप सिंह की वीरता का बड़े ही उत्साह जनक रूप में वर्णन किया है।

मुरारीदान—डिंगल भाषा के महान् विद्वान् इस कवि ने डिंगल-कोष और वंश-समुच्चय नामक ग्रन्थ लिखे। ये सूर्यमलजी के दत्तक पुत्र थे और उनके वंश-भास्कर को इन्होंने पूरा किया था।

ऊमरदान—इस मारवाड़ी कवि ने बहुत-सी सुधारवादी कविताएँ लिखीं, जो 'ऊमरकाव्य' के नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं। इनका जन्म सं० १९०८ में हुआ था।

बालाबक्श—जयपुर राज्य-निवासी इस चारण-कवि ने १९ ग्रन्थ तथा बहुत-सी फुटकर कविताएँ लिखीं और काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा को १२०००) रुपये दान दिया जिससे इनके नाम पर पुस्तकमाला प्रकाशित हो रही है। इनका जन्म सं० १९१२ में और देहान्त १९९८ में हुआ था।

महाराज चतुरसिंह—मेवाड़ के राजवंशज हिन्दी संस्कृत आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता इस कवि ने शान्तरस और भक्ति से पूर्ण १६ ग्रन्थ लिखे थे। इनका जन्म सं० १९३३ में हुआ था।

अभ्यास

१. महाकवि भूषण के रचनाकाल पर प्रकाश डालते हुए उनकी रचनाओं के राष्ट्रीय पक्ष पर व्यापक विचार प्रकट करें।
२. वीरगाथा काल की रचनाओं तथा रीतिकाल की वीर रचनाओं में क्या साम्य वैषम्य है, भाषा, भाव तथा शैली के आधार पर स्पष्ट विवेचन करें।
३. गुरुगोविन्दसिंह की साहित्य व समाज-सेवाओं का संक्षिप्त परिचय दें।
४. लाल और सूदन इन दोनों कवियों का परिचय देकर उनकी रचनाओं की आलोचना करें।
५. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखें—
   १ जोधराज, २ चन्द्रशेखर, ३ शिवाबावनी, ४ पृथ्वीराज राठौर।
६. वीरगाथाकाल के पश्चात् डिंगलभाषा के साहित्य की गतिविधि कैसी रही? इसके इन परवर्ती कवियों में से किन्हीं प्रसिद्धतम दो कवियों का परिचय दें।

चौदहवाँ अध्याय

रीतिकाल का भक्ति-साहित्य

संवत् सत्रह सौ के लगभग हिन्दी में भक्ति-सम्बन्धी साहित्यिक सुरसरी-स्रोत के साथ श्रृंगार और वीरता रूपी यमुना और सरस्वती की दो धाराएँ और आ मिलीं। इस प्रकार इस काल में एक प्रकार से साहित्यिक त्रिवेणी का संगम हो गया। जिस प्रकार वीरगाथाकालीन वीरता की पूर्व-प्रवाहित धारा ही क्रमशः भक्ति में परिवर्तित हो गई थी और वीरगाथा की धारा कुछ समय के लिए सर्वथा समाप्त हो गई वैसे भक्ति-सम्बन्धी-धारा श्रृंगार में परिवर्तित होकर सहसा समाप्त नहीं हो गई प्रत्युत श्रृंगार से प्रभावित अपने एक नवीन रूप में वह अबाध गति से इस युग में भी बहती रही।

इस काल के भक्त कवियों में कुछ रामभक्त हैं, तो दूसरे कृष्णभक्त, और कई नीति और धर्म के उपदेशक हैं। उपदेशकों में भी अनेक साहित्यिक सरसता लिए हुए अपनी रचनाएँ लिखते रहे। कुछ ने केवल सामान्य उपदेश की कुंडलियाँ या दोहे लिखे। इस प्रकार रीतिकाल का भक्ति-साहित्य भी विविध रूपों में प्रकट होता रहा। अब यहाँ ऐसे ही कवियों का परिचय दिया जाता है।

ताज—ये करौली की रहने वाली कृष्णभक्त मुस्लिम महिला थीं। इनके रचनाकाल का आरम्भ संवत् १७०१ से माना जाता है। मीराबाई की भाँति इन्होंने भी कृष्ण-प्रेम में तन्मय होकर अपने अन्तर् के उद्गार अत्यन्त मार्मिक रूप में व्यक्त किये हैं। इनके फुटकर कवित्त-सवैये आदि ही प्राप्त हुए हैं। इनकी एक कविता देखिए—

सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम,
 दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूंगी मैं।
देवपूजा ठानी मैं निमाज हूं भुलानी,
 तजे कलमा कुरानी सारे गुनन गहूंगी मैं।।
सांवला सलोना सिरताज सिर कुल्ला दिये,
 तेरे नेह दाग में निदाघ ह्वै दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताणी सूरत पै,
 हौंतो तुरकानी हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं।।

घनानन्द या आनन्दघन—इनका जन्म सं० १७४६ के लगभग और मृत्यु अहमदशाह अब्दाली के दूसरे आक्रमण में सं० १८१७ में हुई। ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के मीर मुन्शी और जाति के कायस्थ थे। इनका सुजान नामक वेश्या से प्रेम था। ये साहित्य और संगीत दोनों कलाओं के पारंगत, रसिक-शिरोमिण भावुक कवि थे। एक दिन कुछ षड्यन्त्रकारियों की प्रेरणा से बादशाह ने इन्हें गाना सुनाने के लिए कहा। इनके टाल-मटोल करने पर उक्त षड्यन्त्रकारी दरबारियों ने कहा कि सुजान के कहने पर ये गायेंगे। सुजान दरबार में बुलाई गई और आनन्दघन ने उस अपनी प्रेमिका के सामने मुख और बादशाह की ओर पीठ करके गाना सुना दिया। बादशाह इससे सन्तुष्ट भी हुआ और रुष्ट भी। इसलिए इन्हें नगर से निकल जाने की आज्ञा दे दी। चलते समय इन्होंने सुजान को भी अपने साथ चलने को कहा किन्तु उसने अस्वीकार कर दिया। इस पर इन्हें सांसारिक माया-मोह से घृणा और विरक्ति हो गई। ये वृन्दावन जाकर वैष्णव हो गये। वहीं भक्तिपूर्ण रचना लिखकर अपना शेष जीवन व्यतीत कर दिया। अन्तिम दिनों में अहमदशाह अब्दाली के सिपाहियों ने इन्हें घेर कर रुपया लेने के लिए 'ज़र-ज़र' (धन-धन) कहके इनसे रुपये माँगे। इन्होंने 'ज़र' शब्दको उलटकर 'रज-रज' कहते हुए तीन मुट्ठी धूल फेंक दी। इस पर क्रुद्ध हो सिपाहियों ने इनका बायाँ हाथ काट डाला। सामान्यतया इन्होंने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों पर लिखा है, तथापि प्राय: प्रधानता विप्रलम्भ ही की है। सुजान के उक्त व्यवहार से इनके भावुक हृदय को बड़ी भारी ठेस पहुँची। तभी से ये विरह-वेदना के गीतों में ही तन्मय रहते और अपनी प्रत्येक कविता में 'सुजान' ही को सम्बोधित करते। यह 'सुजान' शब्द शृँगाररस की कविताओं में नायक के लिए और भक्ति-सम्बन्धी रचनाओं में श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त हुआ है। इनकी भाषा बड़ी ही सरस, प्रौढ़ और प्रवाहयुक्त है। इसमें कहीं शैथिल्य का नाम नहीं। लाक्षणिकता, मूर्तिमत्ता और प्रयोगों की विलक्षणता इन-जैसी अन्य व्रज-भाषा-कवियों में बहुत ही कम दिखाई देती है। रसखान आदि कुछ ही कवि इन-जैसी सरस, प्रांजल व मुहावरेदार भाषा लिखने में समर्थ हो सके।

श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'घनानन्द कवित्त' की भूमिका में बड़े प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि 'घनानन्द' या आनन्दघन नामवाले निम्नलिखित तीन कवि हुए हैं:—

नंदगांववासी आनन्दघन	सोलहवीं शती का उत्तरार्ध
जैन आनन्दघन	सत्रहवीं शती का उत्तरार्ध
वृन्दावनवासी आनन्दघन	अठारहवीं शती का उत्तरार्ध

इसी पुस्तक में यह भी सिद्ध किया गया ह कि आनन्दघन की मृत्यु नादिरशाह के हमले में नहीं प्रत्युत अहमदशाह अब्दाली के दूसरे आक्रमण में सं० १८१७ में हुई थी। नादिरशाह ने तो मथुरा पर आक्रमण ही नहीं किया था। अब तक इनकी निम्नस्थ ४० पुस्तकों का पता लगा है :—

१. सुजानहित, २. कृपाकन्द निबन्ध. ३. वियोग वेली, ४. इश्कलता, ५. यमुनायश, ६. प्रीतिपावस, ७. प्रेम पत्रिका, ८. प्रेम सरोवर, ९. व्रज बिलास, १०. रसवन्त, ११. अनुभव चन्द्रिका, १२. रंग बधाई, १३. प्रेम-पद्धति, १४. वृषभानुपुर सुषमा, १५. गोकुल गीत, १६. नाम माधुरी, १७. गिरिपूजन, १८. विचार सागर, १९. दानघटा, २०. भावना प्रकाश, २१. कृष्ण कौमुदी, २२. धाम चमत्कार, २३. प्रिया प्रसाद, २४. वृन्दावन मुद्रा, २५. व्रजस्वरूप, २६. गोकुल चरित्र, २७. प्रेम पहेली, २८. रसनायश, २९. गोकुल विनोद, ३०. व्रज प्रसाद, ३१. मुरलिकामोद, ३२. मनोरथ मंजरी, ३३. व्रज व्यवहार, ३४. गिरिगाथा, ३५. व्रज वर्णन, ३६. धामाष्टक, ३७. त्रिभंगी छंद, ३८. कवित्त संग्रह, ३९. स्फुट, ४०. पदावली।

इनकी दो कविताएँ देखिए :—

पहिले अपनाय सुजान सनेह सों,
क्यों फिर नेह को तोरियै जू।
निरधार आधार दै धार मझार,
दई गहि बाँह न बोरियै जू॥
घनआनंद आपने चातक को,
गुन बाँधि कै मोह न छोरियै जू।
रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय क आस,
बिसास में क्यों विष घोरियै जू॥

पर कारज देह को धारे फिरौ,
परजन्य! जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ,
सब ही विधि सज्जनता सरसौ॥
घनआनंद जीवनदायक हौ,
कछु मोरियौ पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आंगन,
मो अंसुवान को लै बरसौ॥

महाराज विश्वनाथसिंह—ये बड़े भारी विद्याप्रेमी, काव्य-रसिक और भक्त नरेश थे। आपने सं० १७७८ से १७९७ तक रीवां राज्य पर शासन किया था। इनके आश्रय में रहने वाले अनेक कवियों ने तो इनके नाम पर बहुत से ग्रन्थ बनाये ही, साथ ही इन्होंने स्वयं भी अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। आनन्द-रघुनन्दन नाटक, उत्तम-काव्यप्रकाश, रामायण, गीता रघुनन्दन प्रमाणिका, सर्व-संग्रह, कबीर-बीजक की टीका, आनन्द-रामायण, धनुर्विद्या, परधर्म-निर्णय, उत्तमनीति-चन्द्रिका, गीतावली पूर्वार्ध, पाखण्डखण्डिनी, ध्रुवाष्टक, ककहरा, संगीत रघुनन्दन आदि विविध विषयों के इनके बत्तीस ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। ये सगुण रामोपासक होते हुए भी निर्गुण वाणी के प्रति आस्था रखते थे। इन्होंने 'कबीर-बीजक की टीका' सगुण परक ही लिखी है। इनका आनन्दरघुनन्दन नाटक हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक माना जाता है क्योंकि इसमें केवल पद्यात्मक संवाद ही नहीं प्रत्युत गद्य को भी आवश्यक स्थान दिया गया है। इनकी रचना का नमूना आगे दिया जाता है—

भाइन भृत्यन विष्णु सो, रैंयत भानु सो, सत्रुन काल सो भावै।
सत्रु बली सो बचै करि बुद्धि औ अस्त्रसों धर्महि नीति चलावै॥
जीतन को करे केते उपाय औ दीरघ दृष्टि सबै फल पावै।
भाखत हैं बिसुनाथ ध्रुवै नृप सो कबहूँ नहिं राज गँवावै॥

भक्तवर नागरीदासजी—ये कृष्णगढ़ के नरेश थे। इनका वास्तविक नाम महाराज सावंतसिंह था और जन्म सं० १७५६ में हुआ था। कहा जाता है कि ये देहली आये हुए थे कि पीछे इनके पिता का देहान्त हो गया और राज्य पर इनके भाई ने अधिकार कर लिया। इन्होंने मरहटों की सहायता से अपना राज्य पुनः प्राप्त किया किन्तु इस गृह-कलह से ये विरक्त-से हो गये,और सं० १८१४ में अपने पुत्र को राज्य देकर वृन्दावन आकर 'नागरीदास' के नाम से प्रसिद्ध हुए। वृन्दावन में इनकी उपपत्नी 'बणीठणीजी' भी इनके साथ रहकर कविता किया करती थीं। कृष्णगढ़ में इनकी तिहत्तर पुस्तकें सुरक्षित हैं। ये पूर्ण भक्त थे, अतः इनकी रचनाओं में भावों की पुनरुक्ति का होना स्वाभाविक है। इन्होंने गीत, कवित्त, सवैया, रोला आदि विविध छन्दों और शैलियों में अपनी रचनाएं लिखी थीं जिनकी भाषा भी सामान्यतया सुव्यवस्थित और सुन्दर है। व्रजसार, रामचरितमाला, वैराग्य-वल्लरी, जुगलभक्ति-विनोद आदि इनकी रचनाएं हैं। नमूना देखिए—

'जामें रस सोई हरचो, यह जानत सब कोय।
गौर स्याम द्वै रंग बिन, हर्यो रंग नहिं होय॥

अरे पियारे क्या करौं, जाहि रहो है लाग।
क्यों करि दिल बारूद में, छिपे इश्क की आग॥
फूले फूलनि स्वेत बिच, अलि बैठे मधु लैन।
दम्पति हित वृन्दविपिन, धारे अगणित नैन॥

सबलसिंह चौहान—इनका निवासस्थान निश्चित नहीं है। सबलगढ़ या चन्दागढ़ के ये राजा थे ऐसा कहा जाता है। इनका रचनाकाल सं० १७१२ से १७८१ तक है। इन्होंने महाभारत का दोहा, चौपाई, छन्द में अनुवाद किया था। इसके अतिरिक्त ऋतु-संहार का भी भाषानुवाद किया था। 'रूपविलास' तथा एक छन्द-शास्त्र की पुस्तक ये दो और रचनाएं भी इनकी कही जाती हैं। भाषा सरल है। उसमें व्यर्थ का शब्दाडंबर नहीं। नमूना देखिए—

अभिमनु धाई खड़्ग परहारे। सम्मुख जेहि पायो तेहि मारे॥
भूरिश्रवा बान दस छाँटे। कुंवर हाथ के खड़गहि काटे॥
तीन बान सारथि उर मारे। आठ बान तें अस्व संहारे॥
सारथि जूझि गिरे मैदाना। अभिमनु वीर चित्त अनुमाना॥
अर्जुनसुत इमि मार किय, महाबीर परचंड।
रूप भयानक देखियत, जिमि जम लीन्हें दंड॥

छत्रसिंह कायस्थ—वटेश्वर-क्षेत्र के निवासी इस कवि ने सं० १७५७ में 'विजय-मुक्तावली' के नाम से महाभारत का अनुवाद किया था। इनकी भाषा चलती और ओजपूर्ण है। दो दोहे देखिए—

निरखत ही अभिमन्यु को विदुर डुलायो सीस।
रच्छा बालक की करो हे कृपाल जगदीस॥
आपुन काँधो युद्ध नहीं धनुष दियो भुवडारी॥
पापी बैठे गेह कत पांडुपुत्र तुम चारी॥

बख्शी हंसराज—ये पन्ना-नरेश के आश्रित श्रीवास्तव कायस्थ थे। सखी सम्प्रदाय के अनुयायी होने के कारण इनका नाम 'प्रेमसखी' भी है। १. स्नेह-सागर, २. विरह-विलास, ३. रामचन्द्रिका और ४. बारहमासा ये चार पुस्तकें इनकी प्रसिद्ध हैं। इनकी रचना-शैली प्रौढ़ तथा भाषा शब्दाडम्बरहीन व प्रवाहयुक्त है। इनका जन्म सं० १७९९ में पन्ना में हुआ था। इनकी एक कविता देखिए—

दमकति दिपति देह दामिनी सी चमकत चंचल नैना ।
घूंघट बिच खेलत खंजन से उड़ि उड़ि दीठि लगै ना ।।
लटकति ललित पीठ पर चोटी बिच-बिच सुमन सँवारी ।
देखे ताहि मैर सो आवत, मनहु भुजंगिनि कारी ।।

जनकराज किशोरीशरण—ये अयोध्यानिवासी वैरागी महात्मा थे । सं० १७९७ इनका रचनाकाल माना गया है । इन्होंने भक्ति और ज्ञान सम्बन्धी तुलसी-दासचरित्र, कवितावली, सीताराम-सिद्धान्त-मुक्तावली आदि कई पुस्तकें लिखी थीं। इनकी कविता देखिए—

फूले कुसुम द्रुम विविध रंग सुगन्ध के चहुँ चाब ।
गुँजत मधुप मधुमत्त नाना रंग रज अंग फाब ।।
सीरो सुगंध सुमंद बात विनोद कंत बहंत ।
परसत अनंग उदोत हिय अभिलाष कामिनि कंत ।।

अलबेली अलि—ये विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के महात्मा वंशीअलि जी के शिष्य थे। इनका रचनाकाल सं० १७७५ से १८०० तक है। इनके बनाये हुए 'समय-प्रबन्ध पदावली' नामक ग्रन्थ में बड़ी सरस कविताएँ हैं।

चाचा हितवृन्दावनदास—ये पुष्कर के गौड़ ब्राह्मण थे और सं० १७६५ में उत्पन्न हुए थे। ये कृष्णगढ़-नरेश भक्तवर नागरीदास जी के भाई बहादुरसिंहजी के आश्रय में रहते थे। पर भाई-भाई में संघर्ष देख ये वृन्दावन चले गये। कहा जाता है कि इन्होंने एक लाख पद लिखे थे, जिनमें से अब केवल दो हज़ार प्राप्त हैं। छत्रपुर के राजकीय पुस्तकालय में इनकी रचनाएँ सुरक्षित हैं। इनकी कविताएँ कला और भाव दोनों दृष्टियों से उत्कृष्ट कही जाती हैं। नमूना नीचे दिया जाता है—

मिठबोलनी नवल मनिहारी ।
भौंहें गोल गरूर हैं याके नैन चुटीले भारी ।।
चूरी लखि मुख तें कहै, घूँघट में मुसकाति ।
ससि मनु बदरी ओट ते दुरि दरसत यहि भाँति ।।
चूरो बड़ो है मोल को, नगर न गाहक कोय ।
मो फेरी खाली परी, आई सब घर टोय ।।

गिरिधर कविराय—इनका रचनाकाल सं० १८००के लगभग माना जाता है। इनका विशेष परिचय प्राप्त नहीं हो सका। भाषा की दृष्टि से ये अवध के निवासी प्रतीत होते हैं। इनकी कुण्डलियाँ अत्यन्त लोकप्रिय हैं। ग्रामीण अपढ़ लोग भी इनकी किसी-न-किसी कुण्डली को समय-समय पर कहते रहते हैं। इनकी कुछ कुण्डलियाँ नीचे दी जाती हैं —

साईं बैर न कीजिये, गुरु पण्डित कवि यार।
बेटा बनिता पंवरिया, यज्ञ करावनहार॥
यज्ञ करावनहार, राजमन्त्री जो होई।
विप्र परोसी वैद्य, आप को तपै रसोई॥
कह गिरिधर कविराय, युगन ते यह चलि आई।
इन तेरह सों तरह, दिये बनि आवै साईं॥

सोना लादन पिय गये, सूना करि गये देश।
सोना मिले न पिय मिले, रूपा ह्वै गये केश॥
रूपा ह्वै गये केश, रोय रंग रूप गँवावा।
सेजन को बिसराम, पिया कबहुँ न पावा॥
कह गिरिधर कविराय, लोन बिन सबै अलोना।
बहुरि पिया घर आव, कहा करिहौं ले सोना॥

गुन के गाहक सहस नर, बिन गुन लहै न कोय।
जैसे कागा कोकिला, शब्द सुनै सब कोय॥
शब्द सुनै सब कोय, कोकिला सबै सुहावन।
दोऊ को एक रंग, काग सब भये अपावन॥
कह गिरिधर कविराय, सुनो हो ठाकुर मन के।
बिन गुन लहै न कोय, सहस नर गाहक गुन के॥

साईं सब संसार में, मतलब का व्यवहार।
जब लग पैसा गाँठ में, तबलग ताको यार॥

तबलग ताको यार, यार संग ही संग डोलैं।
पैसा रहा न पास, यार मुख से नहीं बोलैं॥
कह गिरिधर कविराय, जगत यह लेखा भाई।
करत बेगरजी प्रीति, यार बिरला कोई सांई।

भगवत् रसिक—ये वृन्दावन-निवासी और टट्टी सम्प्रदाय के महात्मा ललितमोहनीदास के शिष्य थे। इनका रचनाकाल १८३० से १८५० तक माना जाता है। इनके कवित्त, कुण्डलियाँ और छप्पय बड़े ही मनोहर और पवित्र प्रेम के परिचायक हैं। इनकी एक कविता देखिए—

कुंजन तें उठि प्रात गात जमुना में धौवै॥
निधुबन करि दंडवत बिहारी को मुख जौवै॥
करै भावना बैठि स्वच्छ थल रहित उपाधा॥
घर घर लेय प्रसाद लगै जब भोजन साधा॥
संग करै भगवत रसिक, कर करवा, गूदरि गरे।
वृन्दावन बिहरत फिरै, जुगल रूप नैनन भरे॥

गुमान मिश्र—इनका रचनाकाल सं० १८०० से १८४० तक माना जाता है। व्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ प्रबन्ध-काव्यकार कृष्णभक्त कवि गुमान मिश्र बुन्देलखन्ड की पन्ना रियासत में स्थित महेवा ग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम गोपालमणि था और ये चार भाई थे। ये पिहानी के राजा अकबर अलीखाँ के आश्रय में रहते थे।

इनके प्रबन्ध-काव्य 'कृष्ण-चन्द्रिका' का कृष्ण-साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि प्राचीन कृष्ण-काव्य में केवलमात्र यही एक सरस एवं उत्कृष्ट प्रबंध-काव्य है। इसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध समालोचक श्री गुलाबरायजी लिखते हैं कि 'फिर काव्यका कहना ही क्या वह तो काव्य-धारा में एक तरंगायित उथल-पुथल पैदा कर देता है तथा कवि की कविता-कल्लोलिनी मानसिक काव्य-उल्लास को बरबस विभोर कर देती है।' इसके वर्णन बड़े सरल, स्वाभाविक और सरस हैं। पुस्तक की भूमिका में श्रीयुत कविवर उदयशंकर जी भट्ट द्वारा प्रदर्शित—'उस रात मुझे नींद नहीं आई, कृष्णचन्द्रिका की एक अपूर्व पाण्डुलिपि हाथ लग गई थी। उसे खतम किये बिना मुझे चैन कहाँ? उस रात मैंने सारी पुस्तक समाप्त कर डाली; कविता क्या

थी कहीं-कहीं तो अमृत के घूँट थे। निस्संदेह यह अपूर्व पुस्तक है! इसीलिए पन्ने पलटते आँखों में रात कटी' इन विचारों में रंचमात्र भी अत्युक्ति नहीं। कृष्ण-चन्द्रिका के अतिरिक्त इन्होंने श्रीहर्ष कवि के संस्कृत काव्य 'नैषधीयचरित' का भी हिन्दी पद्यों में अनुवाद किया था। 'छन्दाटवी' नामक छन्दशास्त्र का ग्रन्थ और रस-नायिकाभेद आदि पर भी इनके ग्रन्थ कहे जाते हैं। इनकी रचना के नमूने देखिए—

दुर्जन की हानि, विरधापनोई करै पीर,
गुन लोप होत एक मोतिन के हार ही।
टूटै मनिमालै निरगुन गाय ताल लिखै,
पोथिन ही अंक, मन कलह विचार ही॥
संकर बरन पसु पच्छिन में पाइयत,
अलक ही पारै अंसभंग निरधार ही।
चिर चिर राजौ राज अली अकबर, सुरराज-
के समाज जाके राज पर वार ही॥

न्हाती जहाँ सुनयना नित बावली में,
छूटे उरोजतल कुंकुम नीर ही में।
श्रीखण्ड चित्र दृग-अंजन संग साजै,
मानौ त्रिबेनि नित ही घर ही बिराजै॥

खेलहि प्रभु नाँध्यो कसु पटु बान्ध्यौ
हरि हर-बर करि कदम चढ़े।
ठोकनि भुजदंडिन लीला मंडनि
अति उर उमगि उछाह बढ़े॥
कूदे जहँ प्यारे नंद दुलारे
चलि पहुँचे अहि भवन तहाँ।
आवत बनमाली जाने काली लखि
लखि खल उर रोस महाँ॥

उठ्यौ कोह काली कराली सु आयौ,
फनी फुँक फुँकार हुँकार धायौ।

उमंडे घुमंडे घनै सीस छाये,
घटाटोप ह्वैकें मनो मेघ आये ।।
लसै तेज आरक्तता नैन बाढ़े,
मनो अग्नि के कुंड ते ताइ काढ़े ।
तहाँ तर्किकैं उग्रता वक्त्र बायौ,
किधौं भूरि भंडार भै को बतायौ ।।
कढी बज्र की कील सी काल डाढ़ैं,
बसै मींचु तामें हसैं नीच गाढ़ैं ।
चले जोर जीहा महा दुख दानी,
किधौं म्यान ते काल खैंची कृपानी ।।
गति सबल अबल स्वासनि बल हरि सुहिय लहरातु घट ।
लखि विकल व्यालाली सिथिल तब आई अबला निकट ।।
पति गति लखि करि तिय दुःख करि करि अहि पति-
नीह समाजै जुरिकैं भ्राजैं तन लाजैं ।
तहँ हरि बरि करि उर धरि धरि करि हरि पर,
जाइ सुराजैं नमिता साजैं प्रिय काजैं ।।
गर गहवर करि द्रग जल झरि करि बिनय करैं,
कर जोरैं चहुँ ओरैं जे चित चौरैं ।
यह बिधि धरि करि अति अवगुन करि रिस करिकैं,
बर जोरैं मदकें भोरैं मति थोरैं ।।

(कृष्णचन्द्रिका)

श्री हठीजी—ये श्री हितहरिवंश जी की शिष्य-परम्परा के कवि थे। इनका रचनाकाल सं० १८३७ है। इनके बनाये हुए 'राधा-सुधा-शतक' की भाषा बड़ी अलंकृत और सरस है। एक कविता देखिए—

गिरि कीजै गोधन, मयूर ब्रज कुंजन को,
पशु कीजै महाराज नंद के नगर को ।

नर कौन ? तौन जौन राधे राधे नाम रटै,
तट कीजै बर कूल कालिन्दी-कगर को ।।
इतने पै जोई कछु कीजिए कुंवर कान्ह,
रखिए न आन फेर हठी के झगर को ।
गोपी पद-पंकज-पराग कीजै महाराज,
तृन कीजै रावरेई गोकुल नगर को ।।

सूरजराम पंडित—इनके सं० १८०५ में बनाये हुए 'जैमिनी पुराण भाषा' नामक ग्रन्थ में पुराणों के अनेक कथानक दोहा, चौपाई, पद्धति पर संकलित किये गये हैं। यह रचना पर्याप्त प्रौढ़ प्रतीत होती है। नमूना नीचे दिया जाता है—

गुरु पद पंकज पावन रेनू ।
कहा कलपतरु, का सुरधेनू ।।
गुरु पद-रज अज हरिहर धामा ।
त्रिभुवन-विभव विश्व-विश्रामा ।।
तब लगि जग जड़ जीव भुलाना ।
परम तत्व गुरु जिय नहिं जाना ।।
श्रीगुरु पंकज पाँव पसाउ ।
स्रवत सुधामय तीरथराउ ।।
सुमिरत होत हृदय असनाना ।
मिटत मोहमय मन-मल नाना ।।

भगवन्तराय खीची—ये असोथर के बड़े ही विद्यानुरागी राजा थ। इनकी बनाई हुई रामायण अभी तक कहीं नहीं मिली। हनुमान् जी की स्तुति सम्बन्धी कविताएँ इनकी बड़ी ओजपूर्ण हैं। इनका रचनाकल सं० १८१७ है। एक उदाहरण देखिए—

विदित विसाल ढाल भालु-कपि-जाल की है,
ओट सुरपाल की है तेज के तुमार की ।
जाहीं सों चपेटि कै गिराए गिरि गढ़, जासों,
कठिन कपाट तोरे, लंकिनी सों मार की ।।

भनै भगवंत जासों लागि लागि भेंटे प्रभु,
जाके त्रास लखन को छुभिता खुमार की।
ओड़े ब्रह्मअस्त्र की अवाती महाताती, बन्दौं,
युद्ध-मद-माती छाती पवन कुमार की ॥

हरनारायण—इन्होंने सं० १८१२ में माधवानल-काम-कन्दला और वैताल-पच्चीसी नामक दो काव्य लिखे थे। इनकी भाषा प्रायः अलंकृत है। नमूना देखिए—

सोहे मुण्ड चन्द सों, त्रिपुंड सों विराजै भाल,
तुंड राजै रदन उदंड के मिलन तें।
पाप-रूप-पानिप विघन-जल-जीवन के,
कुंड सोखि सुजन बचावै अखिलन तें ॥
भुगुति भुकुति ताकै तुण्डतें निकसि तापे,
कुंड बाँधि कढ़ती भुसुंड के बिलन तें।
एसे गिरनन्दिनी के नंदन को ध्यान ही में,
कीवे छोड़ि सकल अपानहि दिलन तें ॥

ब्रजवासीदास—वृन्दावन-निवासी और वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी इस कवि ने सं० १८२७ में दोहा, चौपाई, छन्दों में व्रजविलास नामक प्रबन्ध-काव्य और प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक का अनुवाद लिखा था। इसमें बालकृष्ण की लीलाओं का ही वर्णन किया गया है। अत: प्रबन्ध-काव्यों के लिए आवश्यक जीवन की अनेकरूपता के अभाव के कारण यह सफल प्रबन्ध-काव्य नहीं बन पाया। फिर भी सरल और सुव्यवस्थित व्रजभाषा आदि अन्य गुणों के कारण इसका कृष्ण-भक्तों में पर्याप्त प्रचार रहा है। कविता का नमूना नीचे है—

लेहु लाल यह चन्द्र मैं, लीनों निकट बुलाय।
रोवै इतने के लिये, तेरी श्याम बलाय ॥
देखहु श्याम निहारि, या भाजन में निकट ससि।
करी इती तुम आरि, जा कारण सुन्दर सुवन ॥

ताहि देखि मुसुकाय मनोहर । बार बार डारत दोऊ कर ।।
चन्दा पकरत जल के माँही । आवत कछू हाथ में नाहीं ।।
तब जलपुटु के नीचे देखे । तहँ चन्दा प्रतिबिम्ब न पेखे ।।
देखत हँसी सकल ब्रजनारी । मगन बाल छबि लखि महतारी ।।
तबहिं श्याम कुछ हँसि मुसुकाने । बहुरी माता सों बिरुझाने ।।
लऊँगो री मा चन्दा लऊँगो । वाहि आपने हाथ गहूँगो ।।
यह तो कलमलात जल माँही । मेरे कर में आवत नाँही ।।
बाहर निकट देखियत नाहीं । कहौ तो मैं गहि लावौं ताहीं ।।

गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव—काशीनरेश महाराज उदित-नारायणसिंह की आज्ञा से इन तीनों कवियों ने मिलकर सं० १८३० से १८८४ तक के पचास वर्षों के लम्बे समय में सम्पूर्ण महाभारत और उसके परिशिष्ट हरिवंश-पुराण का हिंदी में अत्यन्त ही सरस अनुवाद किया। अभी तक हिंदी में इतना विशाल अन्य कोई काव्य नहीं बन पाया है। इस अनुवाद में अपूर्व मौलिकता झलक रही है। प्राचीन संस्कृत-काव्य-शैली पर इसमें छन्दों का भी सुन्दर विधान हुआ है। नानाविध छन्दों का प्रयोग होते हुए भी केशव की रामचन्द्रिका की भाँति पद-पद पर छन्द नहीं पलटे गये हैं प्रत्युत पूरे एक प्रकरणान्त तक एक ही छन्द चलता है। भाषा से सरसता, साहित्यिकता और प्रौढ़ता का भी पर्याप्त परिचय मिलता है। इस प्रकार यह रचना अपने तीनों रचयिताओं की अपूर्व कवित्त्व-शक्ति, कुशल कल्पना और अमर कीर्ति का कथन कर रही है। गोकुलनाथ के पिता रघुनाथ बन्दीजन भी काशी-नरेश के आश्रित एक अच्छे कवि थे। गोपीनाथ गोकुलनाथ के ही पुत्र थे, इस प्रकार इन तीनों पीढ़ियों ने काशी-नरेश की कृपा से हिन्दी की महत्वपूर्ण सेवाएँ कीं। मणिदेव भरतपुर राज्य के जहानपुर नामक ग्राम के निवासी थे और काशी में गोकुलनाथ जी के घर पर ही रहते थे। इनकी मृत्यु सं० १९२० में हुई। गोकुल-नाथ ने चेतचन्द्रिका, गोविन्द-सुखद बिहार, राधाकृष्ण-विलास, अमरकोष-भाषा, नाम-रत्नमाला-कोष, सीताराम गुणार्णव और कवि-मुख-मण्डन आदि आठ ग्रन्थ लिखे हैं। राधाकृष्ण-विलास में रसों का वर्णन किया गया है। सीताराम-गुणार्णव में अध्यात्म रामायण का अनुवाद किया गया है। कवि-मुख-मण्डन अलंकार-ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ सूची इनके व्यापक पाण्डित्य और अपूर्व काव्य-कौशल को प्रकट करती है। इनके सम्बन्ध में लिखा गया है कि रीतिग्रन्थ-रचना और प्रबन्ध काव्य-रचना

इन दोनों में समान रूप से कुशल, और दूसरा कवि रीतिकाल के भीतर नहीं पाया जाता। इनकी कुछ एक कविताओं के नमूने देखिए—

गोकुलनाथ—

सखिन के श्रुति में उकुति कल कोकिल की,
गुरुजन हू पै पुनि लाज के कथान की।
गोकुल अरुन चरनाँबुज पै गुंज पुंज,
धुनि सी चढ़ति चंचरीक चरचान की॥
पीतम के श्रवन समीप ही जुगुति होति,
मैन-मंत्र-तंत्र के बरन गुनगान की।
सौतिन के कानन में हालाहल ह्वै हलति,
एरी सुखदानि! तौ बजनि बिछुवान की॥

(राधाकृष्ण विलास)

दुर्ग अति ही महत् रक्षित भटन सों चहुँ ओर।
ताहि घेरचो शाल्व भूपति सेन लै अति घोर॥
एक मानुष निकसिबे की रही कतहुँ न राह।
परी सेना शाल्व नृप की भरी जुद्ध-उछाह॥

(महाभारत)

गोपीनाथ—

सर्वदिसि में फिरत भीषम को सुरथ मन-मान।
लखे सब कोई तहाँ भूप अलात चक्र समान॥
सर्वथार सब रथिन सों तेहि समय नृप सब ओर।
एक भीषम सहससम रन जुरो हो तहँ जोर॥

मणिदेव—

बचन यह सुनि कहत भो चक्रांग हंस उदार।
उड़ौगे मम संग किमी तुम कहहु सो उपचार॥
खाय जूठो पुष्ट, गर्विय काग सुनि ये बैन।
कह्यो जानत उड़न की शत रीति हम बल ऐन॥

रामचन्द्र—इनकी ६२ कवित्तों की एक छोटी-सी पुस्तक 'चरणचन्द्रिका' प्रसिद्ध है। इसमें पार्वतीजी के चरणों का वर्णन करते हुए कवि ने अपने अपूर्व काव्य-कौशल का परिचय दिया। इस वर्णन में अलौकिक सुषमा, विभूति, शक्ति और शान्ति टपक रही है। भाषा की लाक्षणिकता ने इस रचना में चार चाँद लगा दिये हैं। रचनाकाल सं० १८४० है। कविता देखिए—

नूपुर बजत मानि मृग से अधीन होत,
मीन होत जानि चरनामृत-झरनि को ॥
खंजन से नचै देखि सुषमा शरद की सी,
खचै मधुकर से पराग केसरनि को ॥
रीझि रीझि तेरी पदछवि पै तिलोचन के,
लोचन में, अंब धारैं केतिक धरनि को ॥
फूलत कुमुद से मयंक से निरखि नख,
पंकज से खिलैं लखि तरवा-तरनि को ॥

मंचित—ये मऊ के रहने वाले ब्राह्मण थे। इन्होंने 'कृष्णायन' और 'सुरभि-दान लीला' नामक ये दो कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी पुस्तकें लिखी थीं। कृष्णायन में 'राम-चरितमानस' के अनुकरण पर कृष्ण-कथा कही गई है; पर भेद इतना है कि 'मानस' अवधी भाषा में है और कृष्णायन व्रज में। भाषा में यत्र-तत्र गोस्वामी जी के समान संस्कृत का भी प्रयोग हुआ है। कुल मिलाकर यह रचना साधारण-सी प्रतीत होती है। सुरभिदान-लीला में बालकृष्ण की कुछ लीलाओं का सुन्दर वर्णन है। इनका रचनाकाल सं० १८५० के लगभग है। इनकी कविता देखिए—

अचरज अमित भयो लखि सरिता ।
दुतियन उपमा कहि सम चरिता ॥
कृष्णदेव कहँ प्रिय जमुना सी ।
जिमि गोकुल गोलोक प्रकासी ॥
अति विस्तार पार पय पावन ।
उभय करार घाट मनभावन ॥
बनचर बनज बिपुल बहु पच्छी ।
अलि-अवली-धुनि सुनि अति अच्छी ॥

मनियारसिंह—ये काशीनिवासी क्षत्रिय थे। इन्होंने महिम्न भाषा, सौंदर्य-लहरी, (भगवती की स्तुति) हमनुमत्-छब्बीसी और सुन्दरकांड ये चार भक्ति सम्बन्धी रचनाएँ प्रौढ़, परिमार्जित और अलंकृत भाषा में लिखीं। इनका रचनाकाल सं० १८४१ के लगभग माना जाता है। इनकी एक कविता देखिए—

मेरो चित्त कहाँ दीनता में अति दूबरो है,
अधरम-धूमरो न सुधि के संभारे पै।
कहाँ तेरी ऋद्धि कवि बुद्धि-धारा ध्वनि तें,
त्रिगुण ते परे ह्वै दिखात निरधारे पै॥
मनियार यातें मति थकित जकित ह्वै कै,
भक्तिबस धरि उर धीरज बिचारे पै।
बिरची कृपाल वाक्यमाल या पुहुदन्त,
पूजन करन काज चरन तिहारे पै॥

कृष्णदास—मिर्ज़ापुर-निवासी इस कवि ने सं० १८५३ में माधुर्य-लहरी नामक पुस्तक में कृष्णचरित लिखा है।

गणेश—ये महापात्र नरहरि बन्दीजन के वंशज और गुलाब कवि के पुत्र थे। काशी-नरेश महाराज उदितनारायण सिंह के आश्रय म रहकर इन्होंने वाल्मीकि-रामायण श्लोकार्थ-प्रकाश, प्रद्युम्न-विजय, और हनुमत्-पचीसी नामक तीन ग्रंथ लिखे। प्रद्युम्न-विजय सात अंकों में विभक्त पद्यात्मक मौलिक नाटक है। गद्य के सर्वथा अभाव के कारण यह सफल नाटक नहीं कहा जा सकता। इनका रचना-काल सं० १८५० से १९१० तक है।

ललकदास—लखनऊ के इस महन्त ने सं० १८६० से १८८० तक अपने सत्योपाख्यान नामक ग्रन्थ में रामचन्द्र के जन्म से लेकर विवाह तक का विस्तृत वर्णन किया है। दोहा, चौपाई, छंद में लिखी हुई यह रचना सामान्यतः सुन्दर ह।

खुमान—चरखारी-नरेश विक्रमसाही के आश्रित इस कवि ने अमर-प्रकाश, अष्टयाम, लक्ष्मण-शतक, हनुमान्-नखशिख, हनुमान्-पंचक, हनुमान्-पचीसी, नीति-विधान, नृसिंह-चरित्र आदि पुस्तकें लिखी थीं। लक्ष्मण-शतक में लक्ष्मण और मेघनाद के युद्ध का बड़ा ही ओजस्वी वर्णन है। इनका रचनाकाल सं० १८३० से १८८० तक है।

नवलसिंह कायस्थ—झांसीनिवासी और समथर-नरेश हिन्दुपति के आश्रित इस कलाकार ने विविध विषयों की अनेक पुस्तकें लिखी थीं जिनमें रास-पंचाध्यायी, रामचन्द्र-विलास, रसिकरंजनी, मूलभारत, आल्हा-रामायण, मूलढोला आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनका कविता-काल संवत् १८७३-१९२६ है।

वृन्द—ये मेड़ता (मारवाड़) के निवासी और कृष्णगढ़-नरेश राजसिंह के गुरु थे। इन्होंने अपने प्रसिद्ध नीतिसम्बन्धी ग्रंथ 'वृन्दसतसई' की रचना सं० १७६१ में की थी। वृन्द-सतसई की सूक्तियाँ अत्यन्त लोक-प्रिय हैं। इसके अतिरिक्त 'शृङ्गार-शिक्षा' और 'भाव-पंचाशिका' नामक दो पुस्तकें और भी प्राप्त हुई हैं। वृन्द-सतसई के कुछ दोहे देखिए—

नीकी पै फीकी लगै, बिन अवसर की बात।
जैसे बरनत युद्ध में, रस शृङ्गार न सुहात॥

फीकी पै नीकी लगै, कहिये समय विचारि।
सब को मन हर्षित करै, ज्यों विवाह में गारि॥

नयना देय बताय सब, हिय कौ हेत अहेत।
जैसे निर्मल आरसी, भली बुरी कहि देत॥

अति परिचै ते होत है, अरुचि अनादर भाय।
मलयागिरि की भीलनी, चंदन देति जराय॥

निष्फल श्रोता मूढ़ पै, कविता वचन बिलास।
हाव भाव ज्यों तीय के, पति अंधे के पास॥

जो पावै अति उच्च पद, ताकौ पतन निदान।
ज्यों तपि तपि मध्याह्न लौं, अस्त होतु है भान॥

बुरौ तऊ लागत भलौ, भली ठौर पर लीन।
तिय नैनन नीकौ लगे, काजर जदपि मलीन॥

ओछे नर के पेट में, रहै न मोटी बात।
आध सेर के पात्र में, कैसे सेर समात॥

तृनहूँ ते अरु तूल ते, हरुवो याचक आहिं।
जानतु है कछ माँगि है, पवन उड़ावत नाहिं॥

बैताल—ये विक्रमसाही की सभा में रहने वाले बन्दीजन थे। इनका रचनाकाल सं० १८३९ से १८८६ के मध्य माना गया है। बैताल की कुंडलियां भी गिरिधर की कुंडलियों के समान ही प्रसिद्ध हैं। इन की प्रत्येक कुंडली में विक्रम को संबोधित किया गया है। इनकी एक कुंडली नीचे देखिए—

टका करै कलहूल टका मिरदंग बजावै।
टका चढ़ावें सुखपाल टका सिर छत्र धरावे।
टका माय अरु बाप टका भैयन को भैया।
टका सास अरु ससुर टका सिर लाड लडैया।
अब एक टके बिनु टकटका रहत लगाय रात दिन।
बैताल कहे विक्रम सुनो धिक जीवन एक टके बिन॥

लाला हरजसराय—ये कसूर (पूर्वी पंजाब) के निवासी श्वेताम्बर स्थानकनिवासी सम्प्रदायानुयायी ओसवाल जाति के जैन गृहस्थ थे। इन्होंने जैन धर्म-सम्बन्धी साहित्य में अपनी अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया है। इन की तीन रचनाएं उपलब्ध हुई हैं—१. देवाधिदेव-रचना, २. साधगुणमाला, ३. देव-रचना। देवाधिदेव-रचना में तीर्थंकरों की स्तुति है। साधुगुण माला में जैन साधुओं के तप, त्याग और संयम का सुन्दर वर्णन है। देव रचना में देवलोक के देवताओं की ऋद्धि-सिद्धि ऐश्वर्य आदि विभूतियों का विस्तृत वर्णन है। इनके काव्य में चित्रकाव्य का चमत्कार अपूर्व है। कविताओं को पढ़ते समय दण्डी आदि संस्कृत आचार्यों का स्मरण हो आता है। कुछ उदाहरण देखिए—

तामस औ मद लोभप्रहार, रहा प्रभलो दम औ समता।
ता मरयाद सधीमन दास, सदा नमधीस दया रमता।
ताम गही गरमातत संत, तसंतत मारग ही गमता।
ता मत नेह करी लख सोइ, इसो खल रोक हने तमता।

परम परम पद रमण करम रज वरज अमल सत।
अजर अमर अज अटल करण मन तन वच वरजन।
अचल अखय वर अनघ अलख जस अगम अकथमन।
थकन अमर नर सरव समन गण गणधर बरनन॥

बाबा दीनदयालगिरी—इनका जन्म सं० १८६९ में काशी में और देहान्त १९१५ में हुआ। ये भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिता गोपालचन्द्र (गिरिधरदास) के घनिष्ठ मित्र थे। सामान्यतः ये जनता में एक अन्योक्तिकार के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। इनकी अन्योक्तियां भी अधिकांश संस्कृत श्लोकों के आधार पर ही लिखी गई हैं। फिर भी वृन्द, बैताल और गिरिधरदास की अपेक्षा इनकी अन्योक्तियाँ उत्कृष्ट हैं। ये केवल उपदेशात्मक सूक्तिकार नहीं प्रत्युत कुशल कवि भी थे। इन्होंने अपनी कविताओं में काव्य के कलापक्ष और भावपक्ष दोनों का सुन्दर समन्वय किया है। दोनों को एक ही कविता में ठूंसकर दोनों की हत्या नहीं की, प्रत्युत विभिन्न कविताओं में दोनों पक्षों की बड़ी हृदयहारिणी अवतारणा की गई है। भावप्रधान रचनाओं में ये श्लेष, यमक आदि शाब्दिक चमत्कार के चक्कर में नहीं पड़े हैं, और जहाँ शब्द-चमत्कार दिखलाना चाहा है वहाँ भी ये पूरे उतरे हैं। इनकी ये प्रसिद्ध रचनाएँ प्राप्त हुई हैं—अन्योक्ति-कल्पद्रुम, अनुराग-बाग, वैराग्य-दिनेश, विश्वनाथ नवरत्न और दृष्टान्ततरंगिणी। अन्योक्ति-कल्पद्रुम का हिंदी साहित्य में अपना एक विशेष स्थान है। इन्होंने इस में लौकिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों पर बड़ी ही अनूठी सरस और हृदयहारिणी अन्योक्तियाँ कही हैं। अनुरागबाग में कवित्त तथा मालिनीछंद में कृष्ण की अनेक लीलाओं का अनुपम वर्णन है। दृष्टान्ततरंगिणी नीति सम्बन्धी दोहों की पुस्तक है। 'विश्वनाथ-नवरत्न' में भगवान् शंकर की स्तुति की गई है। 'वैराग्य-दिनेश' में ऋतु-वर्णन के साथ-साथ ज्ञान वैराग्य आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इस सूची से इन के विविध विषयों पर व्यापक अधिकार का परिचय प्राप्त हो जाता है। इनकी कुछ कविताएँ देखिए—

पराधीनता दुख महा, सुख जग में स्वाधीन।
सुखी रमत शुक बनबिषे, कनक पींजरे दीन॥
तहाँ नहीं कुछ भय जहाँ, अपनी जाति न पास।
काठ बिना न कुठार कहुँ, तरु को करत विनास॥
नहीं रूप कछु रूप है, विद्या रूप निधान।
अधिक पूजियत रूप ते, बिना रूप विद्वान॥
सरल सरल ते होय हित, नहीं सरल अरु बंक।
ज्यों सर सूधहि कुटिल धनु, डारै दूर निसंक॥

इक बाहर इक भीतरें, इक मृदु दुहु दिसि पूर ।
सोहत नर जग त्रिविध ज्यों, बेर बदाम अंगूर ।।
जिनतरु को परिमिल परसि,लियो सुजस सब ठाम ।
तिन भञ्जन करि आपनो,कियो प्रभञ्जन नाम ।।
कियो प्रभञ्जन नाम, बड़ो कृतघन बरजोरी ।
जब जब लगी दवागि, दियो तब झोंकि झकोरी ।।
बरनै दीनदयाल, सेउ अब खल थल मरु को ।
ले सुख सीतल छाँह, तासु तोर्‌यो जिन तरु को ।।
देखो पथिक उघारि कै, नीके नैन विवेक ।
अचरज है बाग में, राजत है तरु एक ।।
राजत है तरु एक, मूल ऊरध अध साखा ।
द्वै खग तहाँ अचाह, एक इक बहु फल चाखा ।।
बरनै दीनदयाल, खाय सो निबल बिसेखो ।
जो न खाय सो पीन, रहै अति अद्‌भुत देखो ।।

गोपालचन्द्र उपनाम गिरधरदास—इनका जन्म सं० १८९० में काशी में हुआ। इनके पिता काले हर्षचन्द्र इन्हें ११ वर्ष का ही छोड़कर स्वर्ग सिधार गये थे। इन्होंने अपने परिश्रम से संस्कृत और हिंदी का गम्भीर अध्ययन किया। इनका समय अधिकतर काव्यचर्चा में ही जाता था। इनकी मृत्यु सं० १९१७ में हुई। ये भारतेन्दु हरिश्चद्र के पिता थे। भारतेन्दुजी ने इनकी लिखी ४० पुस्तकें बताई हैं, जिन में बहुत-सी मिलतीं नहीं। इनकी रचनाएँ दो ढंग की हैं। १—गर्ग-संहिता आदि भक्तिमार्ग की कथाएं जो सरल साधारण पद्यों में कही गई हैं। २—काव्यकौशल की दृष्टि से लिखी रचनाएँ जो यमक और अनुप्रास आदि से इतनी लदी हुई हैं कि बहुत स्थलों पर दुरूह हो गई हैं। ये जरासंधवध, भारतीभूषण रसरत्नाकर,ग्रीष्मवर्णन आदि हैं। जरासन्धवध अपूर्ण काव्य है जो केवल ११ सर्गों तक लिखा गया है, पर अनुप्रास और यमक का विधान जैसा इसम है और कहीं न मिलेगा। इनका 'नहुष नाटक' भी एक प्रसिद्ध नाटक है। रामकथामृत, कृष्णकथामृत आदि नामों से दसों अवतारों के सम्बन्ध में भी इन्होंने दस पुस्तकें लिखी थीं। इनकी कविता के कुछ नमूने देखिए—

सकल वस्तु संग्रह करै, आवै कोउ दिन काम ।
बखत परे पर न मिलै, माटी खरचे दाम ।।
पुन्य करिय सो नहिं कहिय, पाप करिय परकास ।
कहिबे सों दोउ घटत हैं, बरनत गिरिधर दास ।।
पावक बैरी रोग रिन, सेसहु रखिये नाहिं ।
ए थोरे हूँ बढ़हिं पुनि, महा जतन सो जाहिं ।।
रूपवती लज्जावती, सीलवती मृदु बैन ।
तिय कुलीन उत्तम सोई, गरिमाधर गुन ऐन ।।
अति चंचल नित कलह रुचि, पति सो नाहिं मिलाप ।
सो अधमा तिय जानिये, पाइय पूरब पाप ।।
सुख दुख अरु विग्रह विपति, यामें तजे न संग ।
गिरिधर दास बखानिये, मित्र सोइ बर ढंग ।।
उद्यम में निद्रा नहीं, नहीं सुख दारिद माँहि ।
लोभी उर सन्तोष नहिं, धीर अबुध में नाहिं ।।

महाराज रघुराजसिंह रीवां-नरेश—इनका जन्म १७८० में और देहान्त १८३६ में हुआ। इनके राम-स्वयंवर, रुक्मणीपरिणय, आनन्दाम्बुनिधि, रामाष्टयाम आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनकी कविता का एक नमूना देखिए—

मुख देखत ही मनमोहन को अति सोहन जोहन लागी जबै ।
नहिं नैन हिले नहिं बैन चले नहिं धाय मिलै नहिं शीश नवै ।।
ब्रजबालन हाल लख्यो अस लाल उताल कियो उरमाल तबै ।
रसरास विलास में हास हुलास सों पूरण के दिये आश सबै ।।

कल किशलय कोमल कमल, पदतल सम नहिं पायँ ।
यक सोचत पियरात नित, यक सकुचतु झरि जायँ ।।
विलसति यदुपति नखनितति, अनुपम द्युति दरिशाति ।
उडुपति युत उडु अवलि लखि, सकुचि सकुचि दुरिजाति ।।

सविता दुहिता श्यामता, सुख सरिता नख ज्योति ।
सुतल अरुणता भारती, चरण त्रिवेणी होति ।।

गोविंद गिल्लाभाई—यह गुजरात के रहने वाले व्रजभाषा के कवि थे। इनका जन्म संवत् १९०५ में और देहान्त १९८१ में हुआ। नीति विनोद, पावस पयोनिधि, श्लेषचंद्रिका, विष्णुविनयपच्चीसी आदि इन्होंने ३२ ग्रन्थ लिखे थे। इनकी एक कविता देखिए—

बेनी के बिलोकि ब्याल पेट को घिसत सदा,
मुख को बिलोकि इन्दु हीन कला करि है ।
काया को बिलोकी कलधौत परे पावक में,
स्रौन को निरखि सीप सागर में परि हैं ।।
दसन की दुति देखि दारिम दरार खात,
'गोविन्द' गयंद गति देखि धूरि धरि है ।
ताहि तें कहत तोकों पेट तेरो ढाँप प्यारी,
पेट न दिखाव कोऊ पेट मार मारि है ।।

अभ्यास

१. आनन्दघन की रचनाओं का समालोचनात्मक परिचय दें।
२. गुमान मिश्र की 'कृष्णचन्द्रिका' कैसा काव्य है ?
३. वृन्द, गिरिधर कविराय, बाबा दीनदयालगिरि और बैताल की रचनाओं पर प्रकाश डालें।
७. संक्षिप्त टिप्पणियां लिखें—
खुमान, मंचित, व्रजवासीदास, चाचा हितवृन्दावनदास, गोपालदास (गिरधरदास)।

आधुनिक युग
राष्ट्रीयचेतनात्मक गद्य-काल
(संवत् १९०० से आज तक)

पंद्रहवाँ अध्याय

सामयिक परिस्थितियाँ

हम देखते हैं कि हिन्दी-गद्य का प्रारम्भ सुनिश्चित रूप से इंशाअल्लाखाँ आदि चार लेखकों के साथ संवत् १८५० के लगभग हो गया था, किन्तु संवत् १८५० से १९०० तक काव्य क्षेत्र में नवीन विचारधारा का विकास नहीं हो पाया। पद्य तो अपनी पुरानी परिपाटी पर चल ही रहा था, साथ ही गद्य भी पुराणों के अनुवाद, धार्मिक चर्चा या किस्सा-कहानियों से आगे न बढ़ सका। संवत् १९०० के लगभग साहित्य-क्षेत्र में भारतेन्दु जी के पदार्पण करते ही एक नवीन क्रांति हुई। प्राचीन विचार-धारा सर्वथा परिवर्तित हो गई। दस-बीस वर्षों में ही साहित्य ने अपना रंग-रूप सहसा बदल लिया। इस नवीन साहित्य का विवेचन करने से पूर्व उन परिस्थितियों पर प्रकाश डालना आवश्यक है जिनके कारण साहित्य को अपनी करवट बदलनी पड़ी। वह अपनी पुरानी परम्परा को त्याग कर नव-निर्मित मार्ग पर चल निकला। साहित्य की इस नवजागृति म सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि सभी परिस्थितियाँ कारण हैं। जैसेकि—

भारत से मुसलमानी राज्य उठ जाने और अंग्रेजों के आधिपत्य स्थापित हो जाने पर संवत् १९०० तक तो जनता देशी और विदेशी शक्तियों की पारस्परिक नोच-खसोट के कारण चकित, त्रस्त व किंकर्त्तव्य-विमूढ़-सी रही, किन्तु जनता को जब यह विश्वास हो गया कि अंग्रेज़ अब भारत में एक व्यापारी के रूप में नहीं प्रत्युत शासक के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। वह केवल आर्थिक व राजनैतिक प्रभुत्व पाकर ही सन्तुष्ट नहीं हो रहा प्रत्युत अब वह सांस्कृतिक विजय के लिए भी प्रयत्नशील है। उसने ईसाई मिशनरियों के द्वारा निम्न वर्ग को प्रलोभित कर ईसाई बनाना आरम्भ कर दिया है। शिक्षित वर्ग में हिन्दू धर्म के विधि-विधानों की निस्सारता का ढोल पीट-पीटकर उसके मस्तिष्क में भी प्राचीन संस्कृति के प्रति विराग और ईसाइयत के प्रति अनुराग उत्पन्न करने के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये हैं, साथ ही हिन्दुओं के सती-प्रथा आदि अनेक धार्मिक विधि-विधानों को भी राजाज्ञा द्वारा अवैध ठहरा दिया है, तो वह क्रुद्ध हो उठी। भारतीय जनता राजनैतिक उलट-फेरों को शान्तिपूर्वक सहन करने में अभ्यस्त हो चुकी थी। यूनानी-आक्रांता सिकन्दर से लेकर अब तक की २२०० वर्षों की लम्बी अवधि

में अनेक विदेशी राज्य-सत्ताएँ आईं और गईं। स्थानीय शासकों ने उनका विरोध भी किया, उन्हें दूर भी हटाया और परिस्थितियों से प्रभावित होकर उन्हें यहाँ बैठ भी जाने दिया। उन विदेशी शासकों या आक्रांताओं ने जब तक राजनैतिक विजय को ही अपना उद्देश्य समझा और जनता की धार्मिक भावनाओं या सामाजिक परम्पराओं में हस्तक्षेप नहीं किया तब तक स्थानीय जनता भी—

'कोऊ नृप होई हमहिं का हानि'

कहकर आत्मलीन ही रही। किन्तु शासक वर्ग ने जब-जब जनता के धार्मिक अधिकारों पर कुठाराघात किया तब-तब यहाँ की जनता ने उस सत्ता के सिंहासन को पलटने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। हम देखते हैं कि आरम्भ में अनेक मुसलमान लुटेरे भारत पर चढ़ाई करते और चले जाते। जब उनके शासन यहाँ स्थिर हो गये तो उनमें से अधिकांश ने प्रायः भारत के धार्मिक विधि-विधानों में हस्तक्षेप नहीं किया। और जिस किसी ने ऐसा करने का प्रयत्न किया, जनता ने उसका मुंहतोड़ उत्तर दिया। औरंगजेब ने हिन्दू-धर्म का नाश करने के लिए उस पर अत्यन्त तीव्र और कठोर कुठार चलाना चाहा, फलतः जनता ने जागृत होकर देखते-ही-देखते मुग़ल साम्राज्य को मिट्टी में मिला दिया। इधर अंग्रेज़ जब तक केवल राजनैतिक शासक के रूप में रहा तब तक जनता ने उसका कुछ विशेष प्रतिकार नहीं किया। जब उसने धार्मिक कार्यों में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया तो जनशक्ति नागिन की तरह फुंकार उठी। परिणामस्वरूप संवत् १९१४ (सन् १८५७) में अंग्रेजी सत्ता को समाप्त करने के लिए स्वातन्त्र्य-प्राप्ति का स्मरणीय-प्रयत्न किया गया। सफल नेतृत्व और संगठन-शक्ति के अभाव तथा सिक्खों और गोरखों के शत्रु-पक्ष के सहायक बन जाने के कारण उस प्रयत्न में प्रत्यक्ष सफलता प्राप्त न हो सकी, पर वह प्रयत्न सर्वथा व्यर्थ भी नहीं गया। जिस उद्देश्य से वह संघर्षण उत्पन्न हुआ था उसमें जनता को अवश्य सफलता मिली। ईस्ट-इंडिया-कम्पनी के स्वेच्छाचारी शासन की सत्ता समाप्त हो गई और सम्राज्ञी विक्टोरिया की अधीनता में भारत को ब्रिटिश राज्य का एक अंग मान लिया गया। धार्मिक कार्यों में हस्तक्षेप न करने का तथा शासन-कार्य में सबको समान पद प्राप्त कर सकने का आश्वासन दिया गया। इस प्रकार भारतीय जनता और अंग्रेज़ शासक दोनों को सन् सत्तावन के संघर्ष में समान रूप से सफलता और असफलता प्राप्त हुई। अंग्रेज़ अब भारतीय संस्कृति या धर्म में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप छोड़कर प्रच्छन्न रूप से ईसाइयत के प्रचार में तत्पर हो गया। मेकाले आदि की सुनिश्चित आयोजना के अनुसार भारतीय संस्कृति के एक-एक दुर्ग पर पृथक्-पृथक् रूप में प्रच्छन्न व पुष्ट प्रहार आरम्भ हुए। संस्कृति

की मूलाधार भारतीय भाषाओं को शासन-प्रणाली व शिक्षा-पद्धति से सर्वथा बहिष्कृत कर दिया गया। राज्य-भाषा के नाम पर अंग्रेजी और जन-भाषा के नाम पर उर्दू व फ़ारसी को 'हिन्दुस्तानी' नाम देकर प्रचारित किया जाने लगा। देश-भाषा हिन्दी व संस्कृत को केवल 'ब्राह्मणों की 'भाषा' बताया जाने लगा। उधर गोवध अबाध रूप में आरम्भ हुआ। ईसाई-प्रचारक भी अंग्रेज़ शासकों द्वारा उत्पन्न भारतीय दरिद्रता, अकाल व महामारी आदि से पीड़ित, अशिक्षित अथच निम्न श्रेणी की विपन्न जनता को धड़ाधड़ ईसाई बनाने लगे। साथ ही अंग्रेजी-शिक्षित उच्च वर्ग के मस्तिष्क में चोटी, जनेऊ, पूजा-पाठ तथा पौराणिक कथानकों के प्रति निस्सारता का भाव भरकर उन लोगों को ईसाइयत की सभ्यता अपनाने के लिए प्रेरित किया जा रहा था। जनता इस मीठे विष को धीरे-धीरे प्रेमपूर्वक निगलने लग पड़ी थी। सामान्य मनुष्य को ईसाइयत की मीठी मार का कुछ आभास ही नहीं हो पाता था। ऐसी परिस्थिति में यदि भारतीय विचक्षण वर्ग अथवा समाज के नेता साहित्यकार निश्चेष्ट रह जाते तो सम्पूर्ण भारत कुछ ही काल में सम्पूर्णतया ईसाइयत के रंग में रंग जाता। ऐसी दशा में भारतीय संस्कृति के संरक्षक-विवेचकों के हृदय में इसकी प्रतिक्रिया का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। पहले ईसाइयों के सांस्कृतिक प्रभुत्त्व को मिटाने का उपक्रम हुआ और यह निश्चय हो जाने पर कि राजनैतिक प्रभुत्त्व का अन्त किये बिना अंग्रेज़ के सांस्कृतिक साम्राज्य का ध्वंस न हो सकेगा, राजनैतिक स्वातन्त्र्य के लिए भी प्रयत्न प्रारम्भ हो गये। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, पं. श्रद्धाराम फ़िल्लौरी आदि अनेकों मनीषियों ने ईसाइयत के मोह-जाल को काटने तथा भारतीय संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा के लिए अत्यन्त स्तुत्य स्मरणीय अथच सफल प्रयत्न प्रारंभ कर दिये। आर्यसमाज, ब्रह्म-समाज, सनातन धर्म आदि विविध सांस्कृतिक व धार्मिक संस्थाओं तथा राजा-महाराजाओं ने इस संस्कृति संरक्षा के महायज्ञ में पूरा-पूरा भाग लिया। समाज के सचेतक साहित्य-स्रष्टाओं ने भी इस प्रयत्न के साथ अपना स्वर मिलाया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बंकिमचन्द्र तथा उनके सहयोगी अनेक साहित्यिकों ने अपने सत्-साहित्य से समाज को सांस्कृतिक सुधारस का पान करा पुनर्जीवित किया।

सामान्यतया तात्कालिक समाज पाश्चात्य संस्कृति के अनुराग और विराग के झूले में झूल रहा था। पश्चिमी वैज्ञानिक यंत्रों की सुखद सामग्री और यूरोपियनों के रहन-सहन की चटक-मटक पर मुग्ध अथच मराठों, मुसलमानों, सिक्खों और राजपूतों की पारस्परिक नोच-खसोट से उद्विग्न जनता अंग्रेजी राज्य में सुख,

शांति और सुव्यवस्था की सांस लेने लगी थी। इन्हीं कारणों से जहाँ उसके हृदय में अंग्रेजों के प्रति एक विचित्र आकर्षण व मोह का भाव जागृत हो रहा था, वहाँ दूसरी ओर राष्ट्र-निर्माता दूरदर्शी मनस्वी पाश्चात्य संस्कृति के विषैले प्रभाव को भी प्रकट कर रहे थे। भारतेन्दु-युग के साहित्य में इस प्रकार की द्वन्द्वात्मक अन्तःसंघर्ष से भरी हुई भावनाएँ ही पहले-पहल प्रधान रहीं।

अंगरेज़ राज सुख साज सजै बहु भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥

में अंग्रेजों के प्रति इसी अनुराग-विराग का परिचय मिलता है। किंतु समय के परिवर्तन के साथ ही साथ राष्ट्र ने अंग्रेजी राज्य को स्पष्टतया एक अभिशाप के रूप में देख लिया और साहित्य में वही भावनाएँ प्रधान रूप से प्रकट होने लगीं। उसमें देश-भक्ति का स्वर मुख्य रूप से सुनाई देने लगा। वीरता की भावनाएँ फिर से लहराने लगीं। इस प्रकार हरिश्चन्द्र-युग की काव्य-धारा से वीरगाथा के तृतीय उत्थान का आरंभ होता है। अभी तक जनता ने हिंदू-मुस्लिम एकता की आवश्यकता का विशेष अनुभव नहीं किया था। इसीलिए तात्कालिक साहित्य में भूषण सरीखी बाह्य अथवा शारीरिक एवं हिंदुत्त्व की भावनाओं से परिपूर्ण वीरता ही प्रमुख रूप से प्रकट होती रही। आर्य संस्कृति और आर्य-जनता के विजय-घोषों की ही प्रधानता रही। संक्षेप में कह सकते हैं कि भारतेन्दु-कालिक साहित्य नवीन और प्राचीन के संधि-स्थल पर निर्मित हो रहा था। उसमें नवीन के प्रति आकर्षण और प्राचीन के प्रति मोह था। कृष्ण-भक्ति, श्रृंगार और वीरता की भावनाएँ उसमें प्राचीन परम्परा पर अभिव्यक्त हुईं। इस दृष्टि से देखने पर रीतिकालीन पूर्वोक्त श्रृंगार, भक्ति व वीरता से पूर्ण त्रिविध साहित्य का भारतेन्दुकालीन साहित्य म सामंजस्य लक्षित होता है। साथ ही समाज-सुधार आदि की अभिनव प्रेरणाएँ भी उसमें पर्याप्त परिमाण में पाई जाती हैं। इस प्रकार भारतेन्दु-युग की सामयिक परिस्थितियों, सामाजिक अवस्थाओं तथा साहित्यिक विचार-धाराओं का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि इस युग के पूर्वार्ध में अंग्रेजों के राजनैतिक साम्राज्य स्थापित हो जाने पर सांस्कृतिक विजय के प्रयत्न प्रारंभ होते हैं, जिसमें वे भारत पर अपनी भाषा, संस्कृति और रहन-सहन की प्रणाली को लादना चाहते हैं और इसकी प्रतिक्रिया के रूप में भारतीय मनीषी भारत की अपनी भाषा, संस्कृति और सभ्यता के संरक्षण व प्रचार के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद, राजा लक्ष्मणसिंह, नवीनचन्द्रराय, श्रद्धाराम फ़िल्लौरी, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जिस प्रकार उर्दू व अंग्रेजी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर

हिंदी-प्रचार के प्रयत्न किये उसका उल्लेख यथास्थान किया जायगा। उनके समाज-सुधार संबंधी सांस्कृतिक कार्यों से प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति पूर्णतया परिचित है। क्योंकि भारतेन्दु जी के प्रभाव क्षेत्र से बाहर रह कर ही पूर्वोक्त महानुभावों ने हिंदी-प्रचार का कार्य संपन्न किया था। इसीलिए भारतेन्दु के समकालीन होने पर भी उक्त व्यक्तियों का उल्लेख भारतेन्दु जी से पूर्व इस अध्याय में किया जायगा। और अगले अध्याय में भारतेन्दु जी से प्रभावित साहित्य का विवरण दिया जायगा।

भारतेन्दु-काल की समाप्ति के पश्चात् साहित्य में द्विवेदी-युग के पदार्पण के साथ-साथ राष्ट्र की परिस्थितियों में पुनः परिवर्तन हुआ। विदेशी शासन-सत्ता के प्रति घृणा के भाव चरमोत्कर्ष पर जा पहुँचे। अंग्रेज़ों को बाहर निकालने के लिए हिंदू-मुस्लिम-एकता की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। शासक-वर्ग और ज़मींदारों के अत्याचारों के विरुद्ध जनता में रोष की लहर उठ खड़ी हुई। अंग्रेज़ सरकार भी देश-भक्तों का दमन करने पर उतारू हो गई। 'बंग-भंग' आंदोलन ने राष्ट्रीयता के विचारों को सहसा उद्दीप्त कर दिया। 'वन्दे-मातरम्' का गान लोकप्रिय हो चला। इस प्रकार भारत की राष्ट्रीय आत्मा जागृत हो उठी। भारतेन्दु-युग के अन्त और द्विवेदी-युग के आरंभ की विचार-धारा का यही स्वरूप था। प्रथम महायुद्ध और उसके परिणामों ने भारत की देश-भक्ति को अत्यन्त सजीव रूप में उपस्थित किया। गोखले द्वारा प्रवर्तित और गांधी जी द्वारा प्रचारित सत्याग्रह-आंदोलन भारत की नस-नस में समा गया। खिलाफ़त-आंदोलन ने हिंदू-मुस्लिम एकता की भावना को विशेष बल दिया। फलतः साहित्य भी गाँधी-वाद से अनुप्राणित होने लगा। क्या गद्य, क्या पद्य, क्या कहानी, क्या उपन्यास, क्या नाटक साहित्य के सभी क्षेत्रों में गाँधीवादी विचारधारा प्रवाहित होने लगी। भारत की एक राष्ट्र-भाषा हिंदी का प्रचार और प्रभाव भी खूब बढ़ा। अब तक उसका स्वरूप सर्वथा स्थिर हो चुका था। द्विवेदी जी के प्रयत्नों से भाषा ने एक स्थिर, सुनिश्चित और सुसंस्कृत रूप ग्रहण कर लिया।

प्रसाद, पन्त, निराला आदि कोमल प्रकृति के कलाकारों ने खड़ी बोली के अक्खड़पन को दूर कर उसे सुकोमल, कमनीय, कांत पदावली से परिपूर्ण किया। इस समय साहित्य क्षेत्र में एक नवीन क्रांतिकारी परिवर्तन के दर्शन भी होने लगे। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के छायावादी और रहस्यवादी गीतों के संकलन 'गीतांजलि' पर नोबेल-पुरस्कार प्राप्त होते ही संपूर्ण भारतीय सुकवि-समाज उन्हीं की भावनाओं में सोचने तथा वाणी में बोलने लग पड़ा। रहस्य-वादात्मक रचनाओं के प्रचार में रविबाबू का प्रभाव तो प्रत्यक्ष है ही, साथ ही उसका एक दूसरा भी कारण स्पष्ट है। द्विवेदी-कालिक काव्य में इतिवृत्तात्मकता या उपदेशात्मकता

की ही प्रधानता थी। देश-भक्ति, राष्ट्रीयता और समाज-सुधार की कविताएँ सुन-सुनकर जनता पूर्णतया परितृप्त हो चुकी थी। द्विवेदीकाल का साहित्य भाषा, विषय सभी दृष्टियों से घिसा-घिसाया पिष्ट-पेषित प्रतीत होने लगा। उसमें नवीनता और रसात्मकता के स्थान पर शुष्कता, नीरसता और एकरूपता को देखकर समाज की चित्तवृत्ति उससे कुछ ऊबने-सी लगी। ऐसी परिस्थिति म साहित्य के किसी नवीन रूप का प्रकट होना आवश्यक और स्वाभाविक था। अतः कहा जाता है कि साहित्य में छायावाद व रहस्यवाद की अवतारणा द्विवेदीकाल की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया का ही परिणाम है। छायावाद व रहस्यवाद के इस काल में राष्ट्र-चेतना भी कुछ समय के लिए फिर से सुप्त-सी हो गई थी, अतः अन्य प्रवृत्तियों की अपेक्षा प्रकृति के नाना रूपों में प्रियतम का साक्षात्कार या लौकिक प्रेयसियों के वियोग में विरहालाप अथवा निराशा व वेदना के भाव ही प्रमुख पद प्राप्त कर बैठे। सन् १९३० के राष्ट्रीय आंदोलन, सन् ३६ के प्रांतीय स्वराज्य और सन् ३८ के द्वितीय विश्व-युद्ध ने समाज में एक नवीन उथल-पुथल मचा दी। अब तक भारत में रूसी-साम्यवाद की कहानी पर्याप्त लोकप्रिय हो चुकी थी, रूसी वर्गहीन समाज जनता को अपनी ओर आकृष्ट करने लगा। दलित और शोषित, श्रमिक और कृषक अपने परिश्रम से उपार्जित पूंजी पर अपना ही प्रभुत्व प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे। उधर छायावाद व रहस्यवाद की वास्तविक जीवन से दूर केवल आकाश में उड़ने वाली अप्सरियों के समान सुन्दर किंतु अनुपयोगी भावात्मक कविताओं से जनता की चित्तवृत्ति हटने लगी। इस प्रकार समाज की विचारधारा के परिवर्तन के साथ-साथ रहस्यवाद की प्रतिक्रिया के रूप में प्रगतिवाद या क्रांतिवाद प्रकट हुआ। सभी कवि साम्यवाद के स्वर में स्वर मिलाकर श्रमिकों और शोषितों के गीत गाने लगे। जिसे देखो वही क्रांति, नवनिर्माण, महानाश के राग अलापने लगा। परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ प्रगतिवाद के अन्धानुकरण की प्रथा भी अब प्रायः समाप्त-सी होती जा रही है, और वाद-विशेष के बन्धन से निकल कर साहित्य को स्वतंत्र पथ पर अग्रसर करने का प्रयत्न प्रारंभ हो गया है।

यह है हमारे आधुनिक युग की समाज व साहित्य की परिस्थितियों का या समाज की विचार-धारा के उतार-चढ़ाव का एक संक्षिप्त विश्लेषण। इस प्रकार संवत् १९०० तक हिन्दी-काव्य का प्राचीन युग समाप्त हो जाता है और संवत् १९०० से आधुनिक या नवीन युग का आरम्भ होता है। भाषा, विषय, शैली आदि सभी दृष्टियों से प्राचीन साहित्य की अपेक्षा आधुनिक साहित्य में नवीनता,

मौलिकता अथच भिन्नता है। विषयों की अनेकरूपता और परिमाण की दृष्टि से भी यह साहित्य बढ़ा-चढ़ा है। पाठकों में प्रचलित पुस्तकें भी प्राचीन की अपेक्षा नवीन अत्यधिक हैं। इस प्रकार इस सौ वर्षों के सीमित समय में सम्पन्न हुए विशाल साहित्य को हम पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं। सदासुखलाल आदि लेखकों के समय खड़ी बोली का साहित्य सद्यःप्रसूत शिशु के रूप में था। शैशव की इस अबोध अवस्था में अनेक विनाशक उपद्रवों को पार कर इस साहित्य ने हरिश्चन्द्र काल की बाल्यावस्था में प्रवेश किया। इस समय इसे अपने पैरों खड़ा होने की शक्ति प्राप्त हुई। वह आत्मबल के सहारे जीवन की ज्योति से जगमगाने लगा। अपनी बाल-सुलभ चंचलता और विमोहकता व नवीन के प्रति उत्सुकता आदि सचेष्ट गुणों के कारण इस साहित्य ने सबको अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। द्विवेदी-युग ने इस साहित्य को संस्कार-युक्त किया। इस समय का संस्कार-सम्पन्न साहित्य सात्विकता, सदाचार, चरित्रबल आदि सात्त्विक वृत्तियों से परिपूर्ण स्नातक के रूप में प्रकट हुआ। द्विवेदीयुग के साहित्य में न तो बाल-सुलभ चंचलता है और न यौवन का विलास ही। उसमें उपदेशात्मकता और इतिवृत्तात्मकता रूपी स्नातकीय गुण विशेष रूप से लक्षित होते हैं। सदाचार-प्रचारक या आदर्शोन्मुख साहित्य ही का इस समय बोलबाला रहा। आगे चलकर प्रसाद और पन्त के युग में सत्प्रवृत्तियों से परिपूर्ण खड़ी बोली का साहित्य सुकुमारता और विलासिता के सुखद स्वप्न में निमग्न होने लगा। उसमें प्रेम अपने परिपूर्ण और नवीन रूप में प्रकट हुआ। कुछ समय उक्त विलासिता के स्वप्न-लोक में विचरण करने के पश्चात् जीवन-संघर्ष की वास्तविकता को पहचान कर और अपनी वर्तमान अवस्था से झुंझलाकर इस साहित्य ने संघर्ष, नवनिर्माण, क्रान्ति या उथल-पुथल का सहारा लिया। इस दृष्टि से सौ वर्ष के खड़ी बोली के साहित्य की निम्न अवस्थाएँ बताई जा सकती हैं—

१. सदासुखलाल आदि के समय की शैशवावस्था।
२. हरिश्चन्द्रप्रवर्तित बाल्यावस्था (स्फूर्त प्रचार-युग)।
३. द्विवेदीप्रवर्तित कुमारावस्था (उपदेशात्मक संस्कार-युग)।
४. पन्त-प्रसादप्रवर्तित नवयौवनावस्था (छायावादी सौकुमार्य-युग)।
५. यौवनावस्था (प्रगतिपूर्ण क्रान्तियुग)।

विषय व शैली आदि की दृष्टि से यह साहित्य १ दृश्य, २ श्रव्य इन दो मुख्य भागों में विभक्त किया जा सकता है। नाटक, प्रहसन और एकांकी नाटक ये ३ दृश्य काव्य के वर्तमान रूप हैं। श्रव्यकाव्य गद्य—उपन्यास, आख्यायिका, निबन्ध,

समालोचना और पत्र-पत्रिका, तथा पद्य-प्रबन्ध, मुक्तक, गीत (लीरिक) खण्ड-काव्य आदि भागों में विभक्त हैं। इस काल का प्रारम्भिक पद्य व्रजभाषा में और गद्य खड़ी बोली में लिखा जाता रहा। आगे चल कर गद्य और पद्य दोनों के लिए खड़ी बोली का व्यवहार होने लगा। आरम्भिक गद्य का विवेचन पूर्वपरिचय के रूप में यहाँ पर दिया जा रहा है। आगामी अध्यायों में शेष चारों युगों के साहित्य का उक्त शैलियों के आधार पर पृथक-पृथक् विवेचनात्मक परिचय दिया जायगा।

हिंदी-गद्य का प्रारम्भ

यद्यपि हिन्दी गद्य का सुनिश्चित स्वरूप विक्रम की बीसवीं शताब्दी में आकर प्रकट हुआ, तथापि व्रजभाषा और खड़ी-बोली-गद्य के यत्र-तत्र बिखरे हुए नमूने पहले ही से प्राप्त होते हैं। अमीर खुसरो ने पद्यात्मक रचनाओं के साथ-साथ लोक-भाषा (खड़ी बोली) के गद्य में भी अपने विचार व्यक्त किये थे। अतः हिन्दी खड़ी-बोली-पद्य की भांति गद्य का भी प्रथम प्रसिद्ध लेखक खुसरो को माना जा सकता है। खुसरो के पश्चात् अकबर के दरबारी कवि गंग ने सं० १६४० के लगभग "चन्द छन्द बरनन की महिमा" नामक एक पुस्तक खड़ी-बोली में लिखी। इसकी भाषा का एक नमूना देखिए—

"सिद्धि श्री १०८ श्री श्री पातशाहीजी श्री दलपति जी अकबर शाह जी आम खास में तखत ऊपर विराजमान हो रहे। और आम खास भरने लगा है। जिसमें तमाम उमराव आय-आय कुरनिस बजाय जुहार करके अपनी-अपनी बैठक में बैठ जाया करें अपनी-अपनी मिशाल से जिनकी बैठक नहीं सो रेसम के रस्से में रेसम की लूमें पकड़-पकड़ के खड़े ताजीम में रहें....इतना सुन के पातशाही जी श्री अकबरशाही जी आधसेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास वंचना पूरन भया आमखास बरखास हुआ।"

उक्त उद्धरण से स्पष्ट सिद्ध होता है कि अकबर के समय में आज जैसी शुद्ध हिन्दी—खड़ी बोली का पर्याप्त प्रचार हो गया था। उसमें विदेशी शब्द वे ही आ पाये थे जो दरबारी शिष्टता के कारण अत्यावश्यक समझे गये। उस समय के हिन्दू एक मुस्लिम सम्राट् के लिए 'प्रणाम' और 'नमस्कार' सरीखे उच्च आदरसूचक शब्दों का प्रयोग करने में आत्मग्लानि का अनुभव करते थे और विदेशी 'सलाम' से भी बचना चाहते थे, इस दृष्टि से "जुहार" का प्रयोग बड़ा ही उपयुक्त प्रतीत होता है। जन-सामान्य में ऐसी खड़ी बोली ही प्रचलित थी। इसका प्रमाण गोस्वामी तुलसीदास जी के हस्ताक्षरों से अंकित भदेनी के ठाकुर के पुत्रों में उत्पन्न पारस्परिक विवाद को मिटाने के लिए लिखित एक 'पंचनामा' की भाषा से मिलता है।

मेवाड़ी कवि जटमल ने सं० १६८० के लगभग राजस्थानी मिश्रित खड़ी बोली में 'गोरा-बादल की कथा' नामक एक पुस्तक पद्य में लिखी जो सं० १८८० में गद्य में रूपान्तरित की गई[1]। इसके गद्यका एक उदाहरण भी देखिए—

"उस जग आलीषान बाबा राज करता है मसीह वाका लड़का है सो सब पठानों में सरदार है जथैसे तारों में चन्द्रमा है ओ ऐसा वो है ॥ १४८ ॥ धर्म सी नाव का वेतलीन का बेटा जटमल नाम कवेसर ने ये कथा सवल गाँव में पूरण करी।"[1]

इसके अतिरिक्त गोसूदराज बन्दा निवाज़ सहवाज़ बुलन्द नामक एक मुस्लिम लेखक ने सं० १४७० के लगभग फ़ारसी से प्रभावित भाषा में "मिराजुन आसकीन" और "हिदायतनामा" नामक सूफ़ी सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाली दो पुस्तकें लिखी थीं। मिराजुन आसकीन की भाषा का एक नमूना देखिए—

"ऐ भाई सुनो जे कोई दूध पीवेगा सो तुम्हारी पैरबी करेगा शरियत पर कायम अछेगा। पानी पीवेगा सो विश्वास के कतरया में डूबेगा।"

इस प्रकार जन-सामान्य की भाषा खड़ी बोली की रचनाएँ पहले-पहल गद्य और पद्य दोनों रूपों में बहुत स्वल्प प्रमाण में मिलती हैं। यह तो हुई प्राचीन खड़ी बोली-गद्य की बात अब व्रजभाषा-गद्य के सम्बन्ध में विचार करने पर ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम व्रजभाषा का गद्य गोरखपन्थी साहित्य में मिलता है। नाथों की अनेक पुस्तकें गद्य में लिखी गई थीं। सं० १४०० के आस-पास लिखित गोरखनाथ नाम पर लिखी गई एक गद्य-पुस्तक का नमूना नीचे दिया जाता है—

"सो वह पुरुष सम्पूर्ण तीर्थ स्नान करि चुकौ अरु संपूर्ण पृथ्वी ब्राह्मननि कौं दै चुकौ अरु सहस्र जज्ञ करि चुकौ अरु देवता सर्व पूजि चुकौ अरु पितरनि कौं संतुष्ट करि चुकौ स्वर्गलोक प्राप्ति करि चुकौ जा मनुष्य को मन छनमात्र ब्रह्म के विचार बैठो।"

इसके पश्चात् कई एक अन्य गोरखपन्थी साधुओं ने हिन्दी में कुछ गद्य लिखा था, उसका भी एक नमूना देखिए—

"मैंजू हों गोरख सो मछन्दर नाथ को दण्डवत् करत हों। हैं कैसे वै मछन्दरनाथ। आत्मा ज्योति निश्चल है, अन्तहकरण जिनिकौ अरु मूलद्वार तैं छह चक्र जिनि नीकि तरह जानैं।"

इसके पश्चात् १६वीं शताब्दी में वल्लभाचार्य जी के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ

---

१ यह विषय विवादास्पद है कि जटमल ने अपनी मूल पुस्तक ही गद्य और पद्य दोनों में लिखी थी या वह मूल पद्य में ही लिखी गई थी और बाद में गद्य में रूपान्तरित कर दी गई।

जी ने 'श्रृंगार-रस-मण्डन' नामक व्रज-भाषा में गद्य-ग्रन्थ लिखा। इनकी भाषा का निम्न स्वरूप है—

"प्रथम की सखी कहतू है। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबी कै इनके मन्द हास्य ने जीते हैं। अमृत समूह ताकरि निकुंज विषै श्रृंगार रस श्रेष्ठ रसना कीनों सो पूर्ण होत भई।"

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के सुपुत्र गोस्वामी गोकुलनाथ जी के नाम पर भी १. 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता', २. 'दोसौ बावन वैष्णवों की वार्ता', ३. 'वन-यात्रा' ये तीन गद्य-ग्रन्थ मिले हैं। इनमें से एक की भाषा का नमूना यहाँ दिया जाता है—

"सो श्री नन्दगाम में रहतो हतो सो खण्डन ब्राह्मण शास्त्र पढ़्यो हतो। 'सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबकौ खण्डन करतो, ऐसो वाको नेम हतो। याही तें सब लोगन ने वाको नाम खण्डन पारयो हतो। सो एक दिन श्री महाप्रभु जी के सेवक वैष्णवन की मण्डली में आयो। सो खण्डन करन लाग्यो। वैष्णवन ने कहीं जो तेरो शास्त्रार्थ करनो होवै तो पण्डितन के पास जा, हमारी मण्डली में तेरे आयवो को काम नहीं। इहाँ खण्डन मण्डन नाहीं। भगवद् वार्ता को काम है। भगवद् यश सुननो होवै तो इहाँ आवो।"

यहाँ यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता और चौरासी वैष्णवों की वार्ता ये दोनों ही ग्रन्थ गोस्वामी जी के स्वरचित नहीं प्रतीत होते। क्योंकि इनमें गोस्वामी जी की प्रशंसा के पुल बांधे गये हैं। कोई भी लेखक स्वयं अपनी इस प्रकार की प्रशंसा नहीं लिख सकता। हां 'वन-यात्रा' उन्होंने स्वयं लिखी होगी।

सं० १६६० के लगभग नाभादास जी ने अपनी पुस्तक 'अष्टयाम' व्रजभाषा-गद्य में लिखी। इसकी भाषा निम्न प्रकार की है—

"तब श्री महाराजकुमार प्रथम वशिष्ट महाराज के चरण छुई प्रणाम करत भये हैं। फिर ऊपर वृद्ध समाज तिनको प्रणाम करत भये फिर श्री राजाधिराज जू को जोहार करि कै श्री महेन्द्रनाथ दशरथ जू के निकट बैठत भये'। इसी समय के आस-पास प्रसिद्ध अष्टछाप के कवि नन्ददास ने अपना नासिकेतोपाख्यान नामक गद्य-ग्रन्थ लिखा था। इसका उल्लेख करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है कि व्रजभाषा-गद्य में लिखा एक नासिकेतोपाख्यान मिला है जिसके किसी लेखक का नाम ज्ञात नहीं, समय सं० १७६० के उपरान्त है।

किन्तु शुक्लजी ने स्वयं नन्ददास की रचनाओं में 'नासिकेतोपाख्यान' का भी उल्लेख किया है। अतः उपलब्ध प्राचीन नासिकेतोपाख्यान निश्चित ही नन्ददासकृत

है। इसका रचनाकाल १७६० नहीं प्रत्युत १६६० होना चाहिए। इसका एक उद्धरण देखिए—

"हे ऋषीश्वरो, और सुनो मैं देख्यो है सो कहूँ। कालैवर्ण महादुख के रूप जमकिंकर देखे। सर्प, बीछू, रीछ, व्याघ्र, सिंह बड़े २ गृध्र देखे। पन्थ में पाप कर्मी कौं जमदूत चलाइकै मुद्गर अरु लोह के दण्ड कर मार देत हैं। आगे और जीवन को त्रास देते देखे हैं। सु मेरो रोम २ खरो होत है।"

सं० १७६७ में सूरति मिश्र ने वैतालपच्चीसी लिखी। सं० १८५२ में ला० हीरालाल न जयपुर के महाराज प्रतापसिंह के आदेशानुसार 'आईन-अकबरी की भाषा वाचनिका' नामक पुस्तक बोलचाल की भाषा में लिखी। इसकी भाषा निम्न प्रकार की है —

"अब शेख् अबुल फ़ज़ल ग्रन्थ को करता प्रभु को निमस्कार करिकै अकबर बादस्याह् की तारीफ लिखने कौ कसत करै है।"

इसके पश्चात् व्रज-भाषा-गद्य में स्वतन्त्र रूप से पुस्तक लेखन की परिपाटी प्रायः समाप्त-सी हो जाती है। और टीकाओं या लक्षण-ग्रन्थों में ही कहीं-कहीं गद्य के दर्शन होते ह। किन्तु इन टीकाओं का गद्य एसा अस्त-व्यस्त है कि पाठक मूल रचनाओं को भले ही समझ जाय पर टीका की भाषा का अर्थ नहीं निकाल सकता। उदाहरण के लिए एक संस्कृत के सरल श्लोक तथा रामचन्द्रिका के एक दोहे की टीका देखिए—

उन्मत्तप्रेमसंरंभादालभन्ते यदंगनाः।
तत्र प्रत्यूहमाधातुं ब्रह्मापि खलु कातरः॥

इसकी टीका है—अंगना जु है स्त्री सु। प्रेम के अति आवेश करि। जुकीय करना चाहति है ता कयि विषै ब्रह्मा ऊ। प्रत्यूहं आधातुं। उन्तराउ करिवै कहाँ। कातर-काइरू है। काइरु कहावै असमर्थ। जु कछु स्त्री करचो चाहै सु अवस्य करहिं। ताको अन्तराउ ब्रह्मा पहूँ न करचो जाइ औरे की कितीक बात।

राघव शर लाघव गति, छत्र मुकुट यों हयो।
हंस सबल अंसु सहित, मानहु उडि कै गयो॥

इसकी टीका है—'सबल कहै अनेक रंग मिश्रित है, अंसु कहै किरण जाके ऐसे जे सूते हैं, तिन सहित मानो कलिंद गिरिश्रृंग ते हंस कहे हंस समूह उड़ गयो है। यहाँ जाति विषयी एक वचन है हंसन के सदृश श्वेत छत्र है और सूर्य के सदृश अनेक रंग जटित मुकुट हैं'।

बताइए, ऐसी टीकाओं से भला कोई क्या समझ सकता है।

अधिकांश लक्षण-ग्रंथकारों ने भी प्रायः ऐसी ही अव्यवस्थित भाषा का प्रयोग किया है किंतु रसिकगोविन्द आदि कुछ-एक आचार्यों ने बड़ी ही सुन्दर, शुद्ध और साहित्यिक भाषा के नमूने उपस्थित किये। इनके गद्य का नमूना पहले १७० पृष्ठ पर दिया जा चुका है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोस्वामी विट्ठलनाथ द्वारा प्रवर्तित व्रज-भाषा-गद्य की परम्परा बीच २ में प्रकट और लुप्त होती हुई अठारहवीं शताब्दी के मध्य-भाग में आकर सर्वदा के लिए सर्वथा लुप्त हो गई। इस प्रकार व्रजभाषा-गद्य का तिरोहित हो जाना भी आगामी साहित्य के लिए श्रेयस्कर ही सिद्ध हुआ, क्योंकि यदि व्रजभाषा-गद्य की परम्परा चलती रहती तो वर्तमान युग में गद्य के लिए खड़ी बोली को सहसा सर्वसम्मति से न अपनाया जा सकता। संभवतः एक पक्ष व्रजभाषा के लिए अड़ जाता और व्रजभाषा और खड़ी बोली के वादविवाद में बहुत-सा समय नष्ट हो जाता। अतः इसे प्रभु का प्रसाद ही समझना चाहिए कि व्रजभाषा-गद्य की परम्परा निरन्तर न चल कर बीच ही में समाप्त हो गई।

हिंदी-साहित्य के पहले चारों कालों में खड़ी बोली और व्रजभाषा-गद्य की उक्त रचनाओं के सिवा बिहारी भाषा और राजस्थानी में भी पर्याप्त गद्य-पुस्तकें लिखी जाती रहीं जिनमें राजस्थानी गद्य की पुस्तकों की तो संख्या बहुत ही बड़ी है। डिंगल की ये गद्य-पुस्तकें 'ख्यात' अर्थात् ऐतिहासिक और' बात' अर्थात् कल्पित कहानी इन दो रूपों में प्राप्त होती हैं। इनकी संख्या लगभग ढाई सौ से भी अधिक है। उनमें से कुछ अत्यन्त प्रसिद्ध पुस्तकों का उल्लेख पहले पृष्ठ २१२-१४ पर हो चुका है।

मिथिला-नरेश राजा हरिहरदेव के सभासद् ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने वर्णरत्नाकर नामक बिहारी भाषा का गद्य-ग्रंथ सं० १३५८ में लिखा।

आधुनिक खड़ी-बोली-गद्य का प्रारम्भ

आधुनिक खड़ी-बोली-गद्य का प्रारम्भ पटियालानिवासी रामप्रसाद निरंजनी के 'भाषा योगवाशिष्ठ' नामक ग्रंथ से होता है। रामप्रसाद निरंजनी पटियाला के राजकीय कथाव्यास थे। इन्होंने सं० १७९४ में अपने योगवाशिष्ठ की रचना की। इनका गद्य अत्यन्त प्रौढ़ और परिमार्जित है। देखिए ये कितना परिष्कृत गद्य लिख रहे हैं—

"प्रथम परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है, जिस से सब भासते हैं और जिसमें सब लीन और स्थित होते ह।........अगस्त्यजी के शिष्य सुतीक्षण के मन में

एक संदेह पैदा हुआ, तब वह उस के दूर करने के कारण अगस्त्य मुनि के आश्रम को जा विधि सहित प्रणाम करके बैठे और विनति कर प्रश्न किया कि हे भगवन् आप सब तत्वों और सब शास्त्रों के जाननहारे हो मेरे एक संदेह को दूर करो। मोक्ष का कारण कर्म है कि ज्ञान है अथवा दोनों हैं हमें समझाय के कहो। इतना सुन अगस्त्य मुनि बोले कि हे ब्रह्मण्य केवल कर्म से मोक्ष नहीं होता और न केवल ज्ञान से मोक्ष होता है मोक्ष दोनों से प्राप्त होता है। कर्म से अन्तःकरण शुद्ध होता है मोक्ष नहीं होता और अन्तःकरण की शुद्धि बिना केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं होती।"

कैसी सुन्दर और सुव्यवस्थित भाषा है। सं० १८१८ में वसुवा मध्यप्रदेश के रहने वाले पं. दौलतराम ने 'जैन पद्मपुराण' का हिंदी में अनुवाद किया। इस की भाषा योगवाशिष्ठ के समान प्रौढ़ और परिमार्जित तो नहीं है फिर भी उसमें फ़ारसी आदि के शब्द बिल्कुल नहीं आ पाये हैं। पद्मपुराण के गद्य का एक नमूना देखिए—

'जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुन्दर है जहाँ पुण्य अधिकारी बसे हैं, इंद्र के लोक समान सदा भोगोपभोग करै हैं और भूमि विषै साँठेन के वाड़े शोभायमान हैं। जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे हैं।'

सं० १८४० के लगभग राजस्थान के किसी अज्ञात लेखक ने खड़ी बोली में 'मंडोवर का वर्णन' लिखा था। उसकी भाषा का स्वरूप यह है—

'अवल में यहाँ मांडव्यरिसी का आश्रम था। इस सबब से इस जगे का नाम मांडव्याश्रम हुवा। इस लफ्ज़ का बिगड़कर मंडोवर हुआ है।'

यह पुरानी गद्य-परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में समाप्त हो जाती है। और नवीन आधुनिक परम्परा का प्रारम्भ इस के पचास वर्ष पश्चात् उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में सदासुखलाल आदि चार लेखकों के साथ होता है। इस आधुनिक गद्य-परिपाटी का परिचय देने से पूर्व यहाँ गद्य के सम्बन्ध में कुछ-एक अन्य उपयोगी बातों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

मुग़ल साम्राज्य के विस्तार के साथ-साथ खड़ी बोली का भी सम्पूर्ण भारत में पर्याप्त प्रचार हो गया, इसमें कुछ संदेह नहीं। देहली और आगरा में स्थायी रूप से रहने वाले शासक व सैनिक वर्ग सुदूर दक्षिण में हैदराबाद तक और पूर्व में मुर्शिदाबाद तक जाकर देहली और आगरा की खड़ी बोली में ही अपना सब

व्यवहार करते थे। मुग़ल-शासन-काल में राज्य भाषा भी खड़ी बोली की एक शैली (उर्दू) ही थी।

मुग़ल साम्राज्य के ध्वंस हो जाने पर देहली का वैभव क्षीण हो गया। उसके स्थान पर लखनऊ और मुर्शिदाबाद आदि पूर्वीय प्रान्तों की राजधानियां चमक उठीं। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक था कि देहली और आगरे के रहने वाले सम्पन्न व्यापारी वर्ग व प्रतिभाशाली कवि भी उक्त नगरों को छोड़कर मुर्शिदाबाद आदि पूर्वीय प्रान्तों के श्रीसम्पन्न नगरों की ओर बढ़ जाते। ये लोग स्वयं तो इन दूर-दूर के प्रान्तों में फैले ही, साथ ही केन्द्रीय भाषा (हिंदी खड़ी बोली) का भी इनके द्वारा सर्वत्र प्रचार हो गया। इसलिए यह भी कह सकते हैं कि खड़ी बोली का व्यापक प्रचार मुग़ल साम्राज्यों के खंडहरों पर हुआ।

अनेक आलोचक जान गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से लल्लूलाल और सदलमिश्र को हिंदी-गद्य लिखते देख कर कह दिया करते थे कि अंग्रेज़ों की प्रेरणा से ही हिंदी-

---

* यहाँ उर्दू भाषा की उत्पत्ति पर भी संक्षिप्त विचार कर लेना चाहिए। विक्रम की दसवीं से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक अरब, ईरान, बिलोचिस्तान, तुर्किस्तान आदि विदेशों के हज़ारों सैनिक भारत में आते और बसते रहे। उनकी छावनियों में सौदा बेचने वाले दुकानदार भारतीय थे और ग्राहक उक्त विदेशी सैनिक। व्यापारी और ग्राहक की भाषाएँ सर्वथा भिन्न थीं। ग्राहक फ़ारसी में कोई बात पूछता तो दूकानदार उसे यहाँ की भाषा-हिन्दी में उत्तर देता। एक हिन्दी नहीं जानता था तो दूसरा फ़ारसी से अनभिज्ञ था। इन दोनों अजनबी भाषा-भाषियों के रात-दिन के पारस्परिक सम्बन्ध को बनाये रखने के लिए एक मिली-जुली भाषा का प्रयोग परमावश्यक था। फलतः विदेशी सैनिक या ग्राहक ने यहाँ के हिन्दी शब्दों को अपनाया तो इधर भारतीय दूकानदार ने भी बहुत से उनके शब्द सीख लिये। पहले-पहल इस प्रकार की मिली-जुली भाषा का प्रयोग आवश्यकतावश व विवशता-पूर्वक किया जाता था। किन्तु धीरे-धीरे जब वे सैनिक स्थायी रूप से यहीं पर बस गये तो उनकी भाषा ने भी यहीं का रंगरूप ग्रहण कर लिया। निरन्तर सम्पर्क के कारण यहाँ का व्यापारी वर्ग भी विदेशी शब्दों को अनायास बोलने का अभ्यासी हो गया। कई सौ वर्षों तक यह मिली-जुली बोली बिना किसी नाम या रूप के हिन्दू और मुस्लिम दोनों समाजों में समान रूप से व्यवहृत होती रही। मुसलमान विद्वान् फ़ारसी, अरबी में तथा हिन्दू आचार्य संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश में भले ही लिखते रहे हों, पर दोनों जातियों के जन-साधारण

गद्य का प्रचार आरम्भ हुआ था ।' किंतु यह कथन नितान्त असत्य और भ्रामक है। क्योंकि रामप्रसाद निरंजनी, दौलतराम, सदासुखलाल, इंशाअल्लाखाँ इन चारों लेखकों ने लल्लूलाल से बहुत पहले अत्यन्त सुव्यवस्थित भाषा में परम प्रौढ़ गद्य लिखने की परिपाटी का प्रारम्भ कर दिया था। इन लोगों को किसी अंग्रेज़ की प्रेरणा नहीं प्रत्युत समय और समाज की परिस्थितियों ने ही गद्य लिखने के लिए प्रेरित किया था।

आधुनिक हिंदी-गद्य की प्रारम्भिक अवस्था के सम्बन्ध में इतना विचार कर लेने के पश्चात् इस गद्य का आरम्भ करने वाले चार प्रमख लेखकों का परिचय देते हैं। ये चारों लेखक हिंदी गद्य के दृश्यमान विशाल भवन के चार आधार-स्तम्भ ही हैं। इनमें से सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ हैं मुन्शी सदासुखलाल।

मुन्शी सदासुखलाल—ये हिंदी में अपना उपनाम 'सुखसागर और उर्दू में 'न्याज' रखते थे। इनका जन्म सं० १८०३ में दिल्ली में और देहान्त सं०

की भाषा तो सदा हिन्दी ही रही। मुसलमानों ने भी अठारहवीं शताब्दी से पूर्व उक्त मिली-जुली बोली उर्दू में रचनाएँ बिल्कुल नहीं लिखीं। सभी मुसलमान लेखक जब यहाँ की बोली में लिखना चाहते तो शुद्ध हिन्दी में ही लिखते रहे। किन्तु शाहजहाँ के समय उक्त मिली-जुली भाषा एक नवीन साहित्यिक रूप धारण करने लगी और उसका नया नाम भी खोज निकालने का प्रयत्न किया जाने लगा। फ़ारसी आदि भाषाओं में छावनी या किले को 'उर्दू' कहते हैं अतः उर्दू (छावनियों) में ही सर्वप्रथम प्रचलित होने के कारण इस भाषा का भी नाम 'उर्दू भाषा' ही रख दिया गया। दक्षिण भारत के कुछ एक शायरों—कवियों ने सर्वप्रथम इस भाषा में कुछ शेर लिखने का प्रयत्न किया। ये शेर फ़ारसी के शेरों से भी सुन्दर और प्रभावपूर्ण प्रमाणित हुए। फिर क्या था। धड़ाधड़ उर्दू में कविताएँ लिखी जाने लगीं। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों यह भाषा हिन्दी से दूर हटकर सर्वथा एक नवीन साहित्यिक रूप ग्रहण करती गई। दक्षिण भारत के उक्त मुस्लिम कवियों ने इस भाषा को पहले-पहल 'रेख़ता' या गिरी-पड़ी भाषा का नाम दिया था। इस प्रकार यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि आरंभ में उर्दू हिन्दी की ही एक विशेष शैली थी न कि कोई स्वतन्त्र भाषा। किन्तु आजकल अरबी, फ़ारसी के शब्दों से ऐसे लाद दी गई है कि उसे हिन्दी की एक शैली कहना तो दूर रहा भारतीय भाषा तक कहने में संकोच होता है। आज की 'उर्दू' को तो सर्वथा विदेशी भाषा ही कहा जा सकता है।

१८८१ में हुआ। ये बहुत वर्षों तक ईस्ट-इंडिया-कम्पनी के उच्च-अधिकारी-पद पर भी नियुक्त रहे। पहले-पहल ये उर्दू और फ़ारसी में अनेक गद्य-पद्य की पुस्तकें लिखते रहे और पैंसठ वर्ष की अवस्था में नौकरी से पेंशन पाकर प्रयाग चले गये। इन्होंने अपना अवशिष्ट जीवन भगवद्भजन में वहीं पर बिता दिया। 'मुंतख-बुत्तवारीख़' नामक अपनी पुस्तक में इन्होंने अपना जीवन-परिचय भी दिया है। यह पुस्तक इनकी मृत्यु से छः वर्ष पूर्व १८७५ में समाप्त हुई थी। इसके अतिरिक्त इन्होंने भागवत्, रामायण व प्रबोधचन्द्रोदय नाटक का उर्दू में छंदोबद्ध अनुवाद भी किया था। हिंदी में भी विष्णुपुराण के आधार पर एक पुस्तक लिखी थी। किंतु अभी तक उसकी कोई पूरी प्रति नहीं मिली। इनकी भाषा के नमूने ही मिले हैं। देखिए इनकी भाषा कितनी सुसंस्कृत, साहित्यिक तथा प्रौढ़ है—

'इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं; आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चांडाल से ब्राह्मण हुए जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरन्त ही ब्राह्मण से चांडाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहना चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने।'

इस लेखक के हृदय में शुद्ध हिंदी लिखने-लिखाने तथा उसका प्रचार करने की बड़ी भारी लगन दिखाई देती है। उर्दू के बड़े भारी विद्वान् लेखक और सुकवि होते हुए भी इन्होंने ऐसी सुन्दर संस्कृतनिष्ठ हिंदी का प्रयोग किया। हिंदी का प्रचार बन्द होते देख इन्हें बड़ा ही दुख होता था। अपनी इस अन्तर्वेदना को इन्होंने निम्नपद की पंक्ति में स्पष्ट रूप से प्रकट किया है—

'रस्मो रिवाज भाषा का दुनियां से उठ गया'।

इंशाअल्लाखाँ—इनके पिता मीरमाशाअल्लाखाँ काश्मीर से दिल्ली आकर शाही हकीम के पद पर प्रतिष्ठित हुए थे। मुग़ल शक्ति के क्षीण हो जाने पर वे मुर्शिदाबाद के नवाब के पास चले गये। वहां पर इनका जन्म सं० १८२१ में हुआ था और देहान्त सं० १८७५ में हुआ। इनकी गणना उर्दू के प्रसिद्ध शायरों में की जाती है। हिंदी में भी इन्होंने 'रानी केतकी की कहानी या उदयभानचरित' नामक एक गद्य-पुस्तक लिखी। अपनी इस पुस्तक के लिखने का उन्होंने यह कारण बताया है—'एक दिन बैठे २ यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिये कि जिस में हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा मन फूल की कली के समान खिले, बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो..................अपने मिलने वालों में से एक कोई बड़े पढ़-लिखे पुराने-

घुराने डौग बूढ़े घाग यह खटराग लाये और लगे कहने, यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिंदवीपन भी न निकले, भाखापन भी न हो, जैसे भले लोग अच्छे-अच्छे आपस में बोलते-चालते हैं ज्यों-का-त्यों वही सब डौल रहे और छाँव किसी की न हो यह नहीं होने का।'

इससे प्रकट है कि इंशाअल्लाखाँ कोई रचना ठेठ हिंदी में लिखना चाहते थे। इन्होंने बाहर की बोली (अरबी, फ़ारसी, तुर्की आदि) गंवारी बोली (व्रज और अवधी) और भाखापन अर्थात् संस्कृतनिष्ठ हिंदी से बचने की प्रतिज्ञा की है और इस प्रकार ये अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने में बहुत कुछ सफल भी हुए हैं। यद्यपि अपनी उक्त रचना में सर्वत्र सुव्यवस्थित हिंदी का प्रयोग करने में ये सर्वथा सफल हुए हैं, फिर भी इनका उर्दू लिखने का जन्मजात संस्कार सर्वांशतः नहीं छूट पाया। कहीं २ फ़ारसी ढंग का वाक्य-विन्यास 'रानी केतकी की कहानी' में भी लक्षित हो जाता है। जैसे—

'सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूं अपने बनाने वाले के सामने जिसने हमें बनाया।'

'दिन-रात जपता हूं उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को।'

यहाँ पर नाक रगड़ता हूं, जपता हूं ये क्रियाएं पहले आई हैं और कर्ता का प्रयोग बाद में हुआ है, अतः ये फ़ारसी शैली के वाक्य हैं। किंतु सारी पुस्तक में एसे वाक्य बहुत ही कम प्रयुक्त हुए हैं। इंशा की भाषा की दूसरी विशेषता यह है कि वह अत्यन्त चुस्त, मुहावरेदार व चटकीली मटकीली है। इन्होंनें चुलबुली भाषा में अपनी कलम की कारीगरी प्रकट करने के लिए ही कलात्मक रूप में 'केतकी की कहानी' लिखी थी। शुक्लजी ने इनकी भाषा पर टिप्पणी देते हुए लिखा है कि 'अपनी कहानी काँ आरम्भ ही इन्होंने इस ढंग से किया है जैसे लखनऊ के भाँड़ घोड़ा कुदाते हुए महफ़िल में आते हैं'। इंशा की भाषा की तीसरी विशेषता है, तुकान्तता। उसमें सानुप्रास विराम प्रायः अनेक स्थलों पर दिखाई दे जाते हैं। कुल मिलाकर यह रचना अत्यन्त सफल तथा भाषा, भाव, वर्णन, शैली आदि सभी दृष्टियों से सर्वांशतः भारतीय है। देखिए कैसी चलती चटपटी भाषा है—

'इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो पछताओगी और अपना किया पाओगी। मुझसे कुछ न हो सकेगा। तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती तो मेरे मुंह से जीते-जी न निकलती पर यह बात मेरे पेट नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हड़ हो तुमने अभी कुछ देखा नहीं जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूंगी तो तुम्हारे

बाप से कहकर वह भभूत जो वह निगोड़ा भूत मछंदर का पूत अवधूत दे गया है हाथ मुरकवाकर छिनवा लूंगी।'

लल्लूलाल जी—यह आगरा-निवासी गुजराती ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १८२० में और देहान्त सं० १८८२ में हुआ। अंग्रेजों ने कलकत्ते में अपने अंग्रेज़ अफ़सरों को भारतीय भाषा सिखाने के लिए फ़ोर्ट विलियम कॉलिज खोल रखा था। अभी तक इस कॉलिज में भारतीय भाषा के नाम पर उर्दू, फ़ारसी ही पढ़ी-पढ़ाई जाती रही, किंतु यह प्रवंचना अब और अधिक समय तक टिक नहीं सकती थी। उन्हें यहाँ की वास्तविक देशभाषा हिंदी के लिए भी कुछ न कुछ करने को विवश होना पड़ा फलत: अनेक उर्दू-फ़ारसी के शिक्षकों व मुन्शियों में से दो को हिंदी सिखाने तथा इसमें कुछ पुस्तकें लिखने का काम भी सौंपा गया। ये दोनों सज्जन थे—लल्लूलाल और सदलमिश्र। जहाँ उर्दू के लिए हजारों रुपये व्यय किये जा रहे थे वहाँ पचास-साठ रुपये अब हिंदी के नाम पर भी न्योछावर किये जाने लगे। जान गिलक्राइस्ट ने लल्लूलालजी को व्रजभाषा की कथा-कहानियों को हिंदी व उर्दू में लिखने के लिए कहा। इस पर इन्होंने सिंहासन-बत्तीसी, बैताल-पचीसी, शकुन्तला नाटक, और माधवानलकामकन्दला ये चार पुस्तकें उर्दू में तथा प्रेमसागर नामक पुस्तक हिंदी खड़ी बोली में लिखी। इनके अतिरिक्त इन्होंने हितोपदेश का भी 'राजनीति' के नाम से व्रजभाषा-गद्य में अनुवाद किया तथा बिहारीसतसई की लालचन्द्रिका नामक टीका लिखी। माधवविलास और सभा-विलास नामक दो अन्य पुस्तकें भी इन्होंने छापीं थीं। इन्होंने संस्कृत प्रेस के नाम से एक प्रेस खोला, जिसमें हिंदी की अनेक पुस्तकें प्रकाशित कीं। इनकी भाषा व्रजभाषा की पुट तथा पंडिताऊपन लिए हुए कथावाचकों की-सी है। वाक्यों में तुकान्त के कारण इनके गद्य में भी पद्य का-सा लालित्य लक्षित होता है। यद्यपि इन्होंने इंशाअल्लाखाँ की भाँति विदेशी शब्दों से बचने की स्पष्ट प्रतिज्ञा तो नहीं की पर लिखते समय यथासंभव अरबी फ़ारसी के शब्दों से ये बचना अवश्य चाहते थे। यहाँ तक कि कई हिंदी के शब्दों को भी इन्होंने उर्दू का जान कर विकृत कर दिया। फिर भी ये कहीं २ 'बैरख' (झंडा) सरीखे ठेठ फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग भ्रम से कर गये हैं। इनकी भाषा का नमूना देखिए—

'श्री शुकदेव मुनि बोले—महाराज ग्रीष्म की अति अनीति देखकर नृप पावस प्रचंड पशु पक्षी जीव जन्तुओं की दशा विचार चारों ओर से दल बादल साथ ले लड़ने को चढ़ आया। तिस समय घन जो गरजता था सोई तो धौंसा बजता था और जो वर्ण-वर्ण की घटा घिर आई थी सोई शूरवीर रावत थे जिनके बीच

बिजली की चमक शस्त्र की चमक थी, बगपाँत ठौर २ पर ध्वजा-सी फहरा रही थी, दादुर, मोर, बड़खौतों की-सी भाँति यश बखानते थे और बड़ी-बड़ी बूंदों की झड़ी बाणों की-सी झड़ी लगी थी।

'जिस काल ऊषा बारह वर्ष की हुई तो उसके मुखचन्द्र की ज्योति देख पूर्णमाशी का चन्द्रमा छवि छीन हुआ, बालों की श्यामता के आगे अमावस्या की अंधेरी फीकी लगने लगी। उसकी चोटी सटकाई लख नागिन अपनी केंचली छोड़ कर सटक गई। भौं की बंकाई निरख धनुष धकधकाने लगा; आँखों की बढ़ाई चंचलाई देख मृग मीन खंजन खिसाय रहे।

सदलमिश्र—ये बिहार के रहने वाले थे। इनका जन्म १८२१ में और देहान्त १९०६ में हुआ था इन्होंने गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से हिंदी गद्य में 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। इनकी रचना में पूर्वीपन प्रकट होता है। इनकी भाषा चलती और सुव्यवस्थित प्रतीत होती है। इनके गद्य का एक अवतरण नीचे दिया जाता है।

"इस प्रकार से नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन-जौन कर्म किये से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ, ब्राह्मण, माता-पिता, मित्र, बालक, स्त्री, स्वामी, वृद्ध, गुरु इनका जो वध करते हैं वो झूठी साक्षी भरते, झूठ ही कर्म में दिन-रात लगे रहते हैं, अपनी भार्य्या को त्याग दूसरे की स्त्री को ब्याहते औरों की पीड़ा देख प्रसन्न होते हैं और जो अपने धर्म से हीन पाप ही में गड़े रहते हैं वो माता-पिता की हित बात को नहीं सुनते, सबसे बैर करते हैं, ऐसे जो पापी जन हैं सो महा डरावने दक्षिणद्वार से जा नरक में पड़ते हैं।"

जैसा कि पहले कहा गया है उक्त चारों लेखकों में मुन्शी सदासुखलाल की भाषा ही सर्वश्रेष्ठ है। आगामी गद्य-लेखकों की परम्परा ने इनकी भाषा को ही आदर्श माना। कालक्रम की दृष्टि से भी इनका रचना-काल पहले आता है, अतः चारों लेखकों में इनका ही प्रमुख स्थान है।

इन चारों लेखकों द्वारा प्रवर्तित गद्य-परम्परा प्रायः इनके साथ ही समाप्त हो गई है। इनके पश्चात् लगभग पचास वर्ष तक किसी सुयोग्य साहित्यिक ने गद्य में कुछ भी लिखने का कष्ट नहीं उठाया। इनसे प्रायः पचास वर्ष पश्चात् सर्वप्रथम राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद, राजा लक्ष्मणसिंह, श्रद्धाराम फ़िल्लौरी तथा स्वामी दयानन्दजी आदि कई एक हिंदी-हितैषियों ने गद्य की अभिराम-व-अविराम परम्परा का पुनः प्रारम्भ किया। इस पचास वर्ष के बीच के समय में

ईसाई लेखकों ने पूर्वप्रतिष्ठित गद्य से लाभ उठाकर अपने धर्म के प्रचार के लिए बाइबिल के अनेक अंशों के हिंदी गद्य में अनुवाद निकालने आरम्भ किये। इन लोगों ने अपने धर्म-प्रचार की भावनाओं से प्रेरित होकर ही हिंदी में कुछ लिखा-लिखाया था—जनसाधारण तक अपने सिद्धांतों को पहुंचाने के उद्देश्य से ही इन्होंने हिंदी का सहारा लिया था, न कि हिंदी प्रचार के लिये। अत: हिंदी जगत् पर ईसाइयों का कोई भी उपकार नहीं माना जा सकता। विपरीत इसके ईसाइयों को ही हिंदी भाषा का आभार स्वीकार करना चाहिए, जिस की कृपा से ये लोग अपने धर्म का इतना अधिक प्रचार कर पाये। इन ईसाई लेखकों की भाषा भी सदासुख-लाल की भाषा के समान संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक है। एक नमूना देखिए—

"परन्तु सोलन की इन अत्युत्तम व्यवस्थाओं से विरोध भंजन न हुआ। पक्षपातियों के मन का क्रोध न गया। फिर कुलीनों में उपद्रव मचा और इसलिए प्रजा की सहायता से पिसिसट्रेटस नामक पुरुष सबों पर पराक्रमी हुआ। इसने सब उपाधियों को दबा कर ऐसा निष्कंटक राज्य किया कि जिसके कारण वह अनाचारी कहाया, तथापि यह उस काल में दूरदर्शी और बुद्धिमानों में अग्रगण्य था।"

इनकी ऐसी शुद्ध भाषा से एक बात और यह सिद्ध होती है कि बहुत से हिंदुस्तानी भाषा के भक्त लोग इसी आधार पर हिंदी का विरोध करते हैं कि 'जनसाधारण संस्कृतमय हिंदी को नहीं समझ पाते'। इसलिए फ़ारसी से प्रभावित हिंदुस्तानी को जनभाषा बनाना चाहिए। इन लोगों को ईसाइयों की उक्त पुस्तकों से कुछ शिक्षा लेनी चाहिए। उक्त ईसाई लेखकों ने विद्वत् समाज के लिए नहीं प्रत्युत जनसाधारण में धर्मप्रचार के लिए ही हिंदी में पुस्तकें निकाली थीं, यदि इस हिंदी को जनसाधारण न समझ पाते तो ये कदापि ऐसी साहित्यिक हिंदी न लिखते। अत: कह सकते हैं कि हिंदी को जनसाधारण नहीं समझ पाते यह कहना निराधार ही है। इन ईसाई लेखकों में अधिकांश हिंदुस्तानी पादरियों ने स्वयं भी लिखा और पंडितों से भी लिखवाया। 'आसो' और 'जान' नामक कुछ एक अंग्रेज़ पादरियों ने स्वयं भी हिंदी में सुन्दर भजन लिखे थे। इन लोगों ने धर्म पुस्तकों के सिवा स्कूलों के लिए पाठ्य-पुस्तकें भी प्रस्तुत कर प्रकाशित करवाईं, जिनमें इतिहास, भूगोल आदि सभी विषयों का समावेश हुआ है। आगरा में सं० १८९० में स्थापित 'स्कूल बुक सोसाइटी' तथा बंगाल के सीरामपुर प्रेस से ऐसी अनेकों पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज—सन् १८५७ के स्मरणीय स्वातन्त्र्य-संग्राम

की समाप्ति के साथ स्थानीय शासकवर्ग के विचारों में एक अलौकिक क्रांति तथा विचित्र क्रिया-प्रतिक्रियाएं प्रारम्भ हुईं। ईसाइयों ने हिंदुओं में अपने धार्मिक विचारों का प्रचार प्रारम्भ किया, तो उसकी प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप पूर्व में ब्रह्मसमाज तथा उत्तर-प्रदेश व पंजाब आदि पश्चिमी प्रान्तों में आर्यसमाज की सुधारात्मक प्रवृत्तियाँ प्रकट हो गईं। इन दोनों सुधारवादी समाजों ने ईसाई और मुसलमानों के प्रभाव से हिंदू धर्म को मुक्त करने तथा उसके प्राचीन रूप की पुनः प्रतिष्ठा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य कर दिखलाया।

राजा राममोहनराय—ब्रह्मसमाज के इस प्रवर्तक ने वेदान्त सूत्रों का हिंदी में अनवाद प्रकाशित कराया। सं० १८८६ में उन्होंने 'वंगदूत' नामक एक हिंदी पत्र भी प्रकाशित किया। इनकी भाषा बंगला से प्रभावित साहित्यिक हिंदी है। भाषा का एक नमूना देखिए—

"जो सब ब्राह्मण सांगवेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य हैं, यह प्रमाण करने की इच्छा करके ब्राह्मणधर्म-परायण श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री जी ने जो पत्र सांग-वेदाध्ययन-हीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप पठाया है, उसमें देखा जो उन्होंने लिखा है—वेदाध्ययन हीन मनुष्य को स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नहीं।"

स्वामी दयानन्द सरस्वती—इनका जन्म सं० १८८१ में मोरवी (गुजरात) में और मृत्यु १९४० में अजमेर में हुई। ये आर्यसमाज के प्रवर्तक, वेदों के महान् विद्वान् भाष्यकार और बड़े भारी सुधारक थे। इन्होंने सं० १९२० से प्रायः प्रत्येक प्रान्त व नगर में घूम-घूम कर अपने वैदिक-धर्म के प्रचार के लिए कमर कस ली। सं० १९३२ में इन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की और प्रत्येक आर्यसमाजी के लिए आर्य-भाषा (हिन्दी) का पढ़ना-पढ़ाना आवश्यक ठहराया। सत्यार्थप्रकाश, भ्रमोच्छेदन, अनुभ्रमोच्छेदन, वेदविरुद्ध मतखंडन, वेदान्तध्वान्त निवारण आदि अपनी प्रमुख पुस्तकें हिन्दी ही में लिखीं। इस प्रकार स्वामी जी तथा उनके आर्यसमाज ने हिन्दी-प्रचार में पर्याप्त सहयोग दिया, इसमें कुछ सन्देह नहीं। स्वामी जी के गद्य का एक नमूना नीचे दिया जाता है—

हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे होगा उसकी उन्नति तन-मन-धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें। क्योंकि समाज का सौभाग्य बढ़ाना समुदाय का काम है एक का नहीं।

—सत्यार्थप्रकाश

श्रद्धाराम फ़िल्लौरी—फ़िल्लौरनिवासी इस पंजाबी पंडित ने भी हिन्दू-धर्म व हिन्दी भाषा के लिए पर्याप्त प्रयत्न किया। अपने प्रभावशाली उपदेशों के द्वारा इन्होंने कपूरथला के महाराज को ईसाई होने से बचाया। इन्होंने सं० १९२० से सं० १९३८ तक हिन्दी, उर्दू और पंजाबी में अनेक पुस्तकें लिखीं, जिसमें से 'सत्यामृत-प्रवाह' नामक सिद्धान्त ग्रन्थ बड़ी ही प्रौढ़ और परिमार्जित हिन्दी भाषा में लिखा। आत्म-चिकित्सा, तत्त्वदीपक, धर्म-रक्षा, उपदेश-संग्रह आदि अनेक धार्मिक पुस्तकों के अतिरिक्त इन्होंने अपना एक बहुत बड़ा जीवन-चरित्र १४०० पृष्ठों में लिखा था, जोकि दुर्भाग्य से नष्ट हो गया। सं० १९३४ में इन्होंने भाग्यवती नामक एक सामाजिक उपन्यास भी लिखा जिसकी सब ने सराहना की। सं० १९३८ में जब उनकी मृत्यु हुई तो अन्तिम समय में सहसा उनके मुख से निकला कि—'भारत में भाषा के लेखक दो हैं, एक काशी में, दूसरा पंजाब में, परन्तु आज एक ही रह जायगा'। काशी के लेखक से उनका अभिप्राय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी से था। श्रद्धारामजी अपने समय के वास्तविक हिन्दीहितैषी और प्रौढ़ गद्य-पद्य लेखक थे। प्रसिद्ध 'जय-जगदीश हरे' की आरती इन्हीं की बनाई हुई है।

शिक्षा-विभाग में हिन्दी—अब तक सरकारी शिक्षा-विभागों में उर्दू, फ़ारसी और अंग्रेज़ी ही का अखंड साम्राज्य था। स्कूलों और मदरसों में आरम्भिक शिक्षा का माध्यम एकान्ततः उर्दू ही को स्वीकार किया जा चुका था। अंग्रेज़ अधिकारी-वर्ग और उनके पिट्ठू प्रशंसक भारतीय पदाधिकारी भी उत्तरोत्तर उर्दू को ही प्रोत्साहन देते हुए भारतीय भाषा हिन्दी को नामशेष कर देने के लिए कमर कसे बैठे थे। ऐसी स्थिति में दो राजाओं ने एक साथ कम-क्षेत्र में उतर कर शिक्षा-विभाग में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। इन दो राजाओं में से पहले थे—

राजाशिवप्रसाद सितारेहिन्द—ये रणथम्भोर के एक राजा धाँदल के वंशज थे। इनके पूर्वज देहली में जवाहरात का व्यापार करते थे। किन्तु नादिरशाही में ये मुर्शिदाबाद चले गये और वहाँ से काशी आ गये! वहीं पर आपका जन्म सं० १८८६ में हुआ। सन् १८५७ के ग़दर में इन्होंने अंग्रेज़ों की बड़ी सहायता की। फलतः अंग्रेज़ सरकार ने इन्हें विभिन्न उच्च पदों पर नियुक्त कर राजा की उपाधि से विभूषित किया। आप बहुत समय तक शिक्षा-विभाग में इन्स्पेक्टर के पद पर भी काम करते रहे। इस पद पर प्रतिष्ठित होकर आपने हिन्दी की अत्यन्त सराहनीय सेवा की। स्कूलों में हिन्दी को स्थान दिलाने व हिन्दी की पाठ्य-पुस्तकें लिखने-लिखाने का इन्हों-अत्यन्त स्तुत्य प्रयत्न किया। आरम्भ में ये वास्तविक हिन्दी के पक्षपाती थे, किन्तु आगे चलकर ये 'हिन्दुस्तानी' या उर्दू के भक्त बन गये, और अपनी देवनागरी-लिपि

में लिखित हिन्दी भाषा में फ़ारसी के शब्दों की भरमार करने लगे। इनकी आरम्भिक रचनाओं (मानवधर्मसार आदि) की भाषा स्वच्छ हिन्दी है, किन्तु 'इतिहासतिमिर-नाशक' आदि इनकी परवर्ती पुस्तकें उर्दू के 'मिलाप' 'प्रताप' आदि आधुनिक पत्रों में प्रयुक्त होने वाली आज की उर्दू से मिलती-जुलती हिन्दुस्तानी में है। राजासाहब ने इस वर्ण-संकर भ्रष्ट-भाषा का प्रचार करने के लिए बड़े जोर से उसकी वकालत भी आरंभ करदी। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं कि—'हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए जो आम-फ़हम और ख़ासपसन्द हों, अर्थात् जिनको ज्यादा आदमी समझ सकते हैं, और जो यहाँ के पढ़े-लिखे, आलिम-फ़ाज़िल, पंडित-विद्वान् की बोलचाल में छोड़े नहीं गये हैं, और जहाँ तक बन पड़े हरगिज़ ग़ैर मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिएँ, और न संस्कृत की टकसाल कायम करके नये-नये ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिएँ। जबतक कि हम लोगों को उसके जारी करने की जरूरत साबित न हो जाय।' इस उद्धरण में पूरी-की-पूरी पंक्तियाँ 'आमफ़हम' जैसी फ़ारसी की क्लिष्ट पदावली से पूर्ण हैं। इसे भला हिन्दी कैसे कहा जा सकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि राजा साहब ने अपने भाषा सम्बन्धी सिद्धान्तों में अपनी इच्छानुसार नहीं प्रत्युत अधिकारी वर्ग व सरकारी नौकरों के संकेतों पर ही परिवर्तन किया होगा। इनकी हिन्दी-प्रचार की लगन को देखकर चारों ओर से इनके सिद्धान्तों का ज़ोरदार विरोध आरम्भ हो गया था। अंग्रेज़ कभी नहीं चाहता था कि हिन्दू संस्कृति फलती-फूलती रहे। हिन्दू संस्कृति के नाश के लिए हिन्दी को पददलित कर देना आवश्यक था। आर्थिक दृष्टि से भी दो-दो भाषाओं की पढ़ाई का प्रबन्ध शासकों के लिए बड़ा ख़र्चीला सिद्ध हो सकता था। इन कारणों से अंग्रेज़ तो हिन्दी के विरोधी थे ही, इधर अब मुसलमान हिन्दी के विरोध में अपने आका अंग्रेज़ों से भी सर्वदा बढ़े-चढ़े जा रहे हैं। आज स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रीय कहलाने वाले देश-भक्त मुसलमान नेता व पदाधिकारी भी हिन्दी का नाम सुनते ही बौखला उठते हैं, तो सौ वर्ष पूर्व के मुसलमानों की तो बात ही क्या। हिन्दी का नाम सुनते ही भारतीय मुसलमानों का ईमान ख़तरे में पड़ जाता है। इसलिए वे प्राणप्रण से शिवप्रसाद के हिन्दी प्रचार के प्रयत्नों का विरोध करने पर उतारू हो गये। विधर्मी और विदेशी मुसलमानों और अंग्रेज़ों के अतिरिक्त उस समय के हमारे भारतीय हिन्दू, मुन्शी, मसद्दी या क्लर्क भी हिन्दी को फूटी आँखों नहीं देख सकते थे। ये लोग भी पंडितों की इस भाषा को पढ़ने से घबराते थे। इसलिए हिन्दू, मुसलमान और अंग्रेज़ों के संयुक्त विरोध के दबाव के कारण शिवप्रसाद जी ने हिन्दी को उर्दू बना देने का प्रयत्न किया।

वे लल्लूलाल जी के 'बैताल पच्चीसी' के उर्दू अनुवाद को टकसाली हिन्दी मानने लगे। पहले-पहल तो उन्होंने ऐसी भाषा को परिस्थितियों से बाध्य होकर अपनाया, पर आगे चल कर वे उसके कट्टर पक्षपाती हो गये। इतना सब कुछ होने पर भी उनकी आरम्भिक हिन्दी-सेवाओं के लिए हिन्दी जगत् उन्हें सदा स्मरण रखेगा। शिवप्रसाद जी की मृत्यु सं० १९५२ में काशी में हुई।

इन्होंने 'बनारस अख़बार' नामक एक साप्ताहिक पत्र भी काशी से प्रकाशित करवाया। यह नागरी अक्षरों में लिथो में छपता था और इसकी भाषा हिन्दुस्तानी ही थी। इनके मानवधर्मशास्त्र की भाषा देखिए—

'मनुस्मृति हिन्दुओं का मुख्य धर्मशास्त्र है उसको कोई भी हिन्दू अप्रमाणित नहीं कह सकता। वेद में मनुजी ने जो कुछ कहा है उसे जीव के लिए औषधि समझना। और बृहस्पति लिखते हैं कि धर्मशास्त्र आचार्यों में मनुजी सबसे प्रधान और अतिमान्य हैं क्योंकि उन्होंने अपने धर्मशास्त्र में सम्पूर्ण वेदों का तात्पर्य लिखा है।'

राजा लक्ष्मणसिंह—ये आगरे के रहने वाले यदुवंशी क्षत्रिय थे। आपका जन्म सं० १८८३ में और देहान्त १९५३ में हुआ। आप हिन्दी, संस्कृत व फ़ारसी के अच्छे विद्वान् थे। कांग्रेस के प्रतिष्ठापक 'मिस्टर ह्यूम' ने इन्हें अपने अधीन इटावा ज़िले की कलेक्टरी में पहले तहसीलदार और फिर डिप्टी-कलेक्टर के पद पर प्रतिष्ठित किया। ग़दर के दिनों में इन्होंने भी अंग्रेजों की पर्याप्त सहायता की थी। परिणामस्वरूप इन्हें राजा की उपाधि प्राप्त होगई। इन्होंने राजा शिवप्रसाद के भाषा सम्बन्धी सिद्धान्तों का कड़े शब्दों में खण्डन किया और शुद्ध हिन्दी के पुनः प्रचार का बीड़ा उठाया। इन्होंने रघुवंश के अनुवाद की भूमिका में स्पष्ट शब्दों में लिखा कि —'हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी २ हैं...... हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं और उर्दू में अरबी फ़ारसी के। किन्तु कुछ आवश्यक नहीं है कि अरबी फ़ारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी फ़ारसी के शब्द भरे हों।'

इस प्रकार राजासाहब लक्ष्मणसिंह ने शिवप्रसाद के विचारों का मुंहतोड़ उत्तर देकर हिन्दी-साहित्यिक के नाते अपने कर्तव्य का पूरी तरह पालन कर दिखाया। इन्होंने सं० १९१८ में 'प्रजा-हितैषी' नामक साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित किया। सं० १९१९ में इन्होंने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक का अत्यन्त सुन्दर और सरस अनुवाद किया। पहले इसमें सर्वत्र गद्य ही का प्रयोग हुआ था किन्तु बाद में कविताओं का अनुवाद पद्यों में कर दिया गया। अब तक शकुन्तला नाटक के जितने भी हिन्दी अनुवाद हुए हैं उनमें यह सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इनका लिखा हुआ रघु-

वंश का अनुवाद भी अच्छा बन पड़ा है। इनके शाकुन्तल के गद्य का नमूना देखिए—

'अनसूया—(हौले प्रियंवदा से) सखी! मैं भी इसी विचार में हूँ। अब इससे कुछ पूछूंगी (प्रकट) महात्मा! तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो? क्या कारण है जिससे तुमने अपने कोमल गात को कठिन तपोवन में आकर पीड़ित किया है।'

ये कविता भी बहुत सुन्दर लिखते थे। मेघदूत का भी इन्होंने अत्यन्त सरस अनुवाद किया था। सबसे बढ़कर इन्होंने यह काम किया कि अंग्रेजी और उर्दू के कानूनी शब्दों का प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद उपस्थित किया। किन्तु इस सुविज्ञ शासक के द्वारा प्रस्तुत हज़ारों शब्दों का वह संग्रह न जाने कहाँ लुप्त हो गया। अन्यथा इस समय वह कोष राष्ट्र के लिए एक महत्त्वपूर्ण निधि प्रमाणित होता। इनके मेघदूत के अनुवाद की एक कविता भी देखिए—

सुर युवती जुरि मिलि तहँ आवें। पकरि तोहि जलयन्त्र बनावें॥
रघसि रघसि हीरा कंकन सों। नीर झरावें तो अंगन सों॥
इन खिलवारन में परि तेरो। छुटकारो नहिं होय सवेरो॥
श्रावन कठोर घोर तब कीजो। यों डरपाय उन्हें मग लीजो॥

शिवसिंह सेंगर—इनका जन्म सं० १८७८ में काथां गाँव में हुआ था। ये पुलिस-इन्स्पेक्टर थे। काव्यरसिक होने के कारण इन्होंने अपने यहाँ ग्रन्थों का बड़ा भारी संग्रह किया। १९३४ में इन्होंने 'शिवसिंह-सरोज' नामक हिन्दी साहित्य का बड़ा भारी इतिहास लिखा जिसमें लगभग १००० कवियों का परिचय दिया गया यह हिन्दी में प्रथम बड़ा साहित्यिक इतिहास है। इसके अतिरिक्त आपने ब्रह्मोत्तर-खंड व शिवपुराण का भी गद्यानुवाद किया था।

राजा लक्ष्मणसिंह आदि लेखकों के पश्चात् भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने वर्तमान हिन्दी गद्य का प्रारम्भ किया।

अभ्यास

१. आधुनिक काल का साहित्य किन परिस्थितियों में प्रकट हुआ? सामाजिक, राजनैतिक आदि परिस्थितियों का सिंहावलोकन करते हुए बतायें कि उनका हिन्दी-साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा?

२. आधुनिक काल के साहित्य को कितने और किन युगों या अवस्था-विशेषों और रूपों में विभक्त किया जा सकता है ? वैज्ञानिक आधार पर इन विभागों की विशेषताएँ प्रतिपादित कर उनका वर्गीकरण करें ।

३. हिंदी खड़ी बोली गद्य के प्राचीन लेखक कौन २ हैं ? उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दें ।

४. व्रजभाषा में किन २ प्राचीन लेखकों ने गद्य-ग्रन्थ लिखे । उनके साहित्य का समालोचनात्मक परिचय दें ।

५. मुग़ल साम्राज्य से तथा उसके ध्वंस से खड़ी बोली के प्रचार में क्या सहायता मिली ?

६. 'अंग्रेज़ों की प्रेरणा से ही खड़ी-बोली-गद्य का प्रचार हुआ' इस उक्ति का सयुक्तिक खंडन या मंडन करें।

७. खड़ी-बोली-गद्य के आरंभिक सदासुखलाल आदि चारों लेखकों का परिचय देकर उनकी भाषा, विषय, शैली का तुलनात्मक परिचय दें और स्पष्ट करें कि इनमें से किसकी भाषा को आगामी लेखकों ने आदर्श रूप में स्वीकार किया ?

८. हिंदी-गद्य के प्रचार में ईसाई-लेखकों ने किस रूप में क्या सहयोग दिया ?

९. श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती, राजा शिवप्रसाद व राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा, शैली का परिचय देकर इनकी हिन्दी-साहित्य-सेवाओं पर प्रकाश डालिए ।

भारतेंदु प्रवर्तित प्रचार-युग

और दुःख उनके लिए समान थे। अपनी अतुल पैतृक सम्पत्ति को इन्होंने समाज व साहित्य के विविध कार्यों में सर्वथा समाप्त कर दिया। वे शतरंज के कुशल खिलाड़ी, मार्मिक संगीतज्ञ, दूसरों की नकल करने में बहुरूपियों के भी गुरु, कुशल अभिनेता, हास्य और व्यंग्य के आचार्य, कबूतर उड़ाने के पूरे शौकीन, सहृदय और मस्त प्रकृति के प्राणी थे। उनकी बात-बात-से सहृदयता व उदारता टपकती थी। होली पर खूब हुड़दंग मचाते यहाँ तक कि गायक-गायिकाओं की मण्डली के साथ विचित्र वेष बनाए गली-गली घूमते। उत्सवों पर इत्र के दीपक जलाना उनके लिए साधारण-सी बात थी। काशी-नरेश ने इन्हें इस प्रकार सम्पत्ति का व्यय करते देख एक बार कहा कि 'बबुआ, इस प्रकार बाप-दादों के धन को न फूंको'। आपने तत्काल उत्तर दिया कि 'इसने मेरे बाप-दादों को फूंक डाला, अब मैं इसे फूंक डालूंगा'। और यही कर दिखाया। अपने अन्तिम दिनों में इनके पास पैसे का नाम भी नहीं रहा। कुछ तो अर्थाभाव और कुछ सरकार के कोप के कारण इस कवि का अन्तिम जीवन कष्टपूर्ण ही रहा। कहा जाता है कि राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द इनके विपत्तिवर्धन में एक कारण थे। इनकी दुःखी अवस्था की बात सुनकर उदयपुर के महाराणा ने इन्हें १०००००) रुपया भेजते हुए लिखा था कि आपके कलेवे के लिए कुछ रुपये भेजे जा रहे हैं। वह पुष्कल धनराशि इनके लिए सचमुच कलेवे का ही काम दे सकी। इनकी उदारता का तो कहना ही क्या। काशी में कई वर्षों तक एक विद्यालय अपने व्यय से चलाते रहे। जब भी जिसे चाहते प्रसन्न होकर जो चाहे दे डालते। ऐसा मनमौजी साहित्यकार दूसरा कोई शायद ही हुआ हो। प्रतीत होता है कि प्रेमचन्द जी के 'प्रेमाश्रम' का वयोवृद्ध पात्र रायसाहब कमलानन्द कुछ रूपान्तरित हरिश्चन्द्र ही है। हरिश्चन्द्र जी ने निम्न कवित्त में संक्षिप्त रूप से अपना चरित्र अंकित कर दिया है—

सेवक गुनीजन, चाकर चतुर के हैं,
कविन के मीत, चित हित गुनगानी के।
सीधेन सों सीधे, महा बांके हम बांकेन सों,
'हरीचन्द्र' नगद दमाद अभिमानी के।
चाहिबे की चाह, काहू कीन परवाह नेहीं,
नेह के दीवाने सदा सूरत निमानी के।
सरबस रसिक के, दास दास प्रेमिन के,
सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधा रानी के।

समाज व साहित्य-सेवाएं—भारतेन्दु जी ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा और अलौकिक प्रभावशाली व्यक्तित्व के बल पर समाज व साहित्य की चिरस्मरणीय सेवाएँ कीं। भारतेन्दुजी के समय में समाज में राष्ट्रीयता, देश-प्रेम, समाज-सुधार, स्त्री-शिक्षा आदि की भावनाएँ घर कर चुकी थीं, किन्तु हिन्दी-साहित्य अभी पुराने ढर्रे पर ही चला आ रहा था। उसमें नवीन उद्बुद्ध समाज की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए समाज की विचार-धारा का प्रतिबिम्ब न था। उस समय का धार्मिक व शृंगारिक साहित्य सचमुच ही केवल बूढ़ों व पंडितों के काम की वस्तु रह गया था। उसमें नवस्फूर्ति, नवचेतना और नवीन उत्साह नहीं था। समाज व साहित्य की विचार-धाराएँ दो भिन्न-मार्गों पर चल रही थीं। ऐसी स्थिति में निश्चय ही साहित्य की अकालमृत्यु की संभावना उपस्थित हो गई थी। जो साहित्य सामयिक समाज की भावनाओं को अपने आप में प्रतिबिम्बित नहीं करता, समाज उसे कभी नहीं अपना सकता। जब समाज किसी भाषा के साहित्य को नहीं अपनायगा तो उस भाषा के साहित्य का अन्त हो जाना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य जब समाज से उपेक्षित होकर शैशव ही में एक प्रकार से अपनी अंतिम घड़ियों की ओर अग्रसर होने वाला था, तब भारतेन्दु जी ने अपने सुधारस से उसे पुनर्जीवित, जागृत और प्रफुल्लित कर दिया। साहित्य और समाज की विचार-धारा का सामंजस्य कर भारतेन्दु जी ने हिन्दी-साहित्य-रक्षा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। भारतेन्दुजी तथा उनकी मंडली ने सामयिक समाज के लिए उपयोगी और रोचक साहित्य का निर्माण कर लाखों पाठक प्रस्तुत कर दिये तथा यह सिद्ध कर दिया कि हिन्दी-साहित्य में भी राष्ट्र की नवीन-से-नवीन विचार-धारा अभिव्यक्त होती रहती है। साहित्य के साथ भाषा का निर्माण उनका दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है। अब तक हिन्दी भाषा तीन दलों के दलदल में फंस कर सर्वथा अचकचा रही थी। राजा शिवप्रसाद उसे 'आम फ़हम' का रूप देकर हिन्दुस्तानी या उर्दू बना डालना चाहते थे। बहुत-से विद्वान् साहित्य-क्षेत्र में इस नई भाषा खड़ी बोली को प्रविष्ट ही नहीं होने देना चाहते थे, वे व्रज-भाषा के पक्षपाती थे। राजा लक्ष्मणसिंह, सदासुखलाल आदि की भाषा में प्रान्तीयता का पुट और पंडिताऊपन था। भारतेन्दु जी ने सर्वप्रथम खड़ी बोली का निखरा हुआ रूप प्रस्तुत किया और स्पष्ट सिद्ध किया कि पात्रों की विविधता के आधार पर या परिस्थितियों के विभेद से यह भाषा अनेकरूपों में व्यवहृत होती हुई भी अपना एक स्थिर और सुव्यवस्थित रूप रखती है।

भारतेन्दु जी ने स्वयं तो बहुत कुछ लिखा ही, साथ ही एक बहुत बड़ा लेखक-

मंडल प्रस्तुत कर नवीन साहित्य के भण्डार को भरपूर कर दिया। यह साहित्य सर्वांशतः मौलिक है। इसमें हिन्दी का अपनापन पूर्णरूपेण प्रकट हो रहा है। इसमें किसी अन्य भाषा या साहित्य का प्रभाव लक्षित नहीं होता। भारतेन्दु जी की सबसे बड़ी विशेषता नवीन और प्राचीन युग का सामंजस्य है। वह युग क्रांति का नहीं प्रत्युत सुधार का था। नवीन की ओर आकृष्ट होती हुई भी जनता प्राचीन का सर्वथा परित्याग नहीं करना चाहती थी। उस समय साहित्य-स्रष्टाओं को कोई अपनी प्राचीन परिपाटी से हटाकर सर्वथा नवीन मार्ग पर ला खड़ा करने का प्रयत्न करता तो सम्भवतः वे चौकन्ने हो जाते और उसका साथ न देते। इसलिए भारतेन्दु जी ने प्राचीन परम्परा को अपनाते हुए नवीन युग के लिए मार्ग प्रस्तुत किया।

अब तक हिन्दी में नाटक का सर्वथा अभाव था। महाराज विश्वनाथसिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' और गोपालचन्द्र जी का 'नहुष' ये दो ही नाटक सुने जाते थे। बंगला आदि प्रगतिशील भाषाओं के साहित्य में नवीन विचारों के साथ नाटकों की भी धूम मच रही थी। भारतेन्दु जी ने अपने भारत-भ्रमण में जगन्नाथ जी की यात्रा के अवसर पर बंगला-साहित्य की इस नवीन रुचि और गति-विधि को परख लिया था, फलतः उन्होंने हिन्दी में नाटकों की झड़ी-सी लगा दी। एक-से-एक सुन्दर कई नाटक उन्होंने थोड़े ही समय में समाज को दे डाले। भारतेन्दु जी की सबसे बड़ी विशेषता उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा या व्यापक पांडित्य है। इस दृष्टि से हमें हिन्दी के तीन कलाकार प्रमुख पद पाते दिखाई देते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और जयशंकरप्रसाद। इन तीन दिव्य विभूतियों में जैसी सर्वतोमुखी प्रतिभा दिखाई दी वैसी अन्य किसी हिन्दी-कवि में नहीं। वाल्मीकि, व्यास और कालिदास जिस प्रकार संस्कृत में लोकप्रिय हैं, वैसे ही हिन्दी में गोस्वामी तुलसीदास, हरिश्चन्द्र और प्रसादजी। अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल पर भारतेन्दु जी ने शृंगार, वीर, करुण, रौद्र, हास्य, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, शान्त और वत्सल इन दसों रसों पर खड़ी बोली, व्रज, अवधी आदि सभी भाषाओं के गद्य, पद्य, चम्पू, नाटक आदि सभी साहित्यिक विधाओं पर चमत्कार दिखाया और खूब दिखाया। जब वे शृंगार रसाप्लावित राधा-कृष्ण के प्रेम गीत गाते हैं तो जयदेव और विद्यापति के साथ जा बैठते हैं। समाज-सुधार की चर्चा करते-करते राजा राममोहनराय और स्वामी दयानन्द सरस्वती के समकक्ष हो जाते हैं। प्राचीन वीरता की कविता कहते-कहते उनमें भूषण का-सा उत्साह दिखाई देता है। तात्कालिक देश की दशा का वर्णन करते हुए वे एक राष्ट्रीय नेता

के रूप में प्रकट होते हैं। चूरन के लटके जैसे बाज़ारू हल्के विषयों से लेकर गंभीर-से-गंभीर साहित्य का उन्होंने सृजन किया था। उनकी भाषा-शैली भी अनेकरूपता लिए रहती थी। जैसे वे उत्कृष्ट मौलिक लेखक थे वैसे ही श्रेष्ठ अनुवादक भी। उनके 'मुद्राराक्षस' संस्कृत तथा शेक्सपीयर के अंग्रेजी 'मरचेंट आफ़ वेनिस' के अनुवादों में मौलिक रचनाओं के समान ही सभी उत्कृष्ट गुण पाये जाते हैं। उन्होंने काव्य, नाटक, निबंध, पत्र-पत्रिका, इतिहास आदि साहित्य के विविध अगों पर प्रामाणिक रूप से लिखा है। अन्तिम दिनों में वे उपन्यास लिखने की ओर भी प्रवृत्त हुए थे, किन्तु उस कार्य को वह पूरा न कर पाये। इस प्रकार भारतेन्दु जी ने स्वल्प समय में ही साहित्य और समाज-निर्माण के लिए जो कुछ कार्य किया वह अपना उपमान आप ही है।

स्वदेशाभिमान की तो वे साकार प्रतिमा ही थे। 'भारत-दुर्दशा' और 'नील-देवी' नाटकों में इनका यह देश-प्रेम उमड़ रहा है। 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' आदि नाटकों में समाज-सुधार की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में देश-भक्ति के सर्वप्रथम सन्देशवाहक भारतेन्दु जी ही ठहरते हैं। साहित्य-निर्माण के अतिरिक्त भारतेन्दु जी ने जनहितकर कार्य भी अनेक किये। चौखम्बा स्कूल (जो अब भी हरिश्चन्द्र हाई स्कूल के नाम से प्रसिद्ध है) स्थापित किया। 'कवितावर्धिनी समाज' नामक इनकी प्रवर्तित सभा में अनेक प्रसिद्ध कवि अपनी सुन्दरतम कविताओं का पाठ किया करते थे। भक्ति का प्रचार करने के लिए 'तदीय समाज' नामक सभा की स्थापना कर 'भगवद्भक्ति' नामक पत्रिका प्रकाशित की। साहित्यिक चर्चा के साथ अभिनय, मनोरंजन आदि के लिए 'पैनी रीडिंग क्लब' स्थापित की। इनके 'कवि समाज' में बड़ी सुन्दर समस्या-पूर्तियाँ हुआ करती थीं। "हरिश्चन्द्र मेगजीन" (बादमें हरिश्चन्द्र चन्द्रिका) नामक पत्रिका भी इन्होंने प्रकाशित की थी। हिन्दी-प्रचार के लिए केवल साहित्य-निर्माण को पर्याप्त न समझकर यह स्थान-स्थान पर घूम-घूमकर 'हिन्दी भाषा व नागरी लिपि' की उपयोगिता पर प्रभावशाली भाषण दिया करते थे। इसी उद्देश्य से उन्होंने बलिया में 'सत्य हरिश्चन्द्र' 'अन्धेर-नगरी' और 'देवाक्षर-चरित्र' नामक नाटकों के अभिनय भी किये थे। पं० रविदत्त शुक्ल रचित 'देवाक्षर-चरित्र' प्रहसन में उर्दू की गड़बड़ी का सुन्दर वर्णन था। भारतेन्दु जी ने कुल मिला कर १७५ छोटी-मोटी पुस्तकें लिखीं। ७५ ग्रन्थों का सम्पादन या प्रकाशन किया जिनमें से सत्यहरिश्चन्द्र मौलिक नाटक तथा 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद साहित्य की स्थायी निधि की वस्तुएं हैं। यद्यपि इनके साहित्य में आज की-सी प्रौढ़ता और गम्भीरता के दर्शन नहीं होते

और प्रकृति-वर्णन भी श्रुतिपरम्परा के ही हैं स्वानुभूत नहीं, पर उस युग में इन्होंने जो कुछ लिखा उससे अच्छा और कोई लिख ही नहीं सकता था। हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगियों के साहित्य की समालोचना करते समय तात्कालिक परिस्थितियों को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए। भारतेन्दु जी ने जो कुछ कार्य किया वह साहित्य-संसार में सदा स्मरणीय रहेगा और उनका नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। इन्हीं सब बातों को देखते हुए समालोचक वर्ग ने भारतेन्दु जी के नाम पर हीं उस युग का नामकरण किया है। इनकी निम्न रचनाए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—

मौलिक नाटक—१ सत्यहरिश्चन्द्र (आर्य क्षेमेश्वर के 'चंडकौशिक' की छाया पर स्वतन्त्र नाटक है उसका अनुवाद नहीं, अतः इसे अनूदित नाटकों में स्थान देना भ्रामक है) २. चन्द्रावलि-नाटिका, ३. भारत दुर्दशा, ४. नीलदेवी, ५. माधुरी, ६. पाखंड-विडम्बन, ७. अंधेर नगरी (यह प्रहसन इन्होंने एक ही दिन में लिखा था) ८. वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति (प्रहसन), ९. विषस्य विषमौषधम् (प्रहसन), १०. सती प्रताप, ११. प्रेमयोगिनी आदि तथा 'नाटक' नामक नाट्य-शास्त्र का विवेचनात्मक ग्रन्थ।

अनूदित नाटक—१. विशाखदत्त कवि कृत 'मुद्राराक्षस', २. कांचन कवि कृत 'धनंजयविजय', ३. राजशेखर कृत प्राकृत नाटिका 'कर्पूर मंजरी', ४. चौरकवि नामक संस्कृत कवि के आधार पर यतीन्द्रमोहन ठाकुर द्वारा बंगला में निर्मित 'विद्यासुन्दर', ५. भारत जननी (सम्पादित) अंग्रेज कवि शेक्सपीयर का 'मर्चेन्ट ऑफ़ वेनिस' ('दुर्लभ बन्धु' या 'वंश नगर का महाजन' के नाम से)।

इतिहास आदि विविध विषय—१. काश्मीर कुसुम, २. बादशाह दर्पण, ३. उदयपुरोदय, ४. पुरावृत्त-संग्रह, ५. चरितावली, ६. दिल्ली-दर्बार-दर्पण आदि। इन्होंने नाभादास के भक्तमाल के उत्तरार्ध में ऐसा काव्य-कौशल व्यक्त किया कि वह नाभादास जी का लिखा ही प्रतीत होता है। एक कहानी 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती' तथा 'हम्मीर हठ' नामक उपन्यास भी इन्होंने लिखने आरम्भ किये थे। इनके गद्य और पद्य के कुछ उदाहरण देखिए—

१. 'अहा, स्थिरता किसी को भी नहीं है जो सूर्य उदय होते ही पद्मिनीवल्लभ और लौकिक तथा वैदिक दोनों कर्मों का प्रवर्तक था जो दोपहर तक अपना प्रचण्ड प्रताप क्षण-क्षण बढ़ाता गया, जो गगनांगण का दीपक और कालसर्प की शिखामणी था, वह इस समय परकटे गिद्ध की भाँति अपना सब तेज गंवाकर देखो समुद्र में गिरा चाहता है' (सत्यहरिश्चन्द्र)

२. **झपटिया**—कहो मिसरजी, तोरी नींद नांही खुलती, देखो संखनाद होय गया मुखियाजी खोजत रहे।

मिश्र—चलै तौ आहत्थे आधियै राति के संखनाद होय, तौ हम का करैं ? तोरे तरह से हमहू को घर में से निकसि के मन्दिर में घुसना आवना होता तो हमहू जल्दी आवते। हिंया तो दारा नगर से आवना पड़त है। अब ही सुरजौ नाहीं उगै।

३. हाय अब भी भारत की यह दुर्दशा। अरे अब क्या चिता पर सम्हलेगा ? भारत भाई उठो देखो अब यह दुःख नहीं सहा जाता। अरे कब तक बेसुध पड़े रहोगे ? उठो देखो तुम्हारी संतानों का नाश हो गया। छिन्न-भिन्न होकर सब नरक की यातना भोगते हैं। इस पर भी नहीं चेतते। हाय मुझसे तो अब यह दशा नहीं देखी जाती। (भारतदुर्दशा)

इनकी एक कविता भी देखिए—

धोवत सुन्दरी वदन करन अति ही छवि पावत,
वारिधि नाते ससि कलंक मनु कमल मिटावत।
सुन्दरि ससि मुख नीर मध्य इमि सुन्दर सोहत,
कमल बेलि लहलही नवल कुसुमन मनमोहत।।

(सत्यहरिश्चन्द्र)

भारतेन्दु-मण्डली के लेखक

भारतेन्दुजी ने अपने प्रयत्न और प्रोत्साहन से हिन्दी-साहित्य में अनेक कुशल कलाकार उत्पन्न किये। जिनमें बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहनसिंह आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों की भाषा, विषय-शैली में बहुत कुछ साम्य और वैषम्य भी है। सभी के लेखों में हास्य और व्यंग्य का पर्याप्त पुट है। सहृदयता इन लेखकों के प्रत्येक लेख से टपकती है। गम्भीर-से-गम्भीर विषय को भी ये अत्यन्त सरस और रोचक ढंग से लिखने वाले कलाकार थे। प्रत्येक के प्राणों में जीवन का उत्साह लहरा रहा था। सभी की भाषा में अपनापन है, उस पर बंगला या अंग्रेजी आदि शैलियों का कुछ भी प्रभाव नहीं। हिन्दी की प्रकृति इनके लेखों में बड़े स्वाभाविक रूप से निखर रही है। देशभक्ति और समाज-सुधार के लिए प्रत्येक में प्रबल प्रेरणा पाई जाती है। सामाजिक उत्सवों, त्यौहारों आदि के लिए सभी उत्सुकता पूर्वक प्रतीक्षा करते और उन पर सुन्दर विवेचनात्मक लेख भी लिखते। सभी ने किसी-न-किसी पत्र-पत्रिका का सम्पादन भी अवश्य किया। संक्षेप में सभी लेखक भारतेन्दुजी के पद-चिन्हों पर पूरी तरह

चलते रहे। इन समताओं के साथ सभी के लेखों में अपनी-अपनी विशेषताजन्य विषमता भी है। बालकृष्ण भट्ट स्थान-स्थान पर ब्रैकेट के बरांडे (कोष्ठक की कोठरी) में अंग्रेजी शब्दों को बैठाने के अभ्यासी हैं। प्रतापनारायण मिश्र पूर्वी पदों का प्रयोग प्रचुर परिमाण में कर जाते हैं। बद्रीनारायण चौधरी कलम की कारीगरी को परखने वाले कुशल कलाकार हैं। समलंकृत भाषा उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। ठाकुर जगमोहनसिंह प्रकृति के प्राकृत पुजारी हैं। ऐसा सच्चा प्रकृति-प्रेम तात्कालिक अन्य लेखकों में नहीं मिलता। इसी प्रकार तात्कालिक अन्यान्य लेखकों की भी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। अब यहाँ इन कलाकारों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

पंडित बालकृष्ण भट्ट—इनके पूर्वज मालवा के निवासी थे पर प्रयाग में आ बसे थे। वहीं पर इनका जन्म सं० १९०१ म और देहान्त १९७१ में हुआ। मिशन स्कूल म मैट्रिक पास करने के पश्चात् आपने संस्कृत शास्त्रों का पर्याप्त अध्ययन और मनन किया। प्रयाग में 'हिन्दी प्रर्वाधिनी सभा' की स्थापना कर संवत् १९३३ में 'हिन्दी प्रदीप' नामक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इस पत्र में सामाजिक, राजनैतिक,साहित्यिक सभी प्रकार के सुन्दर लेख प्रकाशित होते थे। यह पत्र उनके जीवनकाल के पश्चात् भी कुछ समय तक चलता रहा। इनके लेखों में यत्र-तत्र कहावतों का प्रयोग और मुहावरों का बाहुल्य रहता था। व्यंग्यात्मकता और हास्य-प्रियता इनमें भी समान रूप से पाई जाती है। अपने पत्र में यह संस्कृत कवियों की भी समय-समय पर चर्चा करते रहते थे। ब्रेक्ट के बरांडे में अंग्रेजी शब्दों को बैठाना इन-की अपनी वैयक्तिक विशेषता है। आँख, कान, नाक, भौं आदि छोटे-छोटे विषयों पर इन्होंने बड़ी ही चुस्त और मुहावरेदार भाषा में छोटे-छोटे आकर्षक निबन्ध लिखे हैं। मनोरंजकता और हास्यप्रियता तो इन लोगों का जीवन-सर्वस्व ही थी। शुक्लजी के छोटे भाई के यह कहने पर कि 'मेरी आँख आ गई है' इन्होंने तत्काल कहा कि "भैया यह आँख भी बुरी बला है इसका आना-जाना, उठना-बैठना आदि सभी बुरा है।' इन्होंने कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बाल-विवाह-नाटक, चन्द्रसेन-नाटक आदि मौलिक नाटक लिखे। 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान' इनके उपन्यास हैं। माइकेल मधुसूदनदत्त के पद्मावती और शर्मिष्ठा नामक बंगला नाटकों का अनुवाद भी इन्होंने किया। हिन्दी-गद्य में समालोचना के सूत्रपात का श्रेय भी इन्हें ही प्राप्त है। लाला श्रीनिवासदास के संयोगिता-स्वयंवर की इन्होंने संवत् १९४१ में कड़ी समालोचना की थी। आप प्रयाग के कायस्थ-पाठशाला कॉलिज में संस्कृत अध्यापक के पद पर भी प्रतिष्ठित रहे थे। इनके निबन्धों का

संग्रह 'साहित्य-सुमन' नाम से प्रकाशित हो चुका है। भट्टजी की भाषा का नमूना देखिए—

'इधर पचास-साठ वर्षों से अंग्रेजी राज्य के अमन-चैन का फ़ायदा पाय हमारे देश वाले किसी भलाई की ओर न झुके। वरन् दस वर्षों की गुड़ियों का ब्याह कर पहले से ड्योढ़ी-दूनी सृष्टि अलबत्ता बढ़ाने लगे। आत्मनिर्भरता में दृढ़ अपने कूवते बाजु पर भरोसा रखने वाला पुष्टवीर्य पुष्टबल भाग्यवान् एक सन्तान अच्छा। कूकर-सूकर से निकम्मे रग-रग में दास भाव से पूर्ण परभाग्योपजीवी दास किस काम के।'

प्रतापनारायण मिश्र—इनका जन्म संवत् १९१३ में और देहान्त संवत् १९९१ में कानपुर में हुआ। ये भी भारतेन्दुजी की भाँति मौजी स्वभाव के कलाकार थे। स्कूली शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् इन्होंने संस्कृत, फ़ारसी, अरबी, बंगला का अच्छा अभ्यास किया। भारतेन्दु जी की 'कवि-वचन-सुधा' से यह प्रारम्भ में पर्याप्त प्रभावित हुए। कानपुर के लावणीबाजों के सत्संग में ये कविता करने लगे। पंडित ललिताप्रसाद त्रिवेदी से इन्होंने काव्य-शास्त्रों का अध्ययन किया। इन्होंने संवत् १९४० म 'ब्राह्मण' नामक पत्र निकाला। भारतेन्दु जी की परम्परा पर चलते हुए भी इनकी भाषा में अपनापन है। व्यंग्यात्मकता और लोकप्रियता इनमें सबसे अधिक है। गम्भीर-से-गम्भीर विषय को भी ये व्यंग्यपूर्ण मनोरंजक रूप में उपस्थित करते थे। इनके शीर्षक भी आकर्षक तथा विविध विषयों के रहते थे। 'उर्दू बीबी की सम्पत्ति' शीर्षक लेख में इन्होंने उर्दू भाषा की वेश्या के साथ बड़ी सुन्दर तुलना कर दिखाई है। खून, जिगर का टुकड़ा, क़त्ल आदि की प्रधानता के कारण ये उर्दू कविता को 'हस्पताल' कहा करते थे। हिन्दी को राजभाषा बनाने के लिए डेपुटेशनों को गवर्नरों से मिलता या अखबारों को चिल्लाता देख इन्होंने 'घूरे का लत्ता बिनै कनातन के डौल बाँधै' शीर्षक लेख लिखकर स्पष्ट कहा कि जब तक जनता अपने दैनिक व्यवहार में हिन्दी नहीं लाती तबतक हिन्दी को राजभाषा बनाने की कल्पना वैसी ही है जैसे कि कोई कूड़े-करकट के ढेर में से चिथड़े इकट्ठे करनेवाला भिखारी बड़ी-बड़ी कनातें बनाने की कल्पना करे। मिश्रजी की पचास वर्ष पूर्व की यह भविष्यवाणी सर्वथा सत्य सिद्ध हुई। आज विधान-परिषद् द्वारा हिन्दी के राजभाषा घोषित हो जाने तथा कई नगरों में हिन्दी में तार देने का प्रबन्ध हो जाने पर भी हिन्दी तार देने वाले क्लर्कों के सारा दिन खाली बैठे रहने की शिकायत सुनाई दे रही है। अब भी जनता अपना कार्य-व्यवहार हिन्दी में नहीं करना चाहती। 'समझदार की मौत' 'बात' 'वृद्ध' आदि छोटे-मोटे कई विषयों पर इनकी लेखनी बड़े ही प्रभावशाली

और मनोरंजक लेख उगलती रहती थी। निबन्धों के अतिरिक्त 'कलि-कौतुक-रूपक,' 'संगीत-शाकुन्तल,' 'भारत-दुर्दशा,' 'हठी हमीर', 'गोसंकट नाटक,' 'कलि-प्रभाव नाटक' और 'जुआरी की खुआरी' ये नाटक भी लिखे थे। 'संगीत-शाकुन्तल' कालीदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक का लावणी के ढंग पर खड़ी बोली में गीतात्मक अनुवाद है। भट्टजी और मिश्र जी का हिन्दी-निबन्ध-लेखकों में वही स्थान माना गया है जो अंग्रेजी में एडीसन और स्टील का है। इन लोगों ने दैनिक जीवन के लिए उपयोगी साहित्य को मनोरंजक भाषा में उपस्थित कर अनेक नये पाठकों को हिन्दी की ओर आकृष्ट कर लिया। इनकी विनोदशील प्रकृति भारतेन्दु जी से बिल्कुल मिलती-जुलती थी। कानपुर में एक नाट्य-समिति का निर्माण कर उसके अभिनयों में यह स्वयं भाग लिया करते थे। स्त्री-पात्र का अभिनय करने के लिए अपने माता-पिता से इन्होंने दाढ़ी-मूंछ मुड़वाने की आज्ञा ली थी। कुछ समय तक इन्होंने राजा रामपालसिंह के 'हिन्दुस्तान' पत्र का सम्पादन भी किया था। इनकी भाषा का एक नमूना देखिए—

'यदि सचमुच हिन्दी का प्रचार चाहते हो तो आपस के जितने काग़ज़-पत्र लेखा-जोखा टीप तम्मसुक हों सब में नागरी लिखी जाने का उद्योग करो। जिन हिन्दुओं के यहाँ मौलवी साहब बिस्मिल्लाह करवाते हैं उनके पंडितों से अक्षराभ्यास कराने का उपचार करो। चाहे कोई हंसे चाहे दबकावे, जो हो सो हो तुम मनसा वाचा कर्मणा उर्दू को चुल्लू देने में सन्नद्ध हो. . . .बस फिर देखना पाँच-सात वर्ष में फ़ारसी छारसी उड़ जायगी, नहीं तो होता तो परमेश्वर के किये है। हम सदा यही कहा करेंगे 'पीसै का चुकरा गावै का सीताहरन' 'घूरे के लत्ता बिनै कनातन का डोल बांधै।' उक्त उदाहरण से मिश्रजी का हिन्दी-प्रेम और पूर्वी प्रयोगों का परिचय मिल जाता है।

उपाध्याय पंडित बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'—प्रेमघनजी का जन्म मिर्जापुरमें एक सम्पन्न ब्राह्मण वंश में संवत् १९१२ में और देहान्त १९८९ में हुआ था। बातचीत, वेश-भूषा, आकार-प्रकार, हाव-भाव, स्वभाव आदि सभी दृष्टियों से ये भारतेन्दु जी के प्रतिरूप प्रतीत होते थे। भारतेन्दु जी और चौधरी जी के चित्रों को एक साथ देखकर दोनों को पृथक् रूप में पहचानना कठिन हो जाता है। भारतेन्दुजी के ये अन्तरंग मित्रों में से थे। रईसी तो इनकी बात-बात से टपकती थी। एक घटना का उल्लेख करते हुए किसी समालोचक ने लिखा था कि 'सन्ध्या के समय आंगन में साहित्यिक चर्चा हो रही थी कि इतने में वायु के वेग से बीच में पड़ा लैम्प भभकने लगा, तो चौधरीजी लैम्प की बत्ती कम करने के लिए नौकर को

पुकारने लगे। पास में पड़े हुए लैम्प की बत्ती वे अपने हाथों कम नहीं कर सकते थे, जिस का काम वही करेगा, भले ही चिमनी क्यों न टूट जाय। और हुआ भी वही नौकर के आते-आते चिमनी टूट गई।' इस छोटी-सी घटना से उनकी रईसाना प्रकृति का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। इनकी सुशिक्षिता माता ने बचपन में इन्हें स्वयं शिक्षा दी थी। बाद में ये अंग्रेजी, फ़ारसी आदि विदेशी भाषाएं भी पढ़ गये। अवध-नरेश सर प्रतापनारायणसिंह के सम्पर्क में घुड़सवारी और शिकार का इन्हें शौक लग गया। पंडित रामानंद पाठक के संसर्ग से इन्होंने संस्कृत साहित्य का अभ्यास किया। पंडित इंद्रनारायण शंगलू ने इनमें काव्य-रुचि जागृत की और हरिश्चन्द्रजी से परिचय भी कराया। इन्होंने 'आनन्द-कादम्बिनी' और 'नागरी-नीरद' नामक पत्र भी निकाले। इनकी भाषा-शैली सबसे विलक्षण और अत्यन्त अलंकृत थी। अनुप्रास और रूपक आदि की जैसी छटा इनके गद्य में दिखाई देती है वैसी अन्यत्र नहीं। यह केवल विचारों को व्यक्त करने वाले लेखक नहीं, प्रत्युत कलम की कारीगरी को परखनेवाले कुशल कलाकार थे। 'नागरी-नीरद' के लेखों के स्तम्भ भी 'सम्पादकीय सम्मतिसमीर' 'वृत्तान्त-बलाकावली,' 'नियम-निर्घोष' सरीखे सुन्दर सानुप्रास रूपकमय रखे थे। भारतेन्दु जी को साधारण भाषा में लिखते देख ये उनके लिखने में उतावलेपन की शिकायत किया करते थे और चाहते थे कि वे भी वैसा ही काव्य-कौशल दिखाया करें। ये अपने उक्त पत्रों को स्वलिखित लेखों, कविताओं आदि से ही भर दिया करते थे। इसके लिए हरिश्चन्द्रजी ने एक बार लिखा था कि 'जनाब, यह किताब नहीं जो आप अकेले ही इरकाम फ़रमाया करते हैं, बल्कि अखबार है कि जिसमें अनेक-जनलिखित लेख होना आवश्यक है और यह भी जरूरी नहीं कि सब एक तरह के लिक्खाड़ हों।' ला० श्रीनिवासदास के 'संयोगिता-स्वयंवर' की इन्होंने २१ पृष्ठों में लम्बी समालोचना की थी। चौधरीजी की ये रचनाएं प्राप्त हो चुकी हैं—प्रयाग-रामागमन, भारत-सौभाग्य, मंगल-आशा, हार्दिक बधाई, धन्यवाद, कजली-कादम्बिनी, आनन्द-अरुणोदय, भारत-बधाई, वारांगना-रहस्य। इन रचनाओं में कवि का देश-प्रेम भी स्पष्ट झलक रहा है। एक रचना में इन्होंने भारत व इंग्लैंड की जनता के अधिकारों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—

ब्रिटिश राज की प्रजा बृटिन औ हिंद उभय की।
लखहुं दशा पर युगल भाग के अस्त उदय की॥
वे निज देश-हेतु विरचत हैं नीति नियम सब।
बिन उनकी सम्मति कछु राजा करत भलाँ कब॥

राजा नामै हेतु करति सब प्रजा प्रबन्धहि ।
पर उन कहं इतनेहु पै है सपनेहु सन्तोष नहिं ।।
औ हम भारतवासी जन निज दशा कहन को ।
जाय सकत नहिं तहां भूलि कै एकौ छन को ।।

दादाभाई नौरोजी के काला कहे जाने पर इनके हृदय से निम्न उद्गार निकल पड़े थे—

'कारो निपट निकारो नाम लगत भारतीयन ।
जदपि न कारे तऊ भागि कारो विचारि मन ।।
अचरज होत तुम्हहु सम गोरे बाजत कारे ।
तासो कारे कारे शब्दन पर हैं वारे ।।

इस कवि ने राष्ट्रीय गान 'वन्दे मातरम्' की प्रशंसा में लिखा था—

'खग वन्दे मातरम् मधुर ध्वनि पड़ने लगी सुनाई ।'

इनके गद्य का भी एक नमूना देखिए—

द्विजदेवी श्री महारानी बड़हर लाख झंझट झेल और चिरकाल पर्यन्त बड़े-बड़े उद्योग और मेल से दुख के दिन सकेल अचल कोटि का पहाड़ सकेल फिर गद्दी पर बैठ गई। ईश्वर का भी क्या खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुःख की रेल-पेल और कभी उस पर सुखों की कुलेल है।

'दोनों दलों की दलादली में दलपति का निर्णय दलदल में ही फंसा रह गया।'

ठाकुर जगमोहनसिंह—इनका जन्म संवत् १९१४ में और देहान्त १९५६ में हुआ। ये कछवाहे राजपूत थे। इनका सम्बन्ध जयपुर के राज्यवंश से था। इनके पिता ने सन् सत्तावन के विद्रोह में भाग लिया था। इसलिए इनकी जागीर ज़ब्त कर ली गई। यह विजयराघवगढ़ (मध्यप्रदेश) के राजकुमार थे। काशी में रहकर इन्होंने विद्याध्यन किया और यहीं भारतेन्दुजी के सम्पर्क में आये। ये असिस्टेंट कमिश्नर और कूचबिहार की स्टेट कौंसिल के मन्त्री भी रहे थे। भारतेन्दुजी के अन्तरंग मित्रों में इनकी भी गणना है। भारतेन्दुकालीन अन्य लेखकों ने प्रकृति का वास्तविक चित्र अंकित नहीं किया। वे सुनी-सुनाई बातें लिखकर आगे बढ़ जाते हैं। भारतेन्दुजी ने स्वयं गंगा और यमुना के बहते पानी में कमल खिलाये हैं, किन्तु ठाकुर साहब ने

संस्कृत-साहित्य के सम्पर्क और विन्ध्यवन के रमणीय प्रान्तों में निवास के कारण अनेकरूपा प्रकृति के परम रम्य रूप का सच्चा साक्षात्कार प्राप्त कर वास्तविक वर्णन किया। इनके 'श्यामा-स्वप्न' में प्रकृति का बड़ा ही सजीव चित्र अंकित हुआ है। इनकी रचना को पढ़ते समय पाठक के हृदय में स्वतः संस्कृत-रचना का-सा रस-संचार होने लगता है। ठाकुर साहब की ये रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं—प्रेम-रत्नाकर, श्यामास्वप्न, श्यामालता, देवयानी, श्यामा-सरोजिनी, मानस-सम्पत्ति, ऋतुप्रकाश। इनके श्यामा-स्वप्न का एक नमूना देखिए—

'मैं कहाँ तक इस सुन्दर देश का वर्णन करूं? जहाँ की निर्झरिणी—जिनके तीर वानीर से बड़े मदकल कलित विहंगमों से शोभित हैं। जिनके मूल से स्वच्छ और शीतल जलधारा बहती है और जिनके किनारे श्याम जम्बू के निकुंज फल भार से नमित जनाते हैं—शब्दायमान होकर झरती है। जहाँ के शल्लकी वृक्षों की छाल में हाथी अपना बदन रगड़ खुजली मिटाते हैं और उनमें से निकला क्षीर सब वन के शीतल समीर को सुरभित करता है। मंजु वंजुल की लता और नील निचुल के निकुंज जिनके पत्ते ऐसे सघन जो सूर्य की किरणों को भी नहीं निकलने देते इस नदी के तट पर शोभित हैं।

पं० अम्बिकादत्त व्यास—इनका जन्म संवत् १९१५ और देहान्त संवत् १९५७ में हुआ। ये संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् और हिन्दी के श्रेष्ठ साहित्यकार थे। सनातन धर्म के पुराने प्रमुख उपदेशकों में इनकी गणना है। इनका संस्कृत उपन्यास 'शिवराज-विजय' संस्कृत साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है। ये व्रज भाषा के एक उत्कृष्ट कवि भी थे। 'गद्य-मीमांसा' में इन्होंने गद्य-रचना का सुन्दर विवेचन किया, बिहारी-सतसई पर बिहारी-बिहार नामक एक सुन्दर काव्य-ग्रन्थ भी लिखा था। इनकी ये हिन्दी रचनाएं प्रकाशित हो चुकी हैं—ललिता-नाटिका, पावस-पचासा, भारत-सौभाग्य-नाटक, गोसंकट-नाटक, सुकवि-सतसई, कथा-कुसुम-मालिका, स्वर्ग-सभा, बिहारी-बिहार, गद्य-काव्य-मीमांसा, आश्चर्य-वृत्तान्त, ईश्वर-इच्छा, ताश-कौतुक-पच्चीसी, चतुरंग-चातुरी, धर्म की धूम, 'कलियुग और घी' प्रहसन, स्वामी-चरणामृत, निज-वृत्तान्त, रसीली-कजरी, अवतार-मीमांसा, साहित्य-नवनीत, सांख्य-सुधा, हो हो होरी।

लाला श्रीनिवासदास—इनका जन्म संवत् १९०८ में और देहान्त संवत् १९४४ में देहली में हुआ। भारतेन्दु-मंडली के लेखकों में इनका अपना स्थान था। ये हिन्दी, अंग्रेजी, फारसी, उर्दू, संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे, और विद्वानों का सदा सम्मान करते थे। एक बार ये पंडित प्रतापनारायण मिश्र से मिले और उन्हें एक मुहर भेंट की।

इस पर पंडितजी ने बिगड़ कर कहा कि 'क्या आप अपने धन का अभिमान दिखाने आये हैं' तब इन्होंने हाथ जोड़कर विनय की कि 'मैं तो मातृभाषा के मंदिर में अक्षत चढ़ाता हूं।'

इनकी भाषा साफ़ सुथरी और मुहावरेदार है। इन्होंने राजनीति, रणधीर-प्रेममोहिनी, तप्ता-संवरण, संयोगिता-स्वयम्बर, 'प्रहलाद-चरित' नाटक और 'परीक्षा-गुरू' सर्वप्रथम हिन्दी-उपन्यास लिखा। 'रणधीर प्रेम-मोहिनी' शेक्सपीयर के 'रोमियो एण्ड जूलियट' के आधार पर लिखित हिन्दी का सर्वप्रथम दुःखान्त नाटक है। इनके गद्य का एक नमूना देखिए—

'न्यायवृत्ति यद्यपि सब वृत्तियों को समान रखने वाली है परन्तु इसकी अधिकता से भी मनुष्य के स्वभाव में मिलनसारी नहीं रहती। क्षमा नहीं रहती।'

बाबू तोताराम—इनका जन्म संवत् १९०४ और देहान्त संवत् १९५९ में हुआ। ये कायस्थ थे, ये पहले हेडमास्टर रहे और बाद में अलीगढ़ से 'भारत-बन्धु' पत्र निकालने लगे। ये भी भारतेन्दु जी के हिन्दी-प्रचार कार्य में पूरा भाग लेते और हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका में लेख भी लिखते रहते थे। भाषा-संवर्धिनी-सभा स्थापित कर अपनी 'कीर्तिकेतू,' 'केटोकृतान्त नाटक' (अंग्रेजी का अनुवाद) आदि पुस्तकों की आय भी उसी के लिए अर्पित कर दी।

पं० केशवरामभट्ट—ये महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। इनका जन्म संवत् १९११ और देहान्त संवत् १९६१ में हुआ। इन्होंने वर्तमान सामाजिक अवस्था को लेकर हिन्दू, मुसलमान, अंग्रेज़ लुटेरे, लफ़ंगे, मुकदमेबाज़ आदि अनेकविध पात्रों से परिपूर्ण 'सज्जाद सम्बुल' और 'समसाद सौसन' नामक दो नाटक लिखे। और बिहार-बन्धु प्रेस खोलकर 'बिहार-बन्धु' नामक पत्र भी निकाला।

पं० राधाचरण गोस्वामी—इनका जन्म संवत् १९१५ में और देहान्त १९८१ में वृन्दावन में हुआ। ये संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। 'हरिश्चन्द्र मेगजीन' से प्रभावित होकर ये देश-सेवा और समाज-सुधार की ओर प्रवृत्त हो गये। इन्होंने 'भारतेन्दु' नामक पत्र भी निकाला और सुदामा नाटक, सती चन्द्रावली, अमरसिंह राठौर, 'तन मन धन श्री गौसाईं जी के अर्पण' आदि नाटक भी लिखे। विरजा, जावत्री, मृण्मयी आदि बंगला उपन्यासों के अनुवाद भी किये।

पं० मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या—इनका जन्म सं० १९०८ में हुआ था। इन्होंने काशी-क्वीन्स कॉलेज में शिक्षा प्राप्त की। वहीं पर इनकी भारतेन्दुजी से प्रगाढ़ता हो गई। बाद में ये १३ वर्ष तक उदयपुर में विभिन्न पदों पर कार्य कर अन्त में प्रतापगढ़ के दीवान बन गये। इन्हें पुरातत्व का भी अच्छा अभ्यास था। चन्दबर-

दाई के पृथ्वीराजरासो के प्रथम समय का सम्पादन कर उसे प्रामाणिक ठहराने का इन्होंने प्रयत्न किया था। अंग्रेज-स्तोत्र, प्रेम-प्रबोधनी, वसंत-प्रबोधनी आदि इनकी रचनाएं प्रकाशित हो चुकी हैं। इन्होंने भारतेन्दुजी की हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका को अन्तिम दिनों में प्रकाशित किया था।

पंडित भीमसेन शर्मा—इनका जन्म सं० १९१२ में हुआ था। ये स्वामी दयानन्द जी के परम सहायक थे, किन्तु अन्तिम दिनों में सनातन धर्म के समर्थक बन गये। इन्होंने 'आर्य सिद्धान्त' और 'ब्राह्मण सर्वस्व' पत्र प्रकाशित किये और उपनिषद् आदि के हिन्दी भाष्य भी किये। ये वैदिक साहित्य के परम विद्वान् थे। 'संस्कृत भाषा की अद्‌भुत शक्ति' नामक लेख में इन्होंने अरबी, फ़ारसी के शब्दों को संस्कृतमय बना डालने की सम्मति दी थी। जैसे दुश्मन—दुःशमन, सिफ़ारिश—क्षिप्राशिष, शिकायत—शिक्षायत्न, चश्मा—चक्ष्मा आदि। नरमेध यज्ञ, पुनर्जन्म, विधवा-विवाह मीमांसा, अष्टाध्यायी, वेदांग प्रकाश १४ भाग, मनुस्मृति, गीता, ईश केन, मुण्डक माण्डूक्य आदि उपनिषदों के भाष्य, आर्यमत निराकरण प्रश्नावली, मूर्तिपूजा मंडन, षोड़श संस्कार विधि आदि ग्रंथ इनके प्रकाण्ड पाण्डित्य को प्रकट करते हैं।

काशीनाथ खत्री—इनका जन्म सं० १९०६ में आगरे में और देहान्त १९४८ में हुआ। स्वदेशानुराग, कर्त्तव्य-पालन, चरित्र-निर्माण आदि इनके प्रधान विषय थे। इनकी ये रचनाएं प्राप्त हुई हैं—ग्राम-पाठशाला और निकृष्ट नौकरी नाटक, तीन ऐतिहासिक रूपक, बाल-विधवा-संताप-नाटक। इन्होंने अंग्रेजी की कई रचनाओं का भी हिन्दी में अनुवाद किया था।

बाबू राधाकृष्णदास—इनका जन्म सं० १९२२ और देहान्त १९६४ में हुआ। यह भारतेन्दु जी के फुफेरे भाई थे। इन्होंने भारतेन्दु जी के अपूर्ण नाटक 'सती-प्रताप' को पूरा किया। दुःखिनी बाला, महारानी पद्मावती अथवा मेवाड़-कमलिनी, महाराणा प्रताप नाटक, निःसहाय हिन्दू (उपन्यास) लिखे। स्वर्णलता, मरता क्या न करता आदि उपन्यासों के इन्होंने अनुवाद भी किये।

कार्तिकप्रसाद खत्री—इनका जन्म संवत् १९०८ और देहान्त संवत् १९६१ में हुआ। इन्होंने कलकत्ता से 'प्रेम-विलासिनी' मासिक पत्रिका और 'हिन्दी-प्रकाश' साप्ताहिक पत्र निकाले। इनका हिन्दी-प्रेम सराहनीय था। इनके रेल का विकट खेल नाटक तथा प्रमिला, जया, मधमालती आदि बंगला उपन्यासों के अनुवाद प्रसिद्ध हैं।

बाबू गदाधरसिंह—इनका जन्म संवत् १९०५ में और देहान्त १९५५ में हुआ। यह भारतेन्दुजी और शिवप्रसाद के घनिष्ठ मित्र थे। संस्कृत उपन्यास कादम्बरी, बंगला दुर्गेश-नन्दिनी और बंग-विजेता के अनुवाद किये। अपना बड़ा भारी पुस्तकालय यह काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को दे गये।

राजा रामपालसिंह—इनका जन्म संवत् १९०६ में हुआ। यह काला-कंकर के नरेश थे। संस्कृत, फ़ारसी, अंग्रेजी आदि कई भाषाओं के विद्वान् और भारतीय विचारों के पक्के समर्थक होते हुए भी ये अग्रेजी-वेश-भूषा में रहते थे। इन्होंने इंग्लैंड से 'हिन्दुस्तान' नामक पत्र हिन्दी और अंग्रेजी में निकालना प्रारम्भ किया। भारत लौटने पर हिन्दुस्तान को दैनिक हिन्दी-पत्र बना दिया गया। यह सर्वप्रथम दैनिक पत्र था। महामना पंडित मदनमोहन मालवीय जी आदि कई महापुरुष इसके सम्पादक रह चुके थे। राजा साहब अंग्रेज़-समर्थक लेखों का मुंह-तोड़ उत्तर देते और अंग्रेजों को जहाँ मौका पाते बुरी तरह अपमानित करते। कई बार तो अंग्रेजों को रेल के डिब्बों पर से उतरा दिया। य कांग्रेस के प्रारम्भिक प्रवंतकों में से थे।

लाला सीताराम—इनका जन्म संवत् १९१० में अयोध्या में हुआ। ये कायस्थ थे। बी० ए० पास करने के पश्चात् य 'अवध' अखबार के सम्पादक हुए। इन्होंने संस्कृत और अंग्रेजी के अनेक ग्रन्थों का बहुत सुन्दर अनुवाद किया। वास्तव में हिन्दी अनुवादकों में इनका एक विशेष स्थान है। मेघदूत, कुमारसम्भव, रघुवंश, नागानन्द, ऋतु-संहार, हितोपदेश, भवभूति का उत्तर-रामचरित, शूद्रक का मृच्छकटिक और कालीदास के मालविकाग्नि मित्र आदि कई संस्कृत के काव्य और नाटकों के इन्होंने अनुवाद किये। शेक्सपीयर के भी लगभग सभी नाटकों का इन्होंने अनुवाद कर डाला था।

महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी—इनका जन्म संवत् १९१८ काशी में हुआ था। ये काशी के प्रसिद्ध ज्योतिर्विज्ञानाचार्य थे। जायसी के पद्मावत के कुछ अंश पर इन्होंने जार्ज ग्रियर्सन के साथ मिलकर भाष्य लिखा था। इसके अतिरिक्त तुलसी-सुधाकर, नया-संग्रह, मानस-पत्रिका, हिन्दी-वैज्ञानिक-कोष, गणित तथा बहुत से ज्योतिष ग्रन्थ लिखे।

जार्ज ग्रियर्सन—ये अनेक भाषाओं के आचार्य एक अंग्रेज़ विद्वान् थे। 'मॉडर्न लिट्रेचर ऑफ़ नॉर्दरन हिन्दुस्तान' नामक प्रसिद्ध साहित्य का इतिहास इन्होंने 'शिवसिंह-सरोज' के आधार पर लिखा। भाषा-विज्ञान के भी ये प्रकांड पंडित माने जाते हैं। अंग्रेज़ हिन्दी-लेखकों में इनका अपना विशेष स्थान है।

फ्रेडरिक पिन्काट—यह इंग्लैण्ड-निवासी-लेखक अपने देश में बैठा हुआ ही हिन्दी-सेवा करता था। बालदीपिका (चार भाग) और विक्टोरिया चरित्र नामक इनकी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। यह भारतेन्दु जी के पत्र-मित्र थे। इनकी गद्य-पद्यमयी भाषा ऐसी सुन्दर और सुव्यवस्थित है कि कोई सहसा उसे सात समुद्र पार के लेखक की भाषा नहीं कह सकता। भारतेन्दु जी के नाम लिखे हुए इनके एक पद्यात्मक पत्र को देखिए—

"बैस-बंस-अवतंस, श्री बाबू हरिचन्द जू।
छीर नीर कलहंस, टुक उत्तर लिखि देव मोहिं॥
पर उपकार में उदार अवनि में एक
भाषत अनेक यह राजा हरिचंद है।
विभव बड़ाई वपु बसन विलास लखि
कहत यहां के लोग बाबू हरिचंद है॥
चंद ऐसो अमिय अनंदकर आरत को
कहत कविंद यह भारत को चंद है।
कैसे अब देखें, को बतावै, कहां पावे ?
हाय, कैसे वहां आवै, हम कोई मतिमंद हैं॥
श्रीयुत सकल-कविंद कुल-नुत बाबू हरिचंद।
भारत-हृदय सतार-नभ उदय रहो जनु चंद॥

इनके हिन्दी-प्रेम का प्रमाण इस पत्र से प्रकाशित होता है—'मैं भी सम्पूर्ण-रूप से जानता हूं कि जब तक किसी देश में निज भाषा और अक्षर सरकारी और व्यवहार-सम्बन्धी कामों में नहीं प्रवृत्त होते हैं तब तक उस देश का परम सौभाग्य हो नहीं सकता। इसलिए मैंने बार-बार हिन्दी भाषा के प्रचलित करने का उद्योग किया है। देखो, अस्सी बरस हुए बंगाली भाषा निरी अपभ्रंश भाषा थी। पहले-पहल थोड़ी-थोड़ी संस्कृत बातें उसमें मिली थीं। परन्तु अब क्रम करके संवारने से निपट अच्छी भाषा हो गई। इसलिए चाहिए कि इन दिनों पंडित लोग हिन्दी-भाषा में थोड़ी २ संस्कृत भाषा मिलावें।"

इनके अतिरिक्त चित्तौड़गढ़ का इतिहास, रामायण-समय-विचार तथा अपनी अनेक यात्राओं के लेखक दामोदर शास्त्री, योगदर्शन-भाष्य, स्वर्ग में महासभा, स्वर्ग

में सबजैक्ट कमेटी, पाखंड मूर्ति, अपूर्व संन्यासी, कंठी-जनेऊ का विवाह, आर्यमत-मार्तण्ड आदि के लेखक तथा अनेक पत्रों के सम्पादक सम्पादकाचार्य पंडित रुद्रदत्त शर्मा, व्याख्यान-वाचस्पति पंडित दीनदयालु शर्मा, पंडित दत्तराम चौबे, प्रबल हिन्दी-प्रचारक पंडित गौरीदत्त, इतिहास-लेखक मुन्शी देवीप्रसाद, उपनिषद् आदि संस्कृत ग्रन्थों के अनुवादक पंडित तुलसीराम शर्मा, आर्यसमाज के कर्मठवीर और गुरुकुल-पद्धति के प्रवर्तक महात्मा मुंशीराम (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द जी) अयोध्याप्रसाद खत्री, ठाकुर प्रसाद खत्री, आदि अनेक अन्यान्य हिन्दी-हितैषी भी इसी समय हिन्दी-प्रचार-कार्य में संलग्न दिखाई देते हैं।

प्रचार-कार्य

भारतेन्दु जी तथा उनकी मंडली ने लोक-रुचि के अनुकूल सामयिक साहित्य का सृजन कर साहित्यिकों की रुचि खड़ी बोली के काव्य-क्षेत्र की ओर आकृष्ट कर दी और अनेक पाठक प्रस्तुत कर दिये। किन्तु जनसामान्य और शासन-विधान में हिन्दी को प्रचारित करने का कार्य भी उस समय की एक और महत्वपूर्ण समस्या थी। जैसा कि प्रतापनारायण मिश्र के पूर्वोक्त लेख से स्पष्ट है शासक तो क्या तात्कालिक हिन्दू जनता भी हिन्दी को नहीं अपना रही थी। अनेक कारणों से उर्दू और अंग्रेजी ही शिक्षा तथा अन्यान्य विभागों में अपना अधिकार जमाये बैठी थी। ऐसी परिस्थिति में स्वामी दयानन्द सरस्वती, पंडित श्रद्धाराम फ़िल्लौरी, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र आदि पूर्वोक्त सुधारकों और लेखकों के अतिरिक्त अन्य कई स्वनामधन्य महानुभावों ने भी हिन्दी-प्रचार तथा उसे प्रत्येक क्षेत्र में यथोचित स्थान दिलाने के लिए भगीरथ प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये। विभिन्न सभा-संस्थाओं से भी इस कार्य में सहयोग और साहाय्य प्राप्त हुआ। यहाँ उसी का संक्षिप्त विवेचन किया जाता है—

कर्मठ हिन्दी-प्रचारक पंडित गौरीदत्त, भारत भूषण महामना पंडित मदनमोहन मालवीय, महात्मा मुंशीराम, (स्वामी श्रद्धानन्द जी) पंजाब केसरी लाला लाजपत-राय, लोकमान्य तिलक, श्रीयुत मोहनदास कर्मचन्द गाँधी (महात्मा जी) आदि इस युग के प्रमुख हिन्दी-प्रचारक हैं।

पं० मदनमोहन मालवीय जी ने युक्तप्रान्त के सरकारी विभागों में हिन्दी को स्थान दिलाने के लिए अनेक लेख लिखे व आन्दोलन किये। गवर्नरों के पास शिष्ट-मंडल भेजे। 'कोर्ट-करैक्टर एन्ड प्राईमरी इज्यूकेशन' शीर्षक सौ फ़ुल्स्केप पेजों का पुस्तकाकृति-निबन्ध प्रकाशित कर हिन्दी की उपयोगिता और महत्ता प्रमाणित की।

संवत् १९५६ में मालवीय जी के नेतृत्व में डा० सुन्दरलाल, अयोध्या के महाराज प्रतापनारायणसिंह आदि कई प्रतिष्ठित पुरुषों का प्रतिनिधि-मंडल युक्तप्रान्त के गवर्नर से मिला। ६०००० हस्ताक्षर भी हिन्दी के पक्ष में करवाये गये। काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने इस कार्य में विशेष योग दिया। इस प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप युक्त-प्रान्त के न्यायालयों में हिन्दी को भी संवत् १९५७ में मान्यता मिल गई। उधर गाँधीजी ने अफ्रीका में हिन्दी-प्रचार का बीड़ा उठाया। पंजाब में लाला लाजपतराय, महात्मा हंसराज तथा स्वामी श्रद्धानन्दजी आदि प्रचार-कार्य करते रहे।

पंडित गौरीदत्त ने सं० १९४४ से हिन्दी-प्रचार का बीड़ा उठा लिया। घूम-घूमकर हिन्दी-प्रचार के लिए व्याख्यान देते और नमस्ते प्रणाम आदि के स्थान पर 'जयनागरी' कहा करते। ये हाथ में नागरी का झंडा लिए हुए जहाँ-कहीं जाते तो इनके पीछे लड़के हुल्लड़ मचाते हुए फिरा करते थे। इन्होंने स्थान २ पर देवनागरी स्कूल खोले। इनकी स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी तीन पुस्तकें गवर्नमैंट से पुरस्कृत हुई थीं।

संवत् १९५० में पंडित रामनारायण मिश्र, डा० श्यामसुन्दरदास, श्री शंकरनाथ और श्री शिवकुमारसिंह इन चार छात्रों ने मिलकर 'काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा' की स्थापना की, जो आज हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के पश्चात् भारत की एकमात्र प्रमुख प्रतिनिधि हिन्दी-संस्था है। साहित्य-निर्माण आदि कार्य तो इसके सम्मेलन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। बाबू राधाकृष्णदास, महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी, पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र, पंडित मदनमोहन जी मालवीय, कालाकंकर-नरेश राजा-रामपाल सिंह, कांकरोली-नरेश महाराज बालकृष्णलाल, पण्डित अम्बिकादत्त व्यास, बद्रीनारायण चौधरी, श्रीधर पाठक आदि अनेक प्रमुख साहित्यिक नेता, और श्री-मन्तों ने प्रथम वर्ष ही में इस सभा के संरक्षक बनकर इसके कार्य को सहसा उत्कर्ष पर पहुंचा दिया। प्राचीन पुस्तकों की खोज और हिन्दी-शब्द-सागर नामक कोष का निर्माण तथा अनेक प्रचार-आन्दोलनों का आरम्भ आदि इस सभा के महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। यह सभा अपनी त्रैमासिक पत्रिका 'काशी-नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' के नाम से प्रकाशित करती है। हिन्दी-साहित्य और भाषा के लिए इस सभा ने जो कुछ कार्य किया है वह अत्यन्त स्तुत्य और महत्त्वपूर्ण है इसमें कुछ सन्देह नहीं।

इसी समय स्वामी श्रद्धानन्द जी आदि आर्यसमाज के नेताओं ने गुरुकुल और पं० दीनदयालुजी, तथा मालवीयजी आदि सनातनधर्मी नेताओं ने ऋषिकुल खोलने आरम्भ किये। इन शिक्षा-संस्थाओं ने हिन्दी-प्रचार में महत्त्वपूर्ण योग दिया। इनके

अतिरिक्त राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस, हिन्दू-सभा आदि संस्थाएँ एक या दूसरे रूप में हिन्दी का प्रचार या समर्थन करती रहीं। इनका परिचय आगे यथास्थान दिया जायगा।

अभ्यास

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी का जीवन-वृत्त लिखकर उनकी साहित्य व समाज-सेवाओं का विस्तृत परिचय दें।
२. भारतेन्दु-मण्डली के लेखकों की भाषा-विषय-शैली की तुलनात्मक समीक्षा करें।
३. प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी और ठाकुर जगमोहनसिंह के जीवन-वृत्त व साहित्य पर संक्षिप्त प्रकाश डालें।
४. भारतेन्दु-युग में किन २ व्यक्तियों, सभा-संस्थाओं ने किस प्रकार हिन्दी-प्रचार के लिए कार्य किया ?

सत्रहवाँ अध्याय

द्विवेदी-प्रवर्तित संस्कार-युग

भारतेन्दु जी तथा उनकी मंडली के सरस और सामयिक साहित्य की कृपा से हिन्दी के असंख्य पाठक हो गये। किन्तु उक्त मंडली के लेखकों के क्रमशः उठ जाने पर उनका स्थान लेने वाले नये लेखकों का अभाव-सा दिखाई देने लगा। इसलिए सर्व-प्रथम इस युग के सुलेखकों की रुचि हिन्दी की ओर आकृष्ट करना आवश्यक था। खड़ी बोली केवल बोली या लोक-भाषा न रह कर साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हो अब तक दो अवस्थाओं को पार कर चुकी थी। शैशव के निरीह साहित्य और कुमारावस्था के सरस साहित्य की शोभा उसमें दीख पड़ी। गद्य में तो वह विधिपूर्वक प्रयुक्त होने लगी थी, पर पद्य में अभी उसका प्रवेश न हो पाया था। यह स्थिति अस्वाभाविक-सी बन गई कि गद्य में एक भाषा का प्रयोग हो और पद्य में दूसरी का। इसलिए पद्य के लिए भी खड़ी बोली का प्रयोग अपरिहार्य प्रतीत होने लगा। भारतेन्दु युग एक प्रकार से खड़ी-बोली का प्रचार युग था। उस युग में जिससे जैसी (भाषा) बन आई उसने वैसी साध ली। रीतिकाल की व्रजभाषा की भाँति हरिश्चन्द्रयुग की खड़ी बोली भी व्याकरण-संस्कार से हीन थी। भाषा को एक सुस्थिर और परिमार्जित रूप देने के लिए अब उसे व्याकरण सम्मत बनाने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। 'बड़े-बड़े पुस्तक छपे, 'आशा किया' आदि च्युतसंस्कृत तथा अनेक अप्रयुक्त प्रान्तीय प्रयोगों के प्रचलन को समाप्त करना इस समय की प्रमुख समस्या थी। खड़ी बोली में पद्य की प्रतिष्ठा व उसकी सुनिश्चित शैलियों के आविष्कार की ओर भी समालोचकों का ध्यान आकृष्ट हो रहा था। हरिश्चन्द्र-काल के पद्य में रीति-कालीन परम्परा व राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला अपना स्थान यथापूर्वक बनाये बैठी थी। उस युग में नवीन और प्राचीन की खिचड़ी-सी पकने लगी थी। अब पाठक उस दुरंगेपन की अपेक्षा केवल नवीन विचारधारा की एकरूपता को अपनाना चाहते थे। सन् १९०५ के बंग-भंग ने राजभक्ति-मिश्रित देशभक्ति की भावना को हटाकर शुद्ध राष्ट्रीयता की भावनाओं को विकसित कर दिया था। साहित्य को भी तदनुरूप परिवर्तित हो जाना चाहिए था। भारतेन्दु-युग की समाप्ति के साथ साहित्यिकों के सम्मुख यह सब समस्याएँ उपस्थित हो गईं। भारतेन्दु-काल में प्रकट एक प्रतिभा इस युग में प्रकाशित हो इन समस्याओं का समाधान करने की ओर अग्रसर हुई। पण्डित श्रीधर पाठक की

अपूर्व प्रतिभा ने व्रजभाषा के साथ स्वछन्द शैली में खड़ी बोली के पद्य का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। 'अटवी-अटन' आदि रचनाओं में बेठिकाने समाप्त होने वाली अतुकान्त शैली के लिए उन्होंने मार्ग प्रस्तुत किया। पाठक जी आंग्ल-साहित्य विशेषतया गोल्डस्मिथ कवि से प्रभावित थे। उनकी यह नवीन शैली आंग्ल-साहित्य पर आश्रित थी। वे आधुनिक हिन्दी-साहित्य के प्रथम क्रान्तिकारी स्वच्छन्दतावादी (रोमाण्टिक) कवि कहे जाते हैं। किसी भी समाज या साहित्य ने स्वच्छन्दतावादी विचारधारा या शैली को सहसा नहीं अपनाया—आपाततः उसे तिरस्कृत ही किया है। अतएव साहित्यिक पाठक जी द्वारा प्रस्तुत पथ का सहसा अनुसरण न कर सके। पाठक जी द्विवेदी-युग और भारतेन्दु-युग की मध्य-की कड़ी बन पाये। ऐसी परिस्थितियों में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य-संसार में उद्‌भूत हो उक्त समस्याओं का समाधान कर दिया।

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी—इनका जन्म दौलतपुर (जिला रायबरेली) में संवत् १९२७ और देहान्त संवत् १९९५ में हुआ। अपने ग्राम में हिन्दी, संस्कृत और उर्दू की प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् रायबरेली हाईस्कूल में इन्होंने अंग्रेजी व अरबी-फ़ारसी पढ़ी। बम्बई में रहकर मराठी और गुजराती आदि भाषाओं की अभिज्ञता प्राप्त की। तार-बाबू, टेलीग्राफ़-इन्सपेक्टर आदि पदों पर कार्य करने के पश्चात् ऑफ़िसर से झड़प हो जाने के कारण नौकरी छोड़कर घर चले गये। संवत् १९६० में आपने 'सरस्वती' का संपादन-भार संभाला। सरस्वती के सम्पादन के साथ ही आपकी साहित्यिक प्रतिभा सहसा चमक उठी। तब से लेकर मृत्युपर्यन्त आप हिन्दी के परिष्कार और शृंगार में संलग्न रहे। उपर्युक्त सब समस्याओं का समाधान कर इन्होंने साहित्य की जैसी स्तुत्य सेवाएँ की हैं वे सदा स्मरणीय रहेंगी। उस समय के सामान्य-शिक्षित और लेखक-वर्ग को अंग्रेजी और बंगला आदि दूसरी भाषाओं के साहित्य ने अत्यधिक प्रभावित कर रखा था। वे लोग इन्हीं भाषाओं में लिखने में गौरव समझते थे। 'हिन्दी का विद्वान्' और उसका 'साहित्य' आदि शब्द उन्हें अस्वाभाविक और अपरिचित-से प्रतीत होते थे। उन्हें अपनी भाषा में लिखना-लिखाना अप्रिय-सा लगता था। द्विवेदी जी ने ऐसे ही लेखकों को पकड़-पकड़ कर हिन्दी लिखने के लिए प्रेरित व उत्साहित किया। उन्होंने उर्दू, अंग्रेजी, बंगला आदि में लिखने वाले अनेक लेखकों को हिन्दी-साहित्य में ला बैठाया। जिन में से कुछ तो कई अमूल्य साहित्यरत्न दे गये। मुन्शी प्रेमचन्द और महाशय सुदर्शन-सरीखे अनेक लेखक उर्दू को सहसा तिलांजली दे हिन्दी ही के बन बैठे। इसके अतिरिक्त द्विवेदीजी ने नवीन हिन्दी-लेखकों को प्रोत्साहित कर उन्हें अच्छा कलाकार

बना दिया। ऐसे कलाकारों में राष्ट्र के प्रतिनिधिकवि मैथिलीशरण जी गुप्त हैं। गुप्तजी ने 'साकेत' सरीखे अमर महाकाव्य की रचना में भी द्विवेदीजी की प्रेरण का निम्न रूप में उल्लेख किया है—

करते तुलसी भी कैसे मानस नाद।
महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद ॥

इस प्रकार द्विवेदी जी ने नये लेखक प्रस्तुत कर खड़ी बोली का पद्य में भी प्रयोग आरम्भ कर दिया। गद्य और पद्य दोनों की भाषा में एकरूपता ला दी।

भाषा-संस्कार के लिए उन्होंने अनेक प्रयत्न व उपाय किये। सरस्वती में प्रकाशित होने वाले प्रत्येक लेख को वे स्वयं शुद्ध कर सजाते, संवारते और लेखकों को भविष्य में वैसे ही सुसंस्कृत रूप में लिखने के लिए सावधान करते। व्याकरण के विविध अंगों पर उन्होंने स्वयं लेख लिखे और दूसरों से भी लेख व पुस्तकें लिखवाईं। व्याकरण-सम्बन्धी प्रत्येक छोटी-बड़ी बात को लेकर पर्याप्त चर्चाएँ इस समय चलीं। विभक्तियों को शब्द से पृथक् या साथ रखने के सम्बन्ध में भी विचार हुआ। पंडित कामताप्रसाद गुरु ने इसी समय अपना प्रसिद्ध प्रामाणिक व्याकरण लिखा। इस प्रकार द्विवेदीजी ने भाषा को संस्कार-सम्पन्न किया। उसमें प्रान्तीय पदावली के पुटों का प्रयोग सर्वथा समाप्त कर दिया। अभी तक विशेष विचारों को व्यक्त करने के लिए कोई विशेष शैली सुनिश्चित नहीं थी। द्विवेदी जी ने १. व्यंग्यात्मक २. आलोचनात्मक ३. गवेषणात्मक शैलियाँ निर्धारित कीं। तीनों शैलियों की भाषा भी विषयानुकूल परिवर्तित होने लगी।

खड़ी-बोली-पद्य के तो वे प्रथम प्रवर्तक ही माने जाते हैं। उनसे पूर्व पाठक जी के सिवा अन्य किसी लेखक ने पद्य में खड़ी-बोली का प्रयोग प्रायः नहीं किया था। द्विवेदी जी की प्रेरणा से प्रसूत सभी साहित्यिकों ने गद्य और पद्य दोनों के लिए खड़ी बोली को ही अपनाया। सामान्यतया संस्कृत के वर्णवृत्त, हिन्दी के मात्रिक छन्द और उर्दू बहर इन तीनों शैलियों पर रचनाएँ लिखी जाने लगीं। पण्डित अयोध्यासिंह जी उपाध्याय ने अपना प्रसिद्ध महाकाव्य 'प्रिय-प्रवास' लिखकर वार्णिक वृत्तों व संस्कृत भाषा के प्रयोग की उपयोगिता प्रकट की। गुप्त जी ने मात्रिक छन्दों को अपनाया। और पाठक जी, प्रसाद जी आदि ने अतुकान्त रचना का प्रयोग सफलता-पूर्वक कर दिखाया।

द्विवेदीजी ने श्रृंगार की प्राचीन परिपाटी का परित्याग कर स्वदेशानुराग आदि की सात्विक प्रवृत्तियों का प्रचार किया। गुप्त जी की 'भारत-भारती' रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्न', 'पथिक,' 'मिलन' आदि काव्य इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं।

इस प्रकार भाषा, विषय, शैली आदि सभी दृष्टियों से द्विवेदी जी ने साहित्य को नवीन रूप, अभिनव चेतना और स्वच्छता प्रदान की। उक्त महत्कार्य के साथ द्विवेदी जी ने स्वयं बड़े भारी साहित्य का निर्माण किया। सैंकड़ों छोटे-बड़े निबन्धों, लेखों और पद्यों के अतिरिक्त इन्होंने ४० ग्रन्थ लिखे या अनूदित किये। कालीदास के रघुवंश और कुमारसंभव के पद्यात्मक अनुवाद तथा महाभारत का संक्षिप्त गद्यानुवाद इनकी सुप्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इनके महाभारत की भाशा ही को आगामी सभी लेखकों ने आदर्श रूप में स्वीकार किया। इस प्रकार भाषा का संस्कार, खड़ी बोली में पद्य का प्रचार, नवीन भाषा, विषय, शैली का आविष्कार और साहित्य-क्षेत्र में नवीन कलाकारों का सत्कार कर द्विवेदी जी ने 'आचार्य' पद पर प्रतिष्ठित होने का पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया। वे आधुनिक हिन्दी-जगत् के सचमुच पितामह थे। द्विवेदी जी के गद्य और पद्य के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं। —

सुरम्यरूपे रस-राशि-रंजिते, विचित्रवर्णाभरणे कहां गई ?
अलौकिकानन्दविधायिनी महा, कवीन्द्र कान्ते कविते अहो कहां?

'इस म्यूनिसिपैलिटी के चेयरमैन जिसे अब लोग कुरसीमैन भी कहने लगे हैं श्रीमान् बूचाशाह हैं। बाप-दादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा पड़ा है। पढ़े-लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयरमैन सिर्फ इसलिए हुए हैं कि अपनी कारगुजारी गवर्नमैंट को दिखा कर आप रायबहादुर बन जायँ और खुशामदों से आठ पहर चौंसठ घड़ी घिरे रहें। म्यूनिसिपैलिटी का काम चाहे न चले, आपकी बला से। इसके एक मैम्बर बाबू बख्शीशराय—आपके साले साहब ने फ़ी रुपया तीन-चार पंसेरी का भूसा (म्यूनिसिपैलिटी) को देने का ठेका लिया है। आपका पिछला बिल १० हज़ार रुपये का था। पर कूड़ा-गाड़ी के बैलों और भैंसों के बदन पर सिवा हड्डी के मांस नज़र नहीं आता। सफ़ाई के इन्सपैक्टर हैं लाला संतगुरूदास आपकी इन्सपैक्टरी के जमाने में हिसाब से कम तनख्वाह पाने के कारण मेहतर लोग तीन दफ़े हड़ताल कर चुके हैं।'

'किसी-किसी का ख्याल था कि यह भाषा देहली के बाज़ार ही की बदौलत बनी है, पर यह ख्याल ठीक नहीं। भाषा पहले ही से विद्यमान थी और उसका विशुद्ध रूप अब भी मेरठ प्रांत में बोला जाता है।

श्रीधर पाठक—पाठक जी का जन्म संवत् १९१६ में और देहान्त संवत् १९८५ में हुआ। इनके पिता पंडित लीलाधर थे। ये सरल स्वभाव के परिष्कारप्रिय प्राणी थे। तात्कालिक समाज-सुधरकों और देश-प्रेमियों में इनका प्रमुख स्थान था। खड़ी

बोली में ये प्रथम कविता-लेखक थे। द्विवेदी जी ने इनकी प्रशंसा में 'श्रीधरसप्तक' लिखकर इन्हें हिन्दी भाषा का 'जयदेव' कहा था। इनका प्रकृति-वर्णन असाधारण और स्वानुभूत है। प्रसिद्ध आंग्ल-कवि गोल्डस्मिथ के 'ट्रैवलर' 'डजर्टिड विलेज' व 'हर्मिट' के अनुवाद 'श्रान्त पथिक, 'ऊजड़ गाँव, ' 'एकान्तवासी योगी' व संस्कृत काव्य 'ऋतु-संहार' का अनुवाद आदि इनकी रचनाएँ बड़ी सुन्दर बन पड़ी हैं। 'काश्मीर-सुषमा' और 'देहरादून' नामक कविताओं से इनकी प्रकृति-निरीक्षणात्मक भावुकता प्रकट होती है। इनकी ब्रजभाषा में भी एक नवीन अलौकिकता झलकती है। । 'गोखले-प्रशस्ति' और 'भारत-गीत' आदि इनकी राष्ट्रीय रचनाएँ हैं। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के ये सभापति भी थे। 'पद्य-संग्रह' के नाम से इनकी सब कविताएँ संकलित व प्रकाशित हो चुकी हैं। इनकी दो कविताएँ देखिए—

आज रात इससे परदेशी चल कीजै विश्राम यहीं।
जो कुछ वस्तु कुटी में मेरे करो ग्रहण संकोच नहीं॥
तृण-शैया औ अल्प रसोई पाओ स्वल्प प्रसाद।
पैर पसार चलो निद्रा लो मेरा आशीर्वाद॥

विजन वन प्रान्त था, प्रकृति मुख शान्त था।
अटन का समय था, रजनी का उदय था॥
प्रसव के काल की लालिमा में ल्हसा,
बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा।
सद्य-उत्फुल्ल अरविंद-निभ-नील-सुवि-
शाल नभवक्ष पर जा रहा था चढ़ा॥

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—उपाध्याय जी का जन्म संवत् १९२२ में और देहान्त संवत् २००४ में निज़ामाबाद में हुआ। हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, फ़ारसी आदि अनेक भाषाओं के ये अच्छे ज्ञाता थे। सरकारी नौकरी से पेन्शन पाकर संवत् १९८० में ये हिन्दू-विश्वविद्यालय काशी में हिन्दी का अध्यापन कराने लगे। ये अखिलभारतीय-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति रह चुके थे। उपाध्याय जी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। व्रज, खड़ी बोली, संस्कृतनिष्ठ या मुहावरेदार सभी भाषाओं के गद्य-पद्यात्मक दोनों रूपों में इन्होंने अपनी सफल लेखनी चलाई।

इनकी रचनाओं को पढ़ते ही पाठक के हृदय में सर्वप्रथम यही भाव उत्पन्न होता है कि उपाध्यायजी ऐसा भी लिख सकते हैं और वैसा भी। इनकी रचनाओं में भाषा की विविधता प्रमुख रूप से लक्षित होती है। ये पहले व्रजभाषा में और फिर खड़ी बोली में लिखते रहे। द्विवेदी-युग के प्रभाव से इन्होंने संस्कृतनिष्ठ भाषा में अपना प्रसिद्ध 'प्रियप्रवास' महाकाव्य लिखा। इसमें विरहिणी व्रजांगनाओं की विरह व्याकुलता का विविध रूपों में वर्णन कर श्रीकृष्ण को अलौकिक शक्ति-सम्पन्न राष्ट्र-रक्षक के रूप में उपस्थित किया गया है इस प्रकार भाषा, विषय और शैली सभी दृष्टियों से अपने समसामयिक साहित्य में यह काव्य एक नवीन प्रयोग प्रस्तुत करने वाला प्रमाणित हुआ। आगे चलकर छायावादी और रहस्यवादी कवियों ने ऐसी ही संस्कृत पदावली को कोमलकान्त रूप में प्रस्तुत किया। विषयगत विभिन्नता के अभाव में यह एक उत्कृष्ट महाकाव्य तो नहीं पर प्रिय-विरह की विभिन्न अवस्थाओं का प्रदर्शक एक सुललित काव्य अवश्य बन गया है। मुहावरेदार ठेठ हिन्दी में चोखे चौपदे भी इनके सुन्दर हैं। पद्य के समान गद्य में भी इन्होंने दोनों प्रकार की भाषाएँ लिखीं। 'वेनिस का बांका' नामक अनूदित उपन्यास संस्कृतनिष्ठ भाषा में है। 'अधखिला फूल' 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' नामक उपन्यास तो अपने नाम ही से भाषा के स्वरूप को प्रकट कर रहे हैं। इनका अन्तिम महाकाव्य 'वैदेही-वनवास' भी महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें सीता को केवल पतिपरायणा पत्नी ही नहीं प्रत्युत राष्ट्र-हितैषिणी आदर्श-महिला के रूप में अंकित किया है। राम सीता को उसकी सम्मति से ही बन में भेजते हैं। रसकलश, (व्रजभाषा की कविताओं का संग्रह) पद्यप्रसून, चोखे चौपदे, चुभते चौपदे, प्रेम-पुष्पोपहार, काव्योपवन, प्रेम-प्रपंच, पारिजात, प्रेमाम्बु-प्रवाह-कल्पलता, ऋतुमुकुर, बोलचाल आदि इनके १३ काव्य-संग्रह हैं। कबीर वचनावली तथा हिन्दी भाषा व साहित्य का विकास आपकी समालोचनात्मक रचनाएँ हैं। 'प्रियप्रवास' पर १२००) मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हो चुका है। ७० वीं वर्षगांठ पर आरा की हिन्दी-प्रचारिणी-सभा ने इन्हें 'हरिऔध' अभिनन्दन-ग्रन्थ भी भेंट किया था। इनकी कविता के कुछ नमूने देखिए—

चार डग हमने भरे तो क्या किया,
हैं पड़ा मैदान कोसों का अभी।

मौलवी ऐसा न होगा एक भी,
खूब उर्दू जो न होवे जानता॥

रूपोद्यानप्रफुल्ल-प्रायकलिका राकेन्दु-बिम्बानना ।
तन्वङ्गी-कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ाकला-पुत्तली ।।
शोभावारिधि की अमूल्य मणिसी लावण्य लीलामयी ।
श्री राधा मृदुभाषिणी मृगदृगी-माधुर्य-सन्मूर्ति थी ।।

धीरे धीरे दिन गत हुआ, पद्मिनीनाथ डूबे ।
आई दोषा फिर गत हुई, दूसरा बार आया ।।
यों ही बीती विपुल घटिका, औ कई बार बीते ।
आया कोई न मधुपुर से औ न गोपाल आये ।।

श्री मैथिलीशरण गुप्त—गुप्तजी का जन्म संवत् १९४३ में चिरगांव (झाँसी) में हुआ। इनके पिता सेठ श्री रामचरण गुप्त स्वयं एक अच्छे कवि थे। इन्हें कविता की प्रवृत्ति अपने पिता से और प्रोत्साहन द्विवेदीजी से प्राप्त हुआ। संवत् १९६४ से इनकी रचनाएँ सरस्वती में छपने लगीं। आपका रहन-सहन सादा, सात्विक और स्वभाव नम्र है। वैष्णव धर्म के अनुयायी होते हुए आप सब धर्मों के प्रति उदार और सहिष्णु हैं। जो लोक-सम्मान इन्हें प्राप्त हुआ है इस युग के अन्य किसी हिन्दी-कवि को नहीं प्राप्त हो सका। इनकी कविता की श्रेष्ठता की कसौटी लोकप्रियता ही है। इनकी कविता से सारे राष्ट्र और समाज को जागृति मिली है। इनकी भाषा व्याकरण के नियमों पर कसी हुई विशुद्ध खड़ी बोली है। इन्होंने जो कुछ लिखा है राष्ट्र के उत्थान के लिए और इसमें जागृति उत्पन्न करने के लिए। 'भारत-भारती' इनकी पहली लोकप्रिय रचना है। इसमें भारत के अतीत और वर्तमान का सजीव चित्र अंकित हुआ है। 'जयद्रथ-वध' महाभारत पर आश्रित देश-भक्ति के भावों से समन्वित आख्यान-काव्य है। 'अनघ' में बौद्ध-जातक कथा के आधार पर गाँधीवाद का चलता-फिरता चित्र है। इसमें अत्याचार के प्रति अहिंसात्मक विद्रोह दिखाया गया है। त्रिपथगा में पांडवों के तीन मार्मिक चित्र अंकित किये गये हैं। गुरुकुल में सिक्ख गुरुओं का वर्णन है।'पंचवटी' रामचरित-सम्बन्धी महाकाव्य है। 'नहुष' में मनुष्य के शुभ कर्मों द्वारा उत्थान और दुष्कर्मों से पतन व पुनरुत्थान के लिए दृढ़ संकल्पों की कथा है। 'कुणालगीत' में अशोक के पुत्र कुणाल की कष्ट-सहिष्णुता और त्याग-वृत्ति का चित्र अंकित किया गया है। 'काबा और कर्बला' में हुसैन और उसके परिवार की कष्टपूर्ण कथा के सहारे मुस्लिम संस्कृति का प्रदर्शन किया गया है। 'झंकार' में रहस्यवादी रचनाएँ झंकृत हो रही हैं। 'अर्जन और विसर्जन' में ईसाई संस्कृति

प्रतिबिम्बित है। बंगला से अनूदित 'मेघनाद-वध' में मेघनाद का उत्कर्ष दिखाया गया है। 'तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास' और 'अनघ' इनके नाटक हैं। कई छोटी-मोटी रचनाओं के अतिरिक्त इनके परमोत्कृष्ट और प्रसिद्ध काव्य 'साकेत', 'द्वापर' और 'यशोधरा' हैं। जो राम, कृष्ण और बुद्ध भारत की इन तीन महाविभूतियों से सम्बद्ध हैं।

इनके अतिरिक्त 'रंग में भंग' 'शकुन्तला' 'किसान' 'पत्रावली' 'वैतालिक' 'स्वदेशसंगीत' 'हिन्दू' 'विश्व-वेदना' 'शक्ति' 'गुरु तेग़बहादुर' 'सैरन्ध्री' 'वन-वैभव' 'सिद्धराज' 'विकट भट' 'मंगल घट' हिडम्बा, पृथ्वीपुत्र, प्रदक्षिणा, अञ्जलि और अर्घ्य आदि मौलिक व 'वीरांगना' 'विरहिणी-व्रजांगना' 'पलासी का युद्ध' 'उमर-ख़य्याम' 'स्वप्न वासवदत्ता' आदि अनूदित रचनाएँ हैं।

'साकेत' का नामकरण अयोध्या के प्राचीन नाम पर किया गया है। द्विवेदीजी ने साहित्यिकों का ध्यान काव्य की उपेक्षित नारियों और दलित वर्ग की ओर भी आकृष्ट किया था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर पहले ही उर्मिला के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित कर चुके थे। वहीं से प्रेरणा प्राप्त कर गुप्तजी के 'साकेत' की सृष्टि हुई है। इस काव्य के प्रत्येक पहलू को लेकर जैसाकि स्वाभाविक था पर्याप्त आलोचना प्रत्यालोचनाएँ हुईं। विरहिणी उर्मिला की विविध मनोवृत्तियों का विशद विवेचन करने के लिए ही यह काव्य लिखा गया था। अतः इसमें उक्त विरह का व्यापक वर्णन स्वाभाविक था, किन्तु 'अति' ने इसकी उत्कृष्टता में कुछ न्यूनता उत्पन्न कर दी। इस काव्य में कवि राम को चित्रकूट पर छोड़कर उनके साथ आगे न जाकर भरत के साथ साकेत लौट आता है और वहीं उर्मिला के विरह में सिसकियां भरने लगता है। किन्तु कवि यहाँ भूल जाता है कि उर्मिला कोई साधारण प्रोषितपतिका नायिका न होकर पति को सहर्ष वन में जाने की स्वीकृति देने वाली एक सुधीर महिला है। और लक्ष्मण भी उससे सदा के लिए विदा नहीं हो गये। वे कुछ समय पश्चात् उसे मिलने ही वाले हैं। ऐसी अवस्था में शोकविधुरा, कौशल्या आदि सासों को धैर्य बंधाने के स्थान पर उर्मिला को स्वयं विरहातप में तड़पा-रुलाकर उसके चरित्र को सामान्यता से ऊपर नहीं उठाया गया। नारी के उत्कृष्ट और आदर्श चरित्र-निर्माण का यह महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करने के लिए ही मानो 'यशोधरा' की रचना हुई है। यूं यशोधरा और उर्मिला की परिस्थितियों में भी पर्याप्त अन्तर है। उर्मिला केवल पत्नी है और ऐसी पत्नी जिसको दुःख में ढाढ़स बन्धाने वाले पति और ससुर दोनों में से कोई भी उपस्थित नहीं है। सास अपने ही शोक-पारावार में निमग्न है। ऐसी अवस्था में उर्मिला का विशेष व्याकुल होना स्वाभाविक भी है। विपरीत इसके यशोधरा पत्नी ही नहीं,

माता भी है। उसकी आँखों में पानी के साथ आंचल में दूध भी है। प्रिय शिशु की क्रीड़ाओं में वह अपने शोक के आवेग को रोक सकती है। सास-ससुर का उसे सहारा है। इसलिए उसे विशेष दुःख इसी बात का है कि उसके स्वामी सिद्धि के लिए उसे कहकर नहीं गये और फिर लौटने का निश्चय नहीं। कारण कुछ भी हो उर्मिला की अपेक्षा यशोधरा का चरित्र आदर्श व स्वाभाविक है। 'साकेत' उत्कृष्ट रचना होते हुए भी प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से शिथिल माना गया और 'यशोधरा' ढिलमिल खिचड़ी काव्य होते हुए भी हिन्दी-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में प्रमुख पद पा गया। 'यशोधरा' का वात्सल्य-वर्णन भी स्वाभाविक और सरस है। 'द्वापर' में 'कृष्ण-चरित्र' को एक सर्वथा नवीन और मौलिक रूप में अंकित करने का प्रयत्न किया गया है। कृष्ण के द्वारा इन्द्रपूजा का विरोध और गोवर्धन-पूजा के प्रवर्तन में यह युक्ति-युक्त कारण बतलाया गया है कि कृष्ण ने इन्द्रादि देवताओं के नाम पर किये जाने वाले हिंसात्मक यागों का विरोध कर दूध-दही आदि सात्विक पदार्थों से सम्पन्न होने वाली पूजा का प्रचार किया। इसमें कृष्ण, यशोदा, बलराम, नारद, कंस, वसुदेव आदि पात्रों की मनोदशाओं का नवीन विचार-सरणी के आधार पर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। बलराम रूढ़ि-परम्पराओं के घोर विरोधी, उग्र विचारक, प्रगतिवादी क्रान्तिकारी के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। गुप्तजी ने राष्ट्र की सभी आवश्यक सामयिक समस्याओं के साथ अपना स्वर मिलाकर राष्ट्र की सम्पूर्ण भावनाओं का प्रतिनिधित्व किया है। मध्यकालीन राम-भक्त गोस्वामी जी की भाँति गुप्तजी भी किसी वाद या सम्प्रदाय-विशेष के बन्धन में न बंधकर सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके काव्य में उनके सुख-दुःखों या भावनाओं की अपेक्षा भारत की आत्मा ही प्रमुख रूप से प्रतिबिम्बित हो रही है। उनके भरत को भारत लक्ष्मी के सात समुद्र पार चले जाने की चिन्ता है। सीता और राम भी गाँव की कुटियाओं में ही आनन्द मना रहे हैं।

> 'तुम अर्धनग्न क्यों रहो अशेष समय में।
> आओ हम कातें बुनें गान की लय में।।'

में भी गाँधीवाद की अपेक्षा राष्ट्रीय जागरण की भावनाएँ ही प्रबुद्ध हो रही हैं। द्वापर का बलराम —

> न्याय धर्म के लिये लड़ो तुम ऋतहित समझो बूझो,
> अनयराज निर्दय समाज से निर्भय होकर जूझो।

राजा स्वयं नियोज्य तुम्हारा यदि तुम अटल प्रजा हो,
धात्री नहीं किन्तु बलदात्री बस अन्यथा अजा हो।

कहता हुआ आज के भारत की आत्मा को अभिव्यक्त कर रहा है। अतः कह सकते हैं कि राष्ट्र ने गुप्तजी को राष्ट्र के प्रतिनिधि-कवि पद पर प्रतिष्ठित कर अपने कर्त्तव्य ही का पालन किया है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि यदि रवीन्द्रनाथ-ठाकुर 'विश्व-कवि' हैं तो मैथिलीशरण गप्त 'राष्ट्र-कवि'। इनके साकेत पर १२००) मंगलाप्रसाद पारितोषिक तथा ५००) का पुरस्कार हिन्दुस्तानी एकेडमी से प्राप्त हो चुका है। पिछले दिनों हिन्दी जगत् ने इनकी हीरकजयन्ती बड़ी धूमधाम से मनाई और मैथिलीशरण-गुप्त-अभिनन्दन-ग्रन्थ भी भेंट किया। इनकी कुछ कविताएँ देखिए—

नाक का मोती अधर की कांति से,
बीज दाड़िम का समझकर भ्रांति से।
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है अन्य शुक यह कौन है।
करुणे क्यों रोती है? 'उत्तर' में और अधिक वह रोई।
मेरी विभूती है जो, उसको भव-भूती कहे क्यों कोई॥

रामनरेश त्रिपाठी—त्रिपाठी जी का जन्म संवत् १९४७ में हुआ। इनकी कविता देश-भक्ति की भावनाओं से परिपूर्ण और मानव-हृदय में सत्प्रवृत्तियों को अंकुरित करने वाली है। श्रीधर पाठक जी की परम्परा म चलकर इन्होंने भी उनके स्वच्छन्दवाद के स्वर-में-स्वर मिलाया। 'स्वप्न', 'पथिक' आर 'मिलन' नामक इनके तीन छोटे २ खण्ड-काव्य प्रकृति के वास्तविक चित्रण, स्वदेशानुराग और उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण हैं। इन्होंने अपने काव्यों में प्रकृति का आँखों-देखा चित्र अंकित किया है। 'पथिक' में दक्षिण भारत के मनोहर दृश्य उपस्थित किये गये हैं और 'स्वप्न' में काश्मीर की छटा बिखर रही है। इस काव्य में कहीं २ छायावाद की झलक भी दिखाई दे जाती है। कथानकों के लिए कवि ने कोई ऐतिहासिक या पौराणिक आधार न लेकर कल्पना का ही सहारा लिया है। इनके अतिरिक्त त्रिपाठी जी ने 'कविताकौमुदी' नामक एक बृहत् काव्य-संग्रह भी ७ भागों में प्रस्तुत किया है। इसके विभिन्नखण्डों में हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, बंगला आदि विभिन्न भाषाओं के प्रतिनिधि-कवियों का विस्तृत परिचय और उनकी चुनी हुई कविताएँ दी गई हैं। हिन्दी में यह

प्रयत्न अपने प्रकार का एक ही है। ग्राम-गीतों के भी ये प्रामाणिक संकलयिता हैं। त्रिपाठी जी की कुछ कविताएँ तो प्रत्येक हिन्दी-भाषी का कंठहार बनी हुई हैं। 'अन्वेषण'-शीर्षक कविता ऐसी ही कविताओं में से एक है। मानसी, स्वप्नचित्र, हिन्दुस्तानी कोष, जयंत, प्रेमलोक, तरकस, रामचरितमानस की टीका, तुलसीदास और उनकी कविता (दो भाग), मारवाड़ के मनोहर गीत, सुदामाचरित, पार्वती-मंगल, घाघ और भड्डरी, चिन्तामणि, हिन्दी का संक्षिप्त इतिहास, सुकवि-कौमुदी, कौन जानता है, बुद्धि-विनोद, अशोक, चन्द्रगुप्त, महात्मा बुद्ध आदि इनकी छोटी-मोटी कई स्वलिखित अनूदित और सम्पादित रचनाएँ हैं। कविता देखिए—

प्रतिक्षण नूतन वेष बनाकर रंग बिरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद माला॥
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन में बैठ बीच में बिचरूँ यही चाहता मन है॥
रात दिवस की बूंदों द्वारा, तन घट का परिमित यौवन गल।
है निकला जा रहा निरन्तर यह रुक सकता नहीं एक पल॥
मैं ढूंढता तुझे था जब कुंज और वन में।
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में॥

वियोगी हरि—इनका पूरा नाम पण्डित हरिप्रसाद 'वियोगी हरि' है। इनका जन्म संवत् १९५३ में छत्रपुर राज्य में हुआ था। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के मन्त्री रहकर 'सम्मेलन-पत्रिका' का सम्पादन करते रहे। आजकल ये देहली में हरिजन-उद्योगशाला के आचार्य के रूप में राष्ट्रसेवा का कार्य कर रहे हैं। आप परम वैष्णव हैं किन्तु हरि की अपेक्षा हरिजनों की सेवा आपको अधिक रुचिकर प्रतीत होती है। इनकी आकुल प्रेम-भावना अलौकिक है। व्रजभाषा के आधुनिक प्रमुख कवियों में इनकी गणना है। सत्यनारायण कविरत्न, जगन्नाथदास रत्नाकर और वियोगी हरि ये तीनों ही इस युग के व्रज-भाषा के श्रेष्ठ कवि हैं। इनकी प्रतिभा ने गद्य और पद्य दोनों में समान चमत्कार दिखाया। इनकी 'वीर-सतसई' नामक प्रसिद्ध रचना में भारत के नये-पुराने सभी वीरों की प्रशंसा में मार्मिक दोहे कहे गये हैं और वीर भावनाओं का भी सुन्दर विवेचन किया गया है; जिनमें 'दयावीर' 'धर्मवीर' आदि के साथ विरहिणी व्रजांगनाओं की 'विरह-वीरता' की नवीन सूझ है। दोहों में बिहारी

के ढंग पर यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, विरोधाभास आदि अलंकारों का भी सुन्दर समावेश हुआ है। यूं दोहा छन्द वीररस के परिपाक के लिए पूरा नहीं उतरता। 'वीर-सतसई' पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से १२००) रुपये का 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' भी प्राप्त हुआ था, जिसे इन्होंने सम्मेलन को ही लौटा दिया। 'वीर-सतसई' के बहुत-से दोहों में प्राचीन कविताएँ प्रतिबिम्बित हो रही हैं। 'छद्मयोगिनी' 'वीर हरदौल' इनकी नाटकीय रचनाएँ हैं। 'कवि-कीर्तन' 'अनुराग-वाटिका,' 'व्रजमाधुरी-सार' आदि इनके निबन्ध और संग्रह-ग्रन्थ हैं। 'प्रेमयोग', 'अन्तर्नाद' और 'सन्तवाणी' उत्कृष्ट भावात्मक गद्य-काव्य हैं। प्रेम पथिक, भावना, सन्त सुधासार जीवन प्रवाह इनकी इधर की रचनाएँ हैं। वियोगी हरि जी के पद्य की एक झलक देखिए—

सिवा सुजस सरसिज सुरस मधुकर मत्त अनन्य।
रस भूषण भूषण सुकवि भूषण भूषण धन्य॥
'तो रक्खौ ढिल्लिय तखत, भुजन ढिल्लि कनवज्ज।
बज्ज-पैज असि कन्ह लौं, करनहार को अज्ज॥

सत्यनारायण कविरत्न—इनका जन्म संवत् १९४१ में और देहान्त संवत् १९७५ में हुआ। इनके पिता अलीगढ़ के रहने वाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। संवत् १९६६ में आप बी० ए० परीक्षा में बैठे पर सफल न हो सके। कविता के प्रति इनकी पहले ही से रुचि थी। बाद में यह काव्य-प्रेम इतना बढ़ा कि इन्होंने साहित्य-सेवा ही को अपने जीवन का एकमात्र उद्देश्य निश्चित कर लिया। पंडित जी बड़े ही सात्विक और सरल स्वभाव के सीधे-सादे निरीह व्यक्ति थे, किन्तु पत्नी की ओर से इनका जीवन बड़ा संकटमय था। बेचारे कभी 'भयो यह अनचाहत को संग' कहते हुए आह भरते तो कभी 'बस अब नहिं जात सहि' के स्वर में घंटों रोया करते थे। कविरत्न जी के समान भावुक,सरल और शान्त प्रकृति का कवि शायद ही कोई दूसरा हुआ हो। परिस्थितियों के प्रभाव में पड़कर प्रायः सभी पुरानी परिपाटी के कवियों ने व्रजभाषा का साथ छोड़ नवेली खड़ी बोली का पल्ला पकड़ लिया, किन्तु कवि-रत्न जी व्रजराज और व्रजभाषा के अनन्य उपासक बने रहे। कृष्ण-प्रेम में इनकी आँखें झूमती रहती थीं। इनकी कृष्ण-भक्ति भी अपना एक विशेष रूप लिए हुए है। ये सूरदास की भाँति—

'अब के माधव मोहिं उधारि'

कहकर केवल अपना कल्याण नहीं चाहते। ये तो सम्पूर्ण राष्ट्र का भला चाहते हैं और उसी के लिए प्रार्थना करते हैं। अन्य कवियों की भाँति फ़ैशन के नाते वाहवाही

लूटने के लिए इन्होंने देशभक्ति या प्रभु-प्रेम की कविताएँ नहीं लिखीं। इनकी कविता के प्रत्येक अक्षर में अपूर्व तन्मयता के साथ इनका अन्तर्तम प्रकट हो रहा है। हृदय के ऐसे सच्चे सात्विक उद्गार इस युग के अन्य किसी कवि में नहीं दिखाई देते। रसखान और मीरा की भाँति इन्होंने अपनी आत्मा ही को कविता में ढाला है इसमें कुछ सन्देह नहीं। सत्यनारायण जी ने 'भ्रमर-दूत' की जिस ढंग से रचना की है वह अनूठी और सद्यः प्रभावोत्पादिनी है। खेद है कि यह रचना पूरी नहीं प्राप्त हो सकी। इनके भवभूतिकृत 'उत्तर-रामचरित' और 'मालती-माधव' नाटकों के अनुवाद भी परम सरस और उत्कृष्ट हुए हैं। वे हिन्दी-साहित्य की स्थायी निधि की वस्तु हैं। पंडित बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने इनकी कविताओं का एक सुन्दर संग्रह 'हृदय-तरंग' के नाम से प्रकाशित किया है। मेकाले के अंग्रेजी खंड-काव्य होरेशस का पद्यानुवाद प्रेम-केलि, स्वामी रामतीर्थ, तिलक, गोखले आदि की प्रशस्तियाँ भी प्रसिद्ध हैं। इनकी कुछ कविताएँ देखिए—

नित नूतन तृन डारि सघन बंसीवट छैया।
फेरि-फेरि कर-कमल, चराईं जो हरि गैया।
ते तित सुधि अति ही करत सब तन रही झुराय।
नयन स्रवत जल, नहिं चरत व्याकुल उदर अघाय।
उठाय म्हौं फिरैं।

नारी-सिच्छा अनादरत जे लोग अनारी।
ते स्वदेश-अवनति प्रचंड-पातक अधिकारी॥
निरखि हाल मेरो प्रथम लेहु समुझि सब कोई।
विद्याबल लहि मति परम अबला-सबला होई॥
लखो अजमाई कै।

भयो क्यों अनचाहत को संग ?
सब जग के तुम दीपक, मोहन प्रेमी हमहुँ पतंग।
लखि तव दीपति, देह शिखा में निरत, बिरह लौ लागी।
खीचति आप सो आप उतहि यह ऐसी प्रकृति अभागी।
यदपि सनेह-भरी बतियाँ तऊ अचरज की बात।
योग वियोग दोऊन में इक सम नित्य जरावत गात।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'—इनका जन्म संवत् १९२३ में तथा देहान्त संवत् १९८९ में हुआ। रत्नाकर जी के पिता पुरुषोत्तमदास अग्रवाल भी बड़े काव्य-रसिक थे। रत्नाकर जी ने बी० ए० की उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् आवागढ़ राज्य में नौकरी की, फिर ये अयोध्या के राजा प्रतापनारायणसिंह के और उनके मरने पर उनकी धर्मपत्नी के प्राइवेट सेक्रेटरी रहे। ये हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति भी रह चुके थे। रत्नाकरजी ने केवल व्रजभाषा में कविता की है। इनकी कविता पुरानी पद्धति पर चलते हुए भी सरल और ओजपूर्ण है। भाषा मंजी हुई, रोचक और मधुर है। यह इस समय के व्रजभाषा के सबसे बड़े और अन्तिम कवि माने जाते हैं। व्रजभाषा की कविता के ये विराम-चिह्न हैं। गंगावतरण, हरिश्चन्द्र, उद्धव-शतक, समालोचनादर्श, श्रृंगार-लहरी, गंगा-लहरी, विष्णु-लहरी, रत्नाष्टक, वीराष्टक आदि काव्यों के अतिरिक्त इनकी बहुत-सी फुटकर रचनाएँ भी हैं। इन्होंने हित-तरंगिणी, हम्मीर-हठ, कंठाभरण और बिहारी-सतसई आदि प्राचीन काव्यों का सम्पादन और भाष्य भी किया था। 'बिहारी-रत्नाकर' नामक बिहारी-सतसई की टीका सुन्दर है। इनकी संपूर्ण रचनाएँ 'रत्नाकर' के नाम से काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा से प्रकाशित हो चुकी हैं। 'साहित्य-सुधानिधि' नामक पत्र भी इन्होंने निकाला था। 'गंगावतरण' पर उक्त महाराणी से १०००) तथा हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग से ५००) का पुरस्कार प्राप्त हुआ था। इनकी कविताओं पर पद्माकर की छाप स्पष्ट है ही साथ ही अन्य कई प्राचीन कवियों को भी इन्होंन अपना लिया है।

पण्डित रामचरित उपाध्याय—इनका जन्म संवत् १९२९ में और देहान्त २००० में हुआ था। ये संस्कृत के विद्वान् थे। द्विवेदीजी के प्रोत्साहन से इन्होंने सुन्दर रचनाएँ लिखीं। 'रामचरित-चिन्तामणि' नामक इनका प्रबन्ध-काव्य सामान्यतया सुन्दर है किन्तु उपदेशात्मकता के कारण कई स्थल इसके नीरस हो गये हैं। कहीं राम बिना अवसर के ही कौशल्या को लम्बा-चौड़ा उपदेश दे रहे हैं, तो कहीं दूसरे पात्र एक-दूसरे को उपदेश देने में उलझे हुए हैं। यह काव्य 'हरिऔध' जी की भाषा और शैली को लेकर संस्कृत वर्णवृत्तों में लिखा गया है, पर इसमें वैसी रसात्मकता नहीं आ पाई। इनकी रचनाओं में यमक की सुन्दर छटा बिखर रही है। 'राष्ट्रभारती' 'देवदूत' देव-सभा,' 'देवी द्रौपदी,' 'भारत-भक्ति' आदि इनकी अनेक छोटी-मोटि रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। इनकी एक कविता देखिए—

कुशल से रहना यदि है तुम्हें, अनुज तो फिर गर्व न कीजिए।
शरण में गिरिए रघुराज के, निबल के बल केवल राम हैं॥

पण्डित लोचनप्रसाद पाण्डेय—इनका जन्म संवत् १९४३ में हुआ था। इनकी रचनाओं में करुणा और भावुकता पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। यह हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति भी रह चुके थे। दो मित्र प्रवासी, नीति कविता, कविताकुसुम, रघुवंशसार, मेवाड़ गाथा, माधव मंजरी, आदि आपकी अनेक रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। महानदी खंड-काव्य भी सुन्दर बन पड़ा है।

राय देवीप्रसाद पूर्ण—इनका जन्म संवत् १९२५ में और देहान्त संवत् १९७० में हुआ। ये व्रजभाषा के अच्छे कवि थे और खड़ी बोली में भी उतना ही सुन्दर लिखते थे। इन्होंने रसिक समाज की स्थापना कर 'रसिकवाटिका' नामक पत्रिका भी निकाली थी। ये सनातन धर्म के पक्के अनुयायी राष्ट्रीय कवि थे। 'संग्राम-निंदा,' 'अमलतास,' 'वसन्त वियोग', 'स्वदेशी कुण्डल' आदि इनकी रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। 'अमलतास' में इनका प्रकृति-प्रेम प्रकट होता है। 'पूर्ण-संग्रह' के नाम से इनकी कविताएँ संकलित हो चुकी हैं। एक कविता देखिए—

देख तव वैभव, द्रुमकुल-सन्त! विचारा उसका सुखद निदान।
करे जो विषम काल को मन्द, गया उस सामग्री पर ध्यान॥
रंगा निज प्रभु ऋतुपति के रंग, द्रुमों में अमलतास तू भक्त।
इसी कारण निदाघ प्रतिकूल, दहन में तेरे रहा अशक्त॥

पण्डित नाथूराम शर्मा 'शंकर'—इनका जन्म संवत् १९१६ में और देहान्त संवत् १९८१ म हुआ। ये आर्यसमाज के पक्के प्रचारक पद्यकार थे। समस्या-पूर्तियाँ इनकी बेजोड़ होती थीं। इनकी कल्पनाएँ भी सुन्दर हैं। ये पहले व्रज-भाषा में और फिर खड़ी बोली में लिखते रहे। 'वायस-विजय', 'गर्भ रण्डा-रहस्य' आदि इनकी पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। 'ईश गिरिजा को छोड़ि ईशु गिरजा में जावें' "कविता समझाइवो मूढ़न को सविता गहि भूमि पे डारिवो है" आदि इनकी उक्तियाँ तात्कालिक समाज में बहुत प्रसिद्ध रहीं। शंकर सर्वस्व के नाम से इनकी समग्र रचनाओं का एक संग्रह प्रकाशित हुआ। इनकी एक कविता देखिए—

तेज न रहेगा तेजधारियों का नाम को भी,
मंगल मयंक मंद मंद पड़ जायँगे।
मीन बिन मारे मर जायंगे सरोवर में,
डूब डूब शंकर सरोज सड़ जायँगे।

चौंक चौंक चारों ओर चौकड़ी भरेंगे मृग,
खंजन खिलारियों के पंख झड़ जायँगे।
बोलो इन अखियों की होड़ करने को अब,
कौन से अड़ीले उपमान अड़ जायँगे?

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'—इनका जन्म संवत् १९४० में हुआ था। इनका उपनाम त्रिशूल भी है। पहले ये उर्दू में और फिर व्रजभाषा व खड़ी बोली में भी लिखने लगे। इनकी भाषा मुहावरेदार और चलती है। कृषक-क्रन्दन, प्रेमपच्चीसी, कुसुमांजली कृषक क्रन्दन, त्रिशूल तरंग, राष्ट्रीय वीणा, संजीवनी, मानस तरंग, करुण भारती आदि आपकी रचनाएँ हैं। एकमात्र समस्यापूर्ति प्रधान 'सुकवि' नामक मासिक पत्र का इन्होंने वर्षों तक सम्पादन किया है।

लाला भगवानदीन—इनका जन्म संवत् १९२३ में और देहान्त १९८७ में हुआ। यह श्रीवास्तव कायस्थ थे। 'लक्ष्मी' नामक पत्रिका के ये सम्पादक भी रहे थे। इन्होंने काशी में हिन्दी-साहित्य-विद्यालय भी खोला था। ये भी पहले व्रजभाषा में और फिर खड़ी बोली में कविता करने लगे। इनकी कविताओं पर उर्दू, फ़ारसी का पर्याप्त प्रभाव है। 'रामचन्द्रिका', 'दोहावली', 'कवितावली', 'बिहारी-सतसई' आदि की इनकी टीकाएँ सुन्दर और छात्रों के लिए उपयोगी हैं। 'वीर-पंच-रत्न' में इनकी वीर चरित्रात्मक ओजपूर्ण कविताएँ हैं। इनकी फुटकर रचनाएँ 'नवीन बीन' के नाम से प्रकाशित हुई हैं।

ठाकुर गोपालशरणसिंह—इनका जन्म संवत् १९४८ में हुआ। द्विवेदीकाल के कवियों में इनका विशेष स्थान है। और आज के कवियों में भी इनका वैसा ही सम्मान है। 'ज्योतिष्मती' और 'संचिता' में इनकी आरम्भिक रचनाएँ संकलित हैं। 'कादम्बिनी' में प्रकृति-वर्णनात्मक सुन्दर रचनाएँ हैं। 'मानवी' में नारी-जीवन की सुन्दर व्याख्या की गई है। 'माधवी' इनकी अभिव्यंजनात्मक शैली की रचनाओं का संग्रह है। सुमना और विश्वगीत भी सुन्दर रचनानाएं हैं।

पण्डित रूपनारायण पाण्डेय—इनका जन्म संवत् १९५० में लखनऊ में हुआ। ये अंग्रेजी, उर्दू, मराठी, संस्कृत आदि भाषाओं के अच्छे विद्वान् हैं, ये माधुरी के १६ वर्ष से सम्पादक हैं। सफल अनुवादक के साथ प्राकृतिक कवि और विविध विषयों के व्याख्याता भी हैं। बंगला, मराठी आदि अनेक भाषाओं के प्रसिद्ध नाटक, उपन्यासों आदि का इन्होंने सुन्दर अनुवाद किया है। द्विजेन्द्रलालराय के दुर्गादास,

उस पार, शाहजहाँ, नूरजहाँ, सीता, पाषाणी, सूम के घर धूम आदि नाटकों का अनुवाद तो बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। इनकी मौलिक और अनूदित अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। गद्य और पद्य दोनों ही में इनकी परिमार्जित और सुबोध शैली स्पष्ट लक्षित होती है। इनकी कविताओं का 'पराग' नामक संग्रह बहुत प्रसिद्ध हुआ। आँख की किरकिरी, शांति कुटीर, चौबे का चिट्ठा, बंकिम निबन्धावली, भारत रमणी, तारा बाई, शिवाजी, गल्पगुच्छ, भू-प्रदक्षिणा, महाभारत के कतिपय पर्व, खाँ जहाँ, प्रतापी परशुराम आदि इनकी ७० पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

पण्डित बद्रीनाथभट्ट—ये आगरा-निवासी थे। इनके पिता पंडित रामेश्वर भट्ट भी हिन्दी-संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। 'रामचरितमानस' की टीका अत्युत्कृष्ट और प्रामाणिक है। ये सफल-व्यंग्य-चित्र-लेखक थे। इन्होंने दुर्गावती, चन्द्रगुप्त आदि कई प्रसिद्ध नाटक लिखे। तात्कालिक समाज में इनके नाटक अत्यन्त ही लोकप्रिय रहे, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से यह नाटक बहुत उच्च कोटि के नहीं कहे जा सकते।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—इनका जन्म सं० १९४१ और देहान्त १९९८ में हुआ। इन्होंने व्रजभाषा में और खड़ी बोली में भी अत्युत्कृष्ट रचनाएँ की हैं। 'लाइट ऑफ़ एशिया' के आधार पर आपने 'बुद्ध-चरित्र' नामक एक बहुत ही सुन्दर प्रबन्ध-काव्य की रचना की। आप बड़े भावुक तथा सहृदय कवि थे, इनकी भावुकता विपन्नों की विपत्ति से विवर्धित होकर करुणा में परिवर्तित हो जाती थी। इसीलिए आपकी करुण-रसात्मक कविताएँ अत्यधिक प्रभावोत्पादिनी हैं। प्रकृति-वर्णन में तो अपने उपमान आप ही हैं। आप प्रकृति के अनुरंजनकारी दृश्यों तक ही अपने आपको सीमित न रखकर उसके भयंकर रूप का भी वैसा ही वर्णन करते हैं। साथ ही उसमें कल्पना का पुट न देकर उसके भोले-भाले स्वरूप का वास्तविक रूप अंकित करते हैं। आप पुरानी पदावली के प्रयोग के पक्षपाती नहीं हैं। इसलिए आपकी व्रजभाषा में आधुनिकता झलक रही है। इसके अतिरिक्त आप हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ समालोचक हैं। इन्होंने काशी-नागिरी-प्राचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी-शब्द-सागर' नामक बृहत-कोष के सम्पादन में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। आप कई वर्षों तक काशी-नागरी प्रचारिणी-सभा की मुख्य पत्रिका के सम्पादक व काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के अध्यापक और हिन्दी-विभागाध्यक्ष भी रहे। शुक्लजी सरल स्वभाव के निष्कपट, आडम्बरहीन और सांसारिक झंझटों से रहित व्यक्ति थे। जायसी, तुलसी और सूर पर लिखी हुई आलोचनाएँ उनकी विद्वत्ता, सहृदयता और मार्मिकता के ज्वलन्त

उदाहरण हैं। वे हिन्दी के एकमात्र उच्चकोटि के निबन्ध-लेखक और समालोचक थे। 'विचार-वीथी' और "चिन्तामणी' उनके कुछ निबन्धों के संग्रह हैं। काव्य में 'रहस्यवाद' और 'हिन्दी-साहित्य के इतिहास' से शुक्लजी के गम्भीर अध्ययन और समालोचना-शक्ति का प्रमाण मिलता है। शुक्लजी की कविता देखिए—

तनि गये सित ओस-बितानहू, अनिल झार-बहार धरा परी,
लुकन लोग लगे घर बीच हैं, विवर भीतर कीट पतंग से।
युग भुजा उर बीच समेटिकै, लखहु आवत गैयन फेरिकै,
कंपत कंबल बीच अहीर हैं, भरमि भूलि गई सब तान हैं।

कंचन की दीवट पै दीपक सुगंध भरे,
जगमग होति भौन भीतर उजास करि।
आभा रंग २ की दिखात रहीं तासों मिलि,
किरन मयंक की झरोखन सों ढरि ढरि।
जामें हैं नवेलिन की निखरी निकाई अंग,
अंगन की, बसन गए हूँ हैं नेकु टरि।
उठत उरोज हैं उसासन सों बार-बार,
सरकि परे हैं हाथ नीचे कहुं ढीले परि।
देखि परैं साँवरे सलोने, कहुँ गोरे मुख,
भ्रकुटी विशाल बंक,बरुनी बिछी हैं श्याम।
अधखुले अधर दिखात दन्त कोर कछु,
चुनि धरे मोती मनों रचिबे के हेत दाम।
कोमल कलाई गोल, छोटे पाँय पैजनी है,
देति झनकार जहाँ हिलै कहूँ कोउ वाम।
स्वप्न टूट जात वाकौ जामैं सो रही है पाय,
कुँवर रिसाय उपहरि कछु अभिराम।

इनकी खड़ी बोली की भी एक कविता देखिए।

भूरी हरी घास आस-पास फूली सरसों है,
पीली-पीली बिंदियों का चारों ओर है प्रसार।
कुछ दूर विरल, सघन फिर और आगे,
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार।
गाढ़ी हरी श्यामलता की तुंग-राशि रेखा घनी,
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेर-घार।
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभ मंडल से,
धुंधली-सी नीली नग माला उठी धुआँधार।

सियारामशरण गुप्त—इनका जन्म सं० १९५२ में हुआ। ये श्री मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई हैं। ये जितन गहरे हैं उतने सरल भी। इनकी कविता से वर्षाकालीन वायु की भाँति शीतल प्राणों को तुष्ट और मन को मुग्ध कर देने वाला हल्का-सा झोंका प्राप्त हो जाता है। 'ग्राम-वधू' की भाँति प्रसाधनहीन इनकी कविता प्राकृतिक सौन्दर्य और परिपक्व रस से ओत-प्रोत है जिसका,सौंदर्य मर्यादा और संयम के घूंघट से छनकर आने वाले प्रेम का एक मूक प्रदर्शन कर जाता है। सद्यःपरिणीता की भाँति इनकी कविता-कामिनी पर कौमार्य की मृदुलता, मुग्धता और अल्हड़पन टपकते रहते हैं। परदुःख-कातरता-जन्य कोमलता और भावुकता के साथ करुणा की धारा इनकी प्रत्येक कविता में प्रवाहित हो रही है। आपकी कथात्मक छोटी-छोटी कविताएँ अत्यन्त सजीव चित्र अंकित करती हैं। 'आर्द्रा', 'पाथेय', 'दूर्वादिल,' 'विषाद' आदि आपकी फुटकर कविताओं के संग्रह हैं। 'आत्मोत्सर्ग,' 'मौर्य-विजय' 'अनाथ', 'बापू' आदि आपके छोटे २ काव्य हैं। 'पुण्यपर्व-नाटक,' 'गोद' 'नारी' तथा 'अंतिम आकांक्षा' नामक उपन्यास,'मानुषी' कहानी-संग्रह और 'झूठ-सच' 'गद्य-लेख' आदि इनकी अन्य रचनाएँ भी सुन्दर हैं। 'ईशावास्य, अनुवाद इनकी नवीन रचना है। 'नोआखली' इनकी प्रगतिवादी रचना है। कविता का एक नमूना देखिए—

पत्थरों की सीढ़ी पर सुश्री भरी,
स्नान कर बैठी थी अपूर्व एक सुन्दरी।

भीगा हुआ वस्त्र ही थी पहने,
धारण किये सुवर्ण रंग ।
अंग अंग
उसके बने थे स्वयं गहने !
कलित कपोलों पर छिटे हुए केशदाम,
हिलडुल क्रीड़ा करते थे कांत कांति धाम।
उसमें से चूते हुए वारि-बिन्दु झलमल,
शोभार सरसाते थे
प्रति पल
नये नये मोती प्रकटाते थे ।
बायां पैर नीचे लटकाये नीलनीर पर।
दायां पैर रखे हुए सीढ़ी के प्रतीर पर।
अपने नुकेले नेत्र नीचे किए,
पत्थर की वट्टी हाथ में लिए ।
ऐड़ी मलती थी वह बार-बार पानी डाल ।

अनूप शर्मा—ये आरम्भ में व्रजभाषा में कविता लिखते रहे । पश्चात् खड़ी बोली की ओर आकृष्ट हो गये। 'कुणाल' नामक खंड-काव्य में अशोक के पुत्र कुणाल का चरित्र लिखा। 'सिद्धार्थ' नामक १८ सर्गों के महाकाव्य में भगवान् बुद्ध का चरित्र अंकित किया। यह प्रिय-प्रवास के ढंग पर संस्कृत वर्ण-वृत्तों में लिखा गया है। 'सुमनांजली' में इनकी फुटकर कविताएं संकलित हैं। व्यापक दृष्टि-कोण और भाषा की सरलता ये दो इनकी बड़ी विशेषताएं हैं। 'फेरिमिलिबो' काव्य 'वर्धमान' महाकाव्य इनकी इधर की रचनाएं हैं। आधुनिक विज्ञान और इतिहास ने मनुष्य के दृष्टिकोण को जितना व्यापक बनाया है काव्य में उसे प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न करना चाहिए। ये इस कार्य में पूर्ण उतरे हैं। कल्पना-जगत् में के इतिहास की अनेक भावनाओं के चित्र अंकित करने वाली इनकी 'जीवन-मरण' रचना भी सुन्दर बन पड़ी है। 'विराट्-भ्रमण' में कवि-पाठकों को विराट्-विश्व का दर्शन कराता है। इनकी एक कविता देखिए—

पीछे दृष्टिगोचर था गोलचक्र पूषण का,
घूमता हुआ जो नील संपुटी में चलता।

मानो जलयान के वितल पृष्ठ भाग मध्य,
आता चला फेन पीत पिंड-सा उबलता ।।
उछल रहे थे धूमकेतु धुरियों से तीव्र,
यानके सुताडित भचक्र था उछलता ।
मारुत का, मन का, प्रवेग पगा पीछे जब—
आगे चला बाजि-यूथ आतप उगलता ।।

पं० जगदम्बाप्रसाद हितैषी—व्रजभाषा के समान सुकुमारता और मधुरता को खड़ी बोली के कवित्त-सवैयों में भी प्रतिष्ठित करने वाले ये एक ही कवि हैं। अनुपम, अलौकिक सुषमा सम्पन्न इनकी कविताएं सर्वथा सरल और स्वाभाविक हैं। इनकी विविध विषयों की रचनाएं 'कल्लोलिनी' और 'नवोदिता' में संकलित हैं। एक कविता देखिए—

भवसिंधु के बुद्-बुद् प्राणियों की,
तुम्हें शीतल श्वासा कहें, कहो तो।
अथवा छलनी बने अंबर के,
उर की अभिलाषा कहें, कहो तो।
घुलते हुए चन्द्र के प्राण की,
पीड़ा-भरी परिभाषा कहें, कहो तो।
नभ से गिरती नखतावलि के,
नयनों की निराशा कहें, कहो तो।

श्यामनारायण पांडेय—इनका जन्म सं० १९६७ में हुआ। इनके पिता का नाम पं० रामाज्ञा पांडेय है। इनके प्रथम काव्य 'त्रेता के दो वीर' में लक्ष्मण-मेघनाद-युद्ध के अनेक प्रसंगों के आधार पर इन दोनों वीरों का चरित्र अंकित किया गया है। इनकी कविताओं में भारतीय परम्परा की संचित संस्कृति राष्ट्रीयता के साथ मुखरित हो उठी है। ये अतीत से सारे सम्बन्ध-विच्छेद करके अज्ञात और अज्ञेय भविष्य में कूद पड़ने के लिए उत्सुक नहीं हैं। इनकी वाणी में भारत की प्राचीन संस्कृति वर्तमान युग के शब्दों में बोल रही है। इनके भाव आधुनिक,

शब्द ओजस्वी और कल्पना रोमांचकारी है। आरती, तुमुल, रूपान्तर, 'माधव' और 'रिमझिम' नामक छोटी-छोटी रचनाओं के अतिरिक्त 'हल्दी-घाटी' और 'जौहर' नामक इनके दो महाकाव्यों ने पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त की। 'हल्दीघाटी' १७ सर्गों का महाकाव्य है। उत्साह की अनेक अंतर्दशाओं की व्यंजना व युद्ध की विविध परिस्थितियों के चित्रण से पूर्ण यह काव्य खड़ी बोली में अपने ढंग का एक ही है। युद्ध के समाकुल वेग और संघर्ष का ऐसा सजीव और प्रभावपूर्ण वर्णन शायद ही किसी दूसरे काव्य में मिले। इस महाकाव्य पर देव-पुरस्कार प्राप्त हो चुका है। 'जौहर' में वीरदर्पपूर्ण पदावली के साथ करुणाधारा का हृदय-द्रावक प्रवाह भी है। पांडेय जी की कविताएं देखिए—

चितौड़

नहीं देखते सतियों के जलने का अंगार कहाँ ?
राजपूत ! तेरे हाथों में है नंगी तलवार कहाँ ?
कहाँ पद्मिनी का पराग है, सिर से उसे लगालें हम ?
रत्नसिंह का कहां क्रोध है, गात रक्त गरमालें हम ?
जौहर व्रत करनेवाली करुणा की करुण पुकार कहाँ ?
और न कुछ कर सकते तो देखें उसकी तलवार कहाँ ?
मंद पड़े जिससे वीर, वह भीषण हाहाकार कहाँ ?
स्वतंत्रता के सन्यासी, राणा का रण-उदगार कहाँ ?
किस न वीर की दमक उठी थी, दीप्ति दीपिका माला सी।
कौन वीर-बाला न चिता पर चमक उठी थी ज्वाला सी ॥
जमा सके अधिकार तनिक, खिलजी करके हथियार नहीं।
ठहर सकी क्षण-भर इस पर, अकबर की भी तलवार नहीं ॥

युद्ध-वर्णन

था मेघ बरसता झिमिर झिमिर तटिनी की भरी जवानी थी।
बढ़ चली तरंगों की असि ले, चंडी-सी वह मस्तानी थी ॥
वह घटा चाहती थी जल से सरिता सागर निर्झर भरना।
यह घटा चाहती थी शोणित से पर्वत का कण-कण तर करना॥

धरती की प्यास बुझाने को वह घहर रही थी घन सेना।
लोहू पीने के लिए खड़ी यह हहर रही थी जन सेना ॥
नभ पर चम चम चपला चमकी चम चम चमकी तलवार इधर।
भैरव अमंद घननाद उधर दोनों दल की ललकार इधर ॥
वह कड़ कड़ कड़ कड़ कड़क उठी, यह भीम नाद से तड़क उठी।
भीषण संगर की आग प्रबल, बैरी सेना में भड़क उठी ॥
डग्ग डग डग डग रण के डंके मारू के साथ भयद बाजे।
टप टप टप घोड़े कूद पड़े कट कट मतंग के रद बाजे ॥
कल कल कर उठी मुग़ल सेना किलकार उठी ललकार उठी।
असि म्यान विवर से निकल तुरत अहि नागिनसी फुफकार उठी

पुरोहित प्रतापनारायण—'नल-नरेश' नामक १९ सर्गों के महाकाव्य में इन्होंने महाराज नल की कथा कही है। रोला, हरिगीतिका आदि छंदों में कथा सरल ढंग से चलती है। उसम नवीन शैली के चिह्न नहीं हैं। प्राचीन परिपाटी के आधार पर बीच-बीच में अलंकारों की योजना सुन्दर हुई है। मन के मोती, नव-निकुंज, काव्य-कानन, काव्यश्री, मणियों की माला आदि में इनकी मुक्तक इतिवृत्तात्मक रचनाएं संकलित हैं। काव्य-कानन में व्रजभाषा की कविताएं हैं।

पं० राधेश्याम कथावाचक—आपका जन्म सं० १९४७ में बरेली में हुआ। इनकी राधेश्याम रामायण तथा अन्य कथा-कीर्तन सम्बन्धी बीसियों पुस्तकों का गाँव-गाँव में प्रचार है। ईश्वर भक्ति, भक्त प्रह्लाद, वीर अभिमन्यु, आदि आपके नाटकों का आल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी ने सुन्दर अभिनय किया था।

तुलसीराम शर्मा 'दिनेश'—इन्होंने श्रीकृष्ण के चरित्र के सम्बन्ध में एक महा-काव्य लिखा है। यह ८सर्गों में समाप्त हुआ है। इसमें कई पात्रों के मुखों से आधुनिक विचार व्यक्त हुए हैं। काव्य साहित्यिक दृष्टि से सामान्य ही बन पड़ा है।

गिरिधर शर्मा 'नवरत्न'—इनका जन्म सं० १९३८ में झालरा पाटन में हुआ। कठिनाइ में विद्याभ्यास, जया जयंत, भीष्म प्रतिज्ञा, सुकन्या, सावित्री, सांख्यदोहावली, वेदस्तुति, चित्रांगदा, गीतांजलि आदि आपकी स्वरचित और अनुदित रचनाएं हैं।

गुरुभक्तसिंह भक्त—आपका जन्म सं० १९५० में हुआ। 'नूरजहां' नामक आपका महाकाव्य सहृदय पाठकों द्वारा पर्याप्त प्रशंसित हुआ है। नागरिक जीवन की जटिलताएं ग्रामों की रमणीय दृश्यावली से जितना हमको पृथक् कर रही हैं उतनी ही अधिक अनुरक्ति हमारे हृदय में उनके प्रति बढ़ रही है। स्वाभाविक प्रकृति-वर्णन इनकी विशेषता है। कुसुमकुंज, सरससुमन, विक्रमादित्य आदि इनकी अन्य रचनाएं हैं।

श्री माखनलाल चतुर्वेदी, श्री जयशंकर प्रसाद आदि कविगण अपनी प्रतिभा का चमत्कार इसी युग में दिखाने लगे थे। पर वे द्विवेदी-युग की परम्परा पर न चलकर भाषा, विषय, शैली आदि सभी दृष्टियों से हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में एक नवीन मार्ग के प्रवर्तक हुए। इतिवृत्तात्मकता या उपदेशात्मकता को हटाकर वे कविता को एक नवीन क्रान्तिकारी पथ की ओर अग्रसर करने लगे। इसलिए ऐसे कवियों का विवेचन यहाँ न किया जाकर आगामी अध्याय में किया जायगा।

प्रचार-कार्य

भारतेन्दु-युग से आरम्भ होकर हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रचार का कार्य इस युग में भी यथा-पूर्व चलता रहा। विभिन्न नेताओं, सभा-संस्थाओं और विश्व-विद्यालयों ने अपने-अपने ढंग पर हिन्दी-प्रचार-कार्य को प्रगति प्रदान की, जिनमें से निम्न विशेष उल्लेखनीय हैं—

पं० मदनमोहन जी मालवीय और हिन्दू विश्वविद्यालय—महामना मालवीयजी का जन्म सं०१९१७ में और देहान्त सं० २००३ में हुआ। यह महामना भी सचमुच इस युग के महर्षि थे। जैसे सात्विक और शुभ्र इनकी वेश-भूषा थी वैसी ही चित्तवृत्तियाँ भी। इस युग में हिन्दू-संस्कृति के ये एकमात्र प्रतीक और प्रतिनिधि थे। यह एक ही महामानव अपने शरीर में आज के सम्पूर्ण हिन्दू-समाज को समाहित किये बैठा था। हिन्दू-धर्म और हिन्दी-साहित्य के लिए इन्होंने जो कुछ किया, वह युग-युग के लिए यथेष्ट है। यद्यपि राष्ट्रीय कार्यों में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण वे स्वयं साहित्य-निर्माण में स्पष्टतःकोई भाग न ले सके पर उनके द्वारा प्रतिष्ठित हिंदू-विश्वविद्यालय की भूमि की मिट्टी के एक-एक कण में सैंकड़ों हिन्दी-साहित्य-निर्माता उत्पन्न हो रहे हैं और होते रहेंगे। इस सौम्य मूर्ति के मुख से प्रवाहित शुद्ध परिष्कृत हिन्दी की वाग्धारा शरच्चन्द्र की स्निग्ध कौमुदी से कम मोहक और सुषमापूर्ण नहीं थी। इनके जीवन का प्रतिपल हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान का मूक संगीत गाते बीता। सं० १९७३ में इनके उद्योग से काशी-हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। इस विश्वविद्यालय का असाधारण प्रभाव साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर एक ऐसा

वातावरण उत्पन्न करता है जो पूर्ण भारतीय होने पर भी आधुनिक है। हिन्दी इस विश्वविद्यालय का प्राण है। इसने हिन्दी को मानवीय विचारधारा की सर्वश्रेष्ठ वस्तुएँ दी हैं। इस महान् यज्ञ के प्रवर्तक महामना मालवीय जी ही हैं।

स्वामी श्रद्धानन्द जी तथा गुरुकुल कांगड़ी—स्वामी जी का जन्म सं० १९१३ में और देहान्त सं० १९८३ में हुआ। स्वामी जी स्वयं एक आचार्य, लेखक, वक्ता और सम्पादक के रूप में हिन्दी के प्रमुख स्तम्भ रहे हैं। कल्याणमार्ग का पथिक (आत्मचरित) मुक्ति सोपान, हिन्दू संगठन आदि इनकी पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। आप 'सद्धर्म प्रचार' और 'श्रद्धा' पत्रिकाओं का सम्पादन करते रहे। स्वामी दयानन्द सरस्वती के पश्चात् आर्यसमाज के तो आप ही एकमात्र आधार थे। जिस समय नव-शिक्षित आर्यसमाज के सदस्य कॉलेज खोलकर पश्चिमीयता का प्रचार करने पर उतारू हो रहे थे ऐसे समय में स्वामीजी ने गुरुकुलों का जाल बिछाकर जनता का ध्यान भारतीय संस्कृति और शिक्षा-पद्धति की ओर आकृष्ट किया। सं० १९७० में गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की। यह एक ऐसा विद्यामंदिर था जहाँ यूनिवर्सिटियों तथा पाश्चात्य शैली का सर्वथा त्याग कर दिया गया था। वैदिक धर्म और वैदिक संस्कृति का भारत में प्रचार करना इसका मुख्य उद्देश्य है। यहाँ के छात्रों को भारतीय प्राचीन गुरुकुल-प्रणाली पर ब्रह्मचारी वेश में अनागरिक वृत्ति से रहना पड़ता है। यहाँ हिन्दी माध्यम द्वारा विज्ञान, चिकित्सा आदि सभी विषयों की उच्च-से-उच्च शिक्षा दी जाती है। इस गुरुकुल से निकले हुए श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति (स्वामी जी के सुपुत्र) प्राणनाथ विद्यालंकार, सत्यकेतु विद्यालंकार, पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, जयचन्द्र विद्यालंकार और चन्द्रगुप्त वेदालंकार आदि महानुभाव हिन्दी-साहित्यिक संसार में पर्याप्त प्रतिष्ठित स्थान पाये हुए हैं। जयदेवजी शर्मा ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, सामवेद आदि के वैज्ञानिक भाष्य किये हैं, प्राचीन भारत में विज्ञान की सत्ता को सिद्ध करने के लिए आपने सत्य और सफल साक्षियाँ प्रस्तुत की हैं।

महात्मा गांधी और उनके आश्रम—गांधी जी का जन्म सं० १९२६ में पोरबन्दर में हुआ और देहान्त २००४ में दिल्ली में हुआ। इस महामानव ने राष्ट्र की राजनैतिक रूप में जितनी सेवाएँ की हैं हिन्दी-सेवाएँ भी उनमें एक विशेष स्थान रखती हैं। दक्षिणी भारत में हिन्दी-प्रचार का सम्पूर्ण श्रेय गांधीजी को ही दिया जा सकता है। सं० १९७५ से उन्होंने यह कार्य आरम्भ कर दिया था। उन्होंने दक्षिण-अफ्रीका के फिनिक्स आश्रम और अहमदाबाद के साबरमती आश्रम में हिन्दी को

प्रमुख स्थान दिया था। गुजराती भाषा-भाषी होते हुए भी राष्ट्रभाषा के रूप में वे सदा हिन्दी के पक्षपाती रहे। इन्दौर के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापतित्व कर उन्होंने सम्मेलन को एक नवीन प्रगति दी। यद्यपि अन्तिम दिनों में परिस्थितियों के प्रभाव में पड़कर उन्हें हिन्दुस्तानी नाम अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ा था। परन्तु धीरे २ वे हिन्दुस्तानी के मोह-जाल से छूटते जा रहे थे। दक्षिण-भारत-हिन्दी-प्रचार-सभा के द्वारा दक्षिण में हिन्दी का पर्याप्त प्रचार हुआ। इसकी परीक्षाओं में हजारों विद्यार्थी प्रतिवर्ष बैठते हैं। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य भी दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रतिष्ठापकों में से एक हैं। मद्रास के प्रधान-मन्त्री के पद को हिन्दी-प्रेम के कारण ही आपको छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा था। इनके अतिरिक्त पं० सत्य-नारायण शर्मा, भदंत आनन्द कौशल्यायन, आंध्र के कौंड वेंकट पैया, तामिल के मि० एस० जी० गंगा नायडू, अवधनन्दन, केरल के एक सुन्दर अय्यर, करनाटक के अन्ना साहब लट्ठे, सिद्धनाथ पंत, मद्रास के आर० विश्वनाथ, तथा पट्टाभिसीता-रमैया, महाराष्ट्र के काका कालेलकर आदि की हिन्दी-सेवाएँ भी उल्लेखनीय हैं। श्रीयुत कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी गुजराती-भाषी महान् साहित्यकार होते हुए भी हिन्दी के प्रबल पक्षपाती हैं। उदयपुर के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति के रूप में आपने स्तुत्य सेवाएँ की हैं।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन—सर्व श्री पं० मदनमोहन मालवीय, राम नारायण मिश्र और पुरुषोत्तमदासजी टंडन आदि के अथक प्रयत्न और उत्साह से संवत् १९७७ में अखिल-भारतीय-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की स्थापना हुई। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने अनेक रूप में जो हिन्दी की सेवा की है वह सदा स्मरणीय रहेगी। आज विधान परिषद् द्वारा हिन्दी को राज्य-भाषा स्वीकार करा लेने का अधिकांश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन आदि संस्थाओं तथा हिन्दी के प्रमुख साहित्य-सेवियों का है। यह महान् मानव और यह संस्था यदि आरम्भ से हिन्दी के लिए भगीरथ प्रयत्न न कर रही होती तो आज हिन्दी भारत की राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित न हो पाती। अपनी प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा तथा अहिन्दी प्रान्तवासियों के लिए 'परिचय' और 'कोविद' परीक्षाओं के द्वारा इसने प्रतिवर्ष सहस्रों छात्रों को आरम्भ से लेकर उच्चतम हिन्दी की योग्यता प्रदान की है। उक्त दक्षिणभारत हिन्दी-प्रचार-सभा भी इसी के तत्वावधान में काम कर रही है। विभिन्न नगरों में होने वाले इसके वार्षिक अधिवेशनों में जनता में हिन्दी का उत्साह बढ़ता है।

पंजाब विश्वविद्यालय में हिन्दी परीक्षाएँ—पंजाब विश्वविद्यालय ने भी इसी समय के लगभग हिन्दी-परीक्षाओं का विभाग खोला। इस विभाग के खुलने से

हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-भाषा के प्रसार में अत्यधिक प्रगति हुई। पंजाब सदैव भारतीय साहित्य और संस्कृति का केन्द्र रहा है। वेद,उपनिषद्, दर्शन और नीतिग्रन्थ यहीं प्रकट हुए थे। तक्षशिला के विश्व-विख्यात विद्यालय में संसार-भर के ज्ञानपिपासु अपनी आत्माओं को तृप्त कर गये किन्तु कुछ समय से यह प्रान्त अवचेतन की-सी अवस्था में पड़ा हुआ था। इस युग में आकर इसने पुनःआत्मचिंतन प्रारम्भ किया। शिक्षा के क्षेत्र में पंजाब विश्वविद्यालय ने एक अनुकरणीय प्रयत्न किया। इसकी हिन्दी और संस्कृत परीक्षाओं के द्वारा जनता में हिन्दी-प्रचार दिन-दूना और रात-चौगुना बढ़ता गया। यद्यपि १९३२ तक हिन्दीवालों की संख्या सैंकड़ों तक ही सीमित रहती थी पर आज उसकी विभिन्न हिन्दी-परीक्षाओं में प्रतिवर्ष १५ हज़ार के लगभग छात्र बैठते हैं। इस प्रकार पंजाब में हिन्दी-प्रचार का बहुत-कुछ श्रेय इस विश्वविद्यालय और स्वर्गीय ए०सी० वुलनर तथा कुछ अन्य उच्च अधिकारियों को दिया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी-काल में प्रचलित हिन्दी प्रचार-कार्य पल्लवित और पुष्पित होकर आज फलान्वित हो चुका है।

अभ्यास

१. द्विवेदीजी की साहित्य-सेवाओं पर प्रकाश डालें।
२. पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय का परिचय देकर उनके साहित्य की समालोचना करें।
३. श्री मैथिलीशरण गुप्त के जीवन व साहित्य पर प्रकाश डालते हुए उनकी किसी एक प्रसिद्ध रचना की व्यापक समालोचना करें।
४. पंडित श्रीधर पाठक, सत्यनारायण कविरत्न व बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर के साहित्य की विशेषताओं का विश्लेषण करें।
५. श्री सियारामशरण गुप्त, पंडित रामचन्द्र शुक्ल और श्यामनारायण पांडेय के काव्यों की विशिष्टताओं की विवेचना करें।
६. पं० मदनमोहनजी मालवीय, स्वामी श्रद्धानन्दजी, बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन व महात्मा गांधी की हिन्दी-सेवाओं पर प्रकाश डालें।
७. पंजाब विश्वविद्यालय, गुरुकुल कांगड़ी, अखिल-भारतीय-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार-सभा का परिचय देकर स्पष्ट करें कि इन्होंने हिन्दी-प्रचार-कार्य में किस प्रकार भाग लिया।
८. द्विवेदी-युग के साहित्य की गुण-दोष-विवेचनात्मक संक्षिप्त समालोचना करें

प्रसाद-प्रवर्तित
छायावादात्मक सुकुमार-युग

अठारहवाँ अध्याय

सामयिक परिस्थितियाँ

द्विवेदीजी के अनवरत श्रम से किस प्रकार अंग्रेजी, उर्दू और बंगला आदि में लिखनेवाले लेखक हिन्दी की ओर प्रवृत्त हुए, इसका उल्लेख पहले हो चुका है। द्विवेदी जी के प्रयत्नों से साहित्य-निर्माण को एक नई प्रगति प्राप्त हुई थी, इसमें तो कोई सन्देह नहीं, किन्तु उस समय के साहित्य में भी कुछ एक अवांछनीय तत्त्व सहसा सम्मिलित हो गये। अन्य भाषाओं में लिखने वाले लेखक हिन्दी में दूसरी भाषाओं की प्रकृति को साथ ले आये। भारतेन्दु-युग की प्रान्तीयता की पुट तो समाप्त हो गई, पर उसके स्थान पर अंग्रेजी, बंगला और उर्दू की पदावली या शैली का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ने लगा। लेखक मूल रूप में अपने विचारों को हिन्दी में सोचने के स्थान पर अंग्रेजी आदि में विचार कर (आप्टे के कोष के सहारे) अपने भावों को हिन्दी में रूपान्तरित करने लगे। ऐसे लेखकों की रचनाओं में न तो शैली और न भाषा ही हिन्दी की रह पाई। कई बार तो हिन्दी की प्रकृति से अनभिज्ञ होने के कारण ये लोग भाव-प्रदर्शन में वास्तविकता से बहुत दूर जा पड़ते। उदाहरण के लिए एक विख्यात समालोचक ने उपन्यास की तीन विधाओं म से 'आत्म-चरित' के रूप में लिखे जाने वाले उपन्यासों का वर्णन करते हुए लिखा कि इसका नायक 'प्रथम पुरुष' में रहता है। यह 'प्रथम पुरुष' अंग्रेजी का First Person रूपान्तरित है, किन्तु लेखक ने इस बात पर ध्यान नहीं रखा कि First Person का अनुवाद 'प्रथम पुरुष' शब्दार्थ की दृष्टि से शुद्ध होते हुए भी व्याकरण की परिभाषा की दृष्टि से सर्वथा अशुद्ध है। अंग्रेजी का First Person हिन्दी में 'प्रथम' नहीं प्रत्युत 'उत्तम पुरुष' बन जाता है। हिन्दी में प्रथम या अन्य पुरुष अंग्रेजी के Third Person को कहते हैं। इस एक ही उदाहरण से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि अंग्रेजी में सोच कर हिन्दी में लिखने वाले लेखक हिन्दी की मूल प्रकृति से कितनी दूर जा पड़ते हैं। द्विवेदी जी ने इस प्रकार की त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न आंशिक रूप में ही किया है। वे इस ओर पूरा ध्यान नहीं दे सके। साथ ही 'कांदना', 'सिहरना' आदि बंगला के तथा 'हवाई किले बनाना' आदि अंग्रेजी के सैकड़ों शब्द और मुहावरे हिन्दी में धड़ाधड़ प्रविष्ट होने लगे। उर्दू शब्दों के प्रयोग का प्रचार भी मुंशी प्रेमचन्द जी आदि

लेखकों के द्वारा बढ़ने लगा। जहाँ तक शब्द-भण्डार की वृद्धि का सम्बन्ध है, इससे हिन्दी को लाभ भी हुआ, पर हिन्दी की प्रकृति को पहिचाने बिना विदेशी शब्दों को अपनाने से उसमें विकृति हो जाना भी स्वाभाविक था। विदेशी पदावली का प्रयोग बिना सोचे-समझे नहीं होना चाहिए।

भाषा के पश्चात् साहित्य पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि द्विवेदीकालीन साहित्य में उपदेशात्मकता और इतिवृत्तात्मकता अपनी पराकाष्ठा तक पहुंच चुकी थी। मध्यकालीन शुंग, मौर्य और गुप्त वंशों का अत्युज्ज्वल सुनहरा इतिहास अभी तक अज्ञात ही पड़ा हुआ था। राम, कृष्ण और बुद्ध को लेकर भारत के प्राचीन गौरव को प्रदर्शित करने में कोई विशेष सहायता नहीं मिल सकती थी, केवल धर्म-परायण भावुकजन ही उनसे प्रभावित हो पाते थे। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के इस युग में प्रताप आदि हिन्दू वीरों का यशोगान भी समान रूप से सबको आकृष्ट नहीं कर पाता था। अन्य प्रकार की सदाचार-प्रचारक रचनाएं सुनते-सुनते जनता पर्याप्त तृप्त हो चुकी थी। संस्कृत वार्णिक वृत्त या कवित्त सवैयों के प्रति अब कोई विशेष रुचि न रह गई थी। द्विवेदी-युग की समाप्ति के साथ साहित्यिक-सरणी ऐसी ही अवस्था की ओर अग्रसर हो रही थी। राष्ट्र की विचारधारा सामाजिक और राजनैतिक रूप में अब तक गांधीवाद से पर्याप्त प्रभावित हो चुकी थी। अहिंसा, सत्याग्रह आदि की भावनाएं जनता में घर कर चुकी थीं। खड़ीबोली में कविताएं तो प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हो गई थीं, पर अभी तक उनमें व्रजभाषा की-सी कोमलकान्त पदावली का प्रवेश न हो पाया था। उसने केवल संस्कृत शब्दों को ही अपनाया था, उसकी सुकुमारता और मधुरता को नहीं। खड़ी बोली का अक्खड़पन पद्य में प्रयुक्त हो जाने के पश्चात् भी ज्यों का त्यों बना हुआ था। जीवन में जागृति का संचार करने के लिए साहित्य में नूतन चिन्तन पद्धति का प्रकट होना स्वाभाविक था और वह हुई।

यद्यपि भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग के बीच में क्रांति के प्रथम बीज बोने वाले श्रीधर पाठक जी थे फिर भी वे नवयुग के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध न होकर स्वच्छन्दतावादी कविमात्र रह गये। द्विवेदीजी की प्रतिभा और साहित्य की स्मरणीय सेवाओं ने उन्हें पीछे ढकेल दिया। वैसी ही घटना इस युग में घटी। माखनलाल चतुर्वेदी, मुकुटधर पांडेय आदि कलाकार द्विवेदी-युग में रहते हुए भी उससे प्रभावित न होते हुए साहित्यिकों को नवीन दिशा का संकेत कर रहे थे। उनकी रचनाएं आरम्भ ही से अपन एक विशेष मार्ग पर चल निकली थीं। चतुर्वेदीजी के नाटक 'कृष्णार्जुन-युद्ध' पर द्विवेदी-युग की छाया को स्वीकार करते हुए भी, उनकी कविताओं

पर द्विवेदी-युग का प्रभाव नहीं माना जा सकता। इतना होने पर भी ये लोग साहित्य की उक्त भाषा, विषय, शैली आदि की समग्र समस्याओं का एक साथ समाधान न कर पाये। वे एक नवीन शैली मात्र बना पाये। ऐसे समय में 'प्रसाद' जी की सर्वतोमुखी प्रतिभा के प्रसाद ने हिन्दी-साहित्य को समय के अनुकूल एक सर्वथा नये रंग-रूप में उपस्थित किया। वे सर्वांशत: इस युग के प्रवर्तक सिद्ध हुए। इसीलिए आगामी सभी काव्यकारों ने नतमस्क हो उनके नेतृत्व को स्वीकार किया। 'प्रसाद' से जिस नवीन काव्य-धारा का प्रचलन माना जाता है, वह साहित्यिक संसार में छायावाद तथा रहस्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है।

द्विवेदीजी ने खड़ी बोली को खराद पर चढ़ाकर—उसे घिस-घिसाकर काव्य के लिए उपयोगी बना दिया था। उसमें लालित्य और सौकुमार्य प्रतिष्ठित किया छायावादी कवियों ने। प्रसाद ने उसे प्राजंलता दी, निराला उसके स्वर और ताल को ठीक करने लगे, पन्त ने उसे माधुर्य और सौकुमार्य से समन्वित किया और महादेवी ने हृदय की वेदनाओं के द्वारा उसे स्पन्दित कर दिया। इन छायावादी कवियों में अनेक साम्य और वैषम्य दिखाई देते हैं। प्रसाद की भाषा में समुद्र की उमड़ती हुई लहरों के समान कहीं शान्त और कहीं उद्दाम स्पन्दन है। निराला की भाषा में अखण्ड दिङमंडल को गुंजा देनेवाले गगनगत मेघ की गुरु-गर्जना है। पन्त की कोमलकान्त पदावली में प्रभात की कोमल समीर की सुखद सनसनाहट और मधुर मर्मर-ध्वनि है। निराला की कविता में उद्दाम, ओज और पौरुष प्रकट हो रहा है तो पन्त की कविता सुकोमल सुषमामयी है। निराला अतुकान्त और स्वच्छन्द छन्दों के प्रवर्तक हैं। उनकी रचनाओं में स्वच्छन्दवाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा है। मुक्त-छन्द व स्वच्छन्दवाद के मानो वे ही प्रतिनिधि कवि हैं, किन्तु पन्त प्रकृति के कोमल और प्रिय कवि हैं, तुकान्तता भी उन्हें प्रिय है। प्रसाद की भाषा विषयानुरूप परिवर्तनशील है, उसमें समय-समय पर सभी प्रकार के स्वरूप प्रकट होते रहते हैं। प्रसाद जी प्राचीनता के पुजारी होते हुए भी युग के साथ चलते हैं। निराला एकदम क्रान्तिकारी और स्वच्छन्दवादी कवि होते हुए भी हृदय से भारतीयता के उपासक हैं। 'शिवाजी का पत्र', 'राम की शक्ति-उपासना', 'गोस्वामी तुलसीदास' आदि रचनाएं हिन्दू-संस्कृति के प्रति उनकी परम निष्ठा को प्रकट करती हैं। इसके विपरीत पन्त प्रमुख रूप से प्रकृति-प्रेमी कवि ही रहे। प्रगतिवाद और गांधीवाद को सुकोमल स्पर्श देकर आप अब अध्यात्म-वाद की ओर उन्मुख हैं। महादेवी आदि से अन्त तक वेदना की विरहिणी गायिका हैं। यही इनकी रचनाओं की अपनी २ विशेषताएं हैं।

इस युग में प्रसाद, पन्त और निराला को हम 'बृहत्त्रयी' या 'तीन बड़े' के रूप में पाते हैं। वर्मात्रयी—महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा और भगवतीचरण वर्मा—ने उनके पश्चात् काव्य में स्थान प्राप्त किया। उदयशंकरभट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी और हरिकृष्ण-प्रेमी को 'लघुत्रयी' के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार छायावादियों के ये नवरत्न कहे जा सकते हैं। इन सभी कवियों की अपनी वैयक्तिक विशेषताएँ हैं। एक-दूसरे से प्रभावित होते हुए भी ये स्पष्टतया किसी के अनुयायी नहीं प्रत्युत अपने पथ-प्रवर्तक आप हैं।

अब यहाँ पर पहले छायावाद और रहस्यवाद के स्वरूप पर प्रकाश डालकर फिर इस युग के प्रमुख कलाकारों का परिचय दिया जायगा।

छायावाद और रहस्यवाद

रहस्यवाद हिन्दी साहित्य के लिए कोई नवीन वस्तु नहीं है। कबीर, जायसी आदि निर्गुणवादी सन्तों के प्राचीन साहित्य में इसके एक या दूसरे रूप में दर्शन होते हैं। किन्तु छायावाद हिन्दी साहित्य में एक सर्वथा नवीन वस्तु है और रहस्यवाद आधुनिक रूप में नवीन ही है। आज के रहस्यवाद और प्राचीन रहस्यवाद में अन्तर है। प्राचीन रहस्यवाद प्रधानतया उपदेशात्मक रूप में प्रकट हुआ था।

'जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जल ही समाना यह तथ कथा गियानी॥

आदि पदों में साहित्यिकता की अपेक्षा उपदेशात्मकता की ही प्रधानता है। आज का रहस्यवाद साहित्यिक-सौन्दर्य-समन्वित है। वह अपनी पुरानी परम्परा पर आधारित न होकर पश्चिमी प्रणाली पर प्रतिष्ठित है। छायावाद और रहस्य-वाद की स्पष्ट परिभाषा के लिए अनेक विचारकों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं। किन्तु छात्रों के लिए सरल, सहज, सुबोध परिभाषाएँ बहुत कम देखने में आई हैं। वास्तव में छायावाद और रहस्यवाद की परिभाषा छाया की तरह अस्पष्ट और रहस्यपूर्ण ही रहती रही है, फिर भी उसे यहाँ कुछ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है।

साधारण मनुष्य सदा सीमित और संकुचित घेरे में बंधा रहता है। अपना-पराया, जड़-चेतन, मनुष्य और पशु, सजातीय और विजातीय की भेद-भावनाओं ने उसे एक अत्यन्त क्षुद्र रूप दे रखा है। वह आत्मतत्व की विश्व-व्यापक विशालता का अनुभव नहीं कर पाता। नदी, पर्वत, वृक्ष, लता आदि प्राकृतिक जड़-पदार्थों

की तो बात ही क्या, पशु-पक्षियों को भी जाने दें, उसे तो दूसरे मनुष्य में भी आत्म-तत्त्व नहीं दिखाई देता। विपरीत इसके सहृदय कवि चराचर-मात्र में एक अव्यक्त आत्मतत्त्व को अन्तर्हित पाता है। वह बहती हुई नदी, खिले हुए पुष्प और प्रकट होती हुई उषा में चेतना का अनुभव करता है। साधारण मनुष्य विकसित कुसुम को देखकर प्रसन्न हो जायगा, उसकी प्रशंसा भी करेगा और अधिक-से-अधिक उसे तोड़कर अपना शृंगार भी बना लेगा, किन्तु उस पुष्प के भी कोई आत्मा है उसके भी अपने सुख और दुःख हैं; वह भी हंसता और रोता है; इस प्रकार की चेतनानुभूति प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त नहीं हो पाती। यह अन्तर्दृष्टि तो सुकवि का अन्तर्तम ही प्राप्त कर सकता है। कवि जब प्रकृति के प्रत्येक परमाणु में अपनी इसी प्रवृत्ति का परिचय देता हुआ कुछ गुनगुना उठता है, पदार्थ मात्र को अपने ही समान आत्मवान मानकर उनके सुख-दुःखों को अपने में ढालता है और अपने अभाव-अभियोग उन्हें सुनाता है—अपनी कहता और उनकी सुनता है, ऐसी अनुपम, अलौकिक आत्मलीनता की अवस्था में पहुंचा हुआ कवि कुछ गुनगुनाने लगता है। यह गुनगुनाहट ही छायावादी कविता का रूप ग्रहण कर लेती है।

दूसरी स्थिति में कवि इस अवस्था से भी ऊपर उठता है। वह चराचर मात्र में आत्मतत्त्व का तो अनुभव करता ही है साथ ही प्रकृति के प्रत्येक रूप में अपने परम प्रियतम का भी साक्षात्कार करता है। पुष्प की प्रत्येक पंखुड़ी में, सरिता की प्रत्येक लहर में, पवन की प्रत्येक हिलोर में, उषा की प्रत्येक किरण की कोर में उसे अपने प्रियतम के विरह और मिलन के नाना रूप और आकृतियों के चित्र दिखाई देते हैं। इस प्रकार सर्वत्र उस अनन्त अज्ञात सत्ता के प्रत्यक्ष साक्षात्कार के चित्र उपस्थित करने वाली रचनाएँ रहस्यवादात्मक कविताएँ कहलाती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावाद और रहस्यवाद एक ही विचारधारा की दो स्थितियाँ हैं। निचली स्थिति 'छायावाद' के नाम से और ऊपर की अवस्था 'रहस्य-वाद' के नाम से प्रसिद्ध है। संक्षेप म समझाने के लिए हम यों कह सकते हैं कि कविता में पुष्प का वर्णन तीन प्रकार से किया जाता है—१. पुष्प की प्रशंसा मात्र—इसमें पुष्प की कलियों की कोमलता, विकास और पराग आदि का वर्णन करते हुए कवि स्पष्ट वर्णन करता है कि पुष्प की ऐसी कोमल कलियाँ हैं, वे इस प्रकार खिली रही हैं, उसका पराग चहुँ ओर बिखर रहा है, वह पवन के झकोरें से झूम रहा हैं आदि। पुष्प का यह वर्णन इतिवृत्तात्मक कहलाता है। २. पुष्प हंस रहा है, वह अपनी प्रेयसी पवन से कहता है कि मैं तेरे प्रेममय थपेड़ों से उत्फुल्ल और रोमाञ्चित होकर आनन्द-विभोर हो जाता हूँ। वह रात्रि में

स्निग्ध चांदनी के आलिंगनपाश में बंधकर सुख की नींद में सो जाता है, किन्तु प्रात: होते ही विरह-वेदना से मुरझा जाता है, यह सजीव-वर्णन छायावाद कहलाता है।
३. तीसरी स्थिति में कवि पुष्प का सजीव वर्णन करके ही सन्तोष नहीं लेता, वह उसमें अपने प्रियतम की छवि देखता हुआ कहता है कि पुष्प में प्रतिष्ठित मेरा प्रियतम मुझे देखकर हंस रहा है। किन्तु मैं आँखें रखता हुआ भी उसे नहीं देख रहा। सरिता के कल-कल में उसकी हंसी मेरे कानों में गूंज रही है फिर भी मैं उसे नहीं सुन पाता। ऐसा वर्णन 'रहस्यवाद' कहलायेगा। श्रीमती महादेवी वर्मा के निम्न गीत में रहस्यवाद की झलक है—

कैसे कहती हो सपना है
अलि उस मूक मिलन की बात,
भरे हुए अब तक फूलों में
मेरे आंसू उनके हास।

यहाँ कवयित्री पुष्प में अपना और प्रियतम का प्रत्यक्ष मिलन अनुभव कर रही है।

इस रहस्यवाद को निम्न चार वैज्ञानिक विभागों में विभक्त किया गया है—

१. प्रेम और सौन्दर्य-सम्बन्धी रहस्यवाद। एक भारतीय आत्मा, जायसी, महादेवी वर्मा, नवीन आदि का रहस्यवाद इसी कोटि में आता है।
२. दार्शनिक रहस्यवाद। प्रसाद जी का रहस्यवाद अधिकतर दार्शनिकता लिए हुए है।
३ धार्मिक उपासनात्मक रहस्यवाद। निर्गुणोपासक कबीर आदि सन्तों का रहस्यवाद इसी श्रेणी का है।
४ प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यवाद। यह अपने आरम्भिक रूप में छायावाद भी कहलाता है। सुमित्रानन्दन पन्त आदि का रहस्यवाद इस कोटि में गिना जा सकता है।

प्रमुख कवि

जयशंकर प्रसाद—आपका जन्म सं० १९४६ में काशी के एक ऐश्वर्यशाली, महादानी वैश्य-वंश में हुआ था। आपके पितामह शिवरत्न साहू जी बनारस के परोपकारी दानियों में श्रेष्ठ माने जाते थे। प्रसाद जी के पिता का नाम श्री देवीप्रसाद जी था। प्रसादजी बारह वर्ष के ही थे कि इनके पिता स्वर्ग सिधार गये।

उस समय प्रसाद जी सातवीं श्रेणी में पढ़ रहे थे। पिता की असामयिक मृत्यु के कारण आपका विद्यालय जाना बन्द हो गया। और परिवार का सारा भार संभालना पड़ा। आपने स्कूल छोड़ कर घर पर ही पढ़ने का प्रबन्ध कर लिया। कुछ समय तक संस्कृत का अध्ययन करते रहे।

आपने उन्नीस वर्ष की आयु में ही गम्भीर, ऐतिहासिक गवेषणाओं तथा छायावादी रचनाओं में प्रवृत्ति दिखाई थी। क्रमशः आपने हिन्दी-साहित्य की ठोस सेवाएँ कीं। उन्होंने कई भिन्न रूपों में हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि की। उनमें से सर्वप्रथम तो यह कि हिन्दी-साहित्य के काव्य-क्षेत्र को परिष्कृत कर सुरुचि की ओर प्रवृत्त किया और वास्तविक सत्य मार्ग पर चलाया। प्राचीन काव्यकार या तो रसराज शृंगार से सर्वथा अछूते रहा करते थे या ऐसे शृंगार में निमग्न रहते थे कि नाम लेते ही घृणा उत्पन्न हो जाय। वास्तव में ये दोनों ही मार्ग असमीचीन हैं। किन्तु प्रसादजी ने साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश कर सात्विक-प्रेम का परिचय कराते हुए कर्त्तव्य-पथ का प्रदर्शन किया।

हिन्दी में छायावाद के आप प्रवर्तक माने जाते हैं। प्रसाद जी ने नवीन शैली तथा नये विचारों द्वारा हिन्दी-साहित्य-भण्डार को अपूर्णता के दोष से ही नहीं बचाया प्रत्युत शत-शत कवियों को अपने मार्ग पर चला कर—अपना अनुयायी बनाकर सर्वदा के लिए उसे अक्षय्य बना दिया। मौलिक नाटक-लेखकों में भी आप ही हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटककार अथच पथ-प्रदर्शक माने जाते हैं। प्राचीन युग की गवेषणा विशेषकर बौद्ध-युग के इतिहास के अनुसंधान के कार्य से तो आपका स्थान हिन्दी-साहित्य में बहुत मान्य है।

इसके अतिरिक्त आपके उपन्यास और आख्यायिकाएँ भी अत्युत्कृष्ट हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। आपने वर्तमान साहित्य के प्रचलित विषयों तथा शैलियों पर तो लिखा ही है साथ ही नई २ शैली, नये २ विषयों पर भी बहुत-कुछ लिखा है। आपकी वेश-भूषा, खान-पान सर्वथा साधारण ही था। सर्वतोमुखी प्रतिभा की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य म प्रसादजी गोस्वामी तुलसीदास तथा भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के समकक्ष हैं।

प्रसादजी ने भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग और छायावाद-युग इन तीनों में रचनाएँ लिखी थीं। फलतः प्रसाद जी की रचनाओं को काल-क्रम की दृष्टि से (१) पूर्व काल, (२) मध्यकाल, (३) नवीनकाल इन तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। 'विशाख', 'राज्यश्री' 'अजातशत्रु', 'झरना', 'प्रतिध्वनि', 'छाया', 'प्रेम-पथिक',

'महाराणा का महत्व', और 'चित्राधार' उनकी पूर्वकाल की रचनाएँ हैं। 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'कामना', 'आकाश-दीप', 'कंकाल', 'एक घूंट', उनकी मध्यकाल की रचनाएँ हैं। 'आंधी', 'तितली', 'ध्रुव-स्वामिनी', 'इन्द्रजाल', 'लहर', 'कामायनी', 'काव्य और कला' तथा अपूर्ण उपन्यास 'इरावती' नवीन काल की रचनाएँ हैं। प्रसाद जी के काव्य में निम्न विशेषताएँ स्पष्ट लक्षित होती हैं—

(१) **काव्य-विषय में नवीनता**—प्रसाद जी ने भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग की उपदेशात्मकता और इतिवृत्तात्मकता को दूर कर उसके विषयों में नवीनता और आधुनिकता का प्रसार किया। साहित्य में नवीन विषयों की अवतारणा का बहुत-कुछ श्रेय प्रसाद जी को ही है।

(२) **भाव-जगत् का संस्कार**—जैसा कि ऊपर कहा गया है प्रसादजी ने हिन्दी-साहित्य से सस्ती और विकृत भावुकता या उसके सर्वथा बहिष्कार, दोनों का तिरस्कार कर उसे स्वस्थ और संस्कृत-मानसिक पृष्ठ-भूमि पर स्थापित किया, वासनात्मक शृंगार का विरोध कर निर्मल प्रेम का प्रवाह बहाया।

(३) **नवीन कल्पनाओं की सृष्टि**—नवीन भावनाओं के साथ, काव्य की नवीन कल्पनाएँ भी प्रसाद जी के प्रेरणा से प्राप्त हुईं।

(४) **मानवीय सौन्दर्य का चित्रण**—प्रसाद जी आरम्भ में आन्तरिक सौन्दर्य को ही प्रमुख रूप से चित्रित करते रहे। 'कामायनी' में उन्होंने बाह्य सौन्दर्य का भी अपने ही ढंग पर अद्भुत किन्तु सर्वथा स्वाभाविक चित्रण किया है।

(५) **प्राकृतिक सौन्दर्य**—प्रकृति के प्रति सच्चे प्रेम के वे प्रथम परिचायक और प्रेरक हैं। प्रकृति के नाना रूपों के जैसे चित्रण उनके काव्य में हुए हैं वैसे अन्यत्र कहीं नहीं हो पाये। कोमल-से-कोमल रूप से लेकर भयंकर प्रकृति का चित्र उनके काव्य में अंकित हुआ है। कामायनी के प्रलय के वर्णन को पढ़ते २ पाठक स्वयं सागर की उत्ताल तरंगों में बहने लगता है।

(६) **भाव-सौन्दर्य की स्थापना**—प्रसादजी को यौवन और प्रेम का भी कवि कहा जाता है। उनकी प्रेम-भक्ति या पौराणिक आख्यानों को लेकर लिखी गई आरम्भिक रचनाएँ विषय-प्रधान ही हैं। 'आँसू', 'झरना', 'लहर', तथा 'कामायनी' भाव-प्रधान रचनाएँ हैं। प्रकृति के साथ प्रसाद जी की भावनाएँ एक अलौकिक मूर्त-रूप ग्रहण कर लेती हैं।

(७) **रहस्यवाद और छायावाद**—प्रसादजी प्रकृति-प्रेम, अज्ञात के प्रति

जिज्ञासा, अद्वैत दर्शनों के अभ्यास और रवि बाबू की 'गीतांजलि' से प्रेरित होकर हिन्दी-साहित्य में छायावाद और रहस्यवाद नामक शैली के प्रवर्तक हुए ।

(८) **प्रेम-साधना**—प्रेम और वासना को अपने पृथक्-पृथक् स्पष्ट रूप में चित्रित करने वाले प्रसादजी प्रथम कवि हैं। उनका लौकिक प्रेम भी अलौकिक का संकेत-सा करता रहता है ।

(९) **विषयानुसारिणी-भाषा**—प्रसादजी आरम्भ से अन्त तक सभी विषयों और भावनाओं को एक ही भाषा की लाठी से न हांक कर पात्रों और परिस्थितियों के अनुसार उसमें परिवर्तन करते रहते थे। 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' आदि मध्य कालीन नाटकों का संस्कृतनिष्ठ भाषा में ही लिखा जाना उचित है। 'कामायनी', 'आँसू' आदि की भाषा सरल साहित्यिक है। उनकी लाक्षणिकता और मूर्तिमत्ता भी पग-पग पर प्रकट हो रही है। 'कंकाल', 'तितली' आदि उपन्यास सर्व-साधारण की भाषा में लिखे गये हैं।

हम उनके सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य कामायनी पर यहाँ कुछ विचार प्रकट करते हैं—

कामायनी की कथा ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर सृष्टि के प्रथम ऐतिहासिक पुरुष मनु से आरम्भ होती है। खण्ड-प्रलय के पश्चात् अकेले बच निकले मनु चिन्ता-ग्रस्त बैठे हैं। उन्हें अपने जीवन से भी घृणा-सी हो गई है। इतने में श्रद्धा नामक गंधर्व-राजकन्या आ मिलती है। 'कामगोत्रजा' होने के कारण उसे कामायनी भी कहा जाता है। वे दोनों क्रमश: प्रेम और परिचय के बढ़ने पर पति-पत्नी रूप में रहने लगते हैं, किन्तु श्रद्धा के गर्भवती हो जाने पर मनु उसके प्रति कुछ उपेक्षा-सी प्रकट करते हैं। एक दिन शिकार से लौटने पर मनु को श्रद्धा ने स्वाभाविक रूप से ही कह दिया कि तुम दिन-भर न जाने कहाँ भटका करते हो; मैं अकेली सूनी कुटिया में बैठी रहती हूँ पर अब मैं अकेली न रहूँगी। यह सुनते ही मनु क्रोध से विकल हो 'अब तुम्हें मेरी आवश्यकता नहीं है, मेरे भाग में तो अकेले ही रहना लिखा है' आदि कहते हुए श्रद्धा को अकेली छोड़ चले गये। उन्हें सारस्वत प्रदेश की रानी इड़ा ने अपने राज्य के प्रबन्धक के रूप में अपना लिया। जब उन्होंने इड़ा पर भी अधिकार जमाने का प्रयत्न किया तो प्रजा में विद्रोह हो उठा। संघर्ष में मनु घायल होकर गिर पड़े। श्रद्धा यह सब घटना स्वप्न में देखकर अपने द्वादशवर्षीय पुत्र को साथ लेकर उनकी रक्षा के लिए दौड़ पड़ी। घायल और मूर्छित मनु का उसने उपचार किया किन्तु स्वस्थ और जागृत मनु लज्जा के कारण श्रद्धा को वहीं छोड़ भाग निकले। श्रद्धा अपने पुत्र 'मानव' को इड़ा को सौंप कर मनु

को खोजने निकली और हिमालय में उनसे जा मिली। उसने मनु की सात्विक वृत्तियों को जागृत कर शिवरूप का दर्शन कराया और बताया कि इच्छा, ज्ञान और क्रिया के समन्वय के बिना आत्मरूप का साक्षात्कार या मानव का कल्याण नहीं हो सकता। मनु और श्रद्धा एक पहुँचे हुए महापुरुष के रूप में सर्वत्र विख्यात हो गये हैं। उनके दर्शनार्थ पहुँचने वाले सैकड़ों यात्रियों में इड़ा और मानव भी उनके पास पहुँच जाते हैं। मनु मानवता का दिव्य सन्देश देते हैं। कामायनी की यही संक्षिप्त कथा है।

कथानक की दृष्टि से कामायनी तो एक साधारण काव्य प्रतीत होता है परन्तु इसके बहिरंग की अपेक्षा अन्तरंग ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। कथानक तो प्रसादजी के विचारों को मूर्तरूप देने के लिए स्वल्प-सा सहारा मात्र है। इस काव्य के द्वारा कवि ने युग को मानवता का दिव्य सन्देश दिया है। सुख, विलास, ऐश्वर्य, स्वाभिमान और अप्सराओं की रंगरलियों से परिपूर्ण दैवी सभ्यता तथा मार-काट, संघर्ष और हिंसा से परिपूर्ण दानवी सभ्यता, इन दोनों पर स्नेह, सद्भाव, सहानुभूति तथा सुख-शान्ति से समन्वित मानवीय सभ्यता को प्रतिष्ठित करना ही कामायनी के कलाकार का एकमात्र लक्ष्य है। मनु के रूप में समग्र मानवजीवन का और साथ-ही-साथ सम्पूर्ण मानव-जाति के इतिहास का प्रत्यक्ष चित्र अंकित कर दिया गया है। श्रद्धा के रूप में आदर्श भारतीय नारी और इड़ा के रूप में आधुनिक वैज्ञानिक युग की नारी चित्रित हुई है।

'दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो अगाध विश्वास।

इस एक ही पद में श्रद्धा का सम्पूर्ण चित्र चित्रित हो गया है। श्रद्धा ही क्यों अपितु प्रत्येक भारतीय नारी दया, माया, ममता, माधुर्य और अगाध विश्वास की साकार प्रतिमा है। वह मनुष्य को ऐहिक सुख देनेवाली ही नहीं प्रत्युत परम-तत्त्व का साक्षात्कार कराने वाली भी है। कबीर आदि सभी संत कवियों ने—

नारी की झांई पड़े अन्धा होत भुजंग।
कबिरा तिन की कहा गति, जो नित नारी के संग॥

आदि कहकर स्त्री को साधना के मार्ग में बाधक ही माना है। कुछ दूसरे कलाकारों ने उसे मनुष्य की वासना को तृप्त करने वाली कामिनी के रूप में देखा है। तुलसी आदि भक्त-कवि उसे मातृत्व की महिमा से मंडित कर संतुष्ट हो गये हैं। प्रसादजी ही पहले कवि हैं जिन्होंने नारी को साधना-मार्ग में भी साधक ही माना, बाधक नहीं।

उन्होंने यहाँ तक कहा कि नारी की सात्विक प्रवृत्तियों के बिना मानव आत्मरूप को प्राप्त ही नहीं कर सकता। साथ ही प्रसाद जी की श्रद्धा केवल 'श्रद्धा' न होकर 'कामायनी' भी है। तुलसी की सीता केवल श्रद्धा ही की पात्र होने के कारण अमानवी हो गई है। साधारण ललना के लिए उसका अनुकरण करना असाधारण बात है। अन्य कवियों की नायिकाएँ कामायनी या कामिनी ही बनकर रह गईं। वे अपना और मानव का कल्याण करने में सर्वथा असमर्थ हैं। प्रसादजी की कामायनी नारी के सम्पूर्ण सौन्दर्य और आकर्षण से परिपूर्ण सुख-दुःख, राग-विराग तथा मानवोचित निर्बलताओं से समन्वित समाज की साधारण स्त्री होते हुए भी श्रद्धात्मिका है। हम केवल उसके चरणों का ही ध्यान न कर उसके अंग-प्रत्यंग से फूट रही यौवन की मादकता, मधुरता और तज्जन्य चेष्टाओं का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते हुए भी मनु के शब्दों में—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नग पगतल में।
पीयूष स्रोत-सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में॥

महा-महिमामयी श्रद्धा के रूप में उसे अपने हृदय की देवी बनाते हैं। उन्होंने आज की वैज्ञानिक-युग की नारी को इड़ा के रूप में अंकित किया है और मनु तो नित्य नवीन के प्रति आकृष्ट रहने वाले मानव का प्रतिनिधि है ही—

हो अब तुम बनने को स्वतन्त्र॥

सब कलुष ढालकर औरों पर रखते हो अपना अलग तंत्र,
द्वन्द्वों का उद्गम तो सदैव शाश्वत रहता वह एक मंत्र।
डाली में कंटक-संग कुसुम खिलते मिलते भी हैं नवीन,
अपनी रुचि से तुम बिंधे हुए जिसको चाहो ले रहे बीन।
तुम ने तो प्राणमयी ज्वाला का प्रणय प्रकाश न ग्रहण किया,
हाँ, जलन-वासना को जीवन-भ्रम तम में पहला स्थान दिया।
अब विकल प्रवर्तन हो ऐसा जो नियति-चक्र का बने यंत्र॥
हो शाप-भरा तव प्रजा-तन्त्र॥

इस लौकिक या भौतिक व्याख्या के साथ ही कामायनी का आध्यात्म-पक्ष भी अत्यन्त मार्मिक है। आज मनुष्य केवल बुद्धि या विज्ञान के सहारे सब सुख-साधनों को प्राप्त कर लेने का प्रयत्न कर रहा है। मस्तिष्क के विज्ञान ने हृदय की भावनाओं को अभिभूत कर दिया है। विज्ञान की दौड़ में आगे बढ़ता हुआ मनुष्य कभी वास्तविक शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। इसके लिए तो उसे श्रद्धा की शरण में जाना ही पड़ेगा। भारतीय मानवता का यही दिव्य-सन्देश प्रसादजी की कामायनी के प्रत्येक अक्षर में मुखरित हो रहा है।

प्रसादजी की उक्त विशेषताओं का विवेचन करते हुए हमें एक बात यह भी स्मरण रखनी चाहिए कि प्रसादजी साहित्यिकों के काव्यकार या कवियों के कवि हैं। उनके काव्य में आध्यात्मिकता, वास्तविकता, अभिव्यंजनात्मकता और लाक्षणिकता आदि के कारण उन्हें साधारण पाठक सहसा नहीं अपना पाता। कवि-हृदय ही उन्हें पूरी तरह पहचान सकता है। इसलिए 'भारत-भारती' की भाँति प्रसाद जी की रचनाएँ सर्व-साधारण का स्नेह प्राप्त करने में असमर्थ होते हुए भी कालीदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' या रवीन्द्र बाबू की रहस्यवादी रचनाओं के समान, रसिक सहृदयों को आत्मलीन करने में पूर्ण समर्थ हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं। जिस प्रकार कालीदास की महत्ता को उन्हीं के सरीखे महाकवि गेटे और रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने पहचाना और प्रकट किया वैसे ही एक युग आयगा जब प्रसाद जी के काव्य के महत्त्व को भी उन्हीं के समान कोई महाकवि प्रकट करने में समर्थ होगा।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—निराला जी का जन्म संवत् १९५५ म मेदनीपुर जिला बंगाल में हुआ। अतः आप जन्मजात बंगला-भाषी हैं। संस्कृत, बंगला और संगीत-दर्शनादि का आपने गम्भीर अध्ययन किया है। आपकी रचनाओं में इन सब का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। निराला जी हिन्दी के युगान्तरकारी स्वच्छन्दवादी कवि हैं। हिन्दी-साहित्य में प्रसादजी ने जिन नवीन प्रवृत्तियों को पल्लवित किया था, उन्हें विकसित करने वालों में आप सर्वप्रमुख हैं। आधुनिक युग की रहस्यवाद सम्बन्धी काव्य-धारा के ये मुख्य स्तम्भ समझे जाते हैं। प्रसादजी की भाँति दार्शनिकता तथा आध्यात्मिकता इनके काव्य की दो विशेषताएँ हैं। भाषा और छन्द के बन्धन को तोड़कर इनकी प्रतिभा ने एक अभिनव-पथ को परिष्कृत किया है। अतुकान्त एवं मुक्त-छन्द की कविता के ये कुशल कलाकार हैं। हिन्दी गीति-काव्य की प्रणाली का प्रचार इन्हीं से हुआ है। गम्भीर दार्शनिकता और निराली प्रतिपादन-शैली के कारण अनेक स्थलों पर इनके चित्र उलझे हुए एवं दुरूह हो गये हैं, किन्तु जहाँ भाषा सरल और कल्पना स्वाभाविक है, वहाँ इनके व्यक्तित्व एवं प्रतिभा का प्रभाव पर्याप्त स्पष्ट और आकर्षक है। इनके

साहित्य पर बंगला और अंग्रेजी का प्रभाव है। रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्दजी के दार्शनिक विचार आपकी दार्शनिक रचनाओं में सर्वत्र झलकते हैं। "तुम और मैं" शीर्षक इनकी रचना अत्यन्त गम्भीर और लोकप्रिय है। अमूर्त भावों को मूर्त रूप देने में ये भी प्रसाद जी के समकक्ष हैं। "महाराज शिवाजी का पत्र" "गोस्वामी तुलसीदास", "राम की शक्ति-साधना" आदि इनकी रचनाओं में प्राचीन संस्कृति के प्रति प्रेम प्रकट होता है। 'भिक्षुक', 'विधवा', "तोड़ती पत्थर" आदि इनकी रचनाएँ प्रगतिवाद का रूप प्रकट करती हैं। निरालाजी स्वच्छन्द प्रकृति के कवि हैं और अपनी प्रकृति के अनुकूल ही कविता-कामिनी को स्वच्छन्दता देकर आपने उसका स्वाभाविक संगीतमय सौन्दर्य उद्भासित करने का प्रयत्न किया है। निरालाजी के हम कई रूपों में दर्शन करते हैं। ये विचारों से अद्वैतवादी हैं; किन्तु इनका हृदय भक्ति और प्रेम का आगार है। अपनी कुछ रचनाओं में ये दार्शनिक विचारों की ओर उन्मुख जान पड़ते हैं। कविताओं के अतिरिक्त कहानी, उपन्यास और निबन्ध भी इनके लोकप्रिय और सत्कृत हुए हैं। इनकी ये रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—अनामिका, परिमल, गीतिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता, बेला, अणिमा, अपरा और नये पत्ते और अर्चना काव्य-संग्रह हैं। अप्सरा, अलका, निरुपमा, प्रभावती, उच्छृङ्खल, चोटी की पकड़, काले कारनामे, चमेली आदि उपन्यास। लिली, सखी, चतुरीचमार, सुकुल की बीबी आदि कहानी-संग्रह। कुल्ली भाट, बिल्लेसुर बकरीहा आदि रेखा-चित्र। प्रबन्ध-पद्य, प्रबन्ध-प्रतिमा, प्रबन्ध-परिचय, रवीन्द्र-कविता-कानन आदि आलोचनात्मक निबन्ध-संग्रह हैं। राणा प्रताप, भीम, प्रह्लाद, ध्रुव, शकुन्तला आदि जीवन-चरित्र, महाभारत, श्री रामकृष्ण-रसनामृत (चार भाग), स्वामी विवेकानन्दजी के भाषण, देवी चौधरानी, आनन्द-मठ, दुर्गेश-नन्दिनी, युगलांगुलीय, वात्स्यायन कामसूत्र तथा तुलसी-रामायण की टीका व गोविन्ददास-पदावली (पद्य में) इनके अनूदित ग्रन्थ हैं। ये 'समन्वय' और 'मतवाला' नामक पत्रों के सम्पादक भी रहे हैं। द्विवेदीजी से इन्हें सदा पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त होता रहता था। संवत् २००३ में काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा में इनकी जयन्ती बड़े समारोह के साथ मनाई गई। अत्यन्त भावुक और मनमौजी यह कवि आर्थिक संकटों के कारण जीवन से उदास होकर अब शारीरिक व मानसिक शक्ति से शिथिल हो चुका है।

"मैं और तुम" कविता इनकी दार्शनिक भावनाओं का परिचय देती है—

तुम गंध-कुसुम कोमल-पराग, मैं मृदुगति-मलय-समीर।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष, मैं प्रकृति-प्रेम-जंजीर।

तुम शिव हो मैं हूँ शक्ति,
तुम रघुकुल-गौरव रामचन्द्र सैं सीता अचला भक्ति ॥

मनुष्य की सहज भावनाओं को उच्चतम स्थान देने का श्रेय निरालाजी को ही है। हृदय में जब नये राग की लहर उठती है वह जैसे छलकती हुई अलकों और पलकों में छिप जाती है। स्नेह-भरे नयनों की पलकें उठाकर वह प्रिय का अधरासव पान करती है। स्नेह का मेंह बरसने के बाद अमर अंकुर फूटता है, जिससे सांसारिक भय दूर हो जाते हैं।

प्रेम चहक कर उठा नयन नव, विधु चितवन मन ए मधुकलरव।
मौन पान करती अधरासव, कंठ लगी तरुणी।
मधुर स्नेह के मेह प्रखर तर, बरस गए रस निर्झर झर-झर।
लगा अमर अंकुर उर भीतर, संसृति भीर भई ॥

हिन्दी में ऐसे गीत बहुत कम लिखे गये हैं, जहाँ रूपक में इतनी पूर्णता हो। एक अन्य गीत में प्रकृति और मानव के व्यापारों को एक कर दिया गया है; प्रेम के समीर से दो विटप हिल उठते हैं। इसी वायु से जीवन रूपी सर लहरा उठता है। नये प्रकाश की किरण गात छूकर चली जाती है। इससे सीमाओं में बंधी हुई भावनाओं की मुक्ति हो जाती है। सुख चाहने वाली दृष्टि रहस्यों को जान लेती है। दोनों प्रेमी जान लेते हैं कि राग से ही मुक्ति मिलती है। ज्ञान और प्रेम में वे ऐसे ही बंध जाते हैं, जैसे अपूर्ण शक्ति के दो चरणों से श्लोक बन गया हो। पूरे गीत में भावों का बंधान देखिए—

नयनों से नयनों का बंधन, कांपे थर-थर युगतन।
समझे-से हिले विटप हँसकर, चढ़े मंजु खिले सुमन खसकर।
गई विवश वायु बाँध वश कर, निर्भर लहराया सर-जीवन।
ज्ञात रश्मि गात चूम रे गई, बँधी हुई खुली भावना नई।
गई दूर दृष्टि जो सुखाशयी, छिपे वे रहस्य दिखे नूतन ॥
समझे युग रागानुराग मुक्ति रे-ज्ञात परम मिले चरम युक्ति से।
सुन्दरता के, अनुपम उक्ति के, बँधे हुए श्लोक पूर्णकर चरण ॥

निरालाजी निराशावादी नहीं हैं। उन्हें अपने जीवन में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। जब उन पर आपत्तियों के बादल घिर कर आते हैं तो वे एक उद्धत और उत्साही वीर का रूप धारण कर लेते हैं जो करुणा-मार्ग में नियति को भी चुनौती देता है।

खण्डित करने को भाग्य अंक, देखा भविष्य के प्रति अशंक;

हिन्दी में ये पंक्तियाँ निराला ही लिख सकते हैं और भविष्य के प्रति अशंक होकर देखना उन्हीं का काम है। परन्तु यह भाग्य-अंक खण्डित नहीं कर पाये। अन्त में इस उदात्त-गर्जना के बदले उनका दुःख जर्जर हृदय बोल उठता है :—

दुख ही जीवन की कथा रही, क्या कहूं आज जो नहीं कही;

जीवन के संघर्षों और परिस्थितियों ने निरालाजी के काल्पनिक संसार को खण्डित कर दिया है। अब वे यथार्थवाद की ओर आते जारहे हैं। पूँजीवाद व्यवस्था ने कविको प्रगतिवाद की ओर उन्मुख कर दिया है। निरालाजी ने पूँजीवादी शोषण के कड़े करुणाजनक चित्र खींचे हैं। एक भिखारी का चित्रण देखिए—

दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूक मिटाने को।
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता—
वह आता—

पूंजीवादी सत्ता अपनी कूटनीतियों द्वारा जिस प्रकार जनता का शोषण कर रही है, वह भेद अब निराला जी ने समझ लिया है—

खुला भेद विजयी कहाए हुए जो,
लहू दूसरों का पिये जा रहे हैं।

सुमित्रानन्दन पन्त—पन्तजी का जन्म सं० १९५८ में अलमोड़ा ज़िला कसौनी नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० गंगादत्त पन्त था। इन्होंने एफ़. ए. तक शिक्षा प्राप्त की है। अनेक अन्य साहित्यिकों की भाँति अधिकतर अध्ययन इन्होंने घर पर ही किया है। संस्कृत, बंगला के अतिरिक्त अंग्रेजी-

साहित्य का इन्होंने प्रेम से अध्ययन किया। बंगला-साहित्य की छाप इनके ऊपर स्पष्ट है।

आधुनिक युग के क्रांतिकारी कवियों में प्रसाद और निराला के बाद पन्तजी का स्थान है। छायावादी एवं रहस्यवादी काव्य के ये तीनों मुख्य स्तम्भ समझे जाते हैं। प्रसादजी ने अपनी मौलिक प्रतिभा से जिस काव्यधारा को जन्म दिया था और जिस शैली को अपनाया था उसका विकास हम निराला और पन्तजी के काव्य में देखते हैं। प्रसादजी और निरालाजी की तरह पन्तजी ने भी भाषा, व्याकरण, छन्द एवं परम्परागत कवि-समय को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया है।

पन्त जी वास्तव में प्रकृति के कवि हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य से पूर्ण प्रदेश में जन्म लेने से प्रकृति मानो इनकी आत्मा और प्राणों से एक हो गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कवि ने प्रकृति का साक्षात्कार किया है। ये प्रकृति और मानव-हृदय दोनों में एक मधुर सम्बन्ध में विश्वास रखते हैं। प्रकृति को एक सहचरी के रूप में देखते हैं और उसके साहचर्य में वास्तविक आनन्द का अनुभव करते हैं। प्रकृति के सम्बन्ध में इनका यह दृष्टिकोग अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ से मिलता-जुलता है। उनकी भाँति प्रकृति का मधुर और कोमल पक्ष ही इन्हें आकृष्ट कर सका है, उग्र तथा भयानक नहीं। भाषा की कोमलता के लिए ये प्रसिद्ध हैं। शब्द-चयन इनका अनूठा होता है। कुछ अन्य आधुनिक कवियों की भांति ये भी मार्क्सवाद तथा साम्यवाद के प्रभाव में आ गये थे पर अब अरविन्द अध्यात्मवाद की ओर अग्रसर हैं।

इनकी वीणा, ग्रन्थि, उच्छ्वास, पल्लव, गुंजन, युगान्त, युगवाणी, पल्लविनी, स्वर्ग-किरण आदि रचनाएँ पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। युगान्त और युगवाणी में प्रगतिवाद व गांधीवाद की झलक है। 'ग्राम्या' आपकी सुन्दर रचना है। इसमें ग्राम-जीवन का यथार्थ चित्रण हुआ है, न कल्पना की उड़ान है, न अलंकृत पदावली में अस्पष्ट अभिव्यंजनात्मकता; सीधी-सादी गद्यमयी भाषा में गाँव का वास्तविक चित्र अंकित कर दिया गया है। ग्राम का प्रत्येक कार्य और व्यापार अपने प्राकृतिक रूप में प्रकट हुआ है। गांधीजी के देहान्त के पश्चात् उन्हें श्रद्धांजलि समर्पित करने के उद्देश्य से इन्होंने और बच्चन ने मिलकर 'खादी के फूल' नामक रचना प्रकाशित की। इधर आप अरविन्द की आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि से प्रभावित होकर प्रगतिवाद से अध्यात्मवाद की ओर मुड़े हैं। 'स्वर्णधूलि,' 'स्वर्णकिरण' युगपथ, मानसी, गीतिनाट्य आदि आपकी नवीनतम रचनाओं में

उक्त विचार-धारा की झलक लक्षित होती हैं। यहां 'ग्राम्या' और 'खादी के फूल' से कुछ कविताएँ उद्धृत की जाती हैं—

प्रथम अहिंसक मानव बन के तुम आए हिंस्र धरा पर,
मनुज बुद्धि को मनुज-हृदय के स्पर्शों से संस्कृत कर;
निबल प्रेम को भाव-गगन से निर्मम धरती पर धर,
जन-जीवन के बाहुपाश में बांध गये तुम दृढ़तर;
द्वेष-घृणा के कटु प्रहार सह करुणा दे प्रेमोत्तर,
मनुज अहं के गत विधान को बदल गये हिंसाहर;
(खादी के फूल)

ग्राम्या में ग्राम-नारी का कैसा वास्तविक चित्र अंकित हुआ है—

स्वाभाविक नारीजन की लज्जा से वेष्टित,
नित कर्मनिष्ठ, अंगों की हृष्ट-पुष्ट सुन्दर;
श्रम से है जिसके क्षुधा, काम चिर मर्यादित,
वह स्वस्थ ग्राम-नारी नर की जीवन-सहचर;
वह शोभा-पात्र नहीं, कुसुमादपि मृदुल गात्र,
वह नैसर्गिक जीवन-संस्कारों से चालित;
सत्याभासों में पली, न छाया मूर्ति मात्र।
जीवन-रण में सक्षम सघर्षों से शिक्षित,
वह वर्ग नारियों-सी न सुज्ञ संस्कृत कृत्रिम,
रंजित कपोल, भ्रू, अधर, अंग सुरभित वासित,
छाया-प्रकाश की सृष्टि,—उसे सम ऊषा हिम,
वह नहीं कुलों की कामवन्दनी अभिशापित,
है मांसपेशियों में उसके दृढ़ कोमलता।
संयोग अवयवों में अश्लथ उसके उरोज,

कृत्रिम रति की है नहीं हृदय में आकुलता,
उद्दीप्त न करता उसे भाव, कल्पित मनोज।
(ग्राम्या)

अब एक ग्राम के बनिये का चित्र भी देखिए—

'अनुभव करता लाला का मन, छोटी हस्ती का सस्तापन,
जाग उठा उसमें मानव, औ असफल जीवन का उत्पीड़न।
दैन्य दुःख अपमान ग्लानि, चिर क्षुधित पिपासा, मृत-अभिलाषा,
बिना आय की क्लान्ति बन रही, उसके जीवन की परिभाषा।
जड़ अनाज के ढेर सदृश ही वह दिन भर बैठा गद्दी पर,
बात-बात पर झूठ बोलता कौड़ी की स्पर्धा में मर मर।
फिर भी क्या कुटुम्ब पलता है? रहते स्वच्छ सुघर सब परिजन,
बना पा रहा वह पक्का घर? मन में सुख है, जुटता है धन।
खिसक गई कन्धों से कथड़ी, ठिठुर रहा अब सर्दी से तन,
सोच रहा बस्ती का बनिया घोर विवशता का निज कारण।
शहरी बनियों-सा वह भी उठ क्यों बन जाता नहीं महाजन?
रोक दिये हैं किसने उसकी जीवन-उन्नति के सब साधन?

महादेवी वर्मा—श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म सं० १९६४ में फ़र्रुखाबाद में हुआ। इनके पिता श्री गोविन्दप्रसाद वर्मा थे। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा इन्दौर में हुई। सं० १९७३ में डाक्टर रूपनारायण वर्मा के साथ इनका विवाह हुआ। विवाह के पश्चात् इन्होंने मैट्रिक, एफ. ए., बी. ए., एम. ए. परीक्षाएँ पास कीं। कुछ समय तक 'चांद' की सम्पादिका का कार्य कर 'प्रयाग-महिला-विद्यापीठ' की आचार्या-पद पर प्रतिष्ठित हुईं। 'साहित्य-संसद' नामक संस्था स्थापित कर ये हिन्दी लेखकों की सहायता करने का स्तुत्य प्रयत्न कर रही हैं। 'नीरजा' पर पांचसौ का सेक्सेरिया-पुरस्कार और 'यामा' पर १२००) का मंगलाप्रसाद-पारितोषिक इन्हें प्राप्त हो चुका है। सेक्सेरिया-पुरस्कार के ५००) रुपये इन्होंने प्रयाग-महिला-विद्या-पीठ को दान कर दिये।

महादेवी मीरा की अवतार कही जाती हैं। मीरा की मधुरता और वेदना महादेवी के प्रत्येक पद्य में प्रतिबिम्बित है। इनकी रचनाएँ परिमाण में अपेक्षाकृत स्वल्प होते हुए भी उत्कृष्ट गुणों की आगार हैं। ये अपनी रचनाओं के द्वारा हिंदी-काव्य के एक महत्त्वपूर्ण अंग का नेतृत्व कर रही हैं। महादेवी हिन्दी में स्वर्गीय गीतों की श्रेष्ठतम गायिका हैं। वे स्थूल को छोड़कर ऐसे सूक्ष्म की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं जिसमें जीवन का दिव्य सत्य अन्तर्हित है। स्थूल जगत् की अपूर्णता से विक्षुब्ध होकर अव्यक्तपूर्णता के अन्वेषण में लीन आत्मा सदैव विरहित ही रहती है, इसीलिए उसकी वाणी में विरह-वेदना की प्रधानता रहती है। महादेवी प्रकृति के प्रत्येक प्रांत से अमृत-सुषमा का प्रेमोपहार लाकर अपने अनुपम प्रियतम का शृंगार करती हैं। वे प्रकृति के नाना रूपों और व्यापारों में अपने प्रियतम का प्रतिबिम्ब पाकर उससे चिरमिलन के लिए उत्कण्ठित हो उठती हैं।

कैसे कहती हो सपना है अलि ! उस मूक मिलन की बात,
भरे हुए अब तक फूलों में, मेरे आंसू उनके हास।

में प्रियतम से दिव्य-साक्षात्कार का परिचय भी देती हैं। प्रिय की उत्सुकता–पूर्ण प्रतीक्षा ही इनकी कविता का पाथेय है। इनके अलौकिक विरह और मिलन-औत्सुक्य और नैराश्य, आह्वान और प्रत्याख्यान या रूठने और मनाने में कहीं वासनाजन्य कालुष्य या दूषित प्रवृत्ति का चिन्ह भी नहीं है। उनका शृंगार भी तुलसी के समान सात्विक और पवित्र है। चाहे संयोग पक्ष हो चाहे वियोग-पक्ष ; शृङ्गार के दोनों पक्षों का ऐसा सुरुचिपूर्ण सात्विक चित्रण अन्यत्र दुर्लभ ही है।

कवयित्री के अन्तर्तम में प्रकृति के प्रति अपूर्व प्रेम प्रवाहित हो रहा है। छायावाद की अभिव्यंजनात्मक शैली में कोमल-कान्त रूपकों के द्वारा प्रकृति के मार्मिक चित्र अंकित करने में ये अपना उपमान आप ही हैं। महादेवी के रहस्यवाद का हिन्दी-जगत् में अपना विशेष स्थान है। प्रमुख आलोचक गण महादेवी की ही रचनाओं में वास्तविक रहस्यवाद का प्रदर्शन करते हैं। महादेवी के प्रत्येक पद से परिष्कार-प्रियता और सुकुमारता टपकती है। दीप-शिखा में उनकी उत्कृष्टतम तथा प्रौढ़ रचनाएँ संकलित हैं। प्रतीक, समासोक्ति और लाक्षणिक मूर्तिमत्ता व अभिव्यंजनात्मकता आज की कविता की मुख्य विशेषताएँ हैं। महादेवी की रचनाओं में भी इनकी प्रचुरता है। इसीलिए कहीं-कहीं इनकी रचनाएँ सामान्य पाठक के अन्तर् में सहसा नहीं पैठ पातीं। बात तो यह है कि

प्रत्येक रहस्यवादी कवि की भाषा उसके भावों को भलीभाँति बिना प्रतीकों के प्रकट ही नहीं कर सकती, और प्रतीकात्मक पदावली के रहस्य तक पहुँचने के लिए प्रखर प्रतिभा की परमावश्यकता रहती है।

महादेवी की ये रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—

नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्य-गीत और दीप-शिखा। 'यामा' में 'नीहार' 'रश्मि' और' नीरजा' की सब कविताएँ संकलित हैं। 'अतीत के चल-चित्र' और 'शृंखला की कड़ियां' इनके निबन्ध हैं। 'हिन्दी का विवेचनात्मक गद्य' एक आलोचनात्मक पुस्तक है। कवयित्री के साथ महादेवी श्रेष्ठ चित्रकार भी हैं।

स्त्रियोचित सात्विकता ने महादेवी जी के काव्य में एक सार्वत्रिक विशेषता उत्पन्न कर दी है। इनसे उनके काव्य को सुन्दर कान्ति मिली है। उनकी भावुकता भी देखने ही योग्य है—

चाहता है यह पागल प्यार, अनोखा एक नया संसार,
कलियों के उच्छ्वास शून्य में ताने एक वितान,
तुहिन-कणों की मृदु कंपन से सेज बिछाये गान—
जहां सपने हों पहरेदार!

महादेवीजी ने छायावादी काव्य में व्यक्त प्रकृति के सौन्दर्य-प्रतीकों को न लेकर उन प्रतीकों की अव्यक्त गतियों अथवा छाया का संग्रह किया है। इससे उनकी कविताओं में वेदना की विवृति और रहस्यात्मकता बढ़ गई है। देखिए—

उन हीरक के तारों को, कर चूर्ण बनाया प्याला।
पीड़ा का सार मिला कर, प्राणों का आसव ढाला।
मलयानिल के झोकों में, अपना उपहार लपेटे।
मैं सूने तट पर आई, बिखरे उद्गार समेटे।

प्रसाद के 'आंसू', निराला की 'स्मृति' जैसी उड़ान और सुमित्रानन्दन पंत के 'पल्लव' जैसा सौन्दर्यान्वेषण महादेवीजी में नहीं है, किन्तु वेदना का विन्यास, उसकी वस्तुमत्ता का बहुरूप और विवरणपूर्ण चित्रण जैसा महादेवी जी ने किया है, वैसा वे तीनों कवि नहीं कर पाये। देखिए—

जाग जाग सुकेशिनी री—
अनिल ने आ मृदुल हौले, शिथिल वेणी बन्ध खोले

पर न तेरे पलक डोले,
बिखरती अलकें झरे जाते सुमन वर-वेषिनी री !
जाग जाग सुकेशिनी री !
छाँह में अस्तित्व खोये, अश्रु के सब रंग धोये।
मंद प्रभ दीपक सँजोये।
पन्थ किसका देखती तू, अलस स्वप्न निषेविनी री !

महादेवीजी ने अपनी कविताओं में रूप-चित्रण की अपेक्षा भावचित्रण को प्रधानता दी है। किन्तु रूप-चित्रण के बिना रहस्यवाद के काव्य में कला का पूर्ण प्रस्फुटन नहीं हो सकता। फिर भी जहां व्यक्त रूप किसी-न-किसी प्रकार आ गये हैं, वहां इनकी रचना भी सुन्दर बन गई है। देखिए—

किसी नक्षत्रलोक से टूट,
विश्व के शतदल पर अज्ञात।
ढुलक जो पड़ी ओस की बूंद,
तरल मोती-सा ले मृदु-गात—
नाद से जीवन से अनजान,
कहो हुआ परिचय हे नादान !

प्रसादजी और महादेवीजी के रहस्यवाद में यह अन्तर है कि महादेवीजी का झुकाव करुणा और भक्ति-भाव की ओर रहता है। और 'प्रसाद' जी प्रायः तादात्म्य (वही तू है) का संकेत करते हैं। महादेवी की भक्ति-भावना और आत्म-समर्पण का सुन्दर उदाहरण देखिए—

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ !
नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ,
शलभ जिसके प्राण में, वह निठुर दीपक हूँ,
फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ,
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ,
दूर तुम से हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ !

उदयशंकर भट्ट—भट्ट जी का जन्म संवत् १९५५ में हुआ। वर्षों तक ये लाहौर के सनातन-धर्म कॉलेज में प्रोफेसर पद पर रहे। आजकल आप देहली रेडियो-विभाग में काम कर रहे हैं।

भट्टजी आज के कलाकारों में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। वैसे तो इनकी ख्याति सारे हिंदी जगत् में व्याप्त है, पर ये पंजाब के सर्वप्रमुख कवि और कलाकार स्वीकार किये जाते हैं। पंजाब में इन्होंने अपने जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंश व्यतीत किया है। वहीं शिक्षा-दीक्षा प्राप्त कर भिन्न-भिन्न संस्थाओं में अध्यापन-कार्य किया। इनकी साहित्य-कला का विकास भी पंजाब में हुआ। पंजाब की जनता और सरकार ने आपकी रचनाओं को पर्याप्त सत्कृत एवं पुरस्कृत किया। 'तक्षशिला' आदि काव्य पर पुरस्कार प्राप्त हुए।

भट्टजी की रचनाओं में गम्भीर अनुभूति और दार्शनिकता के दर्शन होते हैं। इनकी कविताओं में जीवन की वेदना, सामाजिक विषमता और तज्जन्य अन्यान्य दुःखों व क्लेशों का मार्मिक चित्रण हुआ है। आरम्भ में ये भी निराशावाद से प्रभावित होकर—

किसने परिणामों में पाया संचित आशा भरा शृंगार,
मैं संसार-विहार-स्थल पर निरख रहा यह बारम्बार।

आदि रचनाओं में अपने अन्तर् की निराशा और वेदना को प्रतिबिम्बित करते रहे। समय के बीतने के साथ निराशा की उक्त प्रवृत्ति विद्रोह की उग्र भावना में परिणत होने लगी। कवि की प्रतिभा पौरुष के पथ पर अग्रसर हुई। भाग्यवाद की अपेक्षा पुरुषार्थ ने प्रधान स्थान प्राप्त किया। प्रभु-कृपा की बाट जोहते रहना भी प्रकारांतरित भाग्यवाद ही है, इसलिए कवि परमात्म-बल की अपेक्षा आत्म-बल पर विश्वास करता हुआ कहता है कि—

कुछ न कर सका पीड़ित के प्रति,
कुछ न किया है अब तक उसने,
कुछ न करेगा आगे भी वह;
निर्बल को देगा यों चुसने!

इस प्रकार ईश्वर भी कवि के हाथों अन्याय और उत्पीड़न के दायित्व से बच नहीं सकता। थोथे सारहीन अध्यात्मवाद से, जिस के बल पर मानव मनमानी

करता आ रहा है, ऐसी दार्शनिकता के प्रति घृणा और रोष प्रकट करता हुआ भी कवि ईश्वर और विश्व के व्यापक नैतिक विधान में तो अपनी पूर्ण आस्था प्रकट करता है। वह प्रगतिवाद का प्रचारक होते हुए भी प्राचीनता का पुजारी और आर्य-संस्कृति का उपासक है।

हिन्दी-नाटक-साहित्य में तो भट्टजी का अपना विशेष स्थान है। प्रसादजी के पश्चात् नाटक-क्षेत्र में आपकी प्रतिभा को प्रमुख स्थान दिया गया है। हिंदी-दुःखांत नाटकों के ये प्रवर्तक माने जाते हैं। आपके नाटकों में पौराणिक युग और आज के युग का सुन्दर समन्वय हुआ है। 'तक्षशिला', 'राका', 'मानसी', 'विसर्जन', 'अमृत और विष', 'युगवाणी', 'युगदीप', 'यथार्थ और कल्पना' आदि काव्य; 'दाहर', 'मत्स्यगन्धा', 'सगर-विजय', 'अम्बा', 'कमला', 'अन्तहीन अन्त', 'विश्वामित्र', 'विक्रमादित्य', 'आदिम युग', 'मुक्ति पथ', 'शक्त विजय', 'राधा' (भाव-नाट्य) आदि नाटक; 'दस हज़ार', 'अभिनव एकांकी नाटक', 'स्त्री का हृदय', 'समस्या का अन्त', 'धूमशिखा' आदि एकांकी नाटकों के संग्रह; 'वह जो मैंने देखा' उपन्यास, और 'एकला चालो रे' और 'कालीदास' रूपक इनके ये ग्रंथ अत्यन्त लोकप्रिय हैं।

जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद'—'मिलिंदजी का जन्म सं० १९६० में मुरार (ग्वालियर) में हुआ। ये कवि के साथ राष्ट्रीय कार्यकर्ता भी हैं। राजनैतिक आंदोलनों में ये कृष्ण-मन्दिर के अतिथि भी रह चुके हैं। इनकी कविता में इनका सामाजिक और राजनैतिक जीवन प्रतिबिम्बित है। उसमें इनके क्रांतिकारी-अन्तर्तम की व्यक्त अभिव्यक्ति है। विशुद्ध कला की दृष्टि से कला के साथ कवि के जीवन का वास्तविक सामंजस्य होना आवश्यक है, यह सिद्धांत इनकी प्रत्येक रचना में पूरा उतरता है। इन्होंने किसी कविता में ऐसे विचार व्यक्त नहीं किये जिनका इनके जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध न हो। कवि की उच्च कल्पना और उग्र विचार-धारा को गम्भीर अनुभूति से अमूल्य सहायता मिली है। इसी के सहारे—"जो बने वाणी नये युग की, वह मेरी कला है" जैसी दृढ़ आत्म-विश्वासपूर्ण भावनाएँ व्यक्त कर पाये हैं। निस्संदेह कवि की वाणी युग की ही नहीं प्रत्युत युग-युग की वाणी है। इनकी वाणी में दलित, पीड़ित और शोषित समाज का मार्मिक चित्रण हुआ है। उत्पीड़न-जन्य-वेदना, अत्याचार से संघर्ष और विद्रोह तथा नव-निर्माण की भावनाएँ उसमें एक साथ व्यक्त हो रही हैं। प्रगतिवादी कवियों में मिलिन्द जी का अपना विशेष स्थान है। 'प्रताप-प्रतिज्ञा' इनका अत्यन्त लोकप्रिय नाटक है। 'जीवन-संगीत', 'नवयुग के गान' आदि इनकी अन्य रचनाएँ भी प्रसिद्ध हैं।

हरिकृष्ण 'प्रेमी'—इनका जन्म सं. १९६५ में गुना (ग्वालियर में) हुआ। जीवन का अधिकांश भाग इन्होंने लाहौर में साहित्य-सेवा के कार्यों में व्यतीत किया। ये एक सफल साहित्यिक नाटककार हैं। हिंदी के अधिकांश साहित्यिक नाटक रंगमंच पर अभिनय में पूरे नहीं उतरते, प्रेमी जी के नाटक इसके अपवाद हैं। इनका प्रत्येक नाटक बिना किसी परिवर्तन के अपने अविकल रूप में मंच पर उपस्थित किया जा सकता है। 'रक्षाबन्धन' का अनेक बार अभिनय तो हुआ ही, साथ ही 'चित्तौड़-विजय' के नाम से फ़िल्म भी सुन्दर बनी है।

इनकी रचनाओं में छायावाद, निराशावाद और प्रगतिवाद तीनों ही के समय-समय पर दर्शन हुए हैं। आरम्भिक रचनाओं में मार्मिक वेदना और दुःखद अभाव के चित्र रहते थे। आरम्भिक जीवन इनका कष्ट में बीता। आगे चलकर इनकी यह निराशा और वेदना ही प्रतिहिंसा विद्रोह के रूप में भड़क उठी। 'अग्निगान' में समाज की विषमता के प्रति भयंकर आग उगली गई है। दूसरी ओर कवि परिस्थिति से उत्पन्न दुःख और अभाव की करुण चीत्कार से उद्धार पाने के लिए अन्तर्मुख हो अज्ञात प्रियतम का साक्षात्कार प्राप्त करने के लिए "अनन्त के पथ" पर अग्रसर हो जाता है। उसकी आत्मा की एक बूँद उस महासिंधु में मिलकर अपना अस्तित्व मिटा देने के लिए विकल हो उठती है, तरणि के बन्धन और पतवार के भुलावे से उन्मुक्त होना चाहती है, किंतु यह स्थिति स्थायी नहीं रहती, वह फिर समाज की विषमता के प्रति विद्रोहात्मक सिंह-गर्जना करता हुआ विश्व में उथल-पुथल मचा देना चाहता है। अपनी गम्भीर अनुभूति, क्लिष्ट कल्पना और ऊँची उड़ान को सरल, स्वाभाविक तथा सहज भाषा में उतार कर जन-सामान्य के अन्तर्तम तक पहुँचाने की इस कवि में अद्भुत क्षमता है।

'आँखों में', 'जादूगरनी', 'अनन्त के पथ पर' आदि अनेक काव्य-संग्रह; 'रक्षा बन्धन', 'पाताल-विजय' 'शिवा-साधना', 'प्रतिशोध', 'स्वप्न-भंग', 'छाया', 'बन्धन' आदि नाटक इन के पर्याप्त लोकप्रिय हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी—इनका जन्म सं० १९४५ में मध्यप्रान्त के होशंगाबाद ज़िले में हुआ। इनके पूर्वज जयपुर राज्य के निवासी थे। माधव-राव सप्रे के सहयोग से इन्होंने 'कर्मवीर' साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् 'प्रताप' तथा 'प्रभा' के भी सम्पादक रहे। अब फिर 'कर्मवीर' का प्रकाशन और सम्पादन कर रहे हैं। ये क्रांतिकारी विचारों के अत्यन्त भावुक

भक्त वृद्ध योद्धा हैं। इनकी वाणी में अपूर्व उत्साह और कड़क भरी हुई है। देश-भक्ति और वीरता इनका सर्वस्व है। 'अखिल-भारतीय-हिंदी-साहित्य-सम्मेलन' के हरिद्वार-अधिवेशन के ये सभापति थे। परिमाण की दृष्टि से इनकी रचनाएँ अत्यन्त स्वल्प, संभवतः सब लेखकों से स्वल्प हैं, पर अपने उत्कृष्ट गुणों के कारण साहित्य में इनका विशेष स्थान है। इन्होंने जनता की मानसिक धारा और राष्ट्रीय चेतना को बड़े ओजस्वी शब्दों में व्यक्त किया और राष्ट्रीय, प्रेम और सौन्दर्य-सम्बन्धी तथा रहस्यवादात्मक तीनों प्रकार की कविताएँ लिखी हैं। 'पुष्प की अभिलाषा' शीर्षक इनकी देश-भक्ति सम्बन्धी कविता परम प्रसिद्ध है। चतुर्वेदीजी भाषा, शैली, विषय सभी दृष्टियों से मौलिक हैं। अभिव्यंजनात्मकता और लाक्षणिकता तो इनकी छायावादी और रहस्यवादी रचनाओं की प्राण हैं। कृष्णमन्दिर में रहकर इन्होंने अपने देश-प्रेम और कृष्ण-भक्ति का क्रियात्मक परिचय दिया है। जैसा कि पहले कहा गया है, चतुर्वेदी जी आज के युग की नवीन धारा के प्रथम कवि हैं। इनकी निम्न रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं—'हिमकिरीटनी', 'हिम-तरंगिनी' (कविता-संग्रह), 'कृष्णार्जुन-युद्ध' (नाटक), 'साहित्य-देवता' (गद्यकाव्य), 'वनवासी' (कहानी-संग्रह) हैं। इनकी 'हरियाली की घड़ियां' देखिए—

कौन सी हैं मस्त घड़ियाँ चाह की?
हृदय की पगडंडियों के राह की।
दाह की ऐसी कनक सुन्दर बने,
मौन की मनुहार की है आह की ॥
भिन्नता की भीत सहसा फांदकर,
नैन प्रायः जूझते लेखे गए।
बिन सुने, हँसते चले चलते हुए,
बिन बुलाए बूझते देखे गये ॥

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'—नवीनजी का जन्म उज्जैन के निकट 'मयाना' ग्राम में सं० १९५४ में हुआ। इनके पिताजी 'श्रीनाथद्वारा' में रहते थे। कुछ समय तक उनके साथ रहने के पश्चात् ये उज्जैन के माधव कॉलेज में पढ़ने लगे, फिर कानपुर आ गये। श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के संपर्क में आकर ये राष्ट्रीय कार्यों में प्रवृत्त हुए और कई बार कृष्ण मन्दिर भी पहुंचे। वहीं इन्होंने 'विस्मृता-उर्मिला'

नामक रचना लिखी। नवीनजी राष्ट्रीय कार्यकर्ता के साथ-साथ हिंदी के प्रबल हितैषी हैं। इन्होंने विधान-परिषद् में तथा अन्यत्र हिंदी के लिए खूब कार्य किया है।

इनकी कविताओं में क्रांतिकारी विचारधारा के साथ-साथ प्रेम और विरह-वेदना का भी प्रमुख स्थान है। इनकी कविताएँ पाठक के हृदय पर सीधा प्रभाव डालती हैं। 'विस्मृता उर्मिला' उर्मिला के जीवन को लेकर लिखा गया एक काव्य है। नवीनजी की अधिकांश रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी हुई हैं, जिनमें से कुछ 'कुंकुम' और 'अपलक' में संकलित हैं। 'विप्लव-गान' शीर्षक इनकी निम्न कविता प्रत्येक हिंदी प्रेमी का कंठहार बनी हुई है—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये,
एक हिलोर इधर से आये, एक हिलोर उधर से आये;
प्राणों के लाले पड़ जायँ, त्राहि-त्राहि रव नभ में छाये,
नाश और सत्यानाशों का धुआंधार जग में छा जाये।

इस प्रकार प्रकट होता है कि नवीन जी प्रगतिवादी क्रांतिधारा के कवि और कुशल गायक हैं।

सुभद्राकुमारी चौहान—इनका जन्म सं० १९६१ में प्रयाग में तथा देहान्त सं० २००४ में मोटर-दुर्घटना से हुआ। इनके पिता ठाकुर रामनाथसिंह थे। इनका विवाह खंडवा-निवासी ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान बी०ए०,एल०एल० बी० के साथ हुआ। यह दम्पती सभी राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेते रहे। दोनों ही कई बार कृष्ण-मन्दिर की यात्रा कर आये। पं० माखन-लाल चतुर्वेदी के 'कर्मवीर' के सम्पादन आदि कार्यों में भी ये पूरा सहयोग देते रहे। वास्तव में चतुर्वेदी जी के प्रोत्साहन से ही सुभद्राकुमारी की काव्यप्रतिभा विकसित हुई थी। सुभद्रा कुमारी की कविताएँ अत्यन्त सरल और सात्विक हैं, उनमें न भाषा की चटक-मटक है और न भावों की जटिलता। एक साधारण हिंदी पाठक भी उनको सुनते ही तत्काल प्रभावित हो जाता है। प्रम, देश-भक्ति और वात्सल्य ये तीन उनकी कविता के मुख्य विषय हैं। 'झांसी की रानी', 'वीरों का कैसा हो वसन्त' आदि उनकी राष्ट्रीय रचनाएँ अत्यन्त लोकप्रिय हैं। मातृत्व की तो वे मूर्ति ही हैं—

मैं बचपन को बुला रही थी, बोल उठी बिटिया मेरी,
नन्दनवन-सी फूल उठी यह, छोटी-सी कुटिया मेरी।

आरम्भिक शिक्षा मराठी भाषा के स्कूल म तथा हिंदी की शिक्षा घर ही में अपनी माताजी के द्वारा प्राप्त हुई। विभिन्न विश्व-विद्यालयों में पढ़ने के पश्चात् आपने प्रयाग विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में हिंदी एम० ए० पास कर वहीं अध्यापन-कार्य आरम्भ किया। आप मध्यप्रान्त शिक्षा विभाग के डिप्टी-डाइरेक्टर भी रहे हैं। नागपुर विश्वविद्यालय से इन्हें पी०-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई।

ये हिंदी की नवीन काव्य-धारा के प्रमुख कवियों में से हैं। इनकी आरम्भिक रचनाएँ इतिवृत्तात्मक और परवर्ती रचनाएँ अनुभूति प्रधान हैं। ये कबीर और पाश्चात्य रहस्यवाद से पर्याप्त प्रभावित हैं। इनके गीत भावपूर्ण तथा संक्षिप्त और संगीत की स्वर-लहरी से समन्वित हैं। इनके वर्णनात्मक काव्यों में 'निशीथ' का स्थान सर्वोत्तम है। इस खंड-काव्यमें निराशा, प्रेम, करुणा, वेदना आदि वृत्तियों का समन्वयात्मक सुन्द चित्र अंकित हुआ है। संस्कृत की कोमल-कान्त-पदावली का प्रयोग करते हुए भी ये अपनी रचनाओं में अस्पष्टता एवं दुरूहता नहीं आने देते। कवि के साथ ही ये श्रेष्ठ नाटचकार भी हैं। लोकप्रियता तो इन्हें नाटकों से ही अधिक प्राप्त हुई हैं। इनके एकांकी नाटकों का जनता ने अच्छा स्वागत किया है। समालोचना-क्षेत्र में भी इनका अपना एक विशेष स्थान है। 'सन्त कबीर' और 'कबीर का रहस्यवाद' में इन्होंने अपने गम्भीर अध्ययन और व्यापक पांडित्य से पूर्ण समालोचना-शक्ति का परिचय दिया है। 'साहित्य-समालोचना' में नाटक, कहानी, उपन्यास आदि साहित्य के विविध अंगों की समीक्षा की गई है। 'हिंदी-साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास' में भक्ति-काल तक के साहित्य का समालोचनात्मक व्यापक विवेचन किया गया है। 'चित्ररेखा' पर इन्हें २०००) का 'देवपुरस्कार' और 'चन्द्रकिरण' पर ५००) का चक्रधर पुरस्कार प्राप्त हो चुका है। इनकी निम्न रचनाएँ पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं——

'कुल-ललना', 'चितवन', 'अंजलि', 'रूपराशि', 'चित्ररेखा', 'चन्द्र-किरण', 'वीर हम्मीर', 'चित्तौड़ की चिता', 'अभिशाप', 'निशीथ' और संकेत आदि काव्य; 'पृथ्वीराजकी आंखें', 'रेशमी टाई', 'शिवाजी' आदि नाटक; 'साहित्य-समालोचना', 'कबीर का रहस्यवाद', 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', 'हिंदी साहित्य का अनुशीलन' आदि समालोचना; 'हिमहास', (गद्य-गीत), 'सन्त कबीर', 'जौहर', 'कबीर पदावली', 'हिंदी-गीति-काव्य' आदि संग्रह और 'विचार-दर्शन' नामक विचार-संग्रह।

वर्माजी क्षणिक सुख में भी दुःख छिपा हुआ देखते हैं—

धूल हाय बनने ही को, खिलता है फूल अनूप !
वह विकास है मुरझा जाने ही का पहला रूप।

कहीं-कहीं आप की कविता में तीव्र निराशा भी झलक उठती है—

मेरे दुःख में प्रकृति न देती
पल भर मेरा साथ।
उठे व्योम में रह जाते हैं—
मेरे भिक्षुक हाथ।

वर्मा जी की कल्पना विशद और कुशाग्र है। वास्तव में आपको कल्पना-प्रिय कवि कहें तो अनुचित न होगा। कल्पना की कूंची से आप कविता में एक नवीन सौंदर्य और सजीवता उत्पन्न कर देते हैं। देखिए—

इस सोते संसार बीच, सजकर जगकर रजनी बाले।
कहां बेचने ले जाती हो, ये गजरे तारों वाले !
मोल करेगा कौन सो रही हैं उत्सुक आंखें सारी;
मत कुम्हलाने दो सूनेपन में अपनी निधियां सारी !

भगवतीचरण वर्मा—इनका जन्म सं० १९६० में हुआ। आपकी कविताओं में भी दुःख और निराशा के दर्शन होते हैं; किंतु आप दुःख में भी सुख और शान्ति की रेखा देखते हैं। जीवन की निराशाओं और उपेक्षाओं से ऊब कर तो भागना आपने सीखा ही नहीं है। आप न तो थक जाना जानते हैं और न छक जाना—

लेकर अनूप तृष्णा को,
आया हूं मैं दीवाना।
सीखा ही नहीं यहां है,
थक जाना या छक जाना ॥

जीवन की परिस्थितियों ने अब वर्माजी को प्रगतिवादी बना दिया है। आप के 'मानव' नामक काव्य-संग्रह में साम्यवादी विचार पाये जाते हैं। आपने

अपनी 'भैंसा-गाड़ी' कविता में समाज का वैषम्य बड़े तीखे शब्दों में दर्शाया है—

जिसमें मानवता की दानवता फैलाए है, निज राजपाट,
साहूकारों के परदे में है, जहां चोर और गिरह-काट ।
हैं अभिशापों से लदा जहां पशुता का कलुषित ठाठ-बाट ।
उसमें चांदी के टुकड़ों के बदले में लुटता है अनाज,
उन चांदी के ही टुकड़ों से ही चलता है सब राज-काज ।

हरिवंशराय 'बच्चन'—आपका जन्म सं० १९६४ में हुआ है । आप प्रयाग विश्वविद्यालय के एम० ए० हैं। बच्चन जी उमरखैयाम की रूबाइयों के आधार पर हालावाद की धारा लेकर हिंदी में प्रविष्ट हुए । आपकी 'मधु-शाला', 'मधुकलश','मधुबाला' आदि पुस्तकों में जीवन सुखी बनाने की प्रवृत्ति और संसार के दुःख-सुख भूलकर विस्मृत हो जाने की भावनाएँ पाई जाती हैं। बच्चन जी जीवन की वास्तविकता और मधुरता के बहुत निकट हैं और जीवन-रस को वह पी डालना चाहते हैं।

किंतु उनके जीवन की अतृप्ति न बुझी और उन्हें निराशा और वेदना की ओर आना पड़ा । 'एकान्त संगीत' और 'निशा-निमंत्रण' आदि में भी कवि निराशावादी के रूप में आया है—

गान हो जब गूंजने को,
विश्व में क्रन्दन करूं मैं।
हो चमकने को सुरभि जब,
विश्व में आहें भरूं मैं ।।

इधर बच्चनजी फिर जीवन की ओर अग्रसर हो रहे हैं। उनमें आशा का संचार हुआ है और वह नवजीवन का निर्माण करना चाहते हैं—

वर्ष नव
हर्ष नव
जीवन उत्कर्ष नव

नव उमंग
नव तरंग
जीवन का नव प्रसंग
नवल चाह
नवल राह
जीवन का नव प्रवाह
गीत नवल
प्रीत नवल
जीवन की रीति नवल
जीवन की जीत नवल

आपकी नवीन कविताएँ', 'सतरंगिनी', 'हलाहल', 'मिलन-यामिनी' और 'प्रणय पत्रिका' आदि में संग्रहीत हैं।

श्री जनार्दन झा 'द्विज'—ये एक उत्कृष्ट कवि, कहानीकार और सुलेखक हैं। इनकी रचनाओं में प्रगतिवाद, यथार्थवाद और आदर्शवाद का समन्वय है। 'किसलय,' 'मृदुदल', 'मालिका', 'मधुमयी', 'अनुभूति', 'अजध्वनि', 'प्रेमचन्द की उपन्यासकला', आदि इनकी रचनाएँ हैं।

श्रीनाथसिंह—ये 'सरस्वती' और 'हल' का वर्षों तक सम्पादन करते रहे हैं। श्रीनाथसिंह जी एक श्रेष्ठ उपन्यासकार, समालोचक, सुकवि और सम्पादक आदि सभी कुछ हैं। प्रत्येक क्षेत्र में आपने अपनी मौलिक सूझ-बूझ व प्रतिभा का परिचय दिया है। 'प्रजामण्डल', 'जागरण', 'उलझन', 'एकाकिनी' 'स्त्री-दर्पण, एक और अनेक आदि इनकी रचनाएँ हैं।

आरसीप्रसादसिंह—इनका जन्म सं० १९६८ में बिहार के दरभंगा ज़िले में हुआ। ये सुप्रसिद्ध कवि और कहानीकार हैं। इनकी प्रतिभा बहुमुखी है। 'संचयिता', 'कलेजे के टुकड़े' 'आरसी', 'कलापी', 'नई दिशा', 'आजकल' 'पांचजन्य', 'जीवन और यौवन' और 'चन्दामामा' नामक कविता-संग्रहों में अनेक भावों की विविध व्यंजनाओं से युक्त विभिन्न शैलियों की रचनाएँ सुन्दर बन पड़ी हैं। इनकी श्रृंगारिक रचनाएँ भी उत्कृष्ट हैं।

इनके अतिरिक्त 'पंच-पल्लव', 'खोटा सिक्का' कालरात्रि, एक प्याला चाय, आंधी के पत्ते आदि अनेक कविताएँ एवं कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनके खंड-काव्य भी सुन्दर बन पड़े हैं। 'ताण्डव' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियां देखिए—

अर्द्ध-सन्ध्या के धूमाच्छन्न, व्योम-प्रान्तर में आत्म-विभोर;
रक्त-रंजित, तम-व्यंजित, तोम घनों के अन्तराल में घोर;
कौन तुम उतर आज चुपचाप, नृत्य करते हो बन अभिशाप?
काल का कोप, तरणि का ताप !'

'खिसकती धरा शून्य की ओर; असह हो रहा पदों का भार!
देख शूली का विप्लव-नृत्य कराहे आज भीरु संसार!
जरा-तंद्रिल वसुधा को बोर बालियों की झंकार कठोर;
मिला देती भू-नभ के छोर !

इनकी कोमलकान्त पदावली माधुर्यपूर्ण होती है। आपकी रचनाओं में जीवन का सौंदर्य और उल्लास मुखरित होता है। प्रम की पिपासा, जीवन की बाधाओं को नहीं देखती, सुख-दुःख, आशा-निराशा, वियोग-संयोग सभी को पार करती चलती है।

पत्थर हैं ऊंचे टीले हैं,
प्रेमी बढ़ते जाते हैं !
पर्वत हो या नदी सामने,
धुन में चढ़ते जाते हैं !

और फिर प्रेमी को मृत्यु अथवा प्रलय का डर ही क्या? इनकी आशंका प्रम के मार्ग में बाधा नहीं डाल सकती।

जाना है जब निश्चय जग से,
फल क्या रोकर जाने से।
रोना पाप यहां क्या होता,
अश्रु नीर बरसाने से ?

हंसते-हंसते कभी मिटूंगा,
प्रिये प्रणय का गान करो!
आओ आज भुला दो दुख को,
यहीं स्वर्ग निर्माण करो।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'—इनका जन्म सं० १९६७ में जालंधर में हुआ। 'अश्क' जी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, एकाङ्की, रेखाचित्र, संस्मरण आदि साहित्य की सभी विधाओं पर आपकी लेखनी सफलता-पूर्वक चली है। इनकी पत्नी श्रीमती कौशल्या 'अश्क' भी अच्छी लेखिका हैं। श्री उपेन्द्रनाथ अश्क की २५ के लगभग पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। जिनमें से निम्नलिखित पर्याप्त लोकप्रिय हो चुकी हैं। पिंजड़ा, दो धारा, काले साहब आदि कहानी संग्रह। जय पराजय, स्वर्ग की झलक, कैद और उड़ान आदि नाटक। आदिमार्ग में इनके चार नाटकों का संग्रह किया गया है। सितारों के खेल और गिरती दीवारें इनके सुन्दर उपन्यास हैं। चांदनी रात और अजगर 'अश्क' का नया काव्य है। 'गर्म राख' नामक नवीन उपन्यास भी अच्छा बन पड़ा है। जादूगरनी आदि इनकी कविताओं के संग्रह भी सुन्दर बन पड़े हैं। 'अश्क' जी की कविताएँ प्रधानतया भाववादी और प्रगतिवादी इन दो रूपों में मिलती हैं। भावना-प्रधान कविताओं में निराशा की मात्रा अधिक है। प्रगतिवादी कविताओं में 'दीप जलेगा' शीर्षक कविता खूब प्रसिद्ध हुई। इस में मानवता के अन्तिम विजय के चिह्न हैं। 'अश्क' की शैली परिष्कृत और भाषा प्रवाहयुक्त है। इनकी एक कविता देखिए—

किस स्नेह-परस ने छेड़ दिया
निष्प्राण पड़ी सी वीणा को
चिर-श्रांत, थकित, चिर-मौन और,
चिर-एकाकिनी, चिर-क्षीणा को!
जिस के ढीले से मौन तार झंकृत हो गाना भूल गये,
मन को, मस्तक को, नस-नस को, पल में सिहराना भूल गये।
जिसका मन, शिथिल पड़े जिसकी वाणी पर थे चुप के ताले।
जिस के तन पर अगनित जाले, दुख की मकड़ी ने बुन डाले।

किस स्नेह-परस ने छेड़ दिया? सब तार झने, झंकार उठी !
ज्यों अंधकार में रजनी के, हो ज्योत्स्ना की दीवार उठी ?
किस स्नेह-परस ने छेड़ दिया, गानों के सागर फूट पड़े ;
संगीत भरे नभ से तारे, तानों के अगनित टूट पड़े !

सोहनलाल द्विवेदी—आप राष्ट्रीय कवि हैं। आपने गांधीजी के सम्बन्ध में भी कुछ कविताएँ लिखी हैं। यह सौभाग्य का विषय है कि हिंदी-जगत् ने आपको राष्ट्रीय कवि की उपाधि दी है। भैरवी और वासवदत्ता, कुणाल, विषपान, गाँधी अभिनन्दन ग्रंथ (सम्पादित), युगाधार, वासन्ती, चित्रा, सेवाग्राम, पूजागीत, प्रभाती आदि आपकी रचनाएँ हैं। आपकी कविता सीधी-सादी होती है। नमूना देखिए—

न हाथ एक शस्त्र हो,
न हाथ एक अस्त्र हो।
न अन्न वीर वस्त्र हो,
हटो नहीं, हटो नहीं !

श्री अज्ञेय—आपका पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' है। अज्ञेय की काव्य-रचना का आरम्भ छायावाद की परिणतावस्था में हुआ। परिणामतः उसमें तत्कालीन प्रवृत्तियों का अन्तर्योग होना आवश्यक है। छायावादी कवियों और विचारकों के समान ही आप भी अध्यात्मोन्मुख हैं। जिस प्रकार छायावादी कवियों में एक प्रकार की रहस्यशीलता और रहस्यप्रियता पाई जाती है, उसी प्रकार की अज्ञेय में पाई जाती है। अन्तर केवल इतना है कि छायावादी अपने आपको किसी शक्ति-विशेष का आश्रित समझता है और अज्ञेय सतर्क क्षणों में ऐसा नहीं समझते। सम्भवतः भौतिकवादी होने के कारण अज्ञेय की ऐसी अवस्था है। अज्ञेय की कविताओं में विरोधात्मक एकोन्मुखता पाई जाती है। अज्ञेय की यह एकोन्मुखता समाज-निष्कर्ष और मनःसत्य पर आधारित है। वे भावविमुग्ध होकर समर्पण नहीं करते, वरन् तटस्थ होकर तत्त्वान्वेषण करते हैं। फलतः उन्हें हम बुद्धिवादी कह सकते हैं।

आजीवन चलता रहा प्रेम के साथ-साथ
निष्ठापूर्वक लगा रहा देह क पीछे।

या श्रेय भावना से ऊपर रहने का इच्छुक
ज्ञापित हो, है अज्ञेय धरा के नीचे ।।

जहां उनकी कविता में बुद्धितत्त्व अधिक नहीं होता, वहां उनकी पदावली सरस और रमणीय हो उठती है—

मेरी थकी हुई आँखों को,
किसी ओर तो ज्योति दिखा दो।
कुज्झाटिका के किसी रंध्र से
ही लघु रूप किरण चमका दो।
अनचीती ही रहे बांसुरी
सांस फूंक दो चाहे उन्मन ।
मेरे सूखे प्राण-दीप में ।
एक बूंद तो रस बरसा दो !

'भग्नदूत', 'चिन्ता', 'इत्यलम्' और 'हरी घास पर क्षण भर' आपके प्रमुख काव्य-संग्रह हैं ।

हंसकुमार तिवारी—इनकी कविताओं में प्रेम और वियोग दोनों के दर्शन होते हैं। । इनका स्वदेश-प्रेम भी उच्चकोटि का है। कभी-कभी जग की उपेक्षा से ये निराश भी हो जाते हैं, किंतु कर्त्तव्य फिर आशा बंधा देता है। आपकी भाषा सरल और सरस होती है और कविता हृदयग्राही । 'अनागत', 'रिमझिम' और 'संचयन' नामक काव्य-संग्रह प्रकाशित हैं ।

चांदनी चांद से दूर है,
चांद से दूर है चांदनी ।
चांद फूला कमल-सा गगन में,
चांदनी लुट रही है भुवन में,
फूल से गंध बाहर बिलखती,
दूर है मेघ से दामिनी ।

बन्ध में बन्ध जीवन पड़ा है,
भाव पर खोल ऊपर उड़ा है,
प्राण से गगन रोता विलग हो,
दूर है वीणा से रागिनी !

जानकीवल्लभ शास्त्री—इन की कविताएँ ऊँची श्रेणी की होती हैं। आपकी भाषा संस्कृत-गर्भित होती हुई भी क्लिष्ट नहीं होती। आपकी कविताओं में कवित्त्व भी होता है और स्वाभाविकता भी। आपकी कविता मीठे स्वरों में क्रांति का राग अलापती है। इनकी कविताओं का 'रूप और अरूप' नामक संग्रह छपा है। एक कविता का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

विपंचि—वेणु-नाद से प्रणीत गीत ये रहे !
दिगन्त-दन्ति कर्ण में न वर्ण ये चुभे कभी,
निरभ्र अभ्र में भ्रमे प्रभा प्रभाव से सभी,
रुके नहीं, भ्रुवे नहीं, जभी अभीत ये रहे !
निशात शात कुम्भ से कुम्भ से किरण लहर रही!
सुधा-सुधांशु की अशोक-लोक से छहर रही!
अनादि औ अनन्त के वसन्त शीत ये रहे !

कमल साहित्यालंकार—इनकी रचनाओं में सौन्दर्यानुभूति के साथ-साथ तीव्र-संवेदना और राष्ट्रीय-भावना की झलक है। भारत-विभाजन से पूर्व कमलजी क्वेटा (बलूचिस्तान) में हिन्दी की सेवा करते रहे, ऑल इंडिया रेडियो दिल्ली में अनेकों वर्ष टिकने के बाद आजकल विधान-भवन, लखनऊ में डिस्ट्रिक्ट इन्फ़ार्मेशन ऑफ़िसर के पद पर आसीन हैं। इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं—'कलाकार' उपन्यास, 'सुहाग-कामना' निबन्ध और काव्य-संग्रह, 'क्रान्ति-दीप' और 'संगिनी' काव्य-संग्रह। इनकी एक रचना का अंश देखिए—

रत्न-प्रसू जय, वीर भोग्य जय
वसुन्धरा हे चिरकल्याणी

जल-थल-वन-गिरि-नभ में गूंजे,
कोटि-कोटि कंठों की वाणी ।
चिर सशक्त, चिर मंगलकर हो;
प्रजातन्त्र का नव-विधान,
जयति-जयति-जय भारत महान ।

श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'—हिंदी के एक भावुक और प्रतिभाशाली कवि हैं। 'मल्लिका' आपके आरम्भिक गीतों का संग्रह है। 'मल्लिका' के गीतों में प्रेम की पीड़ा, कसक, वेदना सभी कुछ है। इसमें कवि की भाव-सत्ता एक साधना-प्रधान व्यक्तित्व की सूचक है। 'मल्लिका' का कवि निराशामय परिस्थिति में भी स्वात्मदर्शी बना रहता है। 'कारा' इनका एक खंड-काव्य है, जिसमें 'बन्दी' के गान' भी इनका कविताओं का संग्रह है।

है घोर निराशा अमा खड़ी, आंखों से बरबस लगी झड़ी।
जीवन का लघु दीपक सहसा, सहता है जग का एक प्रहार।
मेरे मानस के मधुर प्यार!

बालमुकुन्द मिश्र—ये प्यार और प्रगति के सुकुमार-सौंदर्यवादी कवि हैं। सर्वोदय की भावना को प्रश्रय देना भी इन्हें रुचिकर है। काव्य और संगीत का सम्मिश्रण इनकी रचनाओं की विशेषता है। एक गीत देखिए—

अधरों पै मुस्कान बसा लो!
पीड़ा हल्की हो जायेगी, विकल वेदना खो जायेगी,
मानो भी अपने अन्तर् में—एक नया संसार बसा लो!
मेरा जीवन सतत रंगीला, स्वस्थ साधनापूर्ण छबीला,
मेरी बगिया के फूलों से—अपना सुन्दर रूप सजा लो!
नहीं वेदना मेरी सहचर, निर्मल जीवन राह उजागर,
आओ, संग चलो तुम मेरे—अपनी जीवन-ज्योति जगा लो!

गांगेय नरोत्तम शास्त्री—आपका जन्म सं० १९५० में हुआ, आप प्राचीन परिपाटी के भावुक कलाकार हैं, गांगेय दोहावली, गीतगुच्छक, मालिनी मन्दिर, फूलों की दुनियां आदि इनकी बहुत-सी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकीं हैं।

भगवद्दत्त शिशु—ये श्री वियोगीहरि जी के ज्येष्ठ दत्तक सुपुत्र हैं। शान्त और निर्वेद-रस इनकी रचनाओं में बिखरा पड़ा है। 'ओजस्विनी', 'रस-गागरा' आदि संग्रह प्रकाश में आये हैं।

सत्यदेव शर्मा—इनका जन्म १९६९ में हुआ। प्रारंभ में अंग्रेज़ी कविताओं का हिन्दी में अनुवाद किया। भारत-भारती से प्रभावित होकर छंद लिखे और फिर 'खंडहर' कविता १९४५ में लाहौर रेडियो से पढ़ी। आजकल दिल्ली रेडियो से सुन्दर गीत पढ़ते हैं।

गोपालप्रसाद व्यास—ये एक अच्छे हास्य-व्यंग्य लेखक ह। इनकी चलते विषयों पर लिखी गई रचनाएँ जनता को बहुत ही भाती हैं। सीधी-सादी सरल भाषा में स्वाभाविक भाव प्रकट करते हैं। नया रोज़गार, उनका पाकिस्तान, अजी सुनो आदि उनकी हास्य रस की सुन्दर रचनाएँ हैं।

श्री चिरंजीत—अमृतसर के निवासी हैं और आजकल ऑल इंडिया रेडियो दिल्ली में कार्य करते हैं। चिरंजीत के गीतों का संग्रह 'चिलमन' नाम से प्रकाश में आया है। ये अपने गीतों में एक नवीन शैली का प्रयोग करते हैं।

ईशकुमार—इनकी रचनाओं में प्राकृतिक यौवन की सुघड़ मुस्कान लजाती हुई उतरती है।

नगीनचन्द्र 'प्रदीप'—ये एक अच्छे भावुक कलाकार हैं। विविध गीतों के अतिरिक्त एकांकी नाटक भी इनके सुन्दर बन पड़े हैं। 'जीवन वीणा' काव्य-संग्रह और 'कामना' तथा 'मांडवी' नामक एकांकी इनकी कलापूर्ण रचनाएँ हैं।

श्री शेष—इनकी कविताएँ 'उन्मीलिका' में संगृहीत हैं, जिनमें गीत, ग़ज़ल रूबाइयां आदि सभी कुछ हैं। 'शेष' जी की कविताएँ शृंगार और प्रेम-सम्बन्धी होती हैं। इनकी विशेषता यही है कि इन्होंने उर्दू बहर में हिंदी की पद्य-रचना को प्रश्रय दिया है। इधर कुछ नये ढंग की रचनाएँ लिखी हैं।

नवोदित कवयित्रियाँ

काव्य-क्षेत्र में पुरुषों की भाँति स्त्रियों ने भी पर्याप्त भाग लिया है, स्वर्गीय श्री सुभद्राकुमारी चौहान, श्री होमवती, रामेश्वरी देवी 'चकोरी' और महादेवी वर्मा आदि के अतिरिक्त इस युग की निम्न श्रेष्ठ कवयित्रियाँ भी प्रकाश में आई हैं।

विद्यावती 'कोकिल'—आपका जन्म वि० सं० १९७१ में हुआ। आप एक सफल कवयित्री, सम्पादिका व अध्यापिका हैं। 'अंकुरिता' और 'मां' नामक इनकी रचनाएँ सुन्दर हैं।

तारा पांडे—आप मृदुल कवयित्री हैं, जिनके भाव अति कोमल होते हैं। उनके गीतों में जीवन का हास्य, रुदन, सुख और दुःख—मन की भावनाओं का उभार अच्छी प्रकार से उभरा है। 'शुक-पिक' और 'अंतरंगिणी' आपके काव्य-संग्रह हैं। एक रचना देखिए—

मेरी तो अति करुण कहानी
जीवन में जब तुमको पाया
स्वप्नों का संसार सजाया
मैं समझी बन गई तुम्हारे उर-मन्दिर की रानी
कण - कण में सूनापन पाया
मुझको कोई समझ न पाया
चुपके व्यथित हृदय को करने देती हूँ मनमानी

दिनेशनन्दिनी डालमिया—इनका जन्म सं० १९७५ में हुआ। ये सेठ रामकृष्ण डालमिया की जीवन-संगिनी हैं। आप एक श्रेष्ठ गद्य-गीतकार, और उत्कृष्ट कवयित्री हैं। 'शबनम', 'मौक्तिकमाल', 'शारदीय', 'उन्मन', 'स्पन्दन', 'सारंग' और 'अज्ञात शिशु के प्रति' इनकी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। एक रचना का अंश देखिए—

सुख स्वप्नों से डरती हूँ,
दुख की छाया से अभिभूत।

मैं अपने ही पथ जाऊंगी,
देव पधारें या यमदूत।

आत्मसात् मानव से करके,
भी पाषाणों का अभिषेक।

सुधा गरल के बीच इसी से,
खींची मैंने रक्तिम रेख।

श्री निर्मला माथुर—उत्तर भारत की प्रसिद्ध कवयित्री, लेखिका, चित्रकार और मूर्ति-निर्मात्री हैं। 'स्वतंत्र' झांसी के 'महिला-संसार' की सम्पादिका रह चुकी हैं। 'अष्टदल' 'पद-चिह्न' 'चुनी हुई कलियां' और साहित्य-सुमन' में आपकी कृतियाँ संग्रहीत हुईं हैं। 'नीरजा' और 'सिंदूर'कहानियों पर प्रसाद-परिषद् काशी की ओर से आपको पुरस्कार मिला। आजकल अपनी रचनाओं में आप नये रुझानों को विकसित कर साहित्य में नई बात कहने की चेष्टा में संलग्न हैं। एक कविता देखिए—

आओ, मन्दिर में चलें;
लो, सज चुकी है आरती!

स्वर्गश्री भू को मिली है,
मुक्ति की बेला खिली है,

अब न सोओ, नयन खोलो, गा रही है भारती
आओ, मन्दिर में चलें, लो; सज चुकी है आरती

ज्योति मानस की जगा कर,
ध्यान चरणों में लगा कर,

बढ़ चलें, करने समर्पण, शंख ध्वनि गुंजारती
आओ, मन्दिर में चलें, लो, सज चुकी है आरती

गीत का क्रम चल रहा है,
समय पल पल ढल रहा है,
काल-क्रम की श्रृंखला में बद्ध सृष्टि निहारती
आओ, मन्दिर में चलें, लो, सज चुकी है आरती

शान्ति सिहल—इनका जन्म सं० १९७८ में हुआ, ये भी नई पीढ़ी की भावुक कवयित्री हैं। इनके 'बिखरे सुमन' और 'उर्मि माला' कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत हैं—

सैंकड़ों पाषाण में एक तू पाषाण ही था।
मैं न होती भावना तो तू कहाँ भगवान होता॥
आदि युग के विवशता के गीत क्यों मानव सुनाता,
एक इस चिर सत्य को वह क्यों समझ अबतक न पाता,
देवता का भी मनुज के करों से निर्माण होता,
मैं न होती भावना तो तू कहाँ भगवान होता।

श्रीमती शकुन्तला माथुर—आपका जन्म सं० १९७८ में हुआ। आपने हिन्दी में 'नये-प्रयोग' किये हैं। समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ प्रकाशित होती रहती हैं; और अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'दूसरा सप्तक' संग्रह में आपकी कुछ कविताएँ संग्रहीत हुई हैं। आपके पति श्री गिरिजाकुमार माथुर भी हिन्दी के प्रसिद्ध कलाकार हैं। आपकी एक प्रयोगवादी रचना देखिए—

हौले - हौले की पद - चाप
दबी पवन के साथ सुनायी पड़ती
तन्द्रिल अलकों का अटकाव
सुलझना फिर-फिर साफ़ सुनाई पड़ता
चुप सोयी इस नयी चमेली के नीचे
नूपुर किस के मन्द लजीले बज उठते हैं
इतनी रात गये।

गहरी खुशबू केसर की
बढ़ी हुई मेंहदी के नीचे फैल रही है
पीला पड़कर सूरज नीचे उतर रहा है
या सहमा-सा चाँद उतर कर
उलझ गया है
फूलों के झुरमुट में ।

शान्ति एम० ए०—अल्प समय में ही इन्होंने स्त्री-कलाकारों में अपना स्थान बना लिया है । 'रेखा' और 'पंच प्रदीप' नाम से आपके संग्रह छपे हैं । कुछ पंक्तियाँ देखिए—

मेरे दुर्बल मन को यदि तुम प्यार न लोगे प्यार न दोगे,
तो सागर सा सूना व्यापक अन्तराल प्यासा भटकेगा ।
मेघदूत का यक्ष पतन के गिरि पर आकर के भटकेगा ।
मुक्त दिशाएँ अपनी बाहें फैलाकर उसको पकडेंगी ।
उसे ग्रास कर लेने के हित भू का स्वर्णिम हृदय फटेगा ।
आकर्षण नीचे खींचेगा वायु उसे ऊपर फेंकेगी ।
तुम अपने पावन चरणों का यदि उसे आधार न दोगे ।

सुमित्राकुमारी सिन्हा—इनका जन्म सं० १९७२ में हुआ । अचल सुहाग, वर्षगांठ, आशा पर्व विहाग और पन्थिनी आपकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं । इनकी कुछ पंक्तियाँ ये हैं :—

स्पर्श अन्तिम श्वास का दे भोर का जीवन जगाने ।
दीप मेरा जल रहा है ज्योति का दिनमान लाने ।
जागरण के दूत ने गति का चिरंतन रथ संभाला ।
पंथ उज्ज्वल हो तुम्हारा मैं जलाती दीपमाला ।

इन प्रसिद्ध कवयित्रियों के अतिरिक्त रामेश्वरी शर्मा, चन्द्रमुखी ओझा, कुसुम कुमारी सिन्हा, उर्मिलावार्ष्णेय, शैल रस्तोगी, शान्ता राठी और सावित्री रस्तोगी आदि कवयित्रियाँ भी साहित्य में अपना स्थान निर्माण कर रही हैं ।

कुछ नवीन महाकाव्यकार

प्रचार-युग और सुकुमार-युग के अनेक कवियों ने सुन्दर महाकाव्यों की रचना की, जिनका उल्लेख यथास्थान हो चुका है अब यहाँ कुछ नवीन महा-काव्यों का विवरण दिया जाता है।

पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र—आपका जन्म सं० १९५८ में हुआ। 'कृष्णायन' के द्वारा मिश्रजी ने भगवान् कृष्ण के पुनीत प्राचीन चरित्र को हमारे सामने प्रस्तुत किया है। इसकी कथा में लेखक ने अपने चरितनायक के जीवन का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करके कुछ उचित परिवर्तन किये हैं, जिन से आधुनिक युग के अनुकूल बुद्धिवाद की संतुष्टि हो जाती है। जैसे प्राचीन परम्परा के अनुसार जयद्रथ का वध छल के द्वारा कराया जाता है, किंतु कृष्णायन के लेखक ने छल के इस प्रसंग को अनुचित समझ कर योद्धाओं के रण-कौशल की अपूर्व अवतारणा द्वारा जयद्रथ-वध भी सम्पन्न कराया है और अर्जुन के गौरव की रक्षा भी की है। काव्य के अन्य स्थलों में भी इसी प्रकार के परिवर्तन किये गये हैं।

कृष्णायन में हमें एक महापुरुष के उत्कृष्टतम चरित्र के साथ-साथ काव्य के सुन्दर स्थलों की झांकी भी मिलती है। मिश्रजी की शैली भी सहानुभूति जाग्रत करने वाली है। अनेक रस और भाव पारस्परिक सामंजस्य के साथ हमारे हृदय में भिन्न-भिन्न प्रकार के स्पन्दन उत्पन्न करके प्रकट होते और विलीन हो जाते हैं। युद्ध के भयानक दृश्यों के पश्चात् कवि ने आकर्षक प्राकृतिक दृश्य अथवा कुछ करुण एवं शांत भाव के दृश्य उपस्थित किये हैं, जिस से हमारे क्षुब्ध हृदय को विश्राम प्राप्त होता है।

कृष्णायन के कवि पर राष्ट्रीयता की भी छाप है। कई स्थलों पर उन्होंने स्वतन्त्रता की महिमा का सुन्दर वर्णन किया है—

प्रिय स्वतंत्रता क्लेश जेहि, तेहि पै वारहु प्राण।
प्रिय दासता विभूति जेहि, सुतहु सो गरल समान॥

इसी प्रकार मातृ-भूमि का स्वरूप कितनी भावनापूर्ण पंक्तियों में कवि उपस्थित करता है—

मुकुट मनोहर हिम-गिरि शोभत ।
आनन सप्त-सिन्धु मन मोहत ॥
मध्य देश जनु हृदय-विशाला ।
कटि तट मनहुँ विंध्य गिरि माला ।

कृष्णायन के लिए कवि के सम्मुख रामचरितमानस का आदर्श था । मानस के समान ही 'कृष्णायन' में सात काण्ड हैं; दोहा, चौपाई, और सोरठा छन्दों का प्रयोग है; ब्रज-अवधी-मिश्रित भाषा है, लम्बे-लम्बे रूपक हैं; वनस्थली और पार्वत्य प्रदेश के मनोहारी चित्र हैं और कथानक के क्रम-विकास में भक्ति-भाव का अपूर्व केन्द्र-बिन्दु है ।

बलदेवप्रसाद मिश्र—आपका जन्म संवत् १९५५ म हुआ । शंकर दिग्विजय, तुलसी दर्शन, जीवन संगीत आदि आपकी अनेक रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं । इनके 'साकेत-संत' में भरत और माण्डवी के जीवन से सम्बन्धित कथा है । 'साकेत-संत' का निर्माण एक विशुद्ध ऐतिहासिक महाकाव्य के ढंग पर हुआ है, जिसमें लेखक ने अपनी कलाचातुरी के द्वारा पूरी सामयिकता ला दी है । यद्यपि इस महाकाव्य का कथानक रामायणकालीन है, तथापि इसमें विवेचित भ्रातृ-प्रेम, राजधर्म एवं आदर्श पर मर मिटने की अटल साध आदि विषय आधुनिक एवं सामयिक हो गये हैं, जिससे इसकी रोचकता और उपादेयता भी बढ़ गई है ।

श्री मैथिलीशरणगुप्त ने 'साकेत' द्वारा जहां 'लक्ष्मण' और 'उर्मिला' को अमर कर दिया है, वहां डा० बलदेव मिश्रने 'साकेत-सन्त' में भरत और उनकी सहधर्मिणी मांडवी का चरित्र-चित्रण करके हिन्दी महाकाव्य के एक अभाव की पूर्ति की है । 'साकेत-सन्त' में जीवन के सभी अंगों का स्पर्श किया गया है । राजधर्म एवं समाज-धर्म का भी चित्रण किया गया है ।

भरत का हिंसा में विश्वास नहीं है, वे निरीह हत्या नहीं करना चाहते, तभी तो उन्होंने अपने मामा से शिकार खेलने के लिए जाने से इन्कार कर दिया ।

इसी प्रकार भरत एक जगह शोषण-नीति की निन्दा करते हुए कहते हैं—

निर्धन की कुटिया ढाकर,
जो अपना महल बनाते ।

आहों की फूँकों से ही,
वे एक दिवस ढह जाते ।।

कैकयी का चरित्र 'साकेत' में द्रवित होकर जबसे पवित्र बना है, तब से हिन्दी-कवियों का मानस उस हृदय-द्रव से सिक्त होता आया है। साकेत-सन्त में भी कवि ने कैकयी के इस पवित्र स्वरूप की इस प्रकार अभिव्यंजना की है—

अपनी ऊष्मा में आप जली जाती थी।
स्थिर थी पर, फिर भी बही चली जाती थी ।।

'साकेत-सन्त' की रचना पूर्ण सामयिक आवरण से आवृत्त है। भाषा, सारल्य एवं कल्पना-प्रवणता की दृष्टि से भी यह महाकाव्य सुन्दर बन पड़ा है। यत्र-तत्र छन्दों की त्रुटियां खटकने वाली अवश्य हैं।

विष्णुदत्त तिरंगी—ये हास्यरस के प्रसिद्ध लेखक व पत्रकार हैं। इनकी नवीनतम रचना 'जयकाश्मीर' सुन्दर महाकाव्य है। इसकी प्रस्तावना भारतीय सेना के कमांडर-इन-चीफ़ जनरल के० एम० करिअप्पा ने लिखी है। ग्रन्थ पौरुष पराक्रम के जयघोष से ध्वनित हुआ है।

रघवीरशरण मित्र—इनका जन्म सं० १९७७ में हुआ। इनका 'जननायक' महाकाव्य बापू के जीवन को लेकर लिखा गया है।

रामचन्द्र शर्मा 'वीर'—'विजय-पताका' 'वीरवाणी' आदि आपके अनेकों ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। वीरजी की सब से प्रसिद्ध रचना जो लगभग एक सहस्र पृष्ठों में समाप्त हुई है—'वीर रामायण महाकाव्य' है; जिसमें भगवान् राम का चरित्र एक नवीन दृष्टि से रक्खा गया है।

इनके अतिरिक्त दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' और मोहनलाल महतो का 'आर्यावर्त' तथा अनूपशर्मा का 'वर्धमान' भी उल्लेखनीय महाकाव्य प्रकाशित हुए हैं।

सिनेमा और हिन्दी-गीत

सिनेमा ने जहां हमारे हिन्दी-गीतों के प्रसार और प्रचार में योग दिया है, वहां हिन्दी गीतों ने फ़िल्मों की दशा भी पलटी है। फ़िल्मी संसार में पहले ग़ज़लों

और कव्वालियों का ही राज्य था किन्तु जबसे कुछ हिन्दी कवियों ने सिनेमा-संसार को अपना योग देना आरम्भ किया, तब से फ़िल्मी गानों की दशा पलट गई। नई-नई फ़िल्मों में हमें हिन्दी के भावपूर्ण मनोरम गीत सुनने को मिलने लगे। सिनेमा-संसार में सबसे पहले हिन्दी के कवि प्रदीप ने प्रवेश किया। देखते-ही-देखते उनके गीत जनता की जिह्वा पर आ गये। उन्होंने कई सफल चित्र जनता के सामने प्रस्तुत किये। इन चित्रों के गीत बहुत लोकप्रिय हुए। वास्तव में प्रदीप ने यह सिद्ध कर दिया कि हिन्दी के गीत ग़ज़लों और कव्वालियों से सफलता की अधिक शक्ति रखते हैं।

इसके पश्चात् फ़िल्मों के लब्धप्रतिष्ठ कवि नरेन्द्र एम० ए० और गोपालसिंह नेपाली ने प्रदीप के मार्ग को प्रशस्त किया। फ़िल्म-संसार की भीषण वस्तुस्थिति को देखकर ये कलाकार भयभीत नहीं हुए प्रत्युत इन्होंने सामने आनेवाली विषम परिस्थितियों का साहस के साथ सामना किया और फ़िल्म-संसार में हिन्दी-गीतों का महत्त्व प्रतिष्ठित करके दिखा दिया।

नेपाली और नरेन्द्र के पश्चात् मोती बी० ए० के गीतों ने भी धूम मचा दी।

श्री सन्तोषी के गीत भी इस क्षेत्र में काफ़ी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। 'बसन्त' चित्र में उन्होंने हिन्दी में बड़े सुन्दर एवं मधुर गीत दिये जो कि काव्य से लबालब भरे हुए थे।

इनके अतिरिक्त श्री हरिकृष्ण प्रेमी, भरत व्यास, दीपक और व्रजेन्द्र गौड़ प्रभृति गीतिकार भी हिन्दी-गीतों से फ़िल्म-संसार की दशा पलटने में तत्पर हैं। ये हिन्दी के कलाकार बहुत सोच-समझकर आगे बढ़ रहे हैं। इनकी आशातीत सफलता से हमें विश्वास होता है कि फ़िल्मी-संसार में आनेवाला मोर्चा हिन्दी के गीतों का होगा—संस्कृति और कला का होगा। इनके द्वारा फ़िल्म-जगत् में एक ऐसा युग आयगा, जिसमें अश्लीलता, उच्छृंखलता और अनैतिकता का कोई स्थान न होगा। वह ऐसा युग होगा, जो हमारे राष्ट्र को नैतिकता के पवित्र मार्ग की ओर ले जायगा।

अभ्यास

१. रहस्यवाद की परिभाषा लिखकर स्पष्ट कर कि इसके प्रमुख कवि कौन-कौन-से हैं।

२. छायावाद का स्वरूप समझाते हुए इसके प्रतिनिधि-कवि और उनकी रचनाओं का समालोचनात्मक परिचय दें।

३. श्री जयशंकरप्रसाद का जीवन-परिचय लिखकर उनकी साहित्य-सेवाओं पर प्रकाश डालें।

४. छायावाद और रहस्यवाद-सम्बन्धी रचनाएँ किन परिस्थितियों में प्रकट हुईं ? भाषा, विषय और शैली की दृष्टि से इन रचनाओं का अन्य रचनाओं से अन्तर स्पष्ट करें।

५. श्री उदयशंकर भट्ट, श्री माखनलाल चतुर्वेदी, श्री रामकुमार वर्मा और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की रचनाओं का समालोचनात्मक परिचय दें।

६. पन्त, निराला और महादेवी वर्मा का जीवन-परिचय लिखकर इनके काव्य की समालोचना करें।

क्रान्तिवादी प्रगति-युग

उन्नीसवाँ अध्याय

क्रांतिवादी प्रगति-युग

सं० १९९० से साहित्य में क्रांतिवादी प्रगति-युग का प्रारम्भ होता है। सामान्यतया साहित्य सदा प्रगतिशील रहा है। समय-समय पर उसमें प्रवृत्तियां भी लक्षित होती रही हैं। समाज के दलित और शोषित-वर्ग के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने की भावनाएँ भी साहित्य में स्थान पाती रही हैं। सन्त कबीर से लेकर जयशंकर प्रसाद तक के साहित्य में समाज के उपेक्षित वर्ग के प्रति सहानुभूति किसी-न-किसी रूप में प्रकट होती रही है। अतः यौगिक अर्थों में किसी युग-विशेष को प्रगतियुग का नाम देना समीचीन प्रतीत नहीं होता परन्तु आजकल यह शब्द हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में कुछ योगरूढ़-सा हो गया है। इस काल को 'प्रगतिकाल' कहने की प्रथा-सी चल पड़ी है, इसलिए हमने भी यह नाम स्वीकार कर लिया।

इस काल में राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्र में अनेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाएँ घटीं। सर्वप्रथम सं० १९९० से संसार में भयंकर मन्दी और बेकारी प्रकट हुई। फलस्वरूप जीवन-निर्वाह कठिन हो गया। भारत में प्रान्तीय स्वराज्य की स्थापना हुई। कुछ ही वर्ष बाद सारा संसार द्वितीय-विश्व-युद्ध की लपटों से घिर गया। युद्ध की समाप्ति के साथ ही बंगाल के अकाल में लाखों मनुष्य काल-कवलित हो गये। अकाल की विभीषिका का अन्त होते-न-होते देश में भयंकर साम्प्रदायिक संघर्ष उठ खड़े हुए। महायुद्ध के प्रभाव ने समाज के ढांचे को खोखला कर दिया। व्यापारी-वर्ग, चोर-बाजारी और अधिकारी-वर्ग रिश्वतखोरी में लीन हो गये। उधर श्रमिक सर्वत्र अपने आधिपत्य के स्वप्न देखने लगे। सन् ४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के परिणामस्वरूप तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से बाध्य होकर अंग्रेज़ भारत से विदा होगया पर जाते-जाते वह हिंदू-मुसलमानों को लड़ा-कर भयंकर नर-संहार को कर ही गया, साथ ही भारत भूमि के दो टुकड़े भी कर गया। देश के स्वतन्त्र होने के पश्चात् पाकिस्तान ने काश्मीर पर आक्रमण कर दिया और इधर एक धर्मान्ध नवयुवक ने शान्ति के देवता गांधीजी की हत्या कर डाली। उधर चीन पर साम्यवादियों का अधिकार हो गया। आज

भारत सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र प्रजातन्त्र बन गया है और हमारे साहित्य पर इन सब घटनाओं की क्रियाएँ प्रतिक्रियाएँ निम्न दो रूप में हुईं—

(१) साम्यवाद का प्रभाव। (२) गांधीवाद का प्रभाव।

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने समाज के शोषितवर्ग को विशेष प्रभावित किया। वे पूँजीवाद के विरुद्ध उठ खड़े हुए। अन्न-वस्त्र की समस्या न छायावाद-युग में प्रचलित साहित्य की कल्पनात्मक सुकुमारता, सौंदर्य-लिप्सा और वैयक्तिक आनन्दवाद पर दृढ़ प्रहार किया। सभी नये-पुराने साहित्यिक समालोचक तथा विचारक वर्ग ने यह स्पष्ट अनुभव किया कि छायावाद की अस्पष्ट, सुखद और तंद्रिल चेतना समाज का कल्याण नहीं कर सकती। छायावादी कवि श्रृंगार के नाम पर रीतिकालीन कविता को कोसता हुआ भी स्वयं प्रेम या विलासिता के नवीन सुकोमल पाशों में बंधता जा रहा है। साहित्य में व्यक्तित्व की भावनाएँ अपनी सीमा का अतिक्रमण कर चुकी हैं। सभी 'मैं' का रोना रोते हैं। अपनी कल्पित या वास्तविक पीड़ाओं से तड़प रहे हैं। लौकिक या अलौकिक प्रियतम या प्रियतमाओं के विरह में व्याकुल हो रहे हैं। किसी को भी समाज या राष्ट्र की कोई चिन्ता नहीं। साहित्यकार समष्टिगत भावनाओं से तटस्थ रहकर अपनी विरह-वेदना और निराशा में गोते लगा रहा है। द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता और उपदेशात्मकता से पल्ला छुड़ाकर यह साहित्य-कल्पना के अलौकिक लोक में जा पहुँचा। इसने दृढ़ और कठोर भूमि से मानो अपना सारा सम्बन्ध ही विच्छेद कर लिया। प्रत्येक सहृदय को यह स्थिति अखरने लगी थी। साहित्य की ऐसी दशा को देखकर ही समालोचक-प्रवर आचार्य शुक्ल जी को छायावाद की कड़ी आलोचना करते हुए लिखना पड़ा था कि—

'छायावाद' के नाम चल पड़ने का परिणाम यह हुआ कि बहुत-से कवि रहस्यात्मकता, अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु-विन्यास की विशृंखलता, चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मानकर चले। शैली की इन विशेषताओं की दूरारूढ़ साधना में ही लीन हो जाने के कारण अर्थभूमि के विस्तार की ओर उनकी दृष्टि न रही। विभाव-पक्ष या तो शून्य अथवा अनिर्दिष्ट रह गया। इस प्रकार प्रसरणोन्मुख काव्य-क्षेत्र बहुत कुछ संकुचित हो गया। असीम और अज्ञात प्रियतम के प्रति अत्यन्त चित्रमयी भाषा में अनेक प्रकार के प्रेमोद्‌गारों तक ही काव्य की गति-विधि प्रायः बन्ध गई। हृत्तंत्री की झंकार, नीरव संदेश, अभिसार, अनन्त-प्रतीक्षा, प्रियतम का दबे पाँव आना, आँख-मिचौनी, मद में झूमना,

विभोर होना इत्यादि के साथ-साथ शराब, प्याला, साकी आदि सूफ़ी कवियों के पुराने सामान भी इकट्ठे किये गये। कुछ हेर-फेर के साथ वही बंधी पदावली, वेदना का प्रकांड-प्रदर्शन, कुछ विशृंखलता के साथ प्रायः सब कविताओं में मिलने लगा।

प्रणय-वासना का यह उद्गार आध्यात्मिक पर्दे में ही छिपा न रह सका, हृदय की सारी काम-वासनाएँ इन्द्रियों के सुख-विलास की मधुर और रमणीय सामग्री के बीच एक बँधी हुई रूढ़ि पर व्यक्त होने लगीं। इस प्रकार रहस्यवाद से सम्बन्ध न रखनेवाली कविताएँ भी छायावादी ही कही जाने लगीं। अतः 'छायावाद' शब्द का प्रयोग रहस्यवाद तक ही न रहकर काव्य-शैली के सम्बन्ध में भी प्रतीकवाद (Symbolism) के अर्थ में होने लगा।

छायावाद की इस धारा के आने के साथ-ही-साथ अनेक लेखक नवयुग के प्रतिनिधि बनकर योरुप के साहित्य-क्षेत्र में प्रवर्तित काव्य और कला-सम्बन्धी अनेक नये-पुराने सिद्धांत लेकर सामने आने लगे। कुछ दिन 'कलावाद' की धूम रही और कहा जाता रहा—'कला का उद्देश्य कला ही है।' इस जीवन के साथ काव्य का कोई सम्बन्ध नहीं; उसकी दुनिया ही और है। किसी काव्य के मूल्य का निर्धारण जीवन की किसी वस्तु के मूल्य के रूप में नहीं हो सकता। काव्य तो एक लोकातीत वस्तु है। कवि एक प्रकार का रहस्यदर्शी (Seer) या पैगम्बर है। इसी प्रकार क्रोंचे के अभिव्यंजनवाद को लेकर बताया गया कि "काव्य में वस्तु या वर्ण्य विषय कुछ नहीं, जो कुछ है वह अभिव्यंजना के ढंग का अनूठापन है।" इन दोनों वादों के अनुसार काव्य का लक्ष्य उसी प्रकार सौन्दर्य की सृष्टि या योजना कहा गया जिस प्रकार बेल-बूटे या नक्काशी का। कवि-कल्पना प्रत्यक्ष जगत् से अलग एक रमणीय स्वप्न घोषित किया जाने लगा और कवि सौन्दर्य-भावना के मद में झूमने वाला एक लोकातीत जीव। काव्य की प्रेरणा का सम्बन्ध स्वप्न और काम-वासना से बतानेवाला मत भी इधर-उधर उद्धृत हुआ। सारांश यह कि इस प्रकार के अनेक वाद-प्रवाद पत्र-पत्रिकाओं में निकलते रहे।

छायावाद की कविता की पहली दौड़ तो बंगभाषा की रहस्यात्मक कविताओं के सजीले और कोमल मार्ग पर हुई। पर उन कविताओं की बहुत कुछ गति-विधि अंग्रेजी काव्य-खंडों के अनुवाद द्वारा संघटित देख अंग्रेजी काव्यों से परिचित हिंदी कवि सीधे अंग्रेजी से ही तरह-तरह के लाक्षणिक प्रयोग लेकर उनके ज्यों-के-त्यों अनुवाद जगह-जगह अपनी रचनाओं में जड़ने लगे। 'कनक-प्रभात', 'विचारों में

बच्चों की सांस', 'स्वर्ण समय', 'प्रथम मधुबाल', 'तारिकाओं की तान', 'स्वप्निल कान्ति', ऐसे प्रयोग अजायबघर के जानवरों की तरह उनकी रचनाओं के भीतर इधर-उधर मिलने लगे। निराला जी की शैली कुछ अलग रही। उसमें लाक्षणिक वैचित्र्य का उतना आग्रह नहीं पाया जाता जितना पदावली की तड़क-भड़क और पूरे वाक्य के वैलक्षण्य में। केवल भाषा के प्रयोग-वैचित्र्य तक ही बात न रही, ऊपर जिन अनेक योरुपीय वादों और प्रवादों का उल्लेख हुआ है उन सबका प्रभाव भी छायावाद कही जाने वाली वस्तु व कविताओं के स्वरूप पर कुछ-न-कुछ पड़ता रहा।

कलावाद और अभिव्यंजनावाद का पहला प्रभाव यह दिखाई पड़ा कि काव्य में भावानुभूति के स्थान पर कल्पना का विधान ही प्रधान समझा जाने लगा और कल्पना अधिकतर अप्रस्तुतों की योजना करने तथा लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और विचित्रता लाने में ही प्रवृत्त हुई। प्रकृति के नाना रूप और व्यापार इसी अप्रस्तुत योजना के काम में लाये गये। सीधे उनके मर्म की ओर हृदय-प्रवृत्ति न दिखाई पड़ी। पन्त जी अलबत्ता प्रकृति के कमनीय रूपों की ओर कुछ रुक कर हृदय रमाते पाये गये।

दूसरा प्रभाव यह देखने में आया कि अभिव्यंजना-प्रणाली या शैली की विचित्रता ही सब कुछ समझी गई। नाना अर्थ-भूमियों पर काव्य का प्रसार कुछ रुक-सा गया। प्रेम-क्षेत्र (कहीं आध्यात्मिक कहीं लौकिक) के भीतर ही कल्पना की चित्र-विधायिनी क्रीड़ा के साथ प्रकांड-वेदना, औत्सुक्य, उन्माद आदि की व्यंजना तथा क्रीड़ा से दौड़ी हुई प्रिय के कपोलों पर की ललाई, हाव-भाव, मधुस्राव तथा अश्रुप्रवाह इत्यादि के रंगीले वर्णन करके ही अब तक अनेक कवि पूर्ण तृप्त दिखाई देते हैं। बहुत से नये रसिक प्रस्वेद-गन्धयुक्त चिपचिपाती और भिनभिनाती भाषा को ही सब-कुछ समझने लगे हैं। लक्षणा-शक्ति के सहारे अभिव्यंजना-प्रणाली या काव्य-शैली का अवश्य बहुत अच्छा विकास हुआ है। पर अभी तक कुछ बन्धे हुए शब्दों की रूढ़ि चल रही है। रीतिकाल की शृंगारी कविता की भरमार की तो इतनी निन्दा की गई पर वही शृंगारी कविता कभी रहस्य का पर्दा डालकर, कभी खुले मैदान अपनी कुछ अदा बदल कर फिर प्रायः सारा काव्य-क्षेत्र छेककर चल रही है।'

प्रगतिवाद

सामान्य विचार-पद्धति में जिसे साम्यवाद कहते हैं, वही साहित्यिक रूप ग्रहण करने पर प्रगतिवाद के नाम से पुकारा जाता है। प्रगतिवादियों का संगठन सामान्यतः सन् १९३५ में यूरोप में तथा सन् १९३६ में भारत में हुआ। इसी वर्ष श्री प्रेमचन्दजी के सभापतित्व में प्रगतिशील लेखकों का एक सम्मेलन हुआ। प्रगतिवाद कोई एक अद्भुत या जन-सामान्य के लिए गुह्यवाद नहीं प्रत्युत वह तो साधारण जनता के हृदय की पुकार ही है। आज पूंजीपति श्रमिकों के शोणित का शोषण कर स्वयं सम्पूर्ण सम्पत्ति को हड़प लेना चाहता है। फलतः परिश्रम करने वाले को अपने श्रम का पूरा फल दिलाने के लिए और प्रत्येक व्यक्ति से पूरा परिश्रम लेने के लिए ही साम्यवाद का प्रचार हुआ है। पिछले १०-१५ वर्षों से साहित्य में भी यही विचार उत्तरोत्तर प्रमुख पद प्राप्त करते जा रहे हैं। इससे पूर्व साहित्य छायावाद की छाया में सुख-स्वप्न देख रहा था। उसमें व्यक्ति की आशा-अभिलाषा, निराशा और वेदना तो अवश्य व्यक्त हो रही थी, किन्तु उस में समाज के सुख-दुःखों को कहीं स्थान न था। छायावादी रचनाओं ने खड़ी बोली के अक्खड़पन को दूर कर कविता के लिए कोमलकान्त पदावली तो प्रस्तुत कर दी, पर वह संस्कृत के सुललित पदों पर आश्रित होने के कारण जन-सामान्य की पहुंच के परे की वस्तु बन गई। फलतः कार्लमार्क्स के दार्शनिक सिद्धांतों के आधार पर प्रगतिवाद पनपने लगा। यूँ साहित्य में सदा कोई-न-कोई दार्शनिकवाद प्रधान रहता है। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सभी पुराने दार्शनिक सिद्धांत मनुष्य को आत्म-चिन्तन या भक्ति में लगाने वाले हैं। मार्क्स का दर्शन मनुष्य में संसार को बदलने और उसे अनुकूल बनाने की भावनाएँ भरता है। इसलिए प्रगतिवादी कहता है कि हमें परलोक नहीं प्रत्युत इस लोक को सुधारना है। और साहित्य के द्वारा स्वर्गीय संगीत नहीं सुनना, प्रत्युत कविता में इसी मनुष्य-लोक की कहानी कहना है।

इस धरती की बात करो, प्रिय,
मत अम्बर की ओर निहारो!

रूढ़ियों में पड़कर अपने दुःख, दैन्य और दोषों की दुर्गन्ध को अपने अन्तर में ही नहीं सड़ने देना, प्रत्युत अपनी सब विकृतियों को प्रकट कर स्वच्छ वातावरण प्रस्तुत करना चाहिए। कवि को केवल अप्सराओं के नूपुरों के सरस रव में ही तन्मय न होकर दीन, दुःखी और दलितों की कष्ट-कथा कहने और सुनने के लिए तत्पर हो जाना चाहिए। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भगवतीचरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट, पंत, निराला, शिवमंगलसिंह 'सुमन' आदि

की रचनाओं में ऐसी ही भावनाएँ भरी हुई हैं। प्रगतिवादी की दृष्टि में संसार की सामन्तशाही का इतिहास एक अत्यन्त ही तुच्छ और गलित युग का प्रतिनिधित्व करता है। प्रगतिवादी सुधार में नहीं, प्रत्युत नव-निर्माण में विश्वास रखता है। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की—

कवि ् छ ऐसी तान सुनाओ जिस से उथल-पुथल मच जाए

इत्यादि कविता प्रगतिवाद के विचारों को ही प्रकट करती है।

गा कोकिल, वर्षा, पावक-कण, नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन।
पावस पग धर आवे नूतन, हो पल्लवित नवल मानव तन॥

पन्त की इस रचना में प्रगतिवाद स्पष्ट लक्षित हो रहा है।

छायावादी कवि अपने ही सुख-दुःख के रोने रोता है और समाज को भी अपने आँसुओं की धारा में तर करना चाहता है। वह स्वयं समाज की करुणा के प्रवाह में नहीं बहता किन्तु प्रगतिवादी समाज के सुख-दुःखों को अपने सुख-दुःख समझता है। जैसे कि 'बच्चन' 'निशानिमंत्रण', 'एकान्त संगीत' आदि में संग्रहीत 'मैंने भी जीवन देखा है', ऐसी कविताओं द्वारा अपने ही भावों या अभावों को समाज की अनुभूति में उतारना चाहता है। किंतु आगे चलकर वही बच्चन 'बंगाल के अकाल' में पूरे प्रगतिवादी के रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां एक ओर छायावादी कवि आत्म-चिन्तन में विश्व चिन्तन का अनुभव करता है वहाँ प्रगतिवादी कवि विश्व-चिन्तन में ही अपनी आत्मा की पुकार सुनता है और सुनाता है। छायावादी सुकोमल और रसिक कवि अत्यन्त कोमलकान्त पदावली में अपनी मृदुल तूलिका से परम पेशल चित्र अंकित करता है। उसकी भाषा और भावनाएँ छुई-मुई से भी कोमल प्रतीत होती हैं, इसलिए यदि वह कहीं समाज की जर्जर अवस्था का चित्र खींचता भी है तो भी भाषा की पेशलता के कारण उसमें सजीवता और वास्तविकता नहीं आ पाती। पन्तजी के 'परिवर्तन' की अनेक पंक्तियां 'पल्लव' के समान कलित-कोमल होने के कारण 'परिवर्तन' के उद्दाम और विकट बवण्डरों से परिपूर्ण प्रचंड रूप का स्पष्ट चित्रपट नहीं अंकित कर पातीं। इसके विपरीत प्रायः सभी प्रमुख प्रगतिवादी कवियों की भाषा आवश्यकतानुसार यथासमय विकट भावों को प्रकट करने के लिए सुदृढ़, कठोर और क्लिष्ट रूप धारण कर लेती है। प्रगतिवादी नवीन, सृष्टि का निर्माण चाहता है इसलिए वह समाज के रूढ़िबन्धनों के साथ भाषा

भाव, छन्द आदि के साहित्यिक बन्धनों को भी तोड़ फेंकना चाहता है। अपने विचारों को मूर्तरूप देने के लिए वह पुरानी उपमाओं और रूपकों के चक्र से निकलकर मशाल हल, हंसिया आदि नई-नई उपमाओं का प्रयोग करता है।

प्रगतिवाद पर आक्षेप

इस प्रकार प्रगतिवादी पीड़ितों की कष्ट-कथा कह कर दलितों के दुःख दैन्य का दर्शन कराकर समाज में क्रांति उत्पन्न कर देना चाहता है—एक उथल-पुथल मचा देना चाहता है, परन्तु कुछ लोगों का यह आक्षेप है कि "वह अपनी प्राचीन आर्य-संस्कृति से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद कर रवींद्र के रहस्यवाद और गांधी के राम-राज्य से भी घृणा प्रकट करता है। सामन्तशाही के नाम पर या विलासिता की कथा कह कर वह कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुंतल' सरीखे काव्यों को भी तिरस्कृत करने का साहस करता है। वह यथार्थवाद के नाम पर भाई-बहिन का पारस्परिक वासनात्मक प्रेम दिखाने में भी संकोच नहीं करता। समाज के हेय और कुत्सित अंशों के प्रदर्शन में वह गौरव का अनुभव करता है। वह समाज के निम्न वर्ग को प्रोत्साहित कर उच्च वर्ग के प्रति घृणा का भाव फैलाता है और इस प्रकार वर्ग-विद्वेष के बीज बोता है। प्रगतिवादी कलाकार स्वयं तो विलासिता का पुतला और बड़ा ही छैल-छबीला है पर पाखंड रचता है दुखियों की करुण-कथा कहने का। वह अपने भारतीय भाइयों की भावनाओं को छोड़कर रूस के लैनिन और स्टालिन के गीत गाता फिरता है।" इस प्रकार आधुनिक प्रगतिवाद के दोष दिखाये जा सकते हैं। यूँ दरिद्र-नारायण के दुःख-दैन्य का वर्णन करने और दलितों को उत्थान की ओर ले जाने की बात को भला कौन अच्छा नहीं कहेगा। पर किसी वाद-विशेष के बन्धन में बंधकर या किन्हीं सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए या फ़ैशन के नाते अपनी सम्पूर्ण प्राचीन परिपाटियों का प्रत्याख्यान कर नूतनता के राग अलापना तो उपयुक्त नहीं। नवीन और प्राचीन श्रीमन्त और श्रमिकों का समन्वय करा देना अधिक हितकर है, बजाय इसके कि हम दोनों को भिड़ाकर इन दोनों का ही सर्वनाश करा डालें। ऐसी समन्वयमूलक भावनाएँ तथा पूंजीपतियों के अत्याचार के विरुद्ध प्रतिक्रिया हिंदी साहित्य में सदा से प्रकट होती रही है। कबीर, तुलसी, भूषण, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, रामनरेश त्रिपाठी आदि भारतीय संस्कृति के उपासक कविगण सदा से प्रगतिवादियों की श्रेष्ठताओं को स्वीकार करते रहे हैं। पर इनके दोषों से भी वे सदा बचे हैं। इसलिए रूसी साम्यवाद पर आधारित

प्रगतिवाद के रूप को तिलांजलि देकर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं को चित्रित करने वाला और सामाजिक विषमताओं के प्रति विरोध प्रकट करने वाला प्रगतिवाद ही सच्चा प्रगतिवाद या क्रांतिवाद है। निष्कर्ष यह है कि छायावाद की प्रतिक्रिया के रूप में प्रगतिवादी विचार-धारा प्रकट हुई। सुकोमल और अलंकृत पदावली का स्थान साधारण बोल-चाल की भाषा और गद्यात्मक शैली ने ले लिया। कल्पना तो कल्पना की वस्तु रह गई। कविता में सर्वत्र यथार्थ चित्र अंकित होने लगे। महायुद्ध के विविध दृश्य, किसान और श्रमजीवी और देश-भक्त वीरों ने साहित्य को अपनी ओर आकृष्ट किया। बंगाल के अकाल पर भी सभी प्रमुख लेखकों ने कुछ-न-कुछ लिखा, यहाँ तक कि प्रमुख हालावादी कवि, 'बच्चन' ने भी हालावाद की मादकता को त्याग कर 'बंगाल के अकाल में' मानव की तड़पती हुई आत्मा को देखा और अपना ही 'एकान्त संगीत' गाना छोड़ पीड़ितों की पुकार राष्ट्र तक पहुँचाई। हिन्दू-मुस्लिम-संघर्ष भी साहित्य में अपने वास्तविक रूप में प्रकट हुआ। 'नोआखली' आदि रचनाएँ पर्याप्त परिमाण में लिखी गईं। आज की कविता ऐसे ही साम्यवाद-मूलक यथार्थवाद पर आधारित है। अनेक प्रयत्न करने पर भी समाज से सुधार की किसी प्रकार की आशा न रख कवि सर्वनाश और नव-निर्माण की ओर अग्रसर हो रहा है। प्रगतिवादी कलाकार का हृदय-परिवर्तन या सुधार से विश्वास उठ-सा गया है। वह विश्व-भर में नाश, महानाश और प्रलय की चिनगारियां बिखेर देना चाहता है।

गाँधीवाद

गांधीवाद, हृदय-परिवर्तन में विश्वास रखता है। वह आशा रखता है कि धीरे-धीरे प्रयत्न करते रहने पर सब कुछ ठीक हो जायगा, एक-न-एक दिन समाज को सुधारने में हम अवश्य सफल होंगे। गांधी जी की मृत्यु के पश्चात् गांधीवाद की विचार-धारा को कुछ उत्तेजना मिली। पर आज के कवियों का गांधीवाद गांधीजी के सिद्धांतों के प्रचार की अपेक्षा उनकी प्रशंसा-मात्र में पर्यवसित हो रहा है।

गांधीवाद हो या प्रगतिवाद, शोषित जन का कल्याण दोनों ही चाहते हैं; उद्देश्य दोनों का एक है। साहित्य को छायावाद से छुटकारा दिलाने में दोनों सचेष्ट रहे हैं। यहाँ तक तो दोनों ही का मार्ग समुचित है परन्तु जब प्रगतिवादी भारत की अपेक्षा रूस के गीत गाता दिखाई देता है तो जनता उसके प्रति संदेहशील हो जाती है। जनता का यह संदेश सत्य भी है। प्रगतिवादी को विदेशी साम्यवाद का प्रचार

या सहारा छोड़कर अपने ही देश की ओर देखना चाहिए। हर्ष का विषय है कि अधिकांश नये-पुराने प्रगतिवादी लेखक इस तथ्य को हृदयंगम कर वाद के बन्धन से अपने आप को छुड़ा रहे हैं। वे राष्ट्र के सच्चे कल्याण के लिए अग्रसर हो रहे हैं। इस प्रगतिवाद के प्रवर्तक और प्रचारक तो हमारे पुराने छायावादी कवि ही हैं। 'प्रसाद', पन्त, 'निराला' प्रभृति छायावादी कलाकार सर्वप्रथम इस क्षेत्र में आये। उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण 'प्रेमी', भगवतीचरण वर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' आदि छायावाद-युग के प्रसिद्ध कवियों ने ही प्रगतिवाद के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। सियारामशरण गुप्त जैसे द्विवेदी-युग से प्रकाशित होने वाले कवि भी 'नोआखाली' में प्रगतिवाद का पूर्ण परिचय दे रहे हैं। पन्तजी 'ग्राम्या' और 'खादी के फूल' में प्रगतिवाद और गांधीवाद का सामंजस्य उपस्थित कर रहे हैं। इस प्रकार पुरानी परम्परा के कवि आज नवयुग के प्रगतिवाद के स्वर को समुन्नत करने में प्रयत्नशील हैं। इधर अनेक नवीन कवि भी इस क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का प्रकाश कर रहे हैं जिनमें से निम्न मुख्य हैं—

रामधारीसिंह 'दिनकर'—इनका जन्म सं० १९६५ में बिहार के मुंगेर ज़िले में हुआ। 'विजयसंदेश' और 'प्रणभंग' इनकी विद्यार्थी-जीवन की रचनाएँ हैं। 'रेणुका' ने इन्हें खूब चमकाया। 'हुंकार' की कविताएँ भी अपनी ओजपूर्ण प्रभविष्णुता से नवयुवकों को पर्याप्त प्रभावित करती रहीं। इन की कविताओं में राष्ट्र-जागरण का स्वर सब से ऊँचा है। वे क्रांतिकारी कवि कहे जाते हैं। इन की रचनाओं में राष्ट्रीयता और विश्व-बन्धुता की भावनाएँ मुख्य हैं। 'कुरुक्षेत्र' नामक महाकाव्य में अतीत के पात्रों द्वारा वर्तमान-युग को मुखरित किया है। युद्ध और शान्ति, हिंसा और अहिंसा, श्रद्धा और तर्क, पशुबल और आत्मबल, हृदय और मस्तिष्क के द्वन्द्वों का इसमें सुन्दर चित्रण है।

'रेणुका' 'रसवन्ती' 'द्वंद्व-गीत' 'हुंकार' 'धूप-छांह' 'सामधेनी' और 'बापू' इनके काव्य-संग्रह हैं। 'मिट्टी की ओर' इनकी आलोचनात्मक रचना है।

प्रगतिवादी कवियों में 'दिनकर' जी का उत्कृष्ट स्थान है। आपका करुणार्द्र हृदय पूंजीपतियों की शोषण-नीति से व्यथित हो उठता है। आप की कल्पना भी कभी-कभी शिव-का-सा प्रलयंकारी रूप धारण कर लेती है। दिनकर जी राष्ट्रीय गौरव और स्वाधीनता संग्राम की परम्परा को लेकर साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए, उन्होंने निराशा और विवश जनता को आश्वासन देते हुए उदात्त स्वर में कहा—

गरज कर बता सबको, मारे किसी के
मरेगा नहीं हिन्द देश,
लहू की नदी तैर कर आ गया है
कहीं से कहीं हिन्द देश।
लड़ाई के मैदान में चल रहे हैं
लेके हम उसका उड़ता निशान,
खड़ा हो जवानी का झंडा उड़ा
ओ मेरे देश के नौजवान।

अहिंसा का बोदा मार्ग 'दिनकर' जी को पसन्द नहीं है। अपने 'कुरुक्षेत्र' काव्य में उन्होंने भीष्मपितामह के मुँह से कहलवाया है—"धर्म, तप, करुणा, क्षमा आदि के सुन्दर भाव व्यक्ति के लिए हैं, किंतु जब पूरे समाज का प्रश्न उठता है तब हमें तप और त्याग को भूलना पड़ता है, हिंसा के समाने तपस्या सदैव हारी है।"

हिंसा का आघात तपस्या ने
कब कहाँ सहा है?
देवों का बल सदा दानवों
से हारता रहा है?

आगे चल कर आपने हृदय और मस्तिष्क के द्वंद्व का विचित्र चित्र खींचा है। भीष्मपितामह को अपनी भूल मालूम होती है। उन्होंने न तो कौरवों का हित साधा और न पांडवों का। अपने ही द्वन्द्व को सुलझाने के लिए उन्होंने दुर्योधन को शारीरिक शक्ति दी किंतु हृदय से पांडवों को चाहा। वे पछताने लगे—

कर पाता यदि मुक्त हृदय को, मस्तक के शासन से।
उतर पकड़ता बांह दलित की, मंत्री के शासन से॥
राजद्रोह की ध्वजा उठाकर, कहीं प्रचारा होता।
न्याय पक्ष लेकर दुर्योधन, को ललकारा होता॥

अन्त में आप भाग्यवाद के प्रति अविश्वास प्रकट करते हुए मनुष्य को श्रम करने की चेतावनी देते हैं—

एक मनुज संचित करता है, अर्थ पाप के बल से।
और भोगता उसे दूसरा, भाग्यवाद के छल से।।
नर समाज का भाग्य एक है वह श्रम, वह भुजबल है।
जिसके सन्मुख झुकी हुई पृथ्वी, विनीत समतल है।।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'—वासना के कवि हैं। इन्होंने तृष्णा को ही जीवन का सत्य माना है—

चिर तृष्णा में प्यासे रहना
मानव का सन्देश यही !

धीरे-धीरे अंचल जी के तृष्णा सम्बन्धी गान असंतोष और विद्रोह-भावना में परिणत हो जाते हैं। आज वे शोषित-पीड़ित मानवता का पक्ष लेकर क्रांति की ज्वाला भड़काना चाहते हैं। आपने पीड़ित मानवता के जो चित्र खींचे हैं वे वास्तव में करुणाजनक हैं।

और कई बच्चों की मां, आ रही उधर से अन्न बटोरे,
आंचल में कुछ लिए चबाती, कुछ बिखरे धोती के डोरे,
वह देखती पेड़ तले यह, खड़ी मानवी कृष तन जर्ज़र,
लेती बांध फटे दामन में, थोड़े से दाने अकुला कर,
किन्तु खड़ी रहती यह जड़ पत्थर निज निर्मोही की प्यासी।
घर के बिनते तो बीतेंगी पेड़ तले फिर रातें त्रासी।।

'अंचल' पर उर्दू-रसिकता का प्रभाव अत्यधिक है। इनकी कविताओं के संग्रह मधूलिका, अपराजिता, करील, लाल चूनर, किरण वेला, यश प्रदीप, और स्वाति नाम से प्रकाशित हैं।

नरेन्द्र एम० ए०—तरुण कवियों में नरेंद्र जी अपना स्थान रखते हैं। नरेंद्र की प्रतिभा बाल-विहग की प्रतिभा है, इसीलिए वे अपने शिशु-कंठ में भारी

स्वरों का भार वहन नहीं कर पाते। आपने शृंगार और वीर रस दोनों को ही अपनाया है। आप की वीरता सामाजिक बन्धनों के गढ़ ढाने में अधिक है। आप की कविता में निराशावाद भी है किन्तु प्रगतिवादी होने के नाते आप उसे चिरस्थायी नहीं मानते। नरेंद्र पर भी उर्दू का प्रभाव है, किंतु अंचल की अपेक्षा कम। उनकी भाषा, शैली, आलम्बन और चित्रण में अनेकरूपता है। गति में एक फुदक, गीत में एक कुहुक, चित्रमें एक पुलक नरेंद्र के लिए पर्याप्त है। इसके आगे उनकी एकाग्रता भंग हो जाती है। चित्र-गीत के रूप में उनके मुक्तक सजीव हैं, उनके वातावरण का आकर्षण है। नरेंद्र नीरव अनुभूति के कवि हैं मन की कोमल, अभिव्यक्ति उनका कठिन कर्म है। उनकी ठेठ काव्यात्मा बड़ी सरल और स्वाभाविक है—

चौमुख दिवला बार
धरूँगी चौबारे पै आज
सखी री चौमुख दिवला बार
जाने कौन दिशा से आवें मेरे राजकुमार

इस प्रकार के संगीत से वे गीत-काव्य को उसका प्राकृत हृदय दे सकते हैं। 'प्रवासी के गीत', 'प्रभात फेरी', 'कर्णफूल', 'शूल-फूल', 'कामिनी', 'हंसमाला' और 'अग्निशस्य' इनके काव्य-संग्रह हैं।

शिवमंगलसिंह 'सुमन'—सुमन जी एक सुकुमार वृत्ति के कवि हैं। आप की रचनाओं में कवित्व के दर्शन होते हैं। नई उमंगें, नई तरंगें, नई आशा, नई आकांक्षा लेकर जब तरुण कवि संसार से प्रेम की याचना करने चलता है, तो यह निष्ठुर जग उसकी आशाओं का, उसके प्रेम का मूल्यांकन कब करता है? प्रेमी को संसार में निराशा और अभिशाप ही मिलता है। उसी अभिशाप से अभिशप्त 'सुमन जी' की भावनाएँ असंतोष और विद्रोह का रूप धारण कर लेती हैं। वे कल्पना के संसार से बाहर निकलकर यथार्थ की ओर देखते हैं तो उन्हें दिखाई देती है शोषित, पीड़ित और जर्जरित मानवता! उनके गान क्रंदन बन जाते हैं। नीचे की कविता में आप 'सुमन' जी का वास्तविक परिचय पा सकते हैं—

मैंने गाये हैं गान जगत जीवन के
मैंने खोले हैं भेद यहां कन-कन के

अभिशापित युग में जन्म हुआ है मेरा
वरदान बन गये मान मनुज के क्रन्दन!

मैंने जब देखा झुलस चुका था नंदन
अवशेष कहानी मात्र कली का यौवन
दो बूँदों की ले प्यास मरुस्थल रोया
पर छिपा उसे छा गया सिंधु का गर्जन

नारी की गोदी पला बना वैरागी
सब कुछ छोड़ा पर एक न तृष्णा त्यागी
देखा भी नहीं कि पात्र हृदय का छिछला
मिट्टी की पाकर देह अमरता माँगी !

सुर असुर पुनः कर रहे आज संघर्षण
मेरे युग में फिर हुआ सिंधु का मंथन
जो देख हलाहल मुँह बिचका कर भागा
वह व्यर्थ माँगता फिरा सुधा के दो कन

ईश्वर-ईश्वर में आज पड़ गया अन्तर
टुकड़ों-टुकड़ों में बँटा मनुजता का घर
ली ओढ़ धर्म की खोल, हृदय पर सूना
पूजन अर्चन सब व्यर्थ देवता पत्थर ।

'जीवन के गान', 'प्रलय सृजन' और 'हिल्लोल' सुमन जी के सुन्दर काव्य-संग्रह हैं ।

गोपालसिंह 'नेपाली'—नेपालीजी आरम्भ में सरल हृदय, सरल प्रकृति और सरल जीवन के कवि थे । "लौकी के चौड़े पत्ते पर लहराते इनके मनोभाव" अथवा "यह घास नहीं है पनप उठी मेरे जीवन की मधुर आस" में इनके हृदय की जो सहजता है, वह सुरक्षित न रह सकी। अब वे यौवन की महत्त्वाकांक्षाओं

के कवि हैं। उनकी नई रचनाओं में जवानी की मस्ती है। भाषा में उनकी पहली सरलता सुपुष्ट हो गई है। उद्‌गारों में चित्र-सजीवता है।

नेपाली जी ने अपनी रचनाओं में नवीन प्रयोग किये हैं। आप तरुण कलाकार हैं। आपकी वाणी में जहां प्यार है, वहां ललकार भी है—

तुम आग पर चलो जवान आग पर चलो
आग पर चलो
लाली न फूल की, बसन्त का गुलाल है।
यह सूर्य है नहीं प्रचंड अग्नि ज्वाल है।
यह आग से उठी मलीन मेघ-माल है।
लो जल रही जहान में कई जवानियाँ।
तुम ज्वाल में जलो, किशोर ज्वाल में जलो—
तुम आग पर चलो
अब तो समाज की नवीन धारणा बनी।
हैं लुट रहे ग़रीब और लूटते धनी।
सम्पत्ति हो समाज के न खून से सनी।
यह आंच लग रही मनुष्य के शरीर को
तुम आंच में ढलो, नवीन आंच में ढलो।

आपकी कविताओं के संग्रह 'नवीन', 'रागिनी', और 'पंछी' नामों से निकल चुके हैं।

केदारनाथ अग्रवाल—ये उन कवियों में से हैं जो शहर की नकली संस्कृति से ऊब गये हैं, दिखावा और बनावट से जिन्हें चिढ़ है और जिनके हृदय में अपने देश की धरती के लिए प्यार है। इनकी कविताएँ अधिकतर मुक्तक छंद में हैं जो भाव की झकोर में अपने-आप बनता-बिगड़ता चला गया है।

यदि आपने किसान को 'करवी' काटते सुना होगा तो उसकी ध्वनि इस छोटे-से छन्द में भी सुनाई देगी—

साइत और कुसाइत क्या है ?
जीवन से बढ़ साइत क्या है ?
काटो-काटो काटो करवी
मारो मारो मारो हँसिया,
हिंसा और अहिंसा क्या है ?
जीवन से बढ़ हिंसा क्या है ?

केदार की कविताओं के दो संग्रह 'युग की गंगा' और 'नींद के बादल' नाम से छप चुके हैं।

प्रभाकर माचवे—आपका जन्म सं० १९७४ में हुआ। कवि, कहानी-लेखक, निबन्धकार, समालोचक, स्केच-लेखक, रिपोर्ताज लेखक सभी कुछ हैं आप। आपकी कविताएँ हास्य-रस की भी होती हैं, जिन में विनोद, व्यंग्य और वक्रोक्ति रहती है। आप सीधी-सादी कविता में अपने विपक्षियों पर बड़ा तीखा व्यंग्य कसते हैं। माचवे सहृदय लेखक हैं। एक रचना देखिए—

वह एक
मैला सा कुर्ता पहने बेच रहा अख़बार;
'अरजुन, स्वराज, जन्मभूमि, आज, अधिकार—'
दो पैसे या कि चार-चार।
कहता है वह पुकार
आज चीन जापान लड़ाई,
कल हिटलर की चढ़ाई
और परसों श्री गांधी का उपवास ....
वह क्या समझता है राजनीति? ख़ाक-धूल !
उसे क्या पता यह फैला कहाँ तक है
मैला जीवन-दुकूल !

× × ×

उसका तो फ़कत काम
चिल्लाना बार-बार
तीन मरे दस घायल—
दंगा, बम फटे, या कल मर गये फलां-फलां।
यों ही चला करता है दुनिया का दौरान
उसको न रंजो-ग़म उसका तो एक भाव—
बेचने ये समाचार
चाहे सम हो कि विषम !

× ×

वह एक मशीन
जिसमें इस दुनिया के गोले के प्रत्येक
कोने से आती जो ख़बरें हैं रंगीन, श्री-हीन,
सन बन के अक्षर ढल जाती हैं, छपकर के जो निकली
लक्ष-लक्ष चक्षुओं से निगली गई वे और
बिक भी गईं वे गली-गली में। कि चौबीस
घंटोंके बाद पुनः बासी। यह खड़-खड़-खड़
दैनिक की 'रोटरी' की प्यास बड़ी संगीन....
वह एक !

गिरिजाकुमार माथुर—आपका नाम भी प्रगतिवादी कवियों में है। ये पुरानी रूढ़ि और बन्धनों के विरुद्ध विद्रोह करते रहते हैं। आपको 'नवीन' चाहिए—सर्वथा नवीन देखिए ये पुराने कलाकारों के प्रति कह रहे हैं—

भाव-बद्ध सेना यह घिसे कलाकारों की
पीट रही पिछली लकीर का ढोल खोखला।
झूठा दम्भ दिखाकर, थके क्लांत लक्ष्यों का

नेमचन्द्र जैन—आपकी कविताओं में, एक स्वाभाविक सरसता और रमणीयता होती है। आप प्रगतिवाद के उन इने-गिने कवियों में से हैं। ऐसा जान पड़ता है कि आप को जीवन के अनेक संघर्षों, घात-प्रतिघातों का सामना करना पड़ा है। कहीं-कहीं आप निराश हो उठते हैं। नीचे की पंक्तियों से यही प्रकट होता है—

मैं जूझ रहा चौहानों से अपने मन की।
पड़ रहीं अनवरत चोटें जीवन के घन की ॥
हो उठे प्राण उद्दीपन एक आकुलता से।
है चाह न मुझको आज किसी आश्वासन की ॥

रांगेय राघव—आप अच्छे कवि होने के साथ ही कुशल कहानी-लेखक भी हैं। वैसे आप बड़े उग्रवादी और प्रगतिवादी हैं। आप की वाणी और विचार दोनों ही आग उगलते हैं। देखिए—

अरे ओ जल्लाद!
तेरी आंख के इस खून में भी
दिख रहा है इस अजेय मुक्त
बन्दी का उठा
अभिमान-केतन शीश
फेंक मत तलवार
तेरी हड्डियों को काटती
तलवार भी—

शंकर 'शैलेन्द्र'—जनवादी कवि हैं। 'आवारा' आदि फ़िल्मों के गीत लिखे हैं, और मजदूर वर्ग की पत्र-पत्रिकाओं में आपकी रचनाएँ छपती रहती हैं। नवोदित कवियों में शैलेंद्र का अपना स्थान है।

सुधीन्द्र—ये राजस्थान के प्रमुख नवयुवक कलाकार हैं। गांधीवाद और प्रगतिवाद दोनों में पूरे उतरे हैं। 'शंखनाद' इनकी प्रथम प्रकाशित राष्ट्रीय रचना है। 'प्रलय-वीणा' प्रलयवादी भावधारा की प्रमुख कृति है। 'जौहर' ओजस्वी-

खंड-काव्य है और 'अमृतलेख' गीत-संग्रह। इन्होंने कहानियाँ और एकांकी नाटक भी लिखे हैं, 'राम-रहमान' एकांकी संग्रह है। 'हिंदी-कविता का क्रांतियुग' इनकी आलोचनात्मक रचना है, जिस पर आपको पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई है।

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'—इनकी कविता मधुर और आकर्षक होती है। भाषा तरल और सरल। भाव एक आदर्श को लिए हुए, चेतना का संदेश देने वाले। आप प्राचीनता की नींव पर नवीन का निर्माण करना चाहते हैं। गांधीजी की वर्षगांठ पर लिखी हुई एक कविता का कुछ अंश देखिए—

ओ! भारत के भाग्य-विधाता !
ओ जन-जन के जीवन-दाता !
ओ पीड़ित-दलितों के त्राता !
ओ करुणा के सिन्धु !
अहिंसा का व्रत लेने वाले योगी ?
सत्य-प्रीति की, न्याय-नीति की
श्रद्धा-संयुत शुभ प्रतीति की
प्रज्वलित मशालें लेकर कर में
पशुता के तम से आच्छादित
जग-पथ को आलोकित करने वाले राही?
इस स्वतन्त्र आरत भारत में
आज तुम्हारी वर्षगांठ है ?

प्रगतिशील उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त अन्य भी अनेकों ऐसे कवि हैं, जिनकी रचनाओं में प्रगतिवाद की ध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है जैसे कि—

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी, इलाचन्द्र जोशी, जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी,' 'रंग', ब्रह्मदेव शास्त्री, त्रिलोचन आदि हिंदी के अच्छे कवि हैं।

तरुण पीढ़ी के उदीयमान कवियों में—मेघराज 'मुकुल', देवराज 'दिनेश', 'नीरज', श्री बैकुण्ठनाथ दुग्गल, रामकुमार चतुर्वेदी, रामकृष्ण भारती 'शलभ' आदि की रचनाएँ अच्छी होती हैं।

अभ्यास

१. आधुनिक प्रगतिवादी कविता पर अपने विचार प्रकट करें।

२. प्रगतिवादी धारा के प्रमुख कवियों का परिचय दें।

बीसवाँ अध्याय

बंगाल का अकाल और सन् '४२ का संघर्ष
भारत विभाजन, महात्मा जी का महाप्रस्थान

पिछले १५ वर्षों में हमारे देश में कई ऐसी असाधारण घटनाएँ हुईं, जिनका मानव-जीवन पर व्यापक और सक्रिय प्रभाव पड़ा। पहली घटना सन् १९४२ का जन-आन्दोलन और दूसरी घटना बंगाल का अकाल। सन् '४२ का आन्दोलन जनता की भावनाओं और आकांक्षाओं का एक प्रज्वलित रूप था। यह वह युग था जब देश में पूर्ण रूप से चेतना आ चुकी थी और पराधीन भारतीयों की आत्मा स्वाधीनता के लिए बलि होने को छटपटा रही थी। ९ अगस्त को गांधी जी ने 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' का नारा लगाया। उसी दिन सब नेताओं को पकड़कर जेलों में ठूंस दिया गया। फिर क्या था, क्षुब्ध जनता प्रतिशोध के लिए उठ खड़ी हुई। उसी दिन समस्त देश में एक ही साथ व्यापक आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। गांव-गांव में, नगर-नगर में, डगर-डगर में विद्रोह की अग्नि भड़क उठी। सरकारी इमारतें जलाई गईं, रेल की पटरियां उखाड़ी गईं, बिजली के तार काटे गये, सारांशतः क्षुभित जनता से जो कुछ बन पड़ा उसने वह किया। इसके पश्चात् सरकार का दमन-चक्र चला। गांव-के-गांव उड़ा दिये गये। लाठियां और संगीनें बरसीं और हजारों जेलों में गये।

इस असाधारण घटना का हमारे साहित्य पर भी प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। हमारे कवियों और लेखकों ने भी जनता की इस अमर-क्रांति की भावनाओं को अपने लेखों, कहानियों और कविताओं में व्यक्त किया। सन् '४२ के जन-आन्दोलन पर सैकड़ों पुस्तकें लिखी गईं, अनेक कहानियां लिखी गईं और बहुत सी कविताएँ रची गईं। आन्दोलन-काल का यह साहित्य एकदम ओज और क्रांति की भावनाओं से भरा हुआ था। अनेक कवियों और लेखकों ने —जिन्होंने सक्रिय इस आन्दोलन में भाग लिया था—जेलों में ही रचनाएँ कीं। उनकी जेल-सम्बन्धी रचनाएँ विद्रोह और करुणा की अद्भुत मिठास और महत्वाकांक्षा लिए होती थीं। 'सन् बयालीस का विद्रोह', 'हमारा संघर्ष', 'जन जागरण' आदि अनेक पुस्तकें लिखी गईं, अनेक कहानियों और कविताओं की रचना हुई। श्री अंचल का 'चढ़ती-धूप' और श्री कृष्णदास के 'अग्नि-पथ' और क्रांतिदूत' उपन्यास भी इसी आन्दोलन की देन हैं।

इसी बीच नेताजी और आज़ाद-हिन्द-फ़ौज के साहसिक कार्यों की चर्चा भारत में फैलने लगी। उस महान् 'सेनानी' के नाम ने अनेक युवकों के हृदयों की सुप्त ज्वाला को जागृत कर दिया। देश में राष्ट्र-प्रेम और स्वाधीनता के जोश की लहर दौड़ गई। तरुण और वृद्ध सभी साहित्यकारों ने भी लेखनी उठाई और राष्ट्रीयता की इस पावनधारा में अनूठे साहित्य का निर्माण हुआ। 'जय-हिन्द' और 'चलो-दिल्ली' कविताएँ बच्चे-बच्चे की जिह्वा से सुनाई देने लगीं। नेताजी और आज़ाद-हिन्द-फ़ौज के बारे में अनेक पुस्तकें और बहुत-सी कहानियां लिखी गईं। इस समय राष्ट्र-प्रेम और क्रांति की विचारधारा से ओत-प्रोत बड़े सुन्दर काव्य का निर्माण हुआ। इस कार्य में हमारे तरुण कवियों ने विशेष भाग लिया। इनमें बहुत-सी उच्च-कोटि की रचनाएँ होतीं थीं। जैसे—

भारत के चालीस कोटि
'गांधी' अब कह दो 'भारत छोड़ो'।
भारत के चालीस कोटि टीपू
अब कह दो 'भारत छोड़ो'॥
अरे 'बहादुरशाह' आ रहा
पीछे से भागो परदेसी।
'नाना फड़नवीस' के वंशज
ऊंघ चुके, भागो परदेसी॥
आज 'सिराजुद्दौला' के जीने का नया पर्व आयगा
हैदरअली शाह कासिमां की क़ब्रों में कमान आयगा।
—सोहनलाल द्विवेदी

बंगाल का अकाल—सन् '४२ के आन्दोलन में जिस समय देश के बड़े-बड़े नेता जेलों में थे, बंगाल में भीषण अकाल पड़ा। लोग भूखों मरने लगे। अंग्रेज़ सरकार चुपचाप देखती रही और भूख की भेंट चढ़ती हुई जनता की कोई सहायता उसने नहीं की। जनता ने सामूहिक रूप से और व्यक्तिगत रूप से अकाल-पीड़ितों की सहायता भी की, किन्तु उस सहायता से हो क्या सकता था। देखते-ही-देखते लाखों और करोड़ों मानव भूख-पिशाचिनी की भीषण ज्वाला में भस्मसात् हो गये। उस समय का बंगाल विवेकानंद और रामकृष्ण की रंगभूमि, टैगोर और शरत् की

शस्यश्यामला मातृभूमि मृत्यु की नृत्यशाला बनी हुई थी। गलियों और सड़कों पर, खेतों में और मेड़ों पर, नर-कंकाल पड़े दिखाई देते थे। सैंकड़ों स्त्रियां और बच्चे घर-घर भीख मांगते-फिरने लगे। इस असाधारण घटना से हमारा साहित्य भी प्रभावित हुआ। मानव की ऐसी दुर्दशा देख कर साहित्यकारों का हृदय द्रवित हो उठा। और बंगाल के अकाल के करुणाजनक चित्र खींचे जाने लगे। रामचन्द्र तिवारी के 'सागर-सरिता' और अकाल' उपन्यास इसी काल के लिखे हुए हैं। अनेक कविताओं की रचना हुई। पन्त, निराला, महादेवी, उदयशंकरभट्ट व बच्चन प्रभृति कवियों ने भी बंगाल की विभीषिका की कविताएँ लिखीं। नीचे कुछ कविताएँ दी जाती हैं :

मैं देकर चैतन्य भक्ति से झूल उठी थी,
रामकृष्ण को लिए गोद में फूल उठी थी
दिया विवेकानन्द, विश्व मानव ने माना,
विद्यासागर दिया रूढ़ियों ने भय माना।

मैंने बंकिम दिया कि खनक उठी हथकड़ियाँ;
मां बन्दिनी की गोद बनी जागृति की घड़ियाँ।
जब सुरेन्द्र ललकार उठा माँ के आँगन में,
जब अरविन्द पुकार उठा विद्रोही मन में।

× × × ×

तब मैं ले आई रवीन्द्र पश्चिम गति बांधी।
वाणी भरे रवीन्द्र, प्राण जब भर दे गांधी।
मैं शिथिला—मैंने चिंतनरत संत दिये थे।
देशबंधु से परम तपी सामंत दिये थे।

उसी बंग को आज समय क्या भूखा मारे?
वही बंग क्या आज दर-बदर हाथ पसारे?
उसी बंग के बेटे-बेटी बेचे जावें?
मेहतर की गाड़ियों, मृतक शव खेंचे जावें?

देश बंग की भूख भीख को भाषा मत गिन ।
पीड़ित भू को देख, पतन परिभाषा मत गिन ।
इसके नौनिहाल, लाशों में देख रहा तू—
फिर युद्धोत्तर-जगत बनेगा—लेख रहा तू ?

लगे कला में आग, अरे गाता फिरता है ?
आंसू भरे दिलों को भरमाता फिरता है ?

—माखनलाल चतुर्वेदी

पड़ गया बंगाल में काल,
भरी कंगालों से धरती,
दीनता के असंख्य अवतार
पेट खुला,
हाथ पसार
पांच उंगलियां बांध
मुँह दिखला
भीतर घुसी हुई आंखों से
आंसू ढ़ार—
मानव होने का सारा सन्मान बिसार
घूमती गांव-गांव
घूमती नगर-नगर
बाज़ारों हाटों में, दर-दर द्वार-द्वार

—बच्चन

समाचार है :
ग़ज़ब हो गया ! ग़ज़ब हो गया !!
मानव का परिवार सो गया !!!
सोच रहा हूँ :
शान्त रहे क्यों ? लड़े नहीं क्यों !
किसी भूल के फल स्वरूप तो;
कहीं न उनका अन्त हो गया !
वे जर्जर थे
वे भूखे थे
वे नंगे थे
साँस अटक कर जिनकी चलती
वे, कृश-तन जीवन भर रोते
जीवन बोझा ढोते-ढोते
मलिन झुर्रियां भरी—
चाम की चादर ओढ़े
हाँफ़ चले थे
शस्य-श्यामला—
किन्तु, धान्य से हीन धरित्री
और, स्वार्थी-क्षुद्र-राज्य की
कृपा-कोर की एक छोर पर?
वह निश्छल,विश्रान्त, श्रमिक-परिवार
निज धरती पर
एक दिवस वह जीया
एक रूपहली रजनी—
के झिलमिल आंगन में
"आह" ! मौत से आंख मिचौनी खेल-खेलते
सदा-सदा के लिए
न जाने कहां खो गया !!

—बालमुकुन्द मिश्र

इसी प्रकार हिन्दी के अन्य कवियों ने भी बंगाल के अकाल पर काव्य लिखा। कहानीकारों ने कहानी में पीड़ित-जर्जरित मानवता का चित्र खींचा। प्रचुर साहित्य बंगाल के अकाल और सन् '४२ के आन्दोलन पर लिखा गया, किन्तु यह कोई स्थायी साहित्य न था। कारण, यह दोनों घटनाएँ अकस्मात् ही जनता के सम्मुख आईं फिर इनके बाद ही अन्य असाधारण घटनाओं का तांता लग गया। एक के बाद एक घटना सिनेमा के चित्रपट की भांति बदलती रही—देश के स्वाधीन होने तक किसी भी घटना का स्थायी प्रभाव जनता के मन पर अंकित न हुआ, और फिर भारत के स्वाधीन होने पर हमारी ही परिस्थितियाँ उपस्थित हो गईं। इसी कारण वह एक अस्थायी साहित्य था।

भारत-विभाजन की साहित्य पर प्रतिक्रिया

सन् १९४२ के आन्दोलन और बंगाल के अकाल के बाद तीसरी असाधारण घटना जो देश में हुई, वह थी भारत का विभाजन। यह एक युगपरिवर्तक और कल्पनातीत घटना थी। युगों से एक सीमाबद्ध देश दो भागों में बंट गया और इसके परिणामस्वरूप जो साम्प्रदायिकता की भीषण ज्वाला देश में भड़की, जिसने लाखों मनुष्यों को घर-से बे-घर कर दिया, लाखों माताओं के पूत छिन गये, लाखों बहनों के भाई बिछुड़ गये, गुण्डों और म्लेच्छों द्वारा मानवता पर भीषण प्रहार हुए, इसका प्रभाव आज क्या युगों तक भी मानव-हृदय से नहीं मिट सकता। नोआ-खली, बिहार और पश्चिमी पंजाब के भीषण रक्तपात से मानवता प्रकम्पित हो उठी। और इसके साथ-साथ लाखों मनुष्यों का स्थानान्तरित होना, ये सब ऐसी घटनाएँ थीं, जिन्होंने समाज के हृदयों को बदल डाला। लोगों के सामने नये प्रश्न और नई समस्याएँ खड़ी हो गईं। साहित्य भी, जो समाज से भिन्न कोई वस्तु नहीं है, इस प्रभाव से अछूता नहीं रह सका।

इस समय जो साहित्य लिखा गया, उसे हम दो प्रकार का पाते हैं—एक तो साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से लिखा गया और दूसरा पीड़ित और आहत जनता को साहस देने, उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करने और कराने तथा हिन्दू-मुस्लिम सद्भावना को बढ़ाने के लिए लिखा गया। यह दूसरे प्रकार का साहित्य महत्त्वपूर्ण है, जिसने विघटन, विनाश के स्थान पर शान्ति स्थापित करने में सहायता दी, हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रचार किया और शरणार्थियों की

समस्या पर प्रकाश डालकर उसका समाधान करने के उपाय निकाले। इस साहित्य को भी हम दोभागों में बांट सकते हैं—एक हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए तथा परस्पर सद्भावना बढ़ाने के लिए लिखा जाने वाला साहित्य, दूसरा शरणार्थियों की समस्या तथा अन्य परिस्थितियों की पृष्ठभूमि पर निर्मित साहित्य।

हिन्दू-मुस्लिम एकता के ऊपर अनेक कविताएँ, कहानियां और उपन्यास लिखे गये। इन रचनाओं में हम एक आदर्श और ऊँचा आदर्श पाते हैं। क्योंकि इस युग का कलाकार जन-जीवन के प्रति सजग रहकर ही प्रगतिवादी रचना करता है और इसी में अपनी कला की यथार्थता समझता है। इन सजग कलाकारों में—उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', कृष्णचन्द्र, नरोत्तमप्रसाद नागर, अज्ञेय, पहाड़ी, प्रभाकर माचवे, भगवतीचरण वर्मा, शमशेरसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अपनी कहानियों, उपन्यासों तथा कविताओं द्वारा पीड़ित मानवता को पर्याप्त सान्त्वना पहुँचाई। इस सम्बन्ध में कोई ग्रन्थ न लिखा जा कर फुटकर रचनाएँ ही अधिक हुईं। उदाहरण के लिए कुछ रचनाएँ दी जाती हैं।

भगवतीचरण वर्मा की 'अलविदा' शीर्षक कविता देखिए—

तुम मुसलमान हो पहले, उसके पीछे हो इन्सान—
अलविदा दोस्त! लो तुम्हें मिल गया अपना पाकिस्तान!
कहता तो मैं तुमको भाई
पर है तुमको मंजूर कहां
काफ़िर से भला आशनाई!
फिर किस बिरते पर मैं तुमसे
रिश्ता जोड़ूं, नाता रक्खूं
तुम खोद चुके हो मेरे अपने बीच बड़ी गहरी खाई!
पर मेरे मन में मैल नहीं,
तुम मुझे भले दुश्मन समझो!
एसा भी मौका आयेगा—
सर पकड़ोगे, पछताओगे,
मैं तुम्हें दिलाता हूँ यकीन,
तब सबसे बढ़कर दोस्त यहां पर, तुम मुझको ही पाओगे!

श्री 'अज्ञेय' ने भी उस समय का एक सजीव चित्र खींचा है जबकि रेलगाड़ियों को रोककर आक्रमण किये जाते थे ।

रात गाड़ी रुक गई वीरान में।
नींद से जागा, चमककर, सुना
पिछले किसी डिब्बे में किसी ने
मारकर छुरा डिब्बे में किसीको दिया बाहर फेंक
रुकी है गाड़ी—यहीं पड़ताल होगी।
न जाने कौन था वह—
पर हृदय ने तभी साक्षी दी
रात में कोई अभागा मार बैठा छुरा अपने ही हृदय में
स्वयं अपने को उठाकर फेंक बैठा
दनदनाती बढ़ रही कुल मनुजता की रेल से ।
और उसके लिए जाना पड़ेगा
मनुजता के मान को
मुक्ति-उन्मुख हमारी—वाहिनी सारी—
यहां रुक जायगी—
देह अपने रोग का भी भार ढोती है !
धिक् पुनः धिक्कार
और यह धिक्कार
हिन्दू या मुसलमां नहीं, यह धिक्कार
आक्रोश हैं अपमानिता
मेना मनुजता का ।

इसी प्रकार 'अज्ञेय' जी ने अपनी 'शरणार्थी' शीर्षक कविता में शरणार्थियों की दुरावस्था का चित्र उपस्थित किया है—

शहरों में कहर पड़ा है और ठांव नहीं गांव में
अन्तर् में खतरे के शंख बजे, दुराशा के पंख लगे पांव में
त्राहि। त्राहि।। शरण। शरण।।
रुकते नहीं युगल चरण
थमती नहीं भीतर कहीं गूंज रही थी एक स्वर रटना
कैसे बचें, कैसे बचें, कैसे बचें, कैसे बचें
आन। मान। वह तो उफ़ान है गरूर का—
पहली ज़रूरत है जान से चिपटना।

भगवतीचरण वर्मा की 'मनुष्य के प्रति' शीर्षक कविता में इस झंझावात का चित्र खींचा गया है—

रुको मकान जल रहे, रुको नगर उजड़ रहे।
रुको प्रलय उमड़ रही, विनाशघन घुमड़ रहे।
कराह आह का धुआं, हरेक सांस घुट रही।
समस्त सभ्यता सुरुचि, दलित विनष्ट लुट रही।
विशाल हास्य हंस रही
सशक्त हिंस्र प्रवृत्तियां
मनुष्य सृष्टि की छुरा, अशक्त आज छुट रही,
रुको प्रमत्त। आंख में, असीम अन्धकार है,
रुको प्रमत्त। पैर में, विनाश का प्रहार है।
मदांध पशु-प्रवृत्ति और चेतना विनष्ट है,
मनुष्य पंथहीन है, मनुष्य लक्ष्य-भ्रष्ट है।
झुको कि भूमि चूम लो, रुको कि तुम उखड़ रहे।

सुमित्रानन्दन पन्त ने भी इस काल के मानव को अपना नव सन्देश दिया—

आज तो फिर तुम मानव।
चुन-चुन सार प्रकृति से अतुलित
जाय न रूप धरा हे अभिनव।

नभ से शान्ति, कान्ति शशि से हर,
भूतों में नव चेतनता भर,
निस्तलता जलनिधि से लेकर,
भव से विभव, मरुत से ले जव।
आज त्याग, तप, संयम साधन,
सार्थक हों पूजन आराधन,
नीरस दर्शन दर्शनीय—
मानव-वपु पाकर भस्म करें भव
निखिल ज्ञान-विज्ञान समीक्षा—
करना भव इतिहास प्रतीक्षा
मूर्तिमान नव संस्कृति बन
आओ नव मानव। युग-युग संभव।
आज बनो तुम फिर नव मानव।

कविताओं के अतिरिक्त अनेक कहानियां लिखी गईं, जिनमें शरणार्थी-समस्या पर प्रकाश डाला गया। प्रभाकर माचवे की 'शरणार्थी' और रामचन्द्र तिवारी की 'शरणार्थी' इस विषय पर अच्छी कहानियां हैं। कृष्णचन्द्र का इस विषय पर लिखा हुआ उपन्यास और 'इन्सान मर गया' श्रेष्ठ उपन्यास है, विष्णु तथा श्री उदयशंकर भट्ट जी ने कई एकांकी इसी विषय पर लिखे। भट्ट जी का 'पिशाचों का नाच' इस विषय पर सर्वश्रेष्ठ एकांकी है। जिसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि अपहरण की गई स्त्रियों को समाज में पुनः अपनाया जाय। भट्ट जी के इस एकांकी ने अपहृत स्त्रियों की समस्या को बहुत सुन्दरता से सुलझाने का उपाय हमारे सामने रखा है।

इन असाधारण घटनाओं का समाज और साहित्य पर एक अमिट प्रभाव पड़ा और स्वतन्त्रता मिलने पर भी देश की आर्थिक अवस्था सर्वथा बिगड़ती जा रही है। परिणामस्वरूप साहित्य भी, प्रगतिवाद की ओर बढ़ता जा रहा है।

महात्मा जी का महाप्रस्थान

सं० २००४ में विश्ववन्द्य बापू (गांधीजी) के महाप्रस्थान के पश्चात् उन्हें

श्रद्धांजलि समर्पित करने के लिए प्रायः प्रत्येक कवि ने कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा। ऐसी कविताओं की संख्या हज़ारों तक पहुँच गई है। गांधीवादी साहित्य में इन रचनाओं का बहुत बड़ा भाग है। पर गांधीजी के भौतिक शरीर के हमारे मध्य से उठ जाने की घटना को लेकर लिखी गई इन रचनाओं में स्थायित्व नहीं है। पन्त जी आदि प्रमुख कवियों की इनी-गिनी कविताएँ ही स्थायी साहित्य की वस्तु बन पाईं। बच्चन और पन्त जी की सम्मिलित कृति 'खादी के फूल' की एक कविता पहले उद्धृत की जा चुकी है।

अभ्यास

१. बंगाल के अकाल और सन् '४२ के संघर्ष का हिन्दी-साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा?

२. भारत-विभाजन की साहित्य पर क्या प्रतिक्रिया हुई?

३. संघर्षकालीन साहित्य स्थायी क्यों न रहा?

गद्य-साहित्य

(नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, समालोचना आदि)

इक्कीसवाँ अध्याय

प्रचार-युग का गद्य

उपन्यास, नाटक, निबन्ध तथा कहानी

उपन्यास—भारतेन्दु-युग में हिन्दी में आधुनिक ढंग के उपन्यास लिखने का सूत्रपात हुआ। यद्यपि उस समय के लेखकों की प्रवृत्ति विशेषतः नाटकों की ओर ही रही तथापि कुछ मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त अनुवाद का कार्य पर्याप्त हुआ। भारतेन्दु-युग में सर्वप्रथम लाला श्रीनिवासदास ने 'परीक्षा गुरु' नामक उपन्यास लिखा। इस उपन्यास की भाषा बहुत संयत, परिष्कृत और उद्देश्यानुकूल है। इसमें मुहावरों का प्रयोग भी बड़े उचित ढंग से किया गया है, 'परीक्षा-गुरु' से कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

"मुझे आपकी यह बात बिलकुल अनोखी मालूम देती है। भला, परोपकारादि शुभ कामों का परिणाम कैसे बुरा हो सकता है?" पण्डित पुरुषोत्तमदास जी ने कहा।

"जैसे अन्न प्राणाधार है, परन्तु अति भोजन से रोग उत्पन्न होता है।" लाला ब्रजकिशोर कहने लगे × × × ×।

इसके अतिरिक्त भारतेन्दु जी के फुफेरे भाई **राधाकृष्णदास** ने एक छोटा-सा उपन्यास 'निःसहाय हिन्दू' के नाम से लिखा और बंगला के कई उपन्यासों का अनुवाद किया है—'स्वर्णलता', 'मरता क्या न करता' आदि।

बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री ने भी 'इला', 'प्रमीला', 'जया', 'मधु-मालती' इत्यादि अनेक बंगला-उपन्यासों का अनुवाद किया है। इनके अनुवाद काशी के 'भारत जीवन प्रेस' से प्रकाशित हुए थे। पं० राधाचरण गोस्वामी ने भी 'विरजा', 'जावित्री' और 'मृण्मयी' नामक उपन्यासों के अनुवाद बंगभाषा से किये।

पं० बालकृष्ण भट्ट के 'सौ अजान एक सुजान' तथा 'नूतन ब्रह्मचारी' उस समय के प्रसिद्ध मौलिक उपन्यास हैं। इन लेखकों की अनूदित और मौलिक रचनाओं से इतना लाभ अवश्य हुआ कि आगे के हिन्दी-लेखकों को समकालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और अन्यान्य समस्याओं पर विचार करने का ढंग ज्ञात हो गया।

नाटक—भारतेन्दु-युग में नाटक-साहित्य का पर्याप्त विकास हुआ। गद्य-रचना के अन्तर्गत भारतेन्दु जी का ध्यान पहले नाटकों की ओर ही गया। उन्होंने अपनी 'नाटक' नामक पुस्तक में लिखा है कि हिन्दी में उनसे पूर्व दो ही नाटक लिखे गये थे—महाराज विश्वनाथसिंह का 'आनन्द रघुनन्दन-नाटक' और बाबू गोपालचन्द्र का 'नहुष नाटक'। य दोनों नाटक ब्रज-भाषा में थे। भारतेन्दुजी ने स्वयं कई मौलिक नाटक लिखे तथा बंगला व संस्कृत-नाटकों का अनुवाद किया। साथ ही अपने सहयोगियों को भी नाटक लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। उनके नाटकों का उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं।

भारतेन्दुजी का 'सत्य-हरिश्चन्द्र' नाटक बहुत लोकप्रिय हुआ। यह सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा के आधार पर लिखा गया है। कई स्थानों पर इसका सफल अभिनय हुआ और स्वयं बाबू हरिश्चन्द्र ने भी अभिनय में भाग लिया। भारतेन्दुजी के नाटकों में ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होंने सामग्री जीवन के कई क्षेत्रों से ली है। 'चन्द्रावली' में प्रेम का आदर्श है। 'नीलदेवी' पंजाब के हिन्दू राजा पर मुसलमानों की चढ़ाई का ऐतिहासिक वृत्त लेकर लिखा गया है। 'भारत-दुर्दशा' में देश की दशा बहुत ही मनोरंजक ढंग से सामने लाई गई है। 'प्रेम-योगिनी' में भारतेन्दुजी ने वर्तमान पाखंडमय धार्मिक और सामाजिक जीवन के बीच अपनी परिस्थिति का चित्रण किया है। 'विषस्य विषमौषधम्' देशी रजवाड़ों की कुचक्रपूर्ण परिस्थिति दिखाने के लिए रचा गया है।

भारतेन्दुजी ने नाटकों की रचना-शैली में मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया। न तो उन्होंने बंगला-नाटकों की भांति प्राचीन भारतीय शैली को एकबारगी छोड़ा ही, और न प्राचीन नाट्य-शास्त्र की जटिलता में अपने को फंसाया। उनके बड़े नाटकों में प्रस्तावना बराबर रहती थी। पताका-स्थानक आदि का प्रयोग भी वे कहीं-कहीं कर देते थे।

भारतेन्दुजी से प्रभावित होकर उनके समकालीन लेखकों ने भी अनेक नाटकों की रचना की। प्रतापनारायण मिश्र के 'हठी हमीर' और 'गो-संकट' नाटक अच्छे बन पड़े हैं। **बद्रीनारायण चौधरी** ने सं० १९४४ कांग्रेस-अधिवेशन पर 'भारत-सौभाग्य' नाटक लिखा, जो एक विलक्षण नाटक है। नाटक की कथावस्तु है बद-इकबाल-हिन्द की प्रेरणा से १८५७ का ग़दर, अंग्रेजों के अधिकार की पुनः प्रतिष्ठा और नेशनल कांग्रेस की स्थापना। इस नाटक की भाषा भी पात्रों के अनुरूप रंग-बिरंगी है।

ला० श्रीनिवासदास के 'रणधीर और प्रेम मोहिनी' नामक नाटक की

उस समय बड़ी चर्चा हुई थी। यह नाटक अंग्रेजी ढंग पर लिखा गया है। 'रणधीर और प्रेममोहिनी' के नाम से ही 'रोमियो एण्ड जूलियट' का स्मरण हो आता है। कथावस्तु कल्पित है, जिसमें पाटन के राजकुमार और सूरत की राजकुमारी की प्रेम-कथा का चित्रण है। उसकी भाषा उर्दू-मिश्रित है। अंग्रेजी नाटकों की भाँति यह भी दुःखान्त है। लालाजी का दूसरा नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' है। यह पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता हरण का प्रचलित प्रवाद लेकर लिखा गया है।

पं० राधाचरण गोस्वामी ने भी कई सुन्दर और मौलिक नाटक लिखे हैं। इनके 'सुदामा नाटक', 'सती चन्द्रावली' और 'अमरसिंह राठौर' नाटक बड़े प्रसिद्ध हुए। 'सती चन्द्रावली' की कथावस्तु औरंगजेब के साथ हिन्दुओं पर होने वाले अत्याचार का चित्र खींचने के लिए बड़ी निपुणता के साथ कल्पित की गई है। 'अमरसिंह राठौर' ऐतिहासिक नाटक है।

इसी समय **राधाकृष्णदास** के 'महाराणा प्रताप' की बड़ी धूम मची। अनेक स्थानों पर कई बार इसका अभिनय हुआ। भारतेन्दु-युग में नाटकों को रंगमंच पर लाने के लिए भी बहुत प्रयत्न किया गया था।

निबन्ध—भारतेन्दु के समकालीन साहित्य-सेवियों ने निबन्ध-रचना की ओर पर्याप्त ध्यान दिया था। इस युग में प्रायः तीन प्रकार के निबन्ध लिखे गये—१. सामाजिक, २. साहित्यिक और ३. विविध। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, नैतिक—वे सभी प्रकार के विषय आ जाते हैं जिनका सम्बन्ध तत्कालीन स्थिति से था। ऐसे निबन्ध प्रायः सुधारात्मक होते थे और किसी उद्देश्य-विशेष को लेकर लिखे जाते थे। हास्य और व्यंग्य-युक्त तथा मधुर और मार्मिक उक्तियों के कारण इस प्रकार के लेख विशेष रोचक होते थे। विचारों की सत्यता, उद्देश्य की पुनीतता और स्वभाव की निर्भीकता ने इस प्रकार के निबन्धों को विशेष शक्तिशाली और सजीव बना दिया।

दूसरे प्रकार के साहित्यिक निबन्ध इस युग में अधिक नहीं लिखे गये; फिर भी जितने उपलब्ध हैं कला की दृष्टि से उनका स्थान ऊँचा है। अभी तक ऐसे निबन्धों के दो-एक संग्रह ही प्रकाशित हुए हैं, परन्तु इतने से ही यह कहा जा सकता है कि इस युग के अधिकांश लेखकों को इस क्षेत्र में पर्याप्त सफलता मिली थी। कभी भावपूर्ण, तो कभी विचारात्मक गठी हुई शैली तथा सजी हुई अलंकृत भाषा और कभी अकृत्रिम स्वाभाविकता युक्त भाषा में लिखे हुए इस युग के साहित्यिक निबन्धों में व्यक्तित्व की छाप भी स्पष्ट झलकती है। प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट इस युग के सर्वमान्य निबन्ध-लेखक हैं। बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों

का संग्रह 'साहित्य-सुमन' के नाम से प्रकाशित हुआ है। तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में इस प्रथम विकास-काल के महत्त्वपूर्ण लेख आज भी दबे पड़े हैं। पुस्तक रूप में इनके प्रकाशित हो जाने पर हमारे निबन्ध-साहित्य में पर्याप्त अभिवृद्धि होगी।

तीसरे प्रकार के निबन्ध ऋतु-छटा, पर्व-त्योहार, जीवन-चरित, ऐतिहासिक घटनाएँ और नैतिक आचरण सम्बन्धी हैं। इनकी संख्या पहले प्रकार के निबन्धों से कम है। इस प्रकार के निबन्धों की शैली प्रायः वर्णनात्मक है। उपदेश की प्रधानता के कारण आज इन निबन्धों को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता। इन निबन्धों में कहीं २ ऐसे भावात्मक और विचारात्मक स्थल भी हैं, जहाँ अलंकृत भाषा-शैली का प्रयोग किया गया है।

कहानी—कहानी लिखने का सूत्रपात भी भारतेन्दु-काल में ही हुआ। उसका विकास आगे चलकर द्विवेदी-काल में हुआ, जो आगे और भी विकसित होता रहा। इस युग की कहानियों का कोई साहित्यिक महत्त्व भले ही न हो, फिर भी कहानियों का बीजारोपण तो हो ही चुका था। इनमें उद्देश्यप्रधान कहानियां पाठ्यक्रम के दृष्टिकोण को लेकर लिखी गई।

पं० कृष्णदत्त मिश्र ने उद्देश्य प्रधान कहानियों का संग्रह 'बुद्धि-फलोदय' नाम से प्रकाशित कराया। इसमें सुबुद्धि और दुर्बुद्धि का वाद-विवाद दिखाया गया है। इसका रचनाकाल सं० १९१७ के लगभग है। दूसरी कहानी-पुस्तक सितारेहिन्द की 'वामा मनोरंजन' नाम से सं० १९२४ में प्रकाशित हुई। ये दोनों कहानी-पुस्तकें स्त्री-शिक्षा के दृष्टिकोण से लिखी गई थीं। सं० १९२८ में नजमुद्दीन की एक कहानी-पुस्तक 'सूर्यपुर की कहानी' नाम से प्रकाशित हुई। स्वतन्त्र कहानियों की पहली पुस्तक पराहूदास का 'दृष्टान्त कोष' सं० १९२७ में और इसके पश्चात् सं० १९४५ में पं० अम्बिकादत्त व्यास की 'कथा-कुसुम-कलिका' प्रकाशित हुई।

रस-प्रधान कहानियों में गौरीदत्त की 'देवरानी-जेठानी' सं० १९२८ में प्रकाशित हुई। यह शृंगार रस-प्रधान कहानी वास्तव में एक छोटा-सा उपन्यास ही थी। सं० १९४६ में श्यामलाल चक्रवर्ती की 'कहानी कलाकामी' प्रकाशित हुई। यह भी बहुत बड़ी शृंगार-रस-प्रधान कहानी है। सं० १९४५ में मुन्शी दुर्गाप्रसाद की 'सपने की सम्पत्ति' प्रकाश में आई। १९५५ में सूर्यभानु कृत 'लज्जावती का किस्सा' प्रकाशित हुआ।

वस्तु-प्रधान कहानियां तो केवल मनोरंजन की दृष्टि से लिखी गईं, इनमें मुन्शी नवलकिशोर सितारेहिन्द ने सौ कहानियों का एक संग्रह 'मनोहर कहानी'

के नाम से १९४८ में प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त गोपालप्रसाद की दो कहानी-पुस्तकें 'कंजूस-चरित' और 'ठग लीला' प्रकाशित हुईं।

अभ्यास

१. भारतेन्दु-युग के गद्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख करके, नाटक के विकास पर विशद रूप से प्रकाश डालें।

२. निबन्ध की दिशा में इस युग के साहित्यिकों की क्या देन है?

बाईसवाँ अध्याय

संस्कार-युग का गद्य

नाटक, उपन्यास, कहानी तथा निबन्ध

द्विवेदी-युग में लेखकों की प्रवृत्ति नाटकों की ओर बहुत कम रही। अधिकतर लेखकों की रुचि उपन्यास की ओर झुक गई। १९५० तक तो भारतेन्दुजी की नाटक-परम्परा न्यूनाधिक रूप में चलती रही; किंतु उसके पश्चात् उसकी गति मन्द पड़ने लगी। द्विवेदी-युग में दो-चार ही मौलिक नाटक लिखे गये, हाँ, बंगला और संस्कृत के नाटकों का अनुवाद-कार्य अवश्य हुआ।

बंगला-नाटकों का अनुवाद—बाबू रामचन्द्र वर्मा ने 'वीर-नारी', 'कृष्ण-कुमारी', और 'पद्मावती' का अनुवाद किया। बाबू गोपाल राम गहमरी द्वारा 'बनवीर', 'देश-दशा', बभ्रुवाहन' 'विद्या-विनोद' और 'चित्रांगदा' का अनुवाद हुआ। पं० रूपनारायण पांडेय द्वारा अनूदित 'पतिव्रता', 'खानजहाँ', 'अचलायतन', 'उस पार', 'शाहजहाँ', 'दुर्गादास', और 'ताराबाई' प्रसिद्ध नाटक थे। ये नाटक बंगला-नाटककार श्री द्विजेंद्रलाल राय, रवींद्र बाबू तथा गिरीश बाबू के नाटकों से अनूदित किये गये थे।

अंग्रेजी के अनुवाद—पुरोहित गोपीनाथ का 'प्रेम लीला' नामक नाटक 'रोमियो जूलियट' का अनुवाद था। पं० मथुराप्रसाद चौधरी ने 'मैकबेथ' का अनुवाद 'साहसेंद्र' नाम से किया। 'हैमलेट' का गणपतिगुर्जरकृत अनुवाद 'जयन्त' नाम से प्रकाशित हुआ।

संस्कृत के अनुवाद—लाला सीताराम बी० ए० ने अनेक संस्कृत नाटकों के अनुवाद किये। पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र ने 'वेणी-संहार', 'अभिज्ञान शाकुन्तल, तथा 'रत्नावली' नाटिका के अनुवाद किये। पंडित सत्यनारायण कविरत्न ने 'उत्तररामचरित' और 'मालती-माधव' का बहुत सुन्दर अनुवाद किया।

मौलिक नाटक—गोस्वामी किशोरीलाल ने 'चौपट-चपेट' और 'मयंक मंजरी' लिखे। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'रुक्मणी-परिणय' और 'प्रद्युम्न-विजय' नामक दो नाटकों की रचना की। पं० बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'प्रभात मिलन' और

'मीराबाई' नाटकों की रचना की। बाबू शिवनन्दन सहाय का 'सुदामा नाटक' अच्छा प्रसिद्ध हुआ। राय देवीप्रसाद पूर्ण ने 'चन्द्रकला भानुकुमार' नाटक लिखा।

उपन्यास

इस द्वितीय उत्थान में उपन्यासकारों ने आलस्य का खूब त्याग किया। अनुवाद भी पर्याप्त हुए और मौलिक उपन्यास भी कई लिखे गये। पहले हम अनुवादों की चर्चा करेंगे।

अनुवाद—बाबू रामचन्द्र वर्मा ने अंग्रेजी और उर्दू से कुछ उपन्यासों का अनुवाद किया। जिनमें 'ठग वृत्तांतमाला', 'पुलिस वृत्तांतमाला', 'अकबर' 'अमला वृत्तांतमाला' और 'चित्तौर-चातकी' प्रसिद्ध हैं। बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'इला' और 'प्रमीला' का अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त इनके 'जया' और 'मधुमालती' भी अनूदित उपन्यास हैं।

बाबू गोपाल राम गहमरी ने बंगला-उपन्यासों के अनुवाद किये। इनके उपन्यास गार्हस्थ्य-सम्बन्धी थे। इनमें 'चतुर चंचला', 'भानुमती' 'नये बाबू', 'बड़ा भाई', 'देवरानी-जेठानी', 'दो बहन', और 'तीन पतोहू' प्रसिद्ध हैं। काशी-निवासी बाबू गंगा प्रसाद गुप्त का उर्दू से अनुवाद 'पूना में हलचल' और बाबू रामचन्द्र वर्मा का मराठी से अनुवाद 'छत्रसाल' उच्च-कोटि के उपन्यास हैं। पं० हरनारायण आपटे के 'वज्राघात', 'ऊषाकाल' आदि मराठी के उपन्यासों के भी सुन्दर अनुवाद हुए।

इस उत्थान के भीतर बंकिमचन्द्र, रमेशचन्द्रदत्त, हारणचन्द्र रक्षित, चंडीशरण सेन, शरत् बाबू तथा चारुचन्द्र इत्यादि बंग भाषा के प्रायः सब प्रसिद्ध उपन्यासकारों की कृतियों के अनुवाद हो चुके थे। रवींद्रबाबू के भी 'आँख की किरकरी' आदि कई उपन्यास हिंदी संघ में दिखाई पड़ते हैं। इन अनुवादों के प्रभाव से आगे आने वाले उपन्यासकारों का आदर्श बहुत-कुछ ऊँचा हुआ।

इस काल के पहले मौलिक उपन्यासकार, जिन के उपन्यासों की सर्व-साधारण में खूब धूम मची, काशी के बाबू देवकीनन्दन खत्री थे। इनके उपन्यास जासूसी और ऐय्यारी से भरे होते थे। द्विवेदी युग से पहले ही ये—'नरेन्द्र-मोहिनी', 'कुसुमकुमारी' और 'वीरेन्द्र-वीर' आदि कई उपन्यास लिख चुके थे। उक्त युग के आरम्भ में तो इनके 'चन्द्र-कान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' उपन्यासों ने चारों ओर इतनी धूम मचा दी थी कि जो लोग हिंदी नहीं जानते थे वे भी इन नामों से परिचित हो गये। इन उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटना-वैचित्र्य

ही था, रस-संचार, भाव-विभूति या चरित्र-चित्रण नहीं। साहित्यिक दृष्टि से इन उपन्यासों का कोई मूल्य नहीं। पर इन उपन्यासों से इतना उपकार अवश्य हुआ कि जो लोग हिंदी नहीं जानते थे, उन्होंने भी 'चन्द्रकांता' को पढ़ने के लिए हिंदी सीखी। कितने ही युवक इसी चन्द्रकान्ता को पढ़ते-पढ़ते अन्य उपन्यास व साहित्य का अध्ययन करने लगे। और धीरे-धीरे अच्छे लेखक बन गये।

बाबू देवकीनन्दन ने इन उपन्यासों में ऐसी भाषा का व्यवहार किया है, जिसे थोड़ी हिंदी और थोड़ी उर्दू पढ़े-लिखे लोग भी समझ लें। 'चन्द्रकान्ता' के चार भाग 'चन्द्रकांता-सन्तति' के २४ भाग हैं। इन्होंने 'भूतनाथ' के भी कई भाग लिखे, शेष भाग इनके बड़े पुत्र बाबू दुर्गाप्रसाद जी ने लिखे थे।

दूसरे मौलिक उपन्यासकार पं० किशोरीलाल गोस्वामी हैं। इनका जन्म सं० १९१२ में और मृत्यु १९८९ में हुई। इनकी रचनाएँ साहित्यिक थीं। इनके उपन्यासों में समाज के सजीव चित्र, वासनाओं के रूप-रंग, चित्ताकर्षक वर्णन और थोड़ा बहुत चरित्र-चित्रण भी अवश्य पाया जाता है। गोस्वामी जी संस्कृत के पंडित और हिंदी के प्राचीन कवि और लेखक थे। उन्होंने १९२५ में 'उपन्यास' नामक मासिक पत्र भी निकाला था। गोस्वामी जी ने ६५ के लगभग उपन्यास लिख कर प्रकाशित किये। इनके कुछ प्रसिद्ध उपन्यास ये हैं—तारा, चपला, तरुण-तपस्विनी, रज़ियाबेगम, लीलावती, राजकुमारी, लवंगलता, हीराबाई, हृदयहारिणी; लखनऊ की कब्र।

प्रसिद्ध कवि और गद्य-लेखक पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भी दो उपन्यास 'ठेठ-हिंदी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' नाम से लिखे। ये दोनों उपन्यास भाषा के नमूने की दृष्टि से लिखे गये थे, औपन्यासिक कौशल की दृष्टि से नहीं। उपाध्याय जी ने इनमें अपनी संस्कृत पदावली को छोड़ कर ठेठ हिंदी का प्रयोग करके यह दिखाया है कि वे संस्कृतनिष्ठ भाषा ही नहीं, सरल हिंदी भी लिख सकते हैं। इसी समय के पं० लज्जाराम मेहता ने भी कुछ उपन्यास लिखे जिन में प्रसिद्ध ये हैं—'धूर्त रसिकलाल', 'हिंदू-गृहस्थ', 'आदर्श-दम्पति' और 'बिगड़े का सुधार'।

इनके अतिरिक्त बाबू ब्रजनन्दन सहाय ने भी दो-एक उपन्यास लिखे थे जिन के नाम 'सौंदर्योपासक' और 'राधाकान्त' हैं।

कथा-कहानी

इस युग में कहानी-साहित्य का विशेष विकास नहीं हुआ। यद्यपि उपन्यासों के साथ-साथ कुछ लेखकों का झुकाव कहानी की ओर भी हुआ, तथापि

कोई प्रसिद्ध कहानीकार इस युग में प्रकट नहीं हुआ। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में जो कहानियां प्रकाशित होती थीं, उनमें कहानी-तत्त्व अवश्य होता था, परन्तु वे अधिकतर अनूदित होती थीं। अंग्रेजी की मासिक पत्रिकाओं में जैसी छोटी-छोटी कहानियां प्रकाशित होती हैं, वैसी ही रचना 'गल्प' के नाम से बंगभाषा में भी होने लगी। इन कहानियों में जीवन के बड़े मार्मिक और भाव-व्यंजक चित्र उपस्थित किये जाते थे। इन्हीं के अनुकरण पर हिंदी में भी ऐसी कहानियों का आविर्भाव होने लगा।

सं० १९५७ में 'सरस्वती' में पं० किशोरीलाल गोस्वामी की मौलिक कहानी 'इन्दुमती' नाम से निकली। इसके पश्चात् 'सरस्वती' में बराबर कहानियां निकलती रहीं, किंतु वे अधिकतर बंगभाषा से अनूदित होती थीं। बंग भाषा से अनुवाद करने वालों में बा० गिरिजाकुमार घोष का नाम उल्लेखनीय है। उनके उपरान्त 'बंग महिला' का स्थान है; जो मिर्जापुर-निवासी बाबू रामप्रसन्न घोष की सुपुत्री थीं। उन्होंने बहुत सी कहानियों का बंगला से अनुवाद तो किया ही, साथ ही हिंदी में कुछ मौलिक कहानियां भी लिखीं। इनके अतिरिक्त मास्टर भगवानदास की 'प्लेग की चुड़ेल', पं० रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' और पं० गिरिजादत्त वाजपेयी की 'पंडित और पंडितानी' कहानियां उल्लेखनीय हैं।

सं० १९६८ में बाबू जयशंकर प्रसाद की 'ग्राम' नाम की कहानी उनके मासिक पत्र 'इन्दु' में प्रकाशित हुई। इस कहानी में कल्पना और भावुकता प्रचुर मात्रा में थी। इसके पश्चात् तो प्रसादजी की अन्यान्य कहानियां निकलने लगीं, किंतु उनकी गणना द्विवेदी-युग में न होकर वर्तमान-विकास युग में की जाती है। उनके मासिक पत्र 'इन्दु' में श्री जी० पी० श्रीवास्तव की कहानियां भी निकला करती थीं। इन्हीं दिनों पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की 'रक्षा-बन्धन' नामक कहानी 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। पं० ज्वालादत्त शर्मा और चतुरसेन जी की कहानियां भी सरस्वती' में निकला करती थीं। १९७२ में पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की सर्व-श्रेष्ठ कहानी 'उसने कहा था' 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। इसे हम उच्च-कोटि की कहानी कह सकते हैं। इसमें पूर्ण यथार्थवाद के साथ-साथ भावुकता, सुरुचि, कुतूहल आदि कहानी के सभी गुण विद्यमान थे। इसे हिन्दी कहानी-साहित्य का 'कोहेनूर' कह सकते हैं।

सं० १९७३ से हमें श्री प्रेमचन्द्र जी की छोटी-छोटी कहानियों के भी दर्शन होने लगे। अब लेखकों को उपन्यासों की ओर से कुछ अरुचि होने लगी तथा

कहानी की ओर प्रवृत्ति बढ़ने लगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कार-युग के अन्तिम भाग में कहानी के विकास का प्रारम्भ होता है, जो सौकुमार्य युग में आकर पूर्ण विकसित हुआ।

निबन्ध

हम पहले बता चुके हैं कि भारतेन्दुजी के समय से ही हमारी भाषा में निबन्धों की परम्परा चल पड़ी थी। परन्तु उस समय वर्णनात्मक निबन्ध-पद्धति ही प्रचलित थी। यों स्थायी विषयों पर भी कुछ निबन्ध लिखे गये, किंतु बहुत कम। भारतेन्दु के सहयोगी लेखक अधिकतर समाज की जीवन-चर्या, ऋतु-चर्या, पर्व त्योहार आदि पर ही साहित्यिक निबन्ध लिखते रहे। उन के लेखों में देश की परम्परागत भावनाओं और उमंगों का प्रतिबिम्ब रहा करता था। होली, विजयादशमी, दीपावली इत्यादि पर लिखे गये उनके प्रबन्धों में जनता के जीवन का पूरा-पूरा रंग रहता था। इस के लिए वे वर्णनात्मक और भावात्मक दो विधानों का सहारा लेते थे। किंतु आगे चलकर यह सामाजिक सजीवता मन्द पड़ गई।

संस्कार-युग निबन्ध-रचना का दूसरा युग है। इस युग में कुछ महत्त्वपूर्ण निबन्ध अवश्य लिखे गये; किंतु फिर भी निबन्ध-रचना का चरम विकास नहीं हो पाया। सर्वप्रथम श्री द्विवेदी जी ने 'बेकन-विचार-रत्नावली' के नाम से 'बेकन' के अंग्रेजी निबन्धों का अनुवाद किया। उसी काल के समीप पं. गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने 'निबन्धमालादर्श' के नाम से 'चिपलूणकर' के मराठी निबन्धों का अनुवाद किया।

पं० माधवप्रसाद मिश्र भी एक अच्छे निबन्धकार थे। उनके निबन्धों का संग्रह 'माधव मिश्र निबन्ध माला' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इनके संग्रह को देख कर इनकी बहुमुखी प्रतिभा के विषय में कुछ संदेह नहीं रह जाता।

श्री बालमुकुन्द गुप्त भी इस काल के अच्छे निबन्ध लेखकों में से हैं। ये उर्दू के भी अच्छे लेखक थे, इसलिए इन की भाषा बड़ी प्रभावमयी, मुहावरे-दार और व्यावहारिक होती थी। गुप्तजी का एक निबन्ध-संग्रह भी प्रकाशित हो चुका है; इसी समय के एक अन्य लेखक गोविन्दनारायण मिश्र की भाषा बड़ी लच्छेदार और अनुप्रासमयी होती थी। आपके निबन्धों का संग्रह 'गोविन्द-निबन्धावली' के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

मिश्रजी के समकालीन बा० श्यामसुन्दरदास भी एक अच्छे निबन्धकारों में से थे। उन्होंने स्वयं अनेक सुन्दर निबन्धों की रचना तो की ही, साथ ही अन्य

लेखकों से भी निबन्ध लिखवाये। आपके निबन्धों के संग्रह 'हिंदी-निबन्ध-माला' के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं।

अध्यापक पूर्णसिंह जी के 'मजदूरी और प्रेम' आदि निबन्ध हिंदी साहित्य के अमूल्य रत्न हैं। जैसी दिव्य भाषा, विषय शैली पूर्ण जी के निबन्धों में पाई जाती है। वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

पं. चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' भी संस्कार-युग के अच्छे निबन्धकारों में से थ। इन्होंने अधिक निबन्ध नहीं लिखे, किंतु जो कुछ भी लिखे, वह प्रौढ़, परिमार्जित और साहित्यिक हैं। गुलेरी जी के लेखों में हास्य का पुट मिलता है। भाव, भाषा, आत्मीयता और व्यक्तित्व की दृष्टि में आपका तत्कालीन निबन्ध-कारों में श्रेष्ठ स्थान है।

पं. जगन्नाथ चतुर्वेदी ने बहुत अधिक निबन्ध नहीं लिखे, फिर भी वे अपने युग के निबन्धकार हैं। उन्होंने छात्रोपयोगी दो पुस्तकें 'हिंदी-निबन्ध-शिक्षा' तथा 'प्रबन्ध-रचना-शैली लिखी हैं। आपके दो संग्रह 'गद्यमाला और 'निबन्ध-नियम' प्रकाशित हो चुके हैं।

पं. रामचन्द्र शुक्ल इस युग के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार थे। उनके निबन्धों की तुलना पश्चिम के प्रौढ़ से प्रौढ़ निबन्धकारों से आसानी से की जा सकती है। आपने अपनी लौह-लेखनी की शक्ति से हिंदी में एक नवीन युग का सृजन कर दिया।

आप की शैली प्रौढ़ और गम्भीर थी। आप हिंदी में स्वतन्त्र भावाभिव्यंजना के पक्षपाती थे। आपका "हिंदी साहित्य का इतिहास" एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। शुक्ल जी की भाषा बड़ी सरल और सरस है। मनोविकारों पर आपने बहुत उच्चकोटि के मनोवैज्ञानिक ढंग के निबन्ध लिखे हैं। शुक्लजी एक श्रेष्ठ आलोचक भी थे। आपके निबन्ध संग्रह 'विचार-वीथी', 'त्रिवेणी' और 'चिन्तामणि' के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। 'चिन्तामणि' की रचना पर आपको 'मंगलाप्रसाद पारि-तोषिक' भी मिला था।

समालोचना

समालोचना साहित्य का प्रधान अंग है। समालोचना द्वारा ही साहित्य का संतुलित रूप हमारे सामने आता है। उसके बिना साहित्य में बिखरी हुई अनन्त विभूतियां सामने नहीं आतीं। आलोच्य काल से पूर्व हिंदी में आधुनिक समालोचना का रूप नहीं मिलता। हमारे यहां संस्कृत आचार्यों की शैली पर रस, अलंकार आदि की उत्कृष्ट काव्य-रचनाएँ उद्धृत करके लक्षण-ग्रंथ लिखने की प्रथा बहुत

कम रही। गुण-दोष-विवेचना ही इस पुराने ढंग की समालोचना का प्रधान उद्देश्य रहा था। पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार के साथ किसी पुस्तक के गुण और दोष या अन्य सूक्ष्म विशेषताएँ दिखाने की प्रथा हमारे यहां भी अब चल पड़ी हैं, परन्तु आलोच्य काल में हिंदी समालोचना का रूप केवल गुण-दोष दिखाना मात्र रहा।

भारतेन्दु-युग में भी समालोचना का यही दृष्टिकोण था। समालोचना के उक्त रूपसे कुछ विकसित रूप, भारतेन्दु की मृत्यु के बाद मिलता है। सं० १९४२ में लाला श्रीनिवासदास ने 'संयोगिता-स्वयंवर' नाटक लिखा। सं. १९४३ में पं. बालकृष्ण भट्ट ने 'हिंदी-प्रदीप' में 'संयोगिता-स्वयंवर' की आलोचना की। उसमें उन्होंने नाटक की भाषा, कथानक का संगठन, कथोपकथन आदि के गुण दोष दिखाते हुए निष्पक्ष रूप से विचार किया है। उसी वर्ष बद्रीनारायण चौधरी ने 'आनन्द कादम्बिनी' में उसकी विस्तृत और कठोर आलोचना की। किंतु इन्होंने भी उसकी विशेषताओं का उल्लेख न करते हुए उसमें दोष ही निकाले।

समालोचना की यह प्रथा संस्कार-युग में भी प्रचलित रही। स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सं. १९४२ में 'हिंदुस्तान' में 'हिंदी-कालिदास' की समालोचना की, उसमें भी इसी प्रणाली के दर्शन होते हैं। उसमें उन्होंने लाला सीताराम कृत कालीदास की रचनाओं के अनुवादों में व्यतिक्रम बताये हैं। फिर सं० १९५६ में उन्होंने सरकारी रीडरों की खरी आलोचना की।

सं० १९५४ में 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' के प्रकाशन से नवीन समालोचना के दर्शन हुए। हिंदी-समालोचना के इतिहास में 'पत्रिका' चिरस्मरणीय रहेगी। 'पुस्तक-समीक्षा' या 'पुस्तक-परिचय' के रूप में आलोचना रहने के साथ-साथ उसमें गम्भीर अध्ययन के बाद लिखे गये गवेषणात्मक और समालोचना-सिद्धांत-सम्बन्धी लेख भी प्रकाशित होते थे। 'पत्रिका' के प्रकाशन से पहले ऐसे लेखों का सर्वथा अभाव था। इसी प्रणाली का कुछ अनुसरण १९५७ में महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने 'नैषध-चरित-चर्चा,' में किया। कुछ समय बाद उन्होंने 'विक्रमांकदेव-चरित-चर्चा' भी प्रकाशित की। ये दोनों लेख परिचयात्मक हैं। संस्कृत से अनभिज्ञ पाठकों को उनसे मूल ग्रंथों के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान प्राप्त हो सकता है। द्विवेदीजी ने उनके सुन्दर स्थलों की ओर भी पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। 'पत्रिका' में ही सर्वप्रथम गवेषाणात्मक लेख प्रकाशित हुए। साहित्य-शास्त्र के सिद्धांतों पर प्रकाश डालने वाला पहला लेख गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का 'समालोचना' था। सं. १९५३ में यह लेख एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो चुका था। इसमें लेखक ने

तत्कालीन पत्रों द्वारा नवीन प्रकाशित पुस्तकों की चर्चा के रूप में समालोचना, हिंदी में समालोचना की प्रथा, समालोचक के ग्रंथ सम्बन्धी ज्ञान, सत्य-प्रियता, शान्त स्वभाव आदि गुणों पर प्रकाश डाला है। वास्तव में समालोचना सिद्धांतों का प्रतिपादन करने वाली यह पहली पुस्तक थी। समालोचना साहित्य का यह एक महत्त्वपूर्ण विकास था। इसके पश्चात् सं. १९५४ में 'पत्रिका' में रत्नाकर कृत 'समालोचनादर्श' और अम्बिकादत्त व्यास द्वारा लिखित 'गद्य-काव्य-मीमांसा' शीर्षक लेख प्रकाशित हुए। 'गद्य-काव्य-मीमांसा' में लेखक ने प्राचीन और नवीन आदर्शों के अनुसार गद्य-रचना के सिद्धांतों पर विचार किया है। 'समालोचनादर्श' में समालोचना के व्यापक सिद्धांतों का उल्लेख है। इसके पश्चात् 'पत्रिका' 'सरस्वती' और 'मर्यादा' आदि पत्रिकाओं द्वारा समीक्षाप्रणाली का और भी विकास हुआ।

द्विवेदी-युग के समालोचकों में मिश्रबन्धुओं का अपना स्थान है। उन्होंने 'हिंदी नवरत्न' में देव और बिहारी की तुलनात्मक समीक्षा की। देव और बिहारी को लेकर हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में उन दिनों खूब चर्चा रही। लाला भगवानदीन जी ने बिहारी का पक्ष लिया और और पं. कृष्णबिहारी मिश्र तथा उनके दल ने देव का समर्थन किया। कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नाम की पुस्तक में आलोचना की कोई कसौटी नहीं रखी थी। इस पुस्तक के उत्तर में लाला भगवानदीन जी ने 'बिहारी और देव' पुस्तक लिखी। लाला जी की समालोचना अपने विपक्षी को मूर्ख ठहराने में समर्थ थी।

पं. पद्मसिंह जी शर्मा द्विवेदी-युग के प्रमुख समालोचक थे। उन्होंने बिहारी पर आलोचनात्मक पुस्तक लिखी थी। इस पुस्तक में 'आर्या-सप्तशती' और 'गाथा-सप्तशती' आदि प्राकृत व संस्कृत ग्रन्थों तथा हिन्दी उर्दू की कई रचनाओं के पद्यों के साथ बिहारी की तुलना की गई है। इस प्रकार इस काल में समालोचना की खूब धूम रही। पत्र-पत्रिकाओं द्वारा नये-नये समालोचक मैदान में उतरने लगे।

पं. रामचन्द्र शुक्ल द्विवेदी-युग के लेखक होते हुए भी सुकुमार-युग के श्रेष्ठ समालोचकों में सर्वमान्य हैं। आपने जायसी के पद्मावत, सूरदास व तुलसीदास की बड़ी सुन्दर और अत्यन्त विशद आलोचनाएँ की हैं। इनके अतिरिक्त बाबू श्याम-सुन्दरदास इस युग के अच्छे आलोचक हैं। बाबू श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' विद्यार्थियों के लिए बड़ी उपयोगी पुस्तक है। तथा बाबू गुलाबराय जी की

आलोचनाएँ भी छात्रों के लिए काम की रहीं। यद्यपि द्विवेदी-युग में समालोचना की बहुत-कुछ उन्नति हुई; परन्तु उसका स्वरूप अधिकांश में रूढ़िगत ही रहा।

अभ्यास

१. द्विवेदी-कालीन नाटक-साहित्य के विकास पर प्रकाश डालते हुए इस युग के मौलिक एवं अनूदित नाटकों का वर्णन करें।

२. द्विवेदी-युग में उपन्यास-साहित्य में क्या-क्या प्रगतियाँ हुईं? इस युग के उपन्यासकारों का परिचय दें।

३. द्विवेदी-काल में हिन्दी-गद्य की भाषा में क्या-क्या सुधार हुए? सविस्तर वर्णन करो।

४. द्विवेदी-युग में समालोचना-प्रणाली में क्या-क्या परिवर्तन हुए?

५. इस युग के प्रमुख समालोचकों एवं समालोचना-साहित्य का परिचय दें।

६. द्विवेदी-युग के कहानी-साहित्य पर प्रकाश डालें।

७. इस युग के प्रमुख निबन्धकारों का परिचय दें।

तेईसवाँ अध्याय

सुकुमार युग का गद्य

उपन्यास, समालोचना नाटक आदि

इस युग से पूर्व ही तुलनात्मक समालोचना के प्रचलित करने का श्रेय हम पं. पद्मसिंह शर्मा को दे सकते हैं। वास्तव में हिंदी में वह एक नवीन प्रणाली थी। उन दिनों हिंदी में अधिकांश रीति-काव्य का ही प्रचलन था। यों थोड़ी-बहुत नई शैली की रचनाएँ भी होने लगी थीं, किंतु वह रीति-काव्य की अपेक्षा बहुत थोड़ी थीं। पं. पद्मसिंह शर्मा ने रीति-कविता के आधार पर ही समालोचना की, यद्यपि थोड़ा बहुत नवीन काव्य पर भी विचार किया है। जिस मात्रा में ये दोनों प्रकार के काव्य-भेद उस समय प्रचलित थे, ठीक उसी अनुपात से शर्मा जी ने उनका विवेचन किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक समालोचना की सुन्दर रूप-रेखा द्विवेदी युग में ही तैयार हो चुकी थी।

प्रेमचन्द की प्रतिभा

वर्तमान कथा-साहित्य को सजीव और सरल बनाकर उसे विकास की चरम सीमा पर पहुँचाने वालों में सर्वप्रथम प्रेमचन्द जी का नाम आता है। प्रेमचन्द जी के साहित्य की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने साहित्य में जन-सामान्य की मान्यताओं और समस्याओं का स्पष्ट चित्र अंकित किया। उन्होंने जनता के एक ऐसे वर्ग को साहित्य में स्थान दिया, जिस पर अभी तक किसी ने लेखनी भी नहीं उठाई थी। प्रेमचन्द साहित्य के ही स्रष्टा नहीं, प्रत्युत समाज के भी स्रष्टा थे। प्रेमचन्द जी के साहित्य पर विचार करने से पूर्व हम उनके जीवन का संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक समझते हैं।

प्रेमचन्द जी का जन्म सं. १९३७ में बनारस के पास लमही नामक एक छोटे से गाँव में हुआ। उनका वास्तविक नाम धनपतराय श्रीवास्तव था। उनके ग़रीब माता-पिता मुहर्रिर का कार्य करते थे। इनके पूर्वजों का मुग़ल-अदालतों से घनिष्ठ सम्बन्ध था, इसलिए उन्होंने इस्लामी और फ़ारसी संस्कृति के तत्वों को अपना लिया था। इसी कारण प्रेमचन्द को आरम्भ में मौलवी द्वारा उर्दू और फ़ारसी पढ़नी पड़ी। प्रेमचन्दजी के पिता की आर्थिक अवस्था अत्यन्त शोचनीय थी।

वे अपने परिवार का निर्वाह कठिनता से चला पाते थे। इस दरिद्रता की दशा में १५ वर्ष की अवस्था में ही एक कुरूप और असभ्य स्त्री के साथ उनका विवाह कर दिया गया। यह रूढ़िगत अनमेल विवाह प्रेमचन्द जी के लिए एक झंझट ही था। परिणामतः यह सम्बन्ध पूर्ण रूप से असफल सिद्ध हुआ। उनकी पत्नी उन्हें छोड़ कर अपने मायके चली गई। कुछ समय पश्चात् उन्होंने अपना दूसरा विवाह एक बाल-विधवा से कर लिया। इस बीच उनके पिता की मृत्यु हो चुकी थी।

ग़रीबी और दरिद्रता की अवस्था में ज्यों-त्यों करके प्रेमचन्द जी ने १९६७ में द्वितीय श्रेणी में मैट्रिक-परीक्षा पास की। द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण होने के कारण उन्हें कॉलिज में भरती नहीं किया गया। सौभाग्य से या दुर्भाग्य से उन्हें उसी स्कूल में १८) रु० मासिक के वेतन पर अध्यापक का स्थान मिल गया। अध्यापन के साथ-साथ उन्होंने बी. ए. की तैयारी भी जारी रखी। अपनी प्रतिभा और परिश्रम के बल से १५ वर्ष में वे अध्यापक से डिप्टी-इन्स्पैक्टर ऑफ़ स्कूल के पद पर पहुँच गये।

प्रेमचन्द जी ने आरम्भ में उर्दू में कहानियां लिखना आरम्भ किया। उन की कहानियां उर्दू के सर्वश्रेष्ठ पत्र 'ज़माना' में प्रकाशित होती थीं। उनकी प्रारम्भिक कृतियों ने जनता में उनका नाम चमकाना आरम्भ कर दिया था। १९७१ में उन्होंने उर्दू को छोड़ कर हिंदी जगत् में प्रवेश किया। १९७७ में उन्होंने गांधीजी के असहयोग-आंदोलन से प्रभावित होकर नौकरी छोड़ दी और पूर्ण रूप से साहित्य की सेवा में जुट गये।

प्रेमचन्द जी ने जिस युग में साहित्य में पदार्पण किया, वह सामन्तशाही को आभिजात्य में बदलने का संक्रांति काल था। उस समय ब्रिटिश सरकार की शोषण-नीति और ज़मींदारों तथा भूमिपतियों के अत्याचारों से मज़दूरों और किसानों की दुरवस्था हो रही थी। कृषक वर्ग जड़, दरिद्रता-ग्रस्त, उत्पीड़ित और अपने दुर्भाग्य पर रोने लगा था। सरकार, ज़मींदार, साहूकार, छोटे सरकारी अफ़सर, पुलिस, वकील और पंडे-पुजारी किसानों का खूब शोषण कर रहे थे। ज़मींदारी-प्रथा के विरुद्ध गांवों में काफ़ी असंतोष फैल रहा था। उधर मज़दूर वर्ग में भी पूंजीवाद के विरुद्ध पर्याप्त उत्तेजना बढ़ चुकी थी। प्रेमचन्द जी जनता के जीवन में होने वाले इन सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तनों को भली-भांति देख रहे थे। वे जानते थे कि इस दिन-पर-दिन बढ़ने वाले लगान के भार से किसानों की कमर टूटी जा रही है। उन्होंने देखा कि किस प्रकार अवैधानिक तरीके से उनको खेतों और झोंपड़ियों से बेदखल कर दिया जाता है, कैसे वे दिन-दिन भर कठिन

परिश्रम करते हैं और इस प्रकार जो पैदा करते हैं उस पर उनका कोई अधिकार नहीं होता, बल्कि उसके बदले में उन्हें मार, अभिशाप सहन कर भूखे पेट सो रहना पड़ता है। प्रेमचन्द जी ने इन बातों को निकट से ही नहीं देखा, बल्कि उनके जीवन में प्रवेश करके अपने हृदय की सूक्ष्म अनुभूतियों द्वारा उसका यथार्थ अनुभव किया।

प्रेमचन्दजी ने अपने साहित्य में इन समस्त समस्याओं और उलझनों का यथार्थ चित्रण किया। प्रेमचन्द इसीलिए महान् हैं कि उन्होंने अपने युग के आधारभूत वर्गों के जीवन को समझा था। उन्होंने बहुसंख्यक जनता की जीवन-प्रणाली को समझ कर अपनी कृतियों में प्रकट किया। उन्होंने अपने कथा-साहित्य में रूढ़ि-ग्रस्त किसानों और निम्न मध्यम वर्गों की मानसिक स्थिति और नवीन व्यवस्था के प्रति उनकी स्वाभाविक घृणा का दिग्दर्शन कराया है, उन्होंने पूंजीवाद के विरुद्ध, शहर के विरुद्ध, विदेशी शासन के विरुद्ध और उस सब के विरुद्ध, जो प्राचीन परम्परा को नष्ट कर रहा था, क्रोध और घृणा दोनों को जाग्रत किया।

समाज कोई कल्पना नहीं है, प्रत्युत एक ऐसा जीवित समुदाय है जिस में यथेष्ठ वैचित्र्य और विभिन्नता है, यह प्रेमचन्द जी के उपन्यासों से स्पष्ट झलकता है। उन्होंने 'काया-कल्प' के सामन्त-वर्ग से लेकर 'रंगभूमि' के किसानों और 'कफ़न' के चमारों तक समाज के भिन्न-भिन्न स्तरों और भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोगों का चित्रण किया है। समाज का जीवन एक बहुत बड़े कारखाने की भांति है, जिस में तरह-तरह की मशीनें हैं और लाखों छोटे-बड़े कल-पुर्जे हैं। एक ओर तो हम यह जानना चाहते हैं कि इस कारखाने में कौन-सा माल तैयार हो रहा है और उससे किस आवश्यकता की पूर्ति होगी, दूसरी ओर उसकी अलग-अलग मशीनों और लाखों कल-पुर्जों की गतिविधि को भी हम देखना और समझना चाहते हैं। इसी प्रकार एक श्रेष्ठ लेखक समाज की गति को पहचानता है और अपने पाठकों को बताता है कि समाज सही दिशा में आगे बढ़ रहा है या नहीं। किंतु इसके साथ-साथ सामाजिक क्रम में जो हज़ारों-लाखों मनुष्य लगे हुए हैं, उनके मानस को, संस्कारों को, परिस्थितियों के बीच उस की प्रत्येक गति और स्पन्दन को वह देखता और परखता है, तभी उस के साहित्य में मांसलता आती है और वह सजीव रूप से पाठक को आकृष्ट करता है। जो साहित्यकार इन विभिन्न रूपों में ही उलझकर रह जाता है और उनके कोटि-चित्र देखकर संतुष्ट रह जाता है, वह कला के उत्कर्ष तक नहीं पहुँचता,

दूसरी ओर जो सामाजिक संघर्ष की मोटी-मोटी बातों को ही सूत्र रूप में लिख देता है वह अपनी कला को सजीव नहीं बना पाता। प्रेमचन्द जी के एक ओर प्रगतिशील देशभक्ति का दृष्टिकोण था, जो विदेशी साम्राज्य से अपने देश को मुक्त करके नये समाज का निर्माण करना चाहता था। दूसरी ओर समाज के विभिन्न वर्गों और हजारों व्यक्तियों के मानस और उनकी परिस्थितियों का ज्ञान भी उन्हें था। अपनी राष्ट्रवादी धारणा की सहायता से उन्होंने जो कुछ देखा, उसमें परस्पर सम्बद्धता और कलात्मक सामंजस्य उत्पन्न किया। प्रेमचन्द की कला उस फोटोग्राफ़र के लैंस की भांति नहीं, है, जिसमें बाह्य जगत् के चित्र इधर-उधर बिखरे हुए एक असम्बद्ध रूप में सामने आते हैं। उन्होंने बाह्य जगत् के चित्र खींचे, और उनमें परस्पर सम्बन्ध भी स्थापित किया। इसका कारण उनका वह दृष्टिकोण था जिससे उन्होंने सामाजिक संघर्ष की मूल दशा को पहिचाना।

प्रेमचन्द जी ने सामाजिक आन्दोलन को ही राष्ट्रीयता का नाम दिया है। जो इस आंदोलन के जितने साथ हैं, वह उतना ही राष्ट्रीय है। प्रेमचन्द जी इस राष्ट्रीयता के बहुत बड़े प्रशंसक थे, उन्होंने इसमें कोई भी अवगुण अथवा अस्थायित्व नहीं बताया। राष्ट्रीयता की इस धारा को उन्होंने सामान्य मनुष्य धारा मानकर राष्ट्र-धर्म को मनुष्य-धर्म के रूप में ग्रहण किया। इसी राष्ट्रीयता के रंग में रंगकर उनकी साहित्य-कला रंजित हुई है। प्रेमचन्द जी की आत्मा में भी इसका प्रकाश था। इस राष्ट्रीय वातावरण से प्रेमचन्द जी ने जीवन-दायक उत्साह संचय किया और उनका यह उत्साह कभी क्षीण नहीं हुआ। उनके उपन्यासों और कहानियों में जो उत्कट आशावाद दिखाई देता है वह इस युग की वरेण्य विभूति है। नवयुवक-रचनाकारों की निराशा और रुदन के सामने प्रेमचन्द जी की प्रौढ़ आशा आज शोभा-शालिनी और उत्साहप्रद दिखाई देती है। जान पड़ता है कि प्रेमचन्द जी का व्यक्तित्व, उत्साह और उत्कट उद्योग की आधार शिला पर ही स्थापित हुआ था। उस समय की परिस्थितियों में आशा के लिए बहुत कम स्थान था, यद्यपि उस समय एक आशाप्रद राष्ट्रीय हलचल मची हुई थी। परन्तु प्रेमचन्द जी में यह पक्ष इतना प्रबल था, कि उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। उनके साहित्य में आशा और उत्साह का संदेश मिलता है। प्रेमचन्द जी की चेतना इन्हीं दोनों के सम्मिलिन से उद्दीप्त हुई और यही प्रकाश उनकी रचनाओं में प्रसार पा रहा है। राष्ट्रीय शक्ति का इतना बड़ा उपासक हमारे साहित्य में शायद ही कोई दूसरा हुआ हो।

प्रेमचन्द जी हिंदी के एक तपस्वी कलाकार थे। उनकी रचनाएँ सामाजिक क्रांति की भावना से ओतप्रोत हैं। स्वयं अपने जीवन में वह सक्रिय क्रांतिकारी थे। उन्होंने आदर्श के लिए अपने को मिटा दिया। किंतु उनका सब से महान् क्रियात्मक प्रयोग उनका साहित्य था। उनके साहित्य में एक शक्ति थी। शक्ति-के साथ यदि संयम भी हो, तो उसकी उपयोगिता और भी बढ़ जाती है। प्रेमचन्द जी की रचनाएँ विशेष रूप से संयमित हैं। प्रेमचन्द जी में प्रगतिवाद नहीं था, बल्कि वे मध्यवर्ती कलाकार थे। और यह उनके संयम का ही परिणाम था। वे तीव्र व्यंग्य न करके मीठी चुटकियों का ही प्रयोग करते थे। अपनी धारणाओं पर उनकी आस्था बड़े ही प्रसन्न रूप में दीख पड़ती है, नहीं तो वे मीठी चुटकियां न ले पाते। यह प्रेमचन्द जी की प्रशंसनीय वृत्ति थी कि जिस विषय अथवा भावना को उन्होंने अपनाया, उसके सम्बन्ध में उन के मन में कोई तर्क-वितर्क नहीं उठता था। और उसे भी वे अधिकतर तीव्र बनाकर, कटु बनाकर प्रभाव नहीं डालते थे, इसे उनकी सदारता और संयम ही समझना चाहिए।

कुछ लोगों का कहना है कि प्रेमचन्द की दृष्टि निम्न और मध्यवर्ग की जनता तक ही सीमित थी, उच्चवर्ग की जनता के बारे में उन्हें अधिक ज्ञान न था; और न ही वह उच्च वर्गीय लोगों की अन्तर्वृत्तियों तक पहुंच पाये। किंतु ऐसा नहीं है। प्रेमचन्द की अन्तर्दर्शिनी दृष्टि चारों ओर जाती थी। उनकी दृष्टि पांडेपुर की झोपड़ियों तक ही नहीं, प्रत्युत बनारस के ऊंचे महलों और महन्तों के मठों तक भी जाती थी। सच तो यह है कि यदि आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार भाव-भाषा, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुख-सुख और सूझ-बूझ को जानना चाहते हैं, तो प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आप को नहीं मिल सकता। झोंपड़ियों से लेकर महलों तक, खोमचे वालों से लेकर बैंकों तक, ग्राम-पंचायतों से लेकर धारा-सभाओं तक, आपको इतने कौशल पूर्ण और प्रामाणिक भाव से कोई दूसरा नहीं ले जा सकता। आप बेखटके प्रेमचन्द का हाथ पकड़ कर मेड़ों पर गाते हुए किसान को, अन्तःपुर में मान किये प्रियतमा को, कोठे पर बैठी हुई वारांगना को, रोटियों के लिए ललकते हुए भिखारियों को, दूर परामर्श में लीन गोयन्दों को, ईर्ष्या-परायण प्रोफ़ेसरों को, दुर्बल-हृदय बैंकरों को, साहस-परायण को, ढोंगी पंडित को; फ़रेबी पटवारी को, नीचाशय अमीर को देख सकते हैं, और इस देखने में आप कोई धोखा नहीं खा सकते। इससे अधिक सचाई के साथ दिखा सकने वाला प्रदर्शक अभी हिंदी-उर्दू-जगत् में कोई नहीं। साथ ही प्रेमचन्द जी ने यह भी दिखाया है कि जो लोग अशिक्षित और अबोध हैं, संस्कृति

और संप्रदायों से लदे नहीं हैं, जो गंवार और निर्धन हैं, वे संस्कृत, सम्पन्न, शिक्षित, चतुर, दुनियादार और शहरियों की अपेक्षा अधिक आत्म-बल रखते हैं और न्याय के प्रति अधिक सम्मान दिखाते हैं। इसका यह आशय नहीं है कि प्रेमचन्द जी आगे बढ़ने की अपेक्षा पीछे लौटना श्रेयस्कर समझते थे। बात यह है कि वे मनुष्य की सद्वृत्तियों में विश्वास रखते थे। वे मानते थे कि जड़ोन्मुखी सभ्यता ने हमें जड़ता को ही प्रधान मानने की ओर प्रवृत्त किया है। हमने टीम-टाम को भीड़-भम्भड़ को, दिखाव-बनाव को और दुनिया दौलत को प्रधानता दी है। ये वस्तुएँ मनुष्य को न तो महान् ही बनाती हैं और न क्षुद्र, परन्तु ये मनुष्य के मन को दुर्बल कर देती है। आत्मा को सशंक बना देती हैं। आत्म-बल प्रत्येक व्यक्ति में है, किंतु जड़-पूजा से वह अवरुद्ध हो जाता है। इसलिए जो जितना त्याग करता है, अथवा जितना इस जड़िमा के बन्धन को तोड़ता है, वह उतना ही महान् है। जिसके पास बन्धन जितने कम होते हैं, वे उतने ही सत्यपरायण हो जाते हैं। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में यह बात सर्वत्र ही दिखाई गई है।

प्रेमचन्दजी ने निम्न मध्यमश्रेणी के पुरुषों और स्त्रियों को ही अपने साहित्य में प्रमुख रूप से चित्रित किया। बात यह है कि प्रेमचन्द जी की दृष्टि में वे निम्न और मध्यम श्रेणी के नहीं हैं। ये ही वे लोग हैं जिनका यथार्थ परिचय पाकर ही आप देश की वास्तविक समस्याओं के बारे में जान सकते हैं। इन्हें जानकर ही आप अपनी शक्ति का अनुमान लगा सकते हैं। ये ही भारतवर्ष के मेरुदण्ड हैं। इनके बनने-बिगड़ने पर हमारा और इसलिए सारे संसार का बनना-बिगड़ना निर्भर है। ये लोग शताब्दियों तक केवल उपेक्षित और पददलित ही नहीं रहे, प्रत्युत परिहास और अपमान के पात्र भी बने रहे। हज़ारों वर्ष के भारतीय साहित्य में इनकी आशाओं, आकांक्षाओं, सुख-दुःखों और सूझबूझों की चर्चा नहीं के बराबर हुई है। प्रेमचन्दजी ने इन्हीं लोगों को अपने साहित्य का विषय बनाकर अपनी महत्ता का परिचय दिया है।

प्रसाद का अवतरण

हिन्दी-गद्यसाहित्य के विकास के इतिहास में प्रेमचन्दजी का जो स्थान है, वही स्थान बा० जयशंकरप्रसाद का है। प्रसादजी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उन्होंने गद्य-साहित्य के साथ-साथ काव्य को भी एक अमर सौन्दर्य प्रदान किया। वस्तुतः वे कवि पहले थे—पीछे और कुछ। उनके काव्य पर प्रकाश पहले डाला जा चुका है, अतः यहां हम उनके काव्य पर विचार न करते हुए गद्य-साहित्य पर ही

प्रकाश डालेंगे। प्रसादजी के उपन्यास और बृहत् नाटक मानो एक-एक महाकाव्य हैं, छोटी कहानियां और एकांकी एक-एक खंडकाव्य। और इसका कारण उनका मुख्यतः कवि होना है। किन्तु सामाजिक दार्शनिक होने के कारण उन्होंने जीवन को विविध लोक-भूमि के विस्तृत प्रांगण में रखकर देखा है।

प्रसादजी ने गम्भीर, विवेचनात्मक या भावात्मक लेख न लिखकर गद्य में नाटक, उपन्यास और कहानियाँ ही लिखी हैं, जिनका उद्देश्य जन-साधारण की दृष्टि में चाहे मनोरंजन ही हो, परन्तु वास्तव में प्रसादजी की रचनाएँ केवल मनोरंजन और विनोद की दृष्टि से न लिखी जाकर अध्ययन के लिए लिखी गई हैं। उनके साहित्य से भारतीय संस्कृति और सभ्यता का सुन्दर दिग्दर्शन होता है। उनके ऐतिहासिक नाटकों में संघर्ष के चित्रों के साथ-साथ गवेषणात्मक और भावात्मक स्थल भी हैं। इसका कारण यह है कि अपने नाटकों के लिए उन्होंने भारतीय इतिहास का वह युग चुना है जो गम्भीर और उनके प्रादुर्भाव के समय तक कुछ अनिश्चित-सा था। इसके अतिरिक्त नाटकों में घात-प्रतिघात तथा अन्तर्द्वन्द्व के लिए विस्तृत क्षेत्र भी उन्हें मिला।

यहाँ प्रसादजी की उन विशेषताओं पर प्रकाश डालना आवश्यक है जिनके कारण वे एक नवीन युग के स्रष्टा कहलाये। क्योंकि किसी साहित्य में नवीनता का सूत्रपात करने के लिए किसी व्यक्ति में कुछ तो विशेषता होनी आवश्यक है। प्रसादजी की यह विशेषता थी कि वे कुछ विशेष आदर्शों के उपासक-युग में, नवीन वस्तु-स्थिति का, नये युग की स्वस्थ मनुष्यता का संचार करने वाले पहले पुरुष थे। उन्होंने अपने समय के आदर्श की सीमा को, जो संकुचित हो रही थी, इतिहास और मनोविज्ञान की सहायता से बढ़ाने, और न बढ़े तो तोड़ने को चेष्टा की, इसलिए वे इस युग के सबसे पहले विद्रोही साहित्यकार हुए।

प्रसादजी के ऐतिहासिक नाटकों में जो गम्भीरता और दार्शनिकता मिलती है, उसका प्रयोजन यह है कि हमारी संकुचित चेतना का तिरस्कार हो और हम रूढ़िबद्ध-विचार-शृंखला को छोड़कर व्यापक मानवीय स्वरूपों को देखें। साथ ही इतिहास के प्रकाश में मनुष्यों के उठने-गिरने के कारणों को समझकर किसी व्यक्ति में अनायास ही उच्चता और नीचता का आरोप न कर लें। किसी की परिस्थिति को समझ लेना ही मुख्य प्रयोजनीय वस्तु है। उसके प्रति ईर्ष्या-द्वेष करना कोई वस्तु नहीं। बौद्ध-साहित्य में प्रवेश करके प्रसादजी अपनी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हमारे लिए सुप्रसिद्ध करुणा और अहिंसा आदि विभूतियां लाये, जिनका

प्रयोजन धार्मिक नहीं, विशुद्ध मनोवैज्ञानिक ही था। मनोभावों के विकास के लिए करुणा और अहिंसा आदि वृत्तियों की कितनी आवश्यकता है, यह प्रसादजी के नाटकों से भली-भांति प्रकट हो जाता है।

दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक भूमि के विस्तार के साथ ही प्रसादजी ने सामाजिक क्षेत्र में भी स्वतन्त्र और नवीन आदर्शों का प्रवेश कराया। इन आदर्शों की झलक प्रसादजी के उपन्यासों में देखने को मिल सकती है। यद्यपि प्रसाद जी के आदर्श युग की प्रगति के अनुकूल, उनकी स्वतन्त्र विचार-धारा के परिणाम थे; किन्तु हमें पाश्चात्य विचारकों से तुलना करनी हो तो हम कहेंगे कि प्रसाद जी के सामाजिक आदर्श फ़्रांसीसी राज्य-क्रांति के पश्चात् प्रतिष्ठित होने वाली समता और स्वतन्त्रता के आदर्शों से मिलते-जुलते हैं। फ़्रांस के विक्टर ह्यूगो और इंगलैंड के प्रसिद्ध समाज-शास्त्री मि० मिल के विचार प्रसाद जी से बहुत-कुछ मिलते हैं। इसका कारण मुख्यतः भारतीय परिस्थिति और तत्कालीन यूरोपीय परिस्थिति की समानता ही है। एक उदार जनसत्तात्मक भावना और परम्परागत आभिजात्य का विरोध, प्रसादजी के कल्पनाशील और नवोन्मेषशाली कथा-साहित्य की आधार-भूमि है।

उदाहरण के लिए हम प्रसाद जी के 'कंकाल' नामक उपन्यास को ले सकते हैं। 'कंकाल' में प्रसाद जी ने प्रचलित समाज, उसके विश्वासों, उसके बन्धनों, उसकी कार्यप्रणालियों के विरुद्ध दृढ़ विद्रोह किया है। समाज की एक भी मान्यता उसमें स्वीकार नहीं की गई—सबकी जड़ें हिला दी गई हैं। एक भी ईमानदार आदमी—ईमानदारी का जो अर्थ होता है—सारे समाज में नहीं है। जिसे सामाजिक नियमों के अनुसार ऊँच-नीच, कुलीन-अकुलीन मानते हैं, उसकी भी खिल्ली उड़ाई गई है। सबके कच्चे चिट्ठे खोलकर रखे गये हैं। कहीं राज-घरानों की महिषियां गूजरों के घरों में विराजमान हैं, कहीं सुसभ्य पादरी साहब एक चरित्र-हीन छोकरी के प्रेम-पाश में पड़े हुए हैं। कामना के प्रवाह में हिन्दू-मुस्लिम-ईसाई जातीयता बही जा रही है। धर्म की समस्त सामाजिक क्रियाएँ मटियामेट हो रही हैं। इतिहास के आलोक में कुलीनता का कुहासा साफ़ हुआ जा रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'कंकाल' के प्रसाद जी समाज के प्रति एक घोर विद्रोही बनकर आते हैं। उनका कहना है कि समाज ने मनुष्य को कठघरे में बन्द करके बौना बना दिया है। पाप क्या है? पाप और कुछ नहीं, जो कुछ समाज के भय से छिपकर किया जाता है, वही पाप है। समाज स्वयं पाप कराता है, समाज

और गहरे विचारों का प्रभाव पड़ा है; साथ ही कवि होने के कारण इनकी समस्त कृतियों में काव्यात्मक चमत्कार रहता है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने बड़ी सुन्दर उक्तियों का प्रयोग किया है।

प्रसाद जी की भाषा संस्कृत-प्रधान है। जहाँ साधारण भाव-प्रवाह के अनुकूल भाषा लिखी है वहाँ संस्कृत की तत्समता अधिक नहीं है और जहाँ गम्भीर स्थलों पर लिखा गया है वहाँ संस्कृत की तत्सम शब्दावली अधिक है। फिर भी आपकी भाषा में एक अनुपम रमणीयता, सरसता और प्रवाह रहता है।

इन समस्त गुणों के कारण प्रसाद जी ने हिन्दी को जो नवीन और सुन्दर साहित्य दिया है, इसके लिए हिन्दी-जगत् में आपका नाम सदैव स्मरणीय रहेगा। अब यहां इस युग के विविध गद्य-साहित्य का विवेचन किया जाता है:—

नाटक

द्विवेदी युग के नाटकों का उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। द्विवेदी-युग में मौलिक नाटक बहुत कम लिखे गये—हां बंगला और अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद अवश्य हुआ है। द्विवेदी काल का सारा नाटक साहित्य अनुवादों से भरा पड़ा है। द्विजेंद्रलालराय और गिरीश घोष के बंगला नाटकों से लेकर शेक्सपीयर के अंग्रेजी नाटकों तक का अनुवाद हो चुका था। नाटकीय कला की दृष्टि से सं० १९५२ से १९७५ तक का नाटक-साहित्य एक ही श्रेणी के अन्तर्गत आ जाता है। द्विवेदी-युग के अन्त में कुछ धार्मिक और पौराणिक नाटकों की रचना हुई। उस समय दो प्रकार के नाटक लिखे जाते थे। इन दोनों प्रकार के नाटकों की परम्परा २०वीं शताब्दी के आरम्भ से चली आती है। पहली प्रकार के नाटक पारसी रंगमंच के लिए उपस्थित किये जाते थे और दूसरी प्रकार के नाटक भारतेन्दु मंडल के नाटककारों द्वारा प्रस्तुत किये जाते थे। पारसी रंगमंच के लिए नाटक लिखने वालों में पं० राधेश्याम कथावाचक, नारायण प्रसाद, 'बेताब' तथा आग़ा हश्र आदि का नाम उल्लेखनीय है। इनके नाटकों में कथा विस्तार और चमत्कार की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। साहित्यिक नाटकों में प्राचीन संस्कृत नाटकों के प्रभाव से रस की ओर ही दृष्टि अधिक थी, यद्यपि कथा-तत्त्व की सर्वथा उपेक्षा यहां भी नहीं होती थी। इन पिछले नाटकों पर रीतिकालीन वातावरण का प्रभाव था। उनमें कलातत्त्व की प्रधानता थी, और कल्पना तथा बुद्धिवाद का ज़ोर था।

बीसवीं शताब्दी के मध्य में पारसी रंगमंच में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। पं० नारायणप्रसाद 'बेताब' ने पारसी नाटकों में हिंदी के गीत और भजन आदि

का प्रवेश कराया। और पौराणिक विषयों को आगे किया। पं० राधेश्याम कथा-वाचक, आगा हश्र, हरिकृष्ण जौहर ने भी इन तत्त्वों को आगे बढ़ाया। पौराणिक नाटक शहर के मध्यम वर्ग की जनता में बहुत लोकप्रिय हुए। यद्यपि पारसी रंगमंच के लिए लिखे जाने वाले नाटकों में साहित्य की मात्रा बहुत-कम होती थी, भाषा भी उर्दू-मिश्रित हिंदी थी; तथापि इनके द्वारा हिंदी को रंगमंच पर स्थान मिल गया यह बात माननी पड़ेगी।

नाटक-साहित्य का विकास वास्तव में बाबू जयशंकरप्रसाद के प्रादुर्भाव से प्रारम्भ हुआ। जिस प्रकार हिंदी उपन्यास में प्रेमचंद जी ने प्राण-संचार किया, उसी प्रकार जयशंकरप्रसाद ने हिंदी-नाटकों में नव-जीवन डाल दिया। आज अंग्रेजी नाटककारों में शेक्सपीयर का जो स्थान है, हिंदी में वही स्थान जयशंकरप्रसाद का है। चरित्र-चित्रण, शैली, कथोपकथन आदि नाटकीयतत्त्वों की दृष्टि से भी प्रसाद जी के नाटक सर्वोत्कृष्ट हैं। उन्होंने ११ नाटक लिखे; जिनमें से 'अजात-शत्रु','जनमेजय का नाग-यज्ञ', 'स्कन्द-गुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'कामना', 'ध्रुव-स्वामिनी', और 'विशाख' बहुत प्रसिद्ध हैं। प्रसाद जी के नाटकों में नाट्य-शास्त्र के नियमों की अवहेलना की गई है। इनमें मंगलाचरण, नान्दी, सूत्रधार और भरतवाक्य आदि नहीं हैं। हत्या, युद्ध आदि के जो दृश्य नाटकों में वर्जित हैं, उनका बेरोक-टोक प्रयोग किया गया है। इसका आशय है कि उन्होंने प्राचीन परिपाटी को छोड़ कर एक नवीन ढंग से नाटक रचना की।

प्रसाद जी के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं, जिन में हमें गम्भीर विचार और गहन दार्शनिकता के दर्शन होते हैं। इसका कारण कुछ तो इनका कवि होना था, कुछ गम्भीर, मननशील एवं अन्वेषक होना। वस्तु, पात्र और रस—ये तीनों बातें; जो नाटक की प्राण होती हैं, बराबर उनके नाटकों में विद्यमान हैं। एक विशेषता प्रसादजी के नाटकों में हमें और मिलती है वह यह कि नाटक की परिभाषा की उपेक्षा भी कर डाली गई है। संभवतः इसका कारण हिंदी रंगमंच का अभाव है।

प्रसाद जी के नाटक कलामय होते हुए भी साधारण रंगमंच के योग्य नहीं हैं। उनमें ऐसे क्लिष्ट विषयों का प्रतिपादन किया गया है, कि वे किसी विवेचना पूर्णग्रंथ के योग्य हो सकते हैं, किंतु साधारण रंगमंच के दर्शकों की समझ से बाहर है। उन के लिए विशेष रंगमंच, अभिनेताओं और सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत दर्शकों की आवश्यकता है। उनके नाटकों में हमें प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति

के दर्शन होते हैं। नाटकों के बीच-बीच में प्रसंगवश आए हुए गीत और सूक्तियाँ भी हिंदी साहित्य की एक अमूल्य निधि हैं।

हमारे आधुनिक नाटकों पर बर्नार्ड शा और इब्सन के नाटकों का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। आधुनिक नाटकों में जीवन और उसका रूप अर्थात् वस्तु संवाद, अभिव्यंजना, शैली आदि सभी कुछ बदल गया है। इन नाटकों में प्रतिदिन जीवन से सम्बन्ध रखने वाली समस्याएँ हैं। और पात्र भी साधारण लोग ही हैं। इनमें कल्पना की ऊंची उड़ान भी नहीं होती। आकार-प्रकार में भी ये छोटे होते हैं। इनमें रंग-मंच के संकेत भी विस्तृत होते हैं। आज के नाटक उपन्यास के वर्णन का स्थान लेते जा रहे हैं।

प्रसादजी के पश्चात् नाटक-क्षेत्रों में पं० बद्रीनाथ भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द पं० गोविन्दवल्लभ पन्त, चतुरसेन शास्त्री, उदयशंकर भट्ट, व हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने सराहनीय कार्य किया। भट्ट जी के नाटकों में हास्यरस का पुट अधिक है। पंडित माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध', मिलिन्द जी का 'प्रताप-प्रतिज्ञा' पन्त जी के 'वरमाला' और 'राजमुकट' उदयशंकर भट्ट के 'दाहर', 'विक्रमादित्य', 'विश्वामित्र', और प्रेमी जी के 'रक्षा-बन्धन', 'शिवा-साधना' और 'प्रतिशोध' उपेन्द्रनाथ अश्क का 'जय पराजय' अच्छे नाटक हैं। प्रेमी जी ने अपने नाटक हिंदू-मुस्लिम-समस्या से प्रेरित होकर लिखे हैं। उन्होंने हिंदू-मुसलमानों को एक दूसरे के समीप ले जाने का प्रयास किया है। इनके नाटक साहित्यिक होने के साथ ही रंगमंच पर खेले जाने के योग्य हैं। इनके कई नाटकों का सफलता पूर्वक अभिनय भी हो चुका है।

चतुरसेन शास्त्री के नाटक ऐतिहासिक और पौराणिक हैं। उनकी अपनी शैली है। वे नाटकों में गीतों को स्थान नहीं देते। हाल ही में उन्होंने 'भास' और 'भवभूति' के संस्कृत नाटकों का अनुवाद 'श्रीराम' और 'सीताराम' नाम से किया है। उनके अनुवाद का ढंग भी नया है।

श्री जी० पी० श्रीवास्तव के नाटक अधिकांश हास्य रस के होते हैं, किंतु इनका हास्य रस उच्च कोटि का नहीं। रामनरेश त्रिपाठी का 'जयन्त' और सुमित्रा-नन्दन 'पन्त' का 'ज्योत्स्ना' साहित्यिक दृष्टि से उत्तम नाटक हैं। पं० पृथ्वीराज शर्मा के 'दुविधा' और 'अपराधी' सामाजिक नाटक हैं, जो यूरोपीय ढंग से लिखे गये हैं। रंगमंच पर खेलने के लिए भी वे उपयुक्त हैं।

सेठ गोविन्ददास आधुनिक नाटककारों में एक प्रमुख स्थान रखते हैं। इनके 'प्रकाश', 'कर्त्तव्य', 'हर्ष', 'नवरस' और 'कुलीनता' आदि नाटक अच्छे हैं।

इनके नाटकों में वर्तमान राजनैतिक आंदोलनों का अच्छा चित्रण है। पं० लक्ष्मी-नारायण मिश्र के 'सन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'राजयोग', 'सिंदूर की होली', आदि समस्या-नाटक अच्छे हैं। मिश्र जी का नवीन ऐतिहासिक नाटक 'वत्सराज' भी सुन्दर बन पड़ा है। भास के 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' और 'स्वप्नवासवदत्तम्' का आधार लेते हुए भी लेखक ने इसमें अपनी नवीन सूझ-बूझ का प्रमाण दिया है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी का 'छलना' एक नाट्य रूपक है, जो प्रसाद जी की 'कामना' के ढंग पर लिखा गया है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'स्वर्ग की झलक', भट्ट जी की 'कमला' सुदर्शन का 'भाग्य-चक्र', सद्गुरुशरण अवस्थी का 'मुद्रिका', गोविंदवल्लभ पन्त का 'अंगूर की बेटी' नवीन ढंग के नाटकों के अच्छे उदाहरण हैं। उदयशंकर भट्ट ने पौराणिक नाटकों के अतिरिक्त 'मत्स्यगन्धा' तथा 'राधा' आदि कई गीति-नाट्य भी लिखे हैं। श्री वी०पी० माधव का 'आदर्श वीरता' महोबे के प्रसिद्ध वीर आल्हा-ऊदल को लेकर लिखा गया है।

इन नाटकों के अतिरिक्त अब हिंदी में एकांकी नाटकों का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। डा० रामकुमार वर्मा के—'पृथ्वीराज की आंखें', 'रेशमी टाई', 'चारु-मित्रा', आदि एकांकी संग्रह निकल चुके हैं। भुवनेश्वरप्रसाद का 'कारवां', भट्ट जी का 'समस्या का अंत' और 'धूम शिखा' एकांकी संग्रह निकल चुके हैं। इनके अति-रिक्त उपेन्द्रनाथ अश्क, सुदर्शन, सेठ गोविन्ददास, विष्णुप्रभाकर, गणेशप्रसाद द्विवेदी ने भी बहुत से एकांकी लिखे हैं। एकांकी का जोर अब उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। वे रंगमंच के उपयुक्त होते हैं और इनमें समस्या-मूलक, भावनाट्य, मोनो-ड्रामा, कवित्वपद, प्रहसनादि अनेक रूप मिलते हैं। हमें विश्वास है कि हिंदी-रंगमंच और एकांकी नाटक का भविष्य उज्ज्वल रहेगा।

उपन्यास

द्विवेदी-युग में नाटकों की भांति उपन्यास-क्षेत्र में भी अनुवादों की भरमार रही। यों तो मौलिक उपन्यास भी लिखे गये, किंतु बहुत-कम। बंगला के उपन्यासों के अनुवाद सब से अधिक हुए। इस युग में कोई भी नवीन उपन्यासकार नहीं हुआ। हाँ, बाबू देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी के जासूसी उपन्यासों की चर्चा अवश्य रही। ये उपन्यास तिलिस्मी और रोमांचकारी होते थे। किशोरीलाल गोस्वामी ने सामाजिक उपन्यास भी लिखे। उन दिनों हिंदू समाज में एक नहीं, अनेक बुराइयां विद्यमान थीं। भाई-भाई के झगड़े, स्त्री का निम्न-स्थान, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, बहु-विवाह आदि इन्हीं समस्याओं को लेकर उपन्यास लिखे गये। अतः सामाजिक उपन्यासों की एक बाढ़-सी आ गई। द्विवेदी-युग में

हम दो प्रकार के उपन्यास पाते हैं, एक सामाजिक दूसरे तिस्लिमी और जासूसी।

साधारण जनता जो व्यवसाय आदि करती थी और मनोरंजन के लिए उपन्यास पढ़ती थी, उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति जासूसी उपन्यासों ने की। परन्तु उच्च वर्ग की जनता, विशेषतः अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग इनसे असंतुष्ट थे। उच्च वर्ग की जनता ने बंगला अनुवादों की ओर रुचि प्रदर्शित की। इसी कारण बंकिमचन्द्र, आदि के कई अनुवाद हुए। इन अनुवादों ने ही सुंदर लेखक उत्पन्न किये। क्योंकि उस समय के अनेक पाठक अच्छे उपन्यासों की मांग करने लगे और कितने ही इन्हें पढ़-पढ़ कर लेखक बन गये।

उपन्यास कला का नवीन युग मुन्शी प्रेमचन्द जी से आरम्भ होता है। उन्होंने अपनी अद्वितीय प्रतिभा से हिंदी-उपन्यास-क्षेत्र की काया ही पलट दी। प्रेमचन्द की विशेषता यह है कि उन्होंने अपने उपन्यासों में जीवन के तत्कालीन संघर्ष का चित्रण किया। प्रेमचन्द जी ने दर्जनों उपन्यास लिखे और सभी में किसानों और मजदूरों की दुर्दशा, मध्यम वर्ग की कुरीतियों का सफलता-पूर्वक चित्रण किया। उनके उपन्यास में 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि', 'ग़बन' 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'प्रतिज्ञा', 'काया-कल्प', 'निर्मला' और 'गोदान' उल्लेखनीय हैं। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में आशा और उत्साह का एक नवीन संदेश रहता है। उनकी रचनाएँ राष्ट्रीयता के रंग में रंगी हुई हैं।

प्रेमचन्द जी की भाषा बोलचाल की सरल भाषा है जिस में उर्दू की छाप के कारण अधिक प्रवाह और सुन्दरता आ गई। बीच-बीच में मुहावरों के प्रयोग ने उनकी भाषा को और भी सजीव और आकर्षक बना दिया है।

प्रेमचन्द जी के बाद इनकी श्रेणी में आने वाले लेखकों में सर्वश्री विश्व-म्भरनाथ शर्मा कौशिक, जयशंकर प्रसाद, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, बेचन शर्मा 'उग्र', ऋषभचरण जैन, जैनेंद्रकुमार और सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों ने गांधीवाद, असहयोग, समाजसुधार आदि की भावना को लेकर उपन्यास क्षेत्र में नये प्रयोग किये।

विश्वम्भरनाथ कौशिक के 'मां', 'भिखारिणी' और 'संघर्ष' उपन्यास हिंदी के उत्कृष्ट उपन्यास हैं। इन्होंने प्रेमचन्द की परिपाटी को आगे बढ़ाने में योग दिया।

श्री जयशंकर प्रसाद एक यथार्थवादी उपन्यास लेखक थे। उन्होंने अपने उपन्यासों में समाज की तात्कालिक धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक कुरी-तियों का भंडाफोड़ करके रूढ़िवाद, जातीय प्रतिष्ठा और उच्च वर्गीयता के विरुद्ध

प्रबल आन्दोलन किया। 'कंकाल', 'तितली', और 'इरावती' उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

श्री चतुरसेन शास्त्री के 'हृदय की प्यास', 'अमर अभिलाषा', 'वैशाली की नगर-वधू' आदि प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इनके उपन्यासों ने समाज में भयंकर काम-लोलुपता की वृत्ति को जगाया है।

श्री वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में ऐतिहासिक संस्कृति का दिव्य संदेश मिलता है। उनका 'झांसी की रानी' उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुआ है। 'कभी-न-कभी' में मजदूर जीवन पर प्रकाश डाला गया है। इनके अतिरिक्त उनके 'विराटा की पद्मिनी', 'मृगनयनी', 'गढ़ कुंडार', 'कुंडली चक्र', 'कोतवाल की करामात', तथा 'अचल मेरा कोई', उपन्यासों ने हिंदी जगत् में विशेष आदर पाया है। वर्मा जी ने उपन्यासों के अतिरिक्त नाटक भी अनेक लिखे हैं। जिनमें से हंसमयूर, नीलकंठ और पूर्व की ओर ये तीनों उनके नये नाटक पर्याप्त सफल हैं।

श्री 'उग्र' जी ने अपने 'चन्दहसीनों के खतूत', 'बुधुआ की बेटी', 'घण्टा', तथा 'चुम्बन', 'अन्नदाता' आदि उपन्यासों में जीवन की सच्ची वृत्तियों और दमन की शृङ्खला को तोड़कर यौवन के मांसल अनुभव की झांकी दी है। उग्र जी की भाषा और विचार दोनों ही उग्र हैं। उनकी रचनाएँ भी उनके उग्र व्यक्तित्व से आच्छादित हैं।

श्री जैनेन्द्रकुमार ने अपने उपन्यासों में भारतीय नारी के अनेक रूपों का चित्रण किया है। उनके उपन्यासों में हमें नारी के प्रति एक विचित्र कामुकतामयी भावना देखने को मिलती है। उन्होंने नारी को जिस नग्न रूप में दिखाया है उससे उसकी मनोभूमि पर आघात पहुँचा है। इनके 'सुनीता', 'कल्याणी' और 'त्याग-पत्र' आदि उपन्यास ऐसे ही हैं।

'निराला' जी के 'अप्सरा', 'अलका' तथा 'प्रभावती' उपन्यास उल्लेख-नीय हैं। उन्होंने वर्तमान युग के नारी-जागरण की कर्कश भावनाओं को छोड़कर विज्ञान-मूलक भावों को ही अपनाया है।

दूसरे प्रकार के उपन्यासकारों में हम सर्वश्री भगवतीचरण वर्मा, भगवती-प्रसाद वाजपेयी, प्रतापनारायण श्रीवास्तव और सियारामशरण गुप्त के नाम ले सकते हैं। भगवतीचरण वर्मा ने हिंदी-उपन्यासों में एक नवीन क्रांति उत्पन्न की है। उनके 'पतन', 'चित्रलेखा', 'तीन वर्ष' और 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' चार उपन्यास उल्लेखनीय हैं। वर्माजी के उपन्यासोंमें हमें एक नवीन कल्पना और नई शैली और नवीन विचार मिलते हैं। 'चित्रलेखा' में एक सांस्कृतिक संदेश मिलता है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने अपने उपन्यासों में जीवन के व्यंग्य को बड़ी निर्ममता के साथ चित्रित किया है। पूंजीवादी वर्ग के द्वारा आज सामाजिक क्षेत्र में जो दुःखद घटनाएँ हो रही हैं, उनका उन्होंने सजीव चित्रण किया है। उनके 'दो बहनें', 'पतिता की साधना', 'पिपासी' तथा 'निमंत्रण' प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'बयालीस', 'विकास' और 'विदा' तीनों अच्छे उपन्यास हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में सामाजिक रूढ़ियों को तोड़कर नवसमाज के निर्माण का संकेत किया है। हाल ही में आपका 'विसर्जन' नामक नया उपन्यास और प्रकाशित हुआ है।

सियारामशरण गुप्त वास्तव में कवि हैं। शौक पूरा करने के लिए 'गोद' 'नारी' और 'अन्तिम आकांक्षा' तीन उपन्यास भी लिखे हैं। जैनेंद्र जी की भांति इन्होंने भी अपने उपन्यासों में नारी का ही रूप चित्रण किया है। यह एक आश्चर्य की बात है कि जैनेंद्र और सियारामशरण गुप्त दोनों ही गांधी जी के सिद्धांतों—सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि के समर्थक हैं, किंतु इनके उपन्यासों में इन सिद्धांतों की छाया भी नहीं मिलती।

उपर्युक्त उपन्यास-लेखकों के अतिरिक्त श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' और श्री गुरुदत्त जी का उल्लेख न करना भी अन्याय होगा। 'वियोगी' जी कवि हैं, किंतु 'एकाकी' 'विसर्जन', 'शेषदान' और 'फ़रार' आदि उपन्यास लिखकर इन्होंने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है। इन के उपन्यासों पर प्रसिद्ध बंगला उपन्यासकार शरत् की छाप दृष्टिगोचर होती है।

श्री गुरुदत्त जी के 'स्वाधीनता के पथपर', 'उन्मुक्त-प्रेम', 'पथिक', 'विकृत छाया' और 'स्वराज्य-लग्न' पांच उपन्यास प्रकाश में आये हैं। इन के उपन्यासों में राष्ट्रीय चेतना की प्रबल भावना मिलती है। 'विकृत-छाया' में समाज की वर्तमान कुरीतियों का चित्रण किया गया है। 'बहती रेता' उनका एक नवीन सुन्दर उपन्यास है।

तीसरी श्रेणी की उपन्यासकारों में तरुण पीढ़ी के प्रगतिशील लेखक हैं, जिनमें उपेन्द्रनाथ अश्क, अज्ञेय, श्रीकृष्णदास, यशपाल, पहाड़ी, सर्वदानन्द वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, अंचल, उदयशंकर भट्ट और राहुल सांकृत्यायन के नाम प्रमुख हैं। इनकी रचनाओं का विवरण हम प्रगतिवाद के प्रकरण में देंगे।

महिला-लेखिकाओं में कुमारी कंचनलता सब्बरवाल और उषादेवी मित्रा का नाम उल्लेखनीय है। कुमारी कंचनलता ने अपने 'भोली भूल' 'मूक प्रश्न' 'संकल्प' और 'मूक तपस्वी' आदि उपन्यासों में भारतीय नारी के उज्ज्वल स्वरूप

का भली भांति दिग्दर्शन कराया है।

विजयकुमार पुजारी के 'पर्दे के पीछे', नेपाल का मोर्चा' और 'आत्मदान' ये तीन उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं।

उषादेवी मित्रा के चार उपन्यास 'वचन का मोल', 'मुस्कान', 'आवाज़' और 'पिया' प्रकाश में आ चुके हैं। इन्होंने अपने उपन्यासों में नारी की समस्याओं को लेकर उसके पक्ष का प्रबल समर्थन किया है।

कहानी

द्विवेदी-युग के कहानी साहित्य का उल्लेख पीछे हो चुका है। उस युग में 'सरस्वती', 'इन्दु' तथा 'शंकर' आदि मासिक पत्रिकाओं ने कहानी-साहित्य का यथेष्ठ प्रचार किया और श्री जयशंकरप्रसाद, पं. विश्वम्भरनाथ जिज्जा, राजा राधिकारमणप्रसादसिंह, चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' प्रभृति लेखकों ने कहानी साहित्य को विकास की ओर उन्मुख किया।

आधुनिक युग में श्री प्रेमचन्द जी के साथ ही कहानी के विकास-काल का आरम्भ होता है। प्रेमचन्द जी ने छोटी-बड़ी लगभग ४०० कहानियां लिखीं। इन्होंने कहानी साहित्य को एक चंचल-चपल-बालिका से गुरु, गम्भीर लाजवन्ती का रूप दिया। प्रेमचन्द जी की कहानियां बहुत लोक-प्रिय हैं और संसार की लगभग सभी समृद्ध भाषाओं में उनका अनुवाद हो चुका है। इनकी कहानियों के संग्रह 'प्रेम द्वादशी', 'प्रेम-पचीसी', 'प्रेम-पूर्णिमा', 'प्रेम-प्रसून' 'नवनिधि', 'सप्त-सरोज' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रेमचन्द जी के पश्चात् 'प्रसाद' जी, चतुरसेन शास्त्री, कौशिक, रायकृष्ण-दास, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, सुदर्शन और जैनेंद्रकुमार, चंडीप्रसाद 'हृदयेश' आदि कहानीकारों ने हिंदी के कहानी-साहित्य के भंडार को भरपूर किया।

'प्रसाद' जी की कहानियां उनकी कवि-कल्पना से युक्त अत्यन्त मधुर और हृदयस्पर्शी होती थीं। यद्यपि उन्होंने अधिक कहानियां नहीं लिखी, तथापि जो कुछ लिखीं वे उच्च-कोटि की थीं। चतुरसेन जी ने भारतीय इतिहास के आधार पर कहानी-रचना की। इनकी कहानियों में वैभव, विलास और यौवन-मद के चित्र अंकित हैं। इन की कहानियों ने इनकी भाषा के गठन और तड़क-भड़क के कारण खूब सफलता पाई है।

रायकृष्णदास ने ऐतिहासिक और सामाजिक कहानियां अधिक लिखी हैं। उग्र जी की कहानियों में एक विद्रोहात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है। इनकी भाषा और शैली के प्रलयंकारी आवेग ने इनके विचारों को और भी उग्र रूप दे दिया है।

इनकी भाषा और शैली पर उर्दू का प्रभाव भी पड़ा है।

श्री विश्वम्भरनाथ कौशिक की कहानियां अधिकतर सामाजिक होती हैं। इन की अधिकांश कहानियों में शहरी जीवन के अच्छे चित्र खींचे गये हैं। कौशिक जी की कहानियां वार्तालाप-प्रधान होती हैं। कौशिक जी के साथ ही श्री सुदर्शन जी का भी नाम आता है। इन्होंने कुछ कहानियों की रचना राजनैतिक आन्दोलनों से प्रेरित होकर की हैं। इनकी 'न्याय-मन्त्री' शीर्षक कहानी ऐतिहासिक है। जिसने बहुत लोकप्रियता प्राप्त की है। सुदर्शन जी ने भी शहरी जीवन के चित्र खींचने में सफलता प्राप्त की है।

श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' की कहानियां देशभक्तिपूर्ण हैं। उनमें भाषा का चमत्कार अधिक है। उनकी कहानियां गद्य-काव्य-सी जान पड़ती हैं। इनका उपन्यास 'मंगल प्रभात' भी सुन्दर है।

प्रेमचन्द जी के पश्चात् हिंदी कहानियों में सर्वप्रथम नवीनता लेकर आने वाले जैनेन्द्रकुमार हैं। इनकी कहानियों में युग की नई भावनाओं के दर्शन होते हैं। इनकी कहानियों के पात्रों में वैज्ञानिक विश्लेषण की प्रचुरता मिलती है। इन्होंने जीवन-दर्शन में नारी का एक अद्भुत स्वरूप हमारे सामने रखा है। इनकी 'अपना-अपना भाग्य' और 'निर्मम' कहानियां अच्छी हैं। जैनेंद्र जी की कहानियों में उनका व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है। वे जैसे नीरस, शुष्क और दार्शनिक के रूप में हमारे सामने आते हैं उनकी कहानियां उसी रूप को परोक्ष में बराबर लाती हैं। कदाचित् यही व्यक्तित्व उनको जनता के समीप पहुंचने में बाधा डाल रहा है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने पिछले दिनों अनेक अच्छी कहानियों की रचना की है। कहानियां यथार्थवाद के दृष्टिकोण को लेकर लिखी गई हैं।

श्री भगवतीचरण वर्मा की कहानियों का संग्रह 'इन्स्टालमेंट' नाम से पहली बार हिंदी जगत् के सामने आया। वर्मा जी की कहानियों में एक उच्छृंखलता पाई जाती है। उनके कथानक विशेषतः नवीन समाज को लिए होते हैं। उन्होंने नवीन नारी का भी चित्रण किया है, जो धन के लिए प्रेम बेच देती है, परन्तु अपने हृदय का एकांश भी पुरुष को नहीं देती। वह पुरुष को भुलावा देकर मृत्यु तक ले जाती है। उन्होंने अपनी 'बांय' 'एक पेग', 'प्रेजेन्ट्स' 'उत्तरदायित्व' आदि कहानियों में इसी नारी को बार-बार दोहराया है।

श्री निराला जी की कहानियां अधिकतः कल्पना-प्रधान हैं, क्योंकि वे कवि हैं। उनकी कहानियों के संग्रह 'लिली' और 'सखी' नाम से निकल चुके हैं। 'भक्त और भावना' निराला जी की सर्वश्रेष्ठ कहानी है। यह कहानी कहानी-क्षेत्र में

एक नई भूमि उपस्थित करती है। यह एक सुन्दर आध्यात्मिक कहानी है। हिंदू मूर्ति में जो प्रतीक हैं, उसकी यह सफल व्याख्या है।

इसके अतिरिक्त श्री सुमित्रानन्दन 'पन्त', श्री विनोद शंकर व्यास, सियारामशरण गुप्त, विष्णु प्रभाकर, श्रीराम शर्मा 'राम', रामचन्द्र तिवारी प्रभृति लेखक अपनी कृति-कला से कहानी साहित्य की अभिवृद्धि कर रहे हैं। हास्य-रस के कहानी-लेखकों में अन्न-पूर्णानन्द, कृष्णदेवप्रसाद गौड़, हरिशंकर-शर्मा, राधाकृष्ण, रघुकुल तिलक और गोपालप्रसाद व्यास के नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी हास्य रस की कृतियां उच्च कोटि की होती हैं। उनमें प्रायः अभद्रता नहीं होती।

हिंदी में स्त्री-कहानी-लेखिकाओं में शिवरानी देवी, स्व० सुभद्राकुमारी चौहान, कमला देवी चौधरानी, उषादेवी मित्रा तथा होमवती देवी, सत्यवती मलिक, निर्मला माथुर, कुंवरानी तारा देवी रामेश्वरी शर्मा आदि ने विशेष ख्याति प्राप्त की है।

निबन्ध

द्विवेदीकालीन निबन्ध-रचना का उल्लेख पीछे हो चुका है। निबन्धों की दृष्टि से भारतेन्दु-युग द्विवेदी-युग से अधिक हार्दिक था। इसका कारण यह है कि वह निबन्धों की परम्परा का नवीन काल था। उसमें हिंदी की अपनी सामाजिक स्वाभाविकता बनी रही। उसके बाद यह स्वाभाविकता कम होती चली गई। यों तो निबन्ध आज भी लिखे जाते हैं, उनमें शैली का विकास हुआ है, विचार भी विकसित हुए हैं किंतु उस स्वाभाविक स्वास्थ्य का उनमें अभाव है, जो प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट आदि के लेखों में है।

निबन्ध-रचना का तीसरा और अन्तिम युग आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की शुद्ध निबन्ध-रचना से आरम्भ होता है। आचार्य शुक्ल वैसे तो द्विवेदीकाल के ही लेखक थे, किंतु उन्होंने तटस्थ रहकर द्विवेदी-कालीन साहित्य की गम्भीर परख की। अपने गम्भीर अध्ययन के अनुभवों तथा प्रतिभा के द्वारा उन्होंने द्विवेदी युग की कहानियों को पूरा ही नहीं किया, प्रत्युत हिंदी को बहुत-कुछ नवीन देन भी दी। शुक्ल जी ने क्रोध, करुणा, उत्साह, घृणा, श्रद्धा आदि विषयों पर विश्लेषणात्मक निबन्ध लिखे और कविता, कहानी, उपन्यास आदि विषयों पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखे। पहले प्रकार के निबन्धों में मनोविकारों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। और दूसरे प्रकार के निबन्ध साहित्यिक आलोचना की दृष्टि से बहुत सुन्दर हैं। हिंदी-साहित्य में इनके पहले ऐसे लेख

बहुत कम लिखे गये थे। विचारों की गम्भीरता और मौलिकता की दृष्टि से ऐसे निबन्ध आज तक नहीं लिखे गये हैं। इस दृष्टि से हम शुक्ल जी की तुलना रस्किन और बेकन से कर सकते हैं। आपके निबन्धों के संग्रह 'विचार-वीथी' 'चिन्तामणि' और 'त्रिवेणी' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं।

शुक्ल जी के पश्चात् पं० पद्मसिंह शर्मा और जयशंकरप्रसाद तथा प्रेमचन्द जी ने भी कुछ निबन्ध रचना की है। प्रसाद जी के लेख 'काव्य और कला' तथा अन्य 'निबन्ध' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। प्रेमचन्द जी के निबन्धों का संग्रह 'कुछ विचार' नाम से प्रकाशित हो चुका है। वैसे भी इनके साहित्यिक लेख 'हंस में बराबर प्रकाशित होते रहते थे।

प्रेमचन्द जी के पश्चात् हम रायकृष्णदास जी का नाम निबन्धकारों में ले सकते हैं, किंतु इनके निबन्ध कोई महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इनके लेखों को हम रहस्यात्मक ढंग से लिखे गये गद्य-काव्य ही कह सकते हैं। इनके लेखों के संग्रह 'साधना' 'संलाप' 'पगला', 'छायापथ' और 'प्रवाल' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। श्री वियोगी हरि जी भी इसी प्रकार के निबन्ध-लेखक कहे जा सकते हैं। वियोगी हरि जी बड़े भक्त-हृदय और भावुक तथा साहित्य-प्रेमी हैं। इनके रहस्यात्मक लेखों के संग्रह 'अन्तर्नाद', ''ठंडेछींटे' और 'साहित्य-विहार' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं।

बाबू गुलाबराय जी का आधुनिक निबन्ध-लेखकों में प्रमुख स्थान है। इनके निबन्ध अधिकांश आलोचनात्मक होते हैं, जिन पर इनके गम्भीर अध्ययन की छाप दृष्टिगोचर होती है।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की गणना भी प्रमुख निबन्ध-लेखकों में की जाती है। इनका अध्ययन गम्भीर और व्यापक है। ये पाश्चात्य भाषाओं और साहित्य के भी अच्छे ज्ञाता हैं। यही कारण है कि इनके निबन्धों में पाश्चात्य ढंग की समीक्षा और पाश्चात्य साहित्य से भारतीय साहित्य की तुलना प्रायः देखी जाती है। 'विश्व-साहित्य' इनका इसी दृष्टिकोण से लिखे गये निबन्धों का संग्रह है। इनकी दूसरी पुस्तक 'प्रबन्ध-पारिजात' है, जिसमें निबन्ध-निर्माण कला पर प्रकाश डाला गया है। हाल ही में इनके २० बिबन्धों का सुन्दर संग्रह 'कुछ' नाम से प्रकाशित हुआ है।

आलोचनात्मक निबन्ध लिखने वालों में श्री नन्ददुलारे वाजपेयी और हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम प्रमुख है। नन्ददुलारे वाजपेयी के लेख गम्भीर

और उच्च-कोटि के होते हैं। आप साहित्य के अद्वितीय पारखी हैं। हजारी-प्रसाद द्विवेदी की कुछ मूल्यवान् साहित्य कृतियां साहित्य की अमूल्य निधि हैं, जिनमें 'सूर-साहित्य' और 'हिंदी-साहित्य की भूमिका' उल्लेखनीय है। इनके आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह 'विचार और वितर्क' नाम से अभी प्रकाशित हुआ है।

डा० धीरेन्द्र वर्मा भी हिंदी-साहित्य के गम्भीर मर्मज्ञ और भाषा शास्त्र के प्रकांड पंडित हैं। आपने विभिन्न विषयों पर स्फुट निबन्ध लिखे हैं। आपके निबन्धों का संग्रह 'विचार-धारा' नाम से अभी प्रकाश में आया है। आपके यूरोप से लिख कर भेजे हुए निबन्ध समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं।

आधुनिक निबन्धों में डा० पीताम्बरदत्त **बड़थ्वाल** का भी प्रमुख स्थान है। आप एक श्रेष्ठ निबन्धकार थे। आपके निबन्ध तर्कपूर्ण और न्यायसंगत होते थे, जिन में विवेचना की प्रधानता रहती थी। आपके प्रमुख निबन्ध 'जायसी का अध्यात्म-वाद' और 'पद्मावत की कहानी', 'हिंदी काव्य की निरंजन धारा', 'हिंदी कविता में योग-प्रवाह,' 'मीराबाई' और 'वल्लभाचार्य' हैं।

डा० रामकुमार वर्मा के निबन्ध भी साहित्यिक दृष्टि से उच्च-कोटि के हैं। इनके विचार गम्भीर और शैली गठी हुई होती है। 'साहित्य-समालोचना' और 'विचार-दर्शन' आपके निबन्ध-कला-कौशल का उत्कृष्ट प्रमाण हैं।

श्री **रामकृष्ण शुक्ल** और **शान्तिप्रिय द्विवेदी** जी का नाम भी आलोचना-त्मक निबन्धकारों में स्मरणीय है। द्विवेदी जी ने साहित्यिक विषयों पर आलोचना-त्मक निबन्ध लिखे हैं। द्विवेदी जी के निबन्धों के पांच संग्रह 'हमारे साहित्य-निर्माता', 'कवि और काव्य', 'साहित्यिकी', 'जीवन-यात्रा', तथा 'संचारिणी' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं।

डा० रघुवीरसिंह भी एक श्रेष्ठ निबन्धकार हैं। आप हिंदी-साहित्य के गम्भीर मर्मज्ञ हैं और साथ ही निबन्ध-रचना-कला में भी पारंगत हैं। आपके निबन्ध 'शेष-स्मृतियाँ', 'सप्तदीप', 'जीवनधूलि' और 'जीवन कण' में संग्रहीत हैं। इनके अतिरिक्त पूर्व मध्यकालीन भारत, बिखरे फूल, मालव में युगान्तर, रतलाम का प्रथम राज्य, पूर्व आधुनिक राजस्थान आदि अन्यान्य रचनाओं से आपकी इति-हास अनुसन्धान विषयक विद्वत्ता प्रकट होती है।

श्री **जैनेंद्रकुमार** ने भी कहानी और उपन्यासों के अतिरिक्त कुछ निबन्ध भी लिखे हैं। साहित्यिक दृष्टि से आप के निबन्ध कोई महत्त्व नहीं रखते। हाँ,

विचारों की दृष्टि से अच्छे हैं। आपके लेखों के दो संग्रह 'जैनेंद्र के विचार' और 'जड़ की बात' प्रकाशित हो चुके हैं।

कविवर सियारामशरण गुप्त ने भी कुछ निबन्ध लिखे हैं। यद्यपि आपके निबन्धों की संख्या अधिक नहीं है, तथापि जो कुछ हैं वह शुद्ध निबन्ध-रचना की दृष्टि से अच्छे हैं। 'झूठ-सच' नाम से आपके निबन्धों का संग्रह हिंदी जगत् को मिला है।

बा० सम्पूर्णानन्द जी—प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री हैं। आपके निबंध विचार-पूर्ण और प्रभावशाली होते हैं। समाजवाद और चिद्विलास नामक आपके ग्रंथों पर मंगलाप्रसाद पुरस्कार व अन्य कई पदक, परितोषिक आदि प्राप्त हो चुके हैं। धर्मवीर गांधी, महाराज छत्रसाल, भौतिक विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, ज्योतिर्विनोद, सृष्टि-क्रम-विचार, भारत के देशी राष्ट्र, चेतसिंह और काशी का विद्रोह, सम्राट् हर्षवर्द्धन, महाराज सिंधिया, चीन की राज्य-क्रान्ति, मिश्र की स्वाधीनता, अन्तर्राष्ट्रीय विवान, साम्यवाद का बिगुल, व्यक्ति और राज्य, आर्यों का आदि देश आदि हिन्दी ग्रंथों के अतिरिक्त आपने अंग्रेजी के भी कई ग्रन्थ लिखे हैं। चिद्विलास और समाजवाद का गुजराती में अनुवाद हो चुका है।

श्रीपाद दामोदर सात्वलेकर—धार्मिक और दार्शनिक लेखकों में आपका स्थान विशेष उल्लेखनीय है। वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, महाभारत, ईशोपनिषद्, केनोपनिषद्, आदि अनेक संस्कृत ग्रंथों के इन्होंने हिन्दी में प्रामाणिक अनुवाद उपस्थित किये हैं। सं० २००८ का प्रथम गांधी-पुरस्कार आप ही को दिया गया है। अपने प्रसिद्ध वैदिक धर्म (स्वाध्याय मंडल पारडी) के द्वारा हिन्दी-भाषा व राष्ट्र की महत्वपूर्ण सेवा कर रहे हैं।

आचार्य अभयदेव—आपके निबन्ध सद्यः प्रभावोत्पादक हैं। 'ब्राह्मण की गौ' आदि आपकी अनेक रचनाएं प्रकाशित हो चुकी हैं। श्री अरविन्द के आध्यात्मिक पत्र 'अदिति' के सम्पादन कार्य में आप विशेष मनोयोग देते हैं।

श्री अमृतवाग्भवाचार्य—के धार्मिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक आदि विभिन्न विषयों के निबन्ध व संस्मरण 'श्री स्वाध्याय' आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। आत्मविलास, राष्ट्रालोक और उसका राष्ट्रसंजीवन नामक संस्कृत भाष्य, श्री परशुराम स्तोत्र, सप्तपदी हृदय आदि रचनाओं से आपका प्रकाण्डपाण्डित्य प्रदर्शित होता है।

पण्डित सूर्यनारायण व्यास—आपके सामयिक निबंधों को जनता बड़े चाव से पढ़ती है। कालीदास प्रेरित 'शिल्प शृंगार' का हिन्दी अनुवाद, 'मेरी

यूरोप यात्रा' आदि आपकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। 'विक्रम' नामक आपका मासिक पत्र बेजोड़ है।

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय—आप भी उच्चकोटि के लेखक हैं। धार्मिक और सामाजिक विषयों पर लिखे गये आपके निबंधात्मक 'आस्तिकवाद' नामक दार्शनिक ग्रंथ पर आपको मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हो चुका है। शेक्सपियर के नाटकों तथा ईशोपनिषद आदि ग्रंथों का इन्होंने सुन्दर अनुवाद किया है।

भगवानदास केला—हिंदी में राजनीति, अर्थ शास्त्र, समाज शास्त्र आदि कई अनुपलब्ध और नवीन विषयों के लेखक हैं। इस क्षेत्र में आपका कार्य अत्यन्त स्तुत्य है। शासन विज्ञान, भारतीय अर्थ शास्त्र तथा दर्शन विषयक अनेक ग्रंथ लिखकर आपने छात्रों एवं हिंदी जगत् का महान् उपकार किया है।

संत विनोबा भावे—आपके लेख अत्यन्त सात्विक एवं विचार प्रवर्तक होते हैं। गांधी साहित्य के ये प्रामाणिक व्याख्याता हैं। भूमिदान आन्दोलन को लेकर लिखी गई 'भूदान यज्ञ' नामक इनकी पुस्तक का पर्याप्त प्रचार हुआ है। 'विनोबा के विचार' में इनके कई निबन्ध संकलित हैं।

रामदास गौड़—ये विज्ञान धर्म, राजनीति आदि सभी नवीन प्राचीन विषयों पर अधिकार-पूर्ण रचनाएँ लिखते रहे थे। संस्कार-युग और सुकुमार युग के साहित्यस्रष्टाओं में इनका अपना स्थान था।

कहानी और उपन्यास की भांति निबन्ध-क्षेत्र में भी हमारी स्त्री-लेखिकाएँ पीछे नहीं रही हैं। इनमें सुश्री चन्दाबाई, गोदावरी केलकर, कमलाबाई किबे, महादेवी वर्मा और चन्द्रावती त्रिपाठी, दिनेशनन्दिनी डालमिया, भगवती देवी विह्वला, शचीरानी गुर्टू, निर्मला माथुर, विद्याविभा एम० ए० के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके सुन्दर निबन्ध सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं।

समालोचना

हम पीछे बता चुके हैं कि द्विवेदी-काल में तुलनात्मक समालोचना का जोर रहा है। यद्यपि द्विवेदी जी ने आधुनिक समालोचना-पद्धति की रूपरेखा प्रस्तुत कर दी थी; तथापि द्विवेदी जी की प्रवृत्ति भी गुण-दोष ढूंढ़ने तक ही सीमित रही। कवियों की अन्तर्दृष्टि की प्रवृत्ति और प्रेरणा तक नहीं पहुँच पा रहे थे। उनकी समालोचनाएँ भी अधिकतर खंडनात्मक ही होती थीं। आधुनिक काल में व्याख्यात्मक समालोचना का जन्म हुआ। व्याख्यात्मक समालोचना में आलोचक

न तो अपनी सम्मति को ही प्रधानता देता है, और न आचार्यों के सिद्धांतों ही को, क्योंकि आचार्यों के सिद्धांत तो प्राचीन साहित्य के आधार पर ही बनाये हुए हैं, अतः नवीन साहित्य-स्रष्टाओं पर वे कैसे लागू हो सकते हैं। वरन् वह कवि को प्रधानता देता है। वह कवि की अन्तरात्मा में प्रवेश करके उसके आदर्शों, प्रवृत्तियों के अनुकूल उसकी व्याख्या करता है। इस प्रकार की आलोचना में कवि के समय की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों और उनके प्रभाव का अध्ययन किया जाता है। उसके वैयक्तिक चरित्र पर आधारित उसकी मानसिक स्थिति के सहारे भी उसकी वृत्तियों को समझने का प्रयत्न किया जाता है। यह समालोचना मनोवैज्ञानिक कहलाती है। आधुनिक काल में मनोवैज्ञानिक आलोचना में मनोविश्लेषण के सहारे लेखक के मन की अन्तर्भावनाओं तक पहुँचने का प्रयत्न किया जाता है।

विकासकाल में इस मनोवैज्ञानिक समालोचना के प्रवर्त्तक पं रामचन्द्र शुक्ल थे। उन्होंने समालोचकों के सामने एक नवीन आदर्श रखा। शुक्ल जी से पहले जो लोग अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन करके हिंदी के आलोचना-क्षेत्र में आये, उनका आदर्श अंग्रेजी आलोचकों के विचारों का अनुवाद-मात्र कर देना था। कुछ लोग तो इससे भी आगे बढ़कर अंग्रेजी कवियों और लेखकों के विषयों में लिखी हुई उक्तियों और विचारों को वैसे ही हिंदी-कवियों और लेखकों के विषय में लिखने लगे। ऐसी आलोचनाओं में मौलिकता या अध्ययन का तो अभाव था ही, साथ ही आलोचना सम्बन्धी भारतीय आदर्श के प्रति एक प्रकार की उदासीनता भी थी, जो हिंदी के लिये अहितकर थी। शुक्लजी ने इन दोनों को दूर करने का प्रयत्न किया। उन्होंने संस्कृत और अंग्रेजी के आलोचना-साहित्य का गम्भीर अध्ययन करके दोनों के सुन्दर समन्वय द्वारा मनोवैज्ञानिक आलोचना का नवीन आदर्श हिंदी-साहित्य के समीक्षकों के सामने रखा। इस प्रकार भावी आलोचना के लिये वे पथ-प्रदर्शक बने। सूर, तुलसी, और जायसी पर लिखी हुई उनकी आलोचनाएँ इसी दृष्टि-कोण की हैं। उनके पहले हिंदी में गम्भीर और मननशील समीक्षा-साहित्य का जो अभाव था, उसकी पूर्ति करने का शुक्लजी ने सफल प्रयत्न किया। आगे चलकर कतिपय आलोचक इनकी पद्धति के अनुयायी बने।

पाश्चात्य ढंग की मनोवैज्ञानिक समालोचना लिखने वालों में शुक्लजी के पश्चात् बाबू श्यामसुन्दरदास का नाम प्रख्यात है। उन्होंने समालोचना सम्बन्धी सिद्धांतों का योग्यतापूर्वक निरूपण किया है। इस विषय में इनका 'साहित्यालोचन'

एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसमें समीक्षा-सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है। उनके 'रूपक-रहस्य' में नाटकीय सिद्धांतों पर विवेचना की गई है। 'गोस्वामी तुलसीदास' और 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' भी इनके प्रसिद्ध आलोचनात्मक ग्रंथ हैं। तुलसीदास पर तो कई आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी गई हैं, किंतु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर इस प्रकार की पुस्तकें बहुत कम लिखी गई हैं।

समालोचना की शास्त्रीय पद्धति का स्वरूप-निदर्शन कराने वालों में श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का भी विशेष स्थान है। उनकी 'हिंदी-साहित्य-विमर्श' और 'विश्व-साहित्य' आदि पुस्तकें उनके गम्भीर अध्ययन और अनुशीलन की परिचायक हैं।

इस काल में प्राचीन एवं अर्वाचीन कवियों के ऊपर बहुत से आलोचनात्मक ग्रंथ लिखे गये हैं। गंगाप्रसाद सिंह ने 'पद्माकर की काव्य-साधना' तथा 'केशव की काव्य-कला' लिख कर दोनों कवियों पर प्रकाश डाला है। केशव की काव्य-कला में केशवदास के आचार्यत्व का शास्त्रीय विवेचन किया गया है। श्री भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र 'माधव' कृत 'मीरा की प्रेम-साधना', रामकुमार वर्मा का 'कबीर का रहस्यवाद' नगेंद्र का 'सुमित्रानन्दन पन्त' तथा 'साकेत : एक अध्ययन', सत्येंद्र जी की 'गुप्त जी की कला', नन्द दुलारे वाजपेयी का 'जयशंकरप्रसाद', रामनाथ 'सुमन' की 'प्रसाद की काव्य-साधना' भी महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक कृतियां हैं। तुलसी के ऊपर भी पर्याप्त आलोचनात्मक साहित्य इकट्ठा हो गया है। सद्गुरुशरण अवस्थी का 'तुलसी के चार दल' माताप्रसाद गुप्त का 'तुलसी-संदर्भ', डा० बलदेवप्रसाद मिश्र का 'तुलसी-दर्शन' रामदास गौड़ की लिखी हुई 'रामचरितमानस की भूमिका' तुलसी के साहित्य पर प्रकाश डालने वाले अच्छे ग्रंथ हैं।

इसी प्रकार सूरदास जी के ऊपर भी कई ग्रंथ लिखे गये हैं। नलिनीमोहन सान्याल का 'भक्तवर सूरदास' शिखरचन्द्र जैन का 'सूर : एक अध्ययन' डा० रामरत्न भटनागर तथा श्री वाचस्पति त्रिपाठी द्वारा लिखित 'सूर-साहित्य की भूमिका' सूर-साहित्य पर प्रकाश डालने वाले अच्छे साहित्यिक ग्रंथ हैं।

इसी प्रकार नाटकों के ऊपर प्रकाश डालने वाली कई पुस्तकें लिखी गई हैं। पं. रामचन्द्र शुक्ल ने प्रसाद जी की नाट्यकला के साधारण सिद्धांतों को बतलाकर प्रसाद जी के नाटकों पर अच्छा प्रकाश डाला है। श्री ब्रजरत्न दास का 'हिंदी नाट्य-साहित्य', सेठ गोविन्ददास जी की 'नाट्य-कला-मीमांसा', नगेंद्र का 'आधुनिक हिंदी नाटक' सत्येंद्र जी का 'हिंदी-एकांकी' गुलाबराय जी का

'हिंदी नाट्य विमर्श' श्री सोमनाथ गुप्त का 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' नाटकों पर प्रकाश डालने वाली अच्छी पुस्तकें हैं।

इस काल में हिंदी साहित्य के कई आलोचनात्मक इतिहास भी लिखे गये हैं। बा. श्यामसुन्दर दास का 'हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास' श्री डा. सूर्यकान्त जी का 'हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास', कृष्णशंकर शुक्ल का 'आधुनिक साहित्य का इतिहास' रामकुमार वर्मा का 'हिंदी का आलोचनात्मक इतिहास' प्रो० मोहनलाल 'जिज्ञासु' का हिन्दी गद्य का विकास, प्रो० संसारचन्द्र का 'हिन्दी गद्य का प्रसार' इस विषय के महत्त्वपूर्ण इतिहास हैं।

समालोचना के सिद्धांतों पर भी कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना हुई है। बाबू श्यामसुन्दरदास कृत 'साहित्यालोचना' के अतिरिक्त नलिनी मोहन सान्याल का 'आलोचना-तत्त्व', सुधांशु जी का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', इलाचन्द्र जोशी की 'साहित्य-सर्जन' पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव की 'आदर्श और यथार्थवाद' श्री डा० सोमनाथ गुप्त रसाल का 'आलोचना और उसके सिद्धान्त' महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं।

प्राचीन ढंग की रस और अलंकार की पुस्तकों में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार की 'रस-मंजरी' और 'अलंकार-मंजरी', बा. गुलाबराय का 'नव-रस' केडिया जी का 'भारती-भूषण', हरिशंकरजी का 'रस रत्नाकर' रसाल जी का 'अलंकार-पीयूष' प्रो० संसारचन्द्र की छन्दोऽलंकार मंजरी आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं।

चन्द्रबली पांडेय ने सूफ़ी साहित्य पढ़-सुनकर मननात्मक समालोचना-साहित्य प्रकाशित कर हिंदी-साहित्य में इस अभाव की पूर्ति की है। पांडेय जी सूफ़ी मत के प्रतिनिधि व्याख्याता व आलोचक हैं। श्री पं. परमेश्वरानन्द जी महामहोपाध्याय ने छन्दशिक्षा, अलंकार-कौमुदी आदि अलंकारादि विषयों पर सुन्दर ग्रंथ लिखे हैं। महामहोपाध्याय जी संस्कृत के साथ ही साथ हिंदी के भी माने हुए लेखक हैं। संस्कृत में तो इन के अनेक ग्रंथ हैं।

उपर्युक्त आलोचकों के अतिरिक्त डा० धीरेन्द्र वर्मा का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। इन्होंने शुक्ल जी और बाबू श्यामसुन्दरदास के बाद हिन्दी के आलोचना-साहित्य को एक नवीन गति और प्रेरणा दी है। आप तुलनात्मक समालोचना के स्थान पर कवि के ऐतिहासिक पक्ष का समर्थन करते हैं। श्री गुलाबराय जी की आलोचना-पद्धति में शुक्ल जी की प्रतिच्छाया दिखाई पड़ती है। इधर डाक्टर हेमचन्द्र जोशी ने हिन्दी में जो आलोचनाएँ की हैं, वे भी उल्लेखनीय हैं। उनकी समीक्षाएँ मनोवैज्ञानिक आधार पर होती हैं।

नन्ददुलारे वाजपेयी साहित्य की बड़ी सूक्ष्म परख करते हैं। शुक्ल जी को यदि रोमैण्टिक स्फूर्ति मिल जाती, तो उनकी आलोचना का वही रूप होता, जो वाजपेयी जी की समालोचना का है। शुक्लजी की साहित्यिक परिस्थितियों को विकास देने वाले एक-मात्र वाजपेयी जी ही हैं। इनका मुख्य प्रयत्न रचना और रचनाकार के मनोवैज्ञानिक उद्घाटन की ओर है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी तत्त्व-बोधक आलोचक हैं। 'कबीर' और 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' से स्पष्ट है कि वे भावुक कम हैं और आनुसन्धानिक अधिक। पुरातत्त्व की भाँति ही वे कवित्व का भी स्थापत्य उपस्थित करते हैं। इसलिए उनकी शैली प्रतिपादन की ओर है। उनके अनुसन्धान का क्षेत्र हृदय का रमणीय लोक है, अतएव स्वभावतः उनके प्रतिपादन में भी रमणीयता है।

श्री चन्द्रबलि पाण्डेय एम० ए०—ने 'तस्सवुफ़ अथवा सूफ़ीमत' नामक पुस्तक में सूफ़ी सिद्धांतों की जैसी सुन्दर विवेचना की है वह वर्णनीय है। समालोचना-साहित्य में इस ग्रंथ का अपना विशेष स्थान है।

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी—पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखकर साहित्य एवं साहित्यकारों के संरक्षण सम्बन्धी समालोचक के मुख्य कर्तव्य का पालन कर रहे हैं। आपके समालोचनात्मक लेख बड़े चाव से पढ़े जाते हैं।

पंडित किशोरीदास वाजपेई—भी एक बड़े समालोचक हैं, 'रहस्यवाद' नामक पुस्तिका में रहस्यवाद की खड़ी और मार्मिक आलोचना की है। व्रजभाषा का व्याकरण तो आपकी इस विषय की एकमात्र रचना है। इनका 'द्वापर की राज्य-क्रान्ति' नामक नाटक भी सुन्दर बन पड़ा है।

श्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—के समालोचनात्मक निबन्ध अत्यन्त गम्भीर और मनन-पूर्ण होते हैं।

समालोचना के सिद्धान्त-सम्बन्धी इधर कुछ नवीन रचनाएँ आई हैं जैसे कि—डा० सूर्यकांत कृत 'साहित्य-मीमांसा' का उच्च कक्षाओं में विशेष आदर हुआ। इसमें पूर्वीय और पश्चिमीय दोनों दृष्टियों से साहित्य का सुन्दर विवेचन हुआ है। 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास भी' इनका आलोचना सम्बन्धी एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। सात महा मानव, जवाहरलाल, एक अनुशीलन आदि इनकी जीवन-चरित्र सम्बन्धी रचनाएँ भी सुन्दर बन पड़ी हैं, डा० इन्द्रनाथ मदान कृत 'हिन्दी कलाकार' नामक ग्रन्थ भी अपने ढंग का एक ही है। इसमें सूर, तुलसी, गुप्त जी, प्रसाद जी आदि अनेक नये, पुराने कलाकारों की विशेष-

ताओं को अत्यन्त प्रांजल भाषा में प्रकट किया गया है। 'प्रेमचन्द एक विवेचना' और 'काव्य विवेचना' इनके उत्कृष्ट आलोचनात्मक ग्रंथ हैं।

पंडित रामकृष्ण शुक्ल शिलीमुख कृत 'काव्य-जिज्ञासा' और 'आलोचना समुच्चय' भी अपने विषय की अच्छी रचनाएँ हैं।

डा० सोमनाथ गुप्त कृत 'आलोचना और उसके सिद्धांत' नामक ग्रंथ हाल ही में प्रकाश में आया है।

डा० हरदेव बाहरी—की 'काव्य शैली के विकास' नामक पुस्तक अपने विषय की एक अच्छी रचना है।

शचीरानी गुर्टू—ने 'साहित्य दर्शन' नामक ग्रन्थ में हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों के साथ यूरोप के प्रसिद्ध कलाकारों की सुन्दर तुलना उपस्थित की है। यह ग्रंथ भी अपने ढंग का एक ही बन पड़ा है।

पं० रामधन शास्त्री—ने सूरदास की 'साहित्य-लहरी' या सूरदास के दृष्टिकूट पर एक बड़ा विवेचनात्मक ग्रंथ लिखकर सूरदास के समालोचना-सम्बन्धी कार्य को आगे बढ़ाया है। इनकी तथा सरनदास भनोत' की लिखी हुई 'भारतीय संस्कृति की रूपरेखा' भी सुन्दर है। इनकी लिखी हुई रघुवंश की व्याख्यात्मक आलोचना भी अच्छी बन पड़ी है।

आजकल प्रगतिवाद के झंडे के नीचे मार्क्सवादी विचार-धारा की आलोचना का प्रचार हो रहा है। मार्क्सवादी विचार-धारा कला की अपेक्षा भौतिक आवश्यकताओं को अधिक महत्त्व देती है। इसी ध्येय को अग्रसर करने के मापदण्ड से वे साहित्य का मूल्यांकन करते हैं। प्रगतिवादी आलोचकों में श्री शिवदानसिंह चौहान, डा० रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, भगवतशरण उपाध्याय, प्रभाकर माचवे, गजानन माधव, मुक्तिबोध, अमृतराय, वीरेन्द्र त्रिपाठी प्रमुख हैं। इनका उल्लेख प्रगतिवाद के प्रकरण में करेंगे।

हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बहुत बड़ी है। प्रमुख प्राचीन पत्र-पत्रिकाओं का परिचय पहले यथास्थान दिया जा चुका है। इस युग के पत्रों में निम्न विशेष उल्लेखनीय हैं:—

त्रैमासिक—लखनऊ से 'विश्वभारती' नामक ज्ञान-विज्ञान का एक विशाल कोष मासिक रूप से प्रकाशित हो रहा है। हिन्दी-साहित्य में यह एक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न है। 'विश्वभारती' त्रैमासिक सांस्कृतिक पत्रिका भी विशेष कार्य कर रही है। सोलन से पं० हरदेव शर्मा त्रिवेदी के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'श्री स्वाध्याय' ने सांस्कृतिक क्षेत्र में अपना विशेष स्थान बना लिया है।

मासिक–गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित 'कल्याण' धार्मिक जगत् की महत्त्वपूर्ण अतुल्य सेवाएँ कर रहा है। मासिक पत्रों में चांद, प्रभा, माधुरी, विशालभारत, विश्वमित्र, हंस, नोंक-झोंक, गीता-धर्म, धर्म-दूत, सरस्वती, विक्रम, रानी, सुधा-निधि, सहेली, हिन्दुस्तानी, साहित्य-संदेश, सरिता, वसुन्धरा, विज्ञान आदि अनेक सुन्दर पत्र-पत्रिकाएँ निकलने लगी हैं।

साप्ताहिक–साप्ताहिक पत्रों में आकाशवाणी, पाटलीपुत्र, भविष्य, श्री कृष्ण सन्देश, हिन्द केसरी, हिन्दू-पंच, सैनिक, स्वदेश, राजस्थान, तथा देशदूत आदि पत्र अपने-अपने समय तक हिन्दी की अच्छी सेवा करके कुछ बन्द हो गये और कुछ चल रहे हैं। लीडर प्रेस के संचालकों ने प्रयाग से 'भारत' नाम का साप्ताहिक पत्र निकाला था, जिसका अब दैनिक संस्करण भी निकलने लगा है। इस समय प्रकाशित होने वाले कुछ साप्ताहिक पत्रों के नाम ये हैं–कर्मवीर, पांचजन्य, कर्म-भूमि, ग्रामसुधार, ग्राम-संसार, जागृति, दरबार, देशदूत, नया राजस्थान, नवजीवन, अशोक, आर्य मार्तण्ड, आदर्श, आर्य-मित्र, प्रकाश, नवीन भारत, पुकार, भास्कर, मजदूर, आवाज़, युगवाणी, युगांतर, रामराज्य, राष्ट्र-पताका, लोकमत, विक्रम, प्रजा, श्री वेंकटेश्वर, समय, संसार, आज, सन्मार्ग, संगम, समाज, स्वराज्य, सेवक, सूत्रधार, विन्ध्य-केशरी, वसुन्धरा, हरिजन-सेवक, धर्मयुग, वीर अर्जुन शुभचिन्तक नाम का एक अर्द्ध-साप्ताहिक पत्र भी निकलने लगा है।

दैनिक–दिल्ली से हिन्दुस्तान, अमर-भारत, नवभारत, विश्वमित्र, वीर अर्जुन, नेताजी, सन्मार्ग, लखनऊ से नवजीवन और स्वतन्त्र भारत तथा प्रयाग से भारत व अमृत पत्रिका निकल रहे हैं। काशी से तीन दैनिक आज, सन्मार्ग और संसार निकलते हैं। इनके अतिरिक्त अधिकार, आर्यपुत्र, जयभारत, हिन्दी-मिलाप, स्वतन्त्र-भारत, प्रताप, भारत, स्वदेश, भारतमित्र, लोकमत आदि दैनिक पत्र निकलते हैं। कई दैनिकों के साप्ताहिक संस्करण भी निकलने लगे हैं। नवभारत के कलकत्ता और बम्बई से भी संस्करण प्रकाशित होते हैं।

इधर कुछ बालोपयोगी पत्र-पत्रिकाएँ भी निकलने लगी हैं। इनमें बालक, होनहार, बालसखा, शेरबच्चा, दीदी, शिशु, बालभारती, खिलौना आदि उल्लेख-नीय हैं।

उपर्युक्त पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त और भी अनेक साप्ताहिक एवं मासिक पत्र निकल कर अपनी जाति एवं पार्टी की उल्लेखनीय सेवाएँ कर रहे हैं।

अभ्यास

१. द्विवेदी-युग की देन पर स्पष्ट प्रकाश डालते हुए विकासकाल की आरम्भिक प्रवृत्तियों पर विचार करें।

२. प्रेमचन्द जी के साहित्य की विशेषताएँ बताते हुए उनके जीवन पर संक्षिप्त प्रकाश डालें।

३. जयशंकरप्रसाद के साहित्य पर प्रकाश डालते हुए उनके साहित्य की विवेचना करें।

४. विकास-काल के आरम्भिक नाटक-साहित्य का वर्णन करते हुए बताएँ कि इस काल में नाटक-साहित्य की कहां तक प्रगति हुई ?

५. विकास-काल के उपन्यास, निबन्ध एवं कहानी-साहित्य के क्रमिक विकास का सविस्तर वर्णन करें।

६. विकास-काल में समालोचना-पद्धति में क्या-क्या परिवर्तन हुए ? इस युग के प्रमुख समालोचकों तथा समालोचना साहित्य का वर्णन करें।

७. सिद्ध करें कि पं० रामचन्द्र शुक्ल आधुनिक समालोचना पद्धति के प्रवर्त्तक थे।

८. विकास-काल की पत्र-पत्रिकाओं का सविस्तर वर्णन करें।

चौबीसवाँ अध्याय

प्रगति-युग का गद्य

उपन्यास

प्रगति-युग में उपन्यास-कला के दृष्टिकोण में भी पर्याप्त अन्तर हो गया है। द्विवेदी-युग के बाद कला-साहित्य की परिणति युग के क्रम-विकास के अनुरूप होती गई। द्विवेदी-युग के आदर्शोन्मुख (वस्तुरूप) स्थूल से छायावाद के अन्तर्मुख सूक्ष्म (भाव-सत्य) की ओर; अन्तर्मुख सूक्ष्म से यथार्थवाद के अन्तर्गत स्थूल (मनोविकार) की ओर; और अन्तर्गत स्थल से प्रगतिवाद के बहिर्गत स्थूल (इतिहास-विज्ञान) की ओर। इस युग की जैसी चेतना थी, उसकी अभिव्यक्ति भी वैसी ही स्थूल या सूक्ष्म हो गई। प्रगति-युग की कथा-शैली अपने युग के अनुरूप मनोवैज्ञानिक है ।

प्रगतिवादी उपन्यासकारों में सर्वश्री राहुल सांस्कृत्यायन, यशपाल, अज्ञेय, पहाड़ी, उपेन्द्रनाथ अश्क, सर्वदानन्द वर्मा, श्री कृष्णदास, रांगेय राघव, श्री मन्मथनाथ गुप्त आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

यशपाल के 'देशद्रोही', 'दादा कामरेड', 'दिव्या' और 'पार्टी कामरेड' उपन्यास हमारे सामने आये हैं। यशपाल प्रगतिवाद के उत्तरदायित्त्वपूर्ण प्रतिनिधि हैं। यशपाल की विशेषता यह है कि उन्होंने मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों का आभिजात्य बनाये रखकर यथार्थवाद का धरातल दिया है। उन्होंने वास्तविकत्व के अतिरिक्त हृदय-पक्ष का भी स्पर्श किया है। 'दादा-कामरेड' में यथार्थवाद मनुष्य के नैसर्गिक कौतूहल में परिणत हो गया है। उसमें बुभुक्षित क्रांतिकारी नारी का नग्न समर्पण चाहता है, जिसके हृदय में अपने सन्तप्त सखा के लिए कुछ भी दुःख नहीं है, वह अभिन्नहृदया नारी नग्न होकर भी दिगम्बरता में अवगुंठित हो जाती है। वास्तव में यशपाल ने हिन्दी-उपन्यास को एक संकीर्ण मार्ग से निकाल कर कला की दृष्टि में नई शैली दी है।

अज्ञेय—यथार्थ कला के प्रांजल कलाकार हैं। उनका उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' बौद्धिक होते हुए भी सूक्ष्म मर्मस्पन्दनों के कारण हृदय को छूता है। इसमें एक क्रांतिकारी युवक की जीवनी है। अज्ञेय की शैली अब तक के सभी उपन्यासकारों

से नूतन है। छोटे-छोटे अनेक कथा-खंडों के संयोजन से इसकी घटनावली सुन्दर बन गई है। एक व्यक्ति के मनोविकास की सुदीर्घ कहानी होने के कारण इसकी मनोवैज्ञानिकता स्वयंसिद्ध है, किन्तु शेखर के आरम्भिक जीवन में गुरुतर बौद्धिक चिंतन करना उसके बाल-मन के लिये अस्वाभाविक है।

पहाड़ी के उपन्यासों में पुरुष की वासना, काम, प्रेम और आकर्षण आदि यौन-प्रवृतियों की विभिन्न दिशाओं का दर्शन मिलता है। उनके उपन्यास अधिकतर वैज्ञानिक सामाजिकता लिये हुए हैं। उनके 'सराद' आदि उपन्यास इसी प्रकार के हैं।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' केउपन्यास भी इसी कोटि के हैं। अश्क ने यथार्थ और आदर्श के संघर्ष को पैनी दृष्टि से उद्भासित किया है। उनके 'सितारों के खेल' और 'गिरती दीवारें' उपन्यासों में नारी-चरित्रों का अच्छा अध्ययन है।

सर्वदानन्द वर्मा के चार उपन्यास 'नरमेध', 'प्रश्न', 'अनिकेतन' और 'निकट की दूरी' प्रसिद्ध हैं। इनके उपन्यासों में कहीं-कहीं वासना और प्रेम की नग्न परिणति दी गई है, जो बहुत अखरती है। सामाजिक विषमता से पीड़ित मनुष्य का दुःख दूर करना ही उनका प्रमुख उद्देश्य जान पड़ता है।

श्री कृष्णदास ने 'अग्नि-पथ' में मजदूर-जीवन को पृष्ठ-भूमि बनाकर रोमांस और राजनीति के समन्वय का विफल प्रयत्न किया है। 'क्रांतिदूत' सन् ४२ के जन-आन्दोलन को आधार बनाकर लिखा गया है। राजनैतिक क्षेत्र में देश की विपन्नावस्था के प्रति उनके हृदय में तीव्र वेदना दीख पड़ती है।

प्रोफेसर इन्द्र विद्यावाचस्पति—पत्रकार और समालोचक के साथ एक कुशल उपन्यासकार भी हैं। सरला की भाभी, जमींदार आदि इनके सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डालने वाले सुन्दर उपन्यास आये हैं।

रांगेय राघव—का 'घरौंदे' और शैलेन्द्रनाथ गौड़ के 'पैरोल-पत्र' में सन् ४२के जन-आंदोलन की स्पष्ट छाप दिखाई देती है।

महापंडित राहुल का जीवन एक प्रकार से घुमक्कड़ की कहानी है। यह उस वेगवती नदी की भाँति है जो अनेक झीलों से संगम करके फिर नई खोज में निकल पड़ती है। अपने जीवन के उद्देश्य के सम्बन्ध में उनकी सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि भले ही पुष्ट हो, किन्तु उनकी प्रवृत्तियाँ बन्धन-मुक्त होकर विचरने में ही विश्वास करती हैं। तपस्वी होते हुए भी वे तपस्या की आंच का अनुभव नहीं करते। वे प्रकृति और पुरुष के बन्धन में भी वीतराग हैं।

राहुलजी का जन्म संवत् १९५२ में आजमगढ़ जिले में हुआ। ११ वर्ष की अवस्था में ही उनका विवाह हो गया, किन्तु समझ आने पर घर छोड़कर चले गए। घर से निकलकर वे कलकत्ता चले गए फिर हिमालय और उत्तराखंड का भ्रमण किया। फिर काशी में आकर संस्कृत का अध्ययन करने लगे। काशी में वे एक महन्त के पल्ले पड़ गये। उसने उनका नाम केदारनाथ पांडेय के बदले रामउदारदास रखा। फिर ये दक्षिण भारत के भ्रमण को निकल पड़े। आप पर आर्यसमाज का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। १९७२ से १९७९ तक मुसाफ़िर-आर्य-विद्यालय आगरा में रहे। फिर लाहौर जाकर संस्कृत का अध्ययन करने लगे। जलियांवाला बाग के हत्याकांड से ये अत्यन्त प्रभावित हुए और कांग्रेस में सम्मिलित हो गये। बिहार की सारन भूमि आपका कर्मक्षेत्र बनी। गोहाटी-कांग्रेस में आप प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए थे। इसके पश्चात् आपके जीवन के महत्त्वपूर्ण अध्याय का प्रारम्भ होता है—वह है आपका लंका प्रवास। पाली भाषा सीखकर बौद्ध-धर्म के ग्रन्थों का अनुशीलन करने की धुन ही आपको लंका खींचकर ले गई। लंका में जाकर उन्होंने पाली भाषा सीखी ही नहीं, उसका पांडित्य भी प्राप्त कर लिया। फिर उन्होंने एक भक्त के रूप में नहीं, एक सत्य अन्वेषक की दृष्टि से बौद्ध-ग्रन्थों का विवेचन भी किया। लंका में आपने एक वर्ष तक विद्यालंकार परिवेण में अध्यापक का कार्य किया, वहीं त्रिपिटक का गम्भीर अध्ययन और मनन भी किया।

लंका-प्रवास में प्राचीन ज्ञान-भंडार के उद्घाटन की इच्छा प्रकट हुई और तिब्बत गये। राहुलजी ने अपने मितभाषण और कठोर आचार द्वारा साधारण लोगों का ही नहीं, वहां के मठाधीशों का भी विश्वास प्राप्त कर लिया। और उन्होंने राहुल जी को समस्त प्राचीन ग्रन्थोंका अनुसन्धान करने की सुविधाएँ दे दीं। यही नहीं, राहुल जी उन्हें अपने साथ भारत भी ले आये। बौद्धधर्म तो आपने स्वीकार कर ही लिया था, साथ ही आपका नाम भी रामउदारदास से राहुल सांकृत्यायन हो गया था। राहुलजी ने तीन-चार बार तिब्बत-यात्रा की। इसके अतिरिक्त कई बार रूस भी गये। पहली बार आपको केवल २४ घन्टे ही रूस में ठहरने दिया गया था। दूसरी बार वे लगभग ६ मास रूस में रहे और तीसरी बार जो गये तो कई वर्षों में लौटे। वहां आपने एक रूसी महिला से विवाह भी कर लिया और उनका एक पुत्र भी है जिसकी आयु अब १४ वर्ष की है। उसका नाम इगो राहुलोविच है। रूस में आप लेनिनग्राड यूनिवर्सिटी में प्रोफ़ेसर भी रहे।

संवत् १९८५ से आपका जीवन संघर्षमय रहा है। इस बीच में आपने सतत अध्ययन और मनन द्वारा प्रत्येक विषय की गहराई तक पहुँचने का प्रयत्न किया है। इसका फल हिन्दी-साहित्य को एक अमूल्यनिधि के रूप में मिला है।

राहुलजी हिन्दी के महापंडित हैं। बहुमुखी प्रतिभा की दृष्टि से बहुत कम लोग ऐसे होंगे, जो आपकी कोटि में गिने जा सकें। प्रतिभाशाली विद्वान् होने के अतिरिक्त जो इससे भी बड़ी विशेषता उनमें है, वह है—उनकी प्रगतिशीलता और क्रांति-तत्परता। उनमें सेवा की असाधारण लगन और उसके लिए शक्ति और क्षमता सभी-कुछ विद्यमान है। राहुलजी ने हिन्दी को एक नवीन साहित्य दिया है। आपने अपनी क्रांतिदर्शिनी दृष्टि से सर्वथा नवीन प्रयोग किये हैं और साथ-ही-साथ उन्मुक्त रूप से रूढ़िवाद और साहित्य की प्राचीन परिपाटी को चुनौती देकर एक नई शैली और नये मापदंड को अपनाया।

राहुलजी अंग्रेजी, बंगला, गुजराती, मराठी, तामिल, उर्दू, सिंधी और पंजाबी आदि भाषाओं के मर्मज्ञ ज्ञाता हैं। इन्होंने हिन्दी की भी अमूल्य सेवा की है। धर्म, दर्शन, कथा, उपन्यास, साम्यवाद, राजनीति, विज्ञान, जीवनी, पुरातत्व, यात्रा-वृत्तांत—कोई भी विषय ऐसा नहीं, जिसमें आपने लेखनी न उठाई हो। आपके हिन्दी-ग्रन्थों के नाम ये हैं—

बुद्धचर्या, धम्मपद, मज्झिनिकाय, दीर्घनिकाय, विनयपिटक, तिब्बत में बौद्ध-धर्म, तिब्बत में सवा वर्ष, मेरी तिब्बत-यात्रा, मेरी यूरोप-यात्रा, लद्दाख-यात्रा, लंका, ईरान, जापान, सोवियत भूमि, साम्यवाद ही क्यों ? बाईसवीं सदी, कुरान-सार, पुरातत्व निबन्धावली, शैतान की आंख, जादू का मुल्क, सोने की ढाल, विस्मृति के गर्भ में, सितमी के बच्चे, दिमागी गुलामी, तुम्हारा क्षय, क्या करें, दर्शन-दिव्य-दर्शन, वैज्ञानिक भौतिकवाद, नये भारत के नये नेता, भागो नहीं दुनिया को बदलो, बोलगा से गंगा, सिंह सेनापति, जय यौधेय, जो दास थे, किन्नर देश में, मेरी जीवन-यात्रा, आज की समस्यायें, आज की राजनीति, घुमक्कड़ शास्त्र, शासन-शब्द-कोष इत्यादि। इसके अतिरिक्त अनुवाद, संपादन, सार-संकलन भी बहुत हैं।

राहुल जी को हिन्दी से अधिक अनुराग है। हिन्दी का अपमान आप कभी सहन नहीं कर सकते। सदैव एक जागरूक प्रहरी की भांति आप हिन्दी-रक्षा का ध्यान रखते हैं। जब कोई हिन्दी पर प्रहार करता है तो राहुल जी उसका बराबर उत्तर देते हैं, फिर चाहे वह कोई भी क्यों न हो। जिस समय पं० जवाहरलाल नेहरू ने हिन्दुस्तानी का समर्थन किया था; उन्होंने राष्ट्रभाषा के

पद पर हिन्दुस्तानी को बिठाने का संकल्प किया था, राहुल जी ने तुरन्त लिखा—

"नेहरू जी का चेलेन्ज केवल हिन्दी वालों को ही नहीं, भारत के उन सारे ही लोगों के लिए है, जो भारत में एक राष्ट्रभाषा हिन्दी और एक लिपि का समर्थन करते हैं। × हिन्दुस्तानी की आड़ में अंग्रेजी के हिमायतियों से यह कहना है कि भारतीयों ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने में जो सफलता प्राप्त की है, उसका प्रभाव बहुत ही गम्भीर और दूर तक होकर रहेगा। जिसे समझने में भारत के 'आविष्कार करने वाले' भी धोखा खाया करते हैं। 'ते हि नो दिवसा: गता:' का रोना छोड़कर नेहरू, ताराचन्द और आजाद को भवितव्यता के सामने सिर झुकाना चाहिये और हिन्दी व नागरी लिपि को हिन्द-संघ की राष्ट्रभाषा तथा सर्वत्र व्यवसाय की भाषा और लिपि स्वीकार करनी चाहिये।"

उनके इस कथन से पाठक राहुल जी के हिन्दी-प्रेम का अनुमान लगा सकते हैं। हिंदी के लिए आप एक प्रगतिशील मार्ग का निर्माण कर रहे हैं। उनका कहना है कि प्रगतिवाद ही प्रगति के अवरुद्ध मार्ग को खोल सकता है। प्रगतिवाद कलाकार की स्वतन्त्रता का नहीं, परतन्त्रता का शत्रु है। प्रगति जिनके रोम-रोम में बस गई है, प्रगति जिनकी प्रकृति बन गई है, वह स्वयं अपनी सीमाओं का निर्धारण करते हैं। प्रगतिवाद कला की अवहेलना नहीं करता, वह तो कला और उच्च साहित्य के निर्माण में रूढ़ियों की बाधा को हटाकर सुविधा उत्पन्न करता है। प्रगतिवाद देश और काल दोनों के लिए विशाल दृष्टि रखता है।

ये हैं प्रगतिवाद के सम्बन्ध में राहुल जी के विचार।

राहुल सांकृत्यायन ने समाजवाद को पुराना आदर्श मानकर साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण किया है। इनके ऐतिहासिक ज्ञान में कोई भी सन्देह नहीं कर सकता। ऐतिहासिक सामग्री को अपनी कल्पना द्वारा नये रूप में उपस्थित कर देना ही राहुल जी की विशेषता है। इनके 'सोने की ढाल', 'जादू का मुल्क', 'सिंह सेनापति', 'भागो नहीं', 'दुनिया को बदलो', 'जय यौधेय' उपन्यासों में यही भावना पाई जाती है। शोषण और हरण की सामाजिक अव्यवस्था के प्रति भयंकर प्रताड़ना राहुल जी का प्रमुख लक्ष्य है।

श्री मन्मथनाथ गुप्त के 'रक्षक भक्षक', 'बलि का बकरा', 'दुश्चरित्र', 'अंधेर नगरी' नामक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त 'रक्त के बीज' नामक कहानी संग्रह तथा 'प्रेमचन्द' नामक आलोचनात्मक ग्रंथ भी अभी प्रकाशित हुए हैं।

कहानी

पिछले दस वर्षों में कहानी ने भी चतुर्दिक् प्रगति दिखाई है। आज का हमारा कहानी-साहित्य इतना उच्च-कोटि का हो गया है कि हम पूर्व-पश्चिम के किसी भी कहानी-साहित्य के समक्ष अपना कहानी-साहित्य रख सकते हैं। प्रगति-युग की कहानियों में कला के अनेक विधान और सामयिक जीवन, इतिहास एवं संस्कृति के अनेक अंगों का स्पर्श किया गया है। इनमें सामाजिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक सभी प्रकार की कहानियां हैं।

इस युग के प्रमुख कहानी-लेखकों को हम तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। पहली श्रेणी के कहानी लेखक वे हैं जिन्होंने उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाया है। वे ही अधिकांश में नये कहानीकार भी हैं। इनमें अज्ञेय, यशपाल, अमृतलाल नागर, अमृतराय और पहाड़ी का नाम ले सकते हैं। अज्ञेय की कहानियां अधिकांश में मनोवैज्ञानिक ढंग से लिखी गई हैं। मनुष्य को जब किसी नवीन समस्या को पुरानी घटनाओं के प्रकाश में सुलझाना होता है, तो अतीत के ये चित्र सिनेमा-चित्रों की भाँति इस तेजी से आते हैं कि हमारी धारणा-शक्ति उन्हें जहां-तहां ही पकड़ पाती है। इस प्रकार की कहानियों में चेतना के प्रवाह को दिखाने के लिये कथानक में तेजी लानी पड़ती है। अज्ञेय जी की 'शान्ति हंसी थी' आदि कहानियां इसी प्रकार की हैं।

अज्ञेय जी की दूसरी प्रकार की देश-भक्ति के संघर्ष की कहानियां हैं। इनकी 'अकलंक', 'रोज़ा' और 'कड़ियां' इसी प्रकार की हैं। 'जयदोल' के नाम से आपका नया कहानी संग्रह है।

देहली के श्रीराम शर्मा 'राम' की कहानियां भी इसी कोटि में आती हैं। इनकी चार सौ से भी अधिक कहानियां प्रकाशित हो चुकी हैं। इनका 'रोहिणी' उपन्यास भी सुन्दर है।

प्रेमचन्द के बाद यशपाल जन-साधारण के लिए प्रगति-युग के कथा-साहित्यकार हैं। उनकी कहानियां जन-साधारण और साहित्यिक दोनों के लिए ही आकर्षक हैं। प्रेमचन्द और यशपाल की भाषा और शैली में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु बाह्य समानता होते हुए भी दोनों में दो युगों (गांधीयुग, प्रगतियुग) का अन्तर पड़ गया है। यशपाल में प्रेमचन्द के आगे का यौवन है। फलतः दोनों के दृष्टि-बिन्दु और चरित्र-चित्रणों में भी अन्तर है।

यशपाल की कहानियां प्रेमचन्द की कहानियों से बहुत छोटी हैं। 'पिंजरे की

उड़ान', 'ज्ञानदान', 'वो दुनिया' में उनकी कथावस्तु का क्रमिक विकास है। 'उड़ान' की कहानियां प्रायः भावमूलक हैं; 'ज्ञानदान' की कहानियां यथार्थमूलक और 'वो दुनिया' की कहानियां समस्यामूलक हैं। इन कहानियों में सांकेतिक व्यंजना है जो बिना लेखक के बोले ही प्रश्न उपस्थित कर देती है। इनकी कहानियों की भाषा प्रेमचन्द की भांति सीधी-सादी, किन्तु उनसे अधिक चित्रात्मक है।

अमृतलाल नागर का कहानी-संग्रह 'तुलाराम शास्त्री' और अमृतराय का 'जीवन का पहलू' प्रकाशित हो चुके हैं। अमृतराय ने हाल में ही लिखना आरम्भ किया है। इनके वार्तालाप और शब्द-चित्र बड़े सजीव होते हैं। भाव स्वाभाविक हिन्दुस्तानी हैं। ये भी अपनी कहानियों तथा लेखों द्वारा साम्यवादी धारा का प्रचार करने में प्रयत्नशील हैं।

पहाड़ी यथार्थकाल के प्रांजल कलाकार हैं। इनके लगभग आधे दर्जन कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इस दृष्टि से देखा जाय तो प्रगतिवादी कहानीकारों में पहाड़ी की प्रगति सबसे अधिक है। इनकी अधिकांश कहानियां यथार्थवाद की भित्ति पर खड़ी की गई हैं, जिनमें मनोवैज्ञानिकता का भी पुट है। अधिकतर कहानियां युद्धकालीन सामयिक घटनाओं को लेकर लिखी गई हैं। 'सफ़र', 'सड़क पर', 'अधूरा चित्र' और 'छाया में' आदि इनके प्रसिद्ध कहानी-संग्रह हैं।

दूसरी श्रेणी के कहानी-लेखकों में रांगेय राघव, हंसराज रहबर, तेजबहादुर सिंह चौधरी, श्रीमती चन्द्रकिरण सौनरिक्शा, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, धर्मवीर भारती, मोहनसिंह सेंगर और देवेन्द्र सत्यार्थी के नाम आ सकते हैं। इन सभी लेखकों की कहानियों का दृष्टिकोण यथार्थवाद और उद्देश्य साम्यवाद का प्रचार। इन सभी लेखकों की कहानियों में हमें देश के विभिन्न भागों के नर-नारियों की संवेदनाओं का सुन्दरतम रूप देखने को मिलता है। बंगाल के अकाल, कलकत्ता और पंजाब के जन-संहार, युद्धकालीन अव्यवस्था और मध्यवित्तों के आर्थिक और नैतिक संघर्ष का चित्रण इन कहानीकारों का प्रिय विषय रहा है। इनकी कहानियां जनता में लोकप्रिय भी खूब हुई हैं। तेजबहादुरसिंह चौधरी की 'दिल में जगह चाहिए' शीर्षक कहानी बहुत ख्याति प्राप्त कर चुकी है। श्रीमती चन्द्रकिरण सौनरिक्शा को हम हिन्दी की एकमात्र प्रगतिवादी कहानी-लेखिका कह सकते हैं। इन्होंने अपनी कहानियों में पीड़ित और शोषित जनता का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है और प्रगतिवादी कहानी को एक नये दृष्टिकोण से कला का रूप और सौष्ठव प्रदान किया है। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी मुख्य रूप से लोकगीतों के संग्रह-कर्त्ता

हैं, किन्तु समय-समय पर कहानी और लेख भी लिखते रहते हैं। इनकी कहानियां भी साम्यवादी दृष्टिकोण को लिये होती हैं, उनका गांवों का चित्रण बड़ा सादगीपूर्ण होता है। 'चाय का रंग' इनका नवीनतम कहानी-संग्रह है।

तीसरी श्रेणी में हम उन नवयुवक लेखकों को ले सकते हैं जो अपना-अपना व्यक्तित्व लेकर कहानी-क्षेत्र में आये। इनमें वीरेन्द्रकुमार जैन, विष्णु प्रभाकर, वीरेश्वर सिंह, कमलाकान्त वर्मा, रामसरन शर्मा, ब्रजेन्द्रनाथ गौड़, मुक्तिबोध, सर्वदानन्द वर्मा और रामचन्द्र तिवारी श्री यश व रणवीर के नाम उल्लेखनीय हैं।

वीरेन्द्रकुमार ने कुरूप समाज को आत्मा की अनुरागिनियों का अन्तः सौन्दर्य दिया है। वास्तविकता के कठोर पत्थर पर उन्होंने बड़ी कोमल रेखा खींची है। आदर्श और यथार्थ के संकुचित क्षेत्र के बाहर उनमें शुद्ध हृदयवाद है। 'आत्म परिणाम', 'शेषदान', 'मुक्तिदूत' उनकी कथा-कृतियां हैं।

विष्णु प्रभाकर ने गृहस्थसंबंधी आभिजात्य बनाये रखकर आधुनिक मनोवैज्ञानिक कहानियां लिखी हैं। इनके कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

वीरेश्वरसिंह की कहानियों के संग्रह का नाम है—'उंगली का घाव'। इनकी भाषा और शैली में मादकता, सरसता और चित्रकारिता है।

कमलाकान्त वर्मा ने कहानी की एक नवीन भावात्मक शैली दी है। अपने रसोद्रेक से निर्जीव आलम्बनों को सामाजिक पात्रों की भाँति सजीव कर उन्होंने जीवन की अनुभूति का विस्तार किया है। उनकी 'पगडण्डी' शीर्षक कहानी इसी प्रकार की है।

रामसरन शर्मा ने लघुतम कहानी का मॉडल दिया है। उनके कथानक छोटे-छोटे मेघ-खंडों की तरह अपना विरल वातावरण और उसकी द्रुत-परिणति लिये हुए हैं।

रामचन्द्र तिवारी की कहानियां समसामयिक परिस्थितियों को लेकर लिखी गई मनोवैज्ञानिक कहानियां है। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में इनकी कहानियां बराबर निकलती रहती हैं।

श्री रणवीर व **श्री यश** की कहानियां उनके दैनिक पत्र हिन्दी मिलाप व अन्यान्य पत्रों में प्रकाशित होती रहती हैं।

नाटक

रंगमंच के अभाव में हिन्दी-नाटक अभी तक बहुत पिछड़ी हुई दिशा में है। पिछले कुछ दिनों से हिन्दी-जनता में एमेक्योर स्टेज का शौक बढ़ रहा है और

उसके साथ-ही-साथ नाटकों का सौंदर्य भी बढ़ रहा है। परन्तु हिन्दी-नाटक-साहित्य की इस उन्नति पर प्रगतिवाद की कोई स्पष्ट छाया दिखाई नहीं देती; हां, कुछ एकांकी नाटक अवश्य ही प्रगतिवादी दृष्टिकोण के लिखे गये हैं। परन्तु यह कहना कठिन है कि हिन्दी-नाटक साहित्य में इन एकांकी नाटकों ने अपने लिये कोई विशेष स्थान बनाया अथवा नहीं।

प्रगतिवादी नाटककारों में हम उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गणेशप्रसाद द्विवेदी, भुवनेश्वर प्रसाद, विष्णु प्रभाकर, जगदीशचन्द्र माथुर, श्रीचन्द्र अग्निहोत्री तथा अविनाशचन्द्र की गणना कर सकते हैं। चंद्रगुप्त विद्यालंकार के 'रेवा' नाटक पर गांधीवाद का प्रभाव है। भुवनेश्वर जी बुद्धिवाद के अधिक निकट हैं। यद्यपि वे बुद्धि को समाज का चोर-दरवाज़ा मानते हैं, तथापि उन्होंने अपनी रचनाओं में इसी चोर-दरवाज़े का उपयोग अधिक किया है। विष्णु प्रभाकर के एकांकी समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में निकलते रहते हैं। इनके नाटक अधिकतर समस्या-मूलक होते हैं। आजकल एकांकी नाटक अवश्य प्रगति के पथ पर हैं। आजकल नाटकों का मुख्य प्रयत्न एक ही दिशा में चल रहा है, नाट्यकौशल में। यों भी, नाटक शब्द की व्यंजना नें ही कौशल की मांग है। कुशलता की दृष्टि से इस समय हिन्दी नाट्य-साहित्य का विकास एकांकी अथवा मुक्तक नाट्य में हो रहा है।

संस्मरण और जीवनी

साहित्यिक अभिव्यक्ति के विविध साधनों (कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध) के उत्कर्ष के पश्चात् अब साधनों का नूतन संस्करण हो रहा है। नाटकों ने एकांकी का, काव्य ने गद्यात्मकता का, निबन्धों, कहानियों और जीवन-चरित्रों ने शब्द-चित्रों और संस्मरणों का रूप अपनाया है। इन विभिन्न रूपान्तरों में 'आपबीती-जगबीती' के रूप में आज का युग कथा-साहित्य का युग है। भावयुग (छायावाद) के पश्चात् साहित्य अब अनुभव-युग है।

शब्द-चित्रों और संस्मरणों का अभी प्रारम्भ-काल है। इस दिशा के कतिपय लेखक ये हैं—**बनारसीदास चतुर्वेदी, महादेवी वर्मा, विनोदशंकर व्यास, रामनाथ लाल 'सुमन', सत्यजीवन वर्मा, श्रीराम शर्मा, इन्द्र विद्यावाचस्पति, ब्रह्मदत्त शर्मा।**

महादेवी के संस्मरणों 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखा में' में सामाजिक साधना है। 'अतीत के चलचित्र' संस्मरण में कहानी है, कहानी में संस्मरण। हमारे साहित्य में पुरुष की आंखों से देखा हुआ समाज पर्याप्त आ चुका है। किन्तु

यह प्रथम गम्भीर प्रयत्न है जो नारी की आँखों से समाज का चित्रोद्घाटन करता है। शरच्चन्द्र ने समाज की जिस मर्यादा का भार नारी के कन्धों पर डाल दिया है, उसे 'अतीत के चलचित्र' में महादेवीजी ने संभाल लिया है। यह पुस्तक एक स्वच्छ सामाजिक दर्पण है, अत्याचारी इसमें अपनी मुखाकृति देख सकते हैं और नारी अपनी साधना का प्रकाश। इसका प्रत्येक आख्यान सांचों में ढली सुघड़ सृष्टि की भाँति सुडौल है। कवि होने के कारण महादेवी जी की भाषा में रसात्मकता और चित्रमनोरमता है। किन्तु कवित्व के नीचे वस्तुतत्व दब नहीं गया है प्रत्युत वह हृदय-स्निग्ध होकर पत्थर से संगमरमर हो गया है। काव्य में महादेवी जी का मानसलोक है तो 'अतीत के चलचित्र' में है उनका समाजलोक। उनके संस्मरणों में उनके जीवन का अनुभव-सूत्र है।

'स्मृति की रेखाएँ' संस्मरण से अधिक कथा-निबन्ध बन गई हैं, तथापि इनमें भी रसात्मकता और चित्रात्मकता है। पात्रों का चरित्र-चित्रण इतना सजीव है कि मानो वह पृथ्वी से उठाकर शब्दों में रख दिया गया है।

जीवनियां लिखने वालों में केदारनाथ भट्ट, बनारसीदास चतुर्वेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

रेखाचित्र-स्केच

रेखाचित्र एक प्रकार से कहानी के ढंग पर लिखा जाता है, इसे एक प्रकार से आपबीती कहें तो उपयुक्त होगा। रेखाचित्र की शैली व्यंग्यात्मक है और गठन भी नवीन ढंग का। रेखाचित्र भी हिन्दी-गद्य में एक नया प्रयोग है। रेखाचित्रों के लिखने वालों में **कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, बनारसीदास चतुर्वेदी 'रामवृक्ष बेनीपुर, पारसनार्थ ह और प्रभाकर माचवे** के नाम उल्लेखनीय हैं। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर के स्केचों का संग्रह **'भले हुए चेहरे'** प्रकाशित हो चुका है। रामवृक्ष बेनीपुरी का **'माटी की मूर्ति'** और भदन्त आनन्द कौशल्यान का **'रेल का टिकट'** भी प्रकाश में आया है। अन्य लेखकों के चित्र भी समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं।

रिपोर्ताज

रिपोर्ताज फ्रांसीसी भाषा का शब्द है। इसका रूप अंग्रेजी के रिपोर्ट शब्द से मिलता है, जो हिन्दी में आकर सीधा रपट हो गया है। रिपोर्ट विशेषतः अखबारों के लिए लिखी जाती है और रपट थानों और अदालतों के लिए। यह तो सभी जानते हैं कि रपट में वास्तविकता से अधिक बढ़ा-चढ़ा कर बातें लिखी जाती हैं, अखबारी

रिपोर्टों में भी खूब नमक-मिर्च लगाकर घटना का वर्णन लिखा जाता है। इससे विषय में आकर्षण और रोचकता आ जाती है। रिपोर्ताज रिपोर्ट का ही साहित्यिक रूप है; किन्तु उसका अन्तःकरण साहित्य की श्रेणी में आने से शुद्ध होता है।

किसी घटना का ऐसा वर्णन करना कि वस्तुगत सत्य पाठक के हृदय को प्रभावित कर सके, रिपोर्ताज कहलायेगा। कल्पना के आधार पर रिपोर्ताज नहीं लिखा जा सकता। रिपोर्ताज लिखने की कला इस महायुद्ध में विशेष रूप से विकसित हुई है। साहित्य का यह सब से लचीला रूप है, जिसकी सीमा एक पृष्ठ से लेकर कई पृष्ठों तक हो सकती है। वर्तमान पत्रकार-कला से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। पत्रों में जैसे लम्बे उपन्यास एक साथ नहीं छप सकते, वैसे ही उनमें बहुत लम्बी रिपोर्ताज भी नहीं छप सकती। इसकी सीमाएँ कहानी और निबन्ध से मिलती-जुलती हैं और इन दोनों से इसका भावात्मक सम्बन्ध है। रिपोर्ताज में एकाध छोटी कहानी देने से विशेष रोचकता आ जाती है। परन्तु कहानी अधिकतर एक ही घटना को लेकर चलती है और उसी को केन्द्र मानकर पात्रों का चरित्र अंकित किया जाता है। रिपोर्ताज में एक से अधिक घटनाएँ हो सकती हैं, लेखक का लक्ष्य इनके सम्मिलित प्रभाव की ओर रहता है। वह कहानीकार की भाँति किसी समस्या को लेकर नहीं चलता; न कहानी के अन्त में पाठकों को समस्या के विचित्र रूपाधान से आश्चर्य में ही डालता है। वह लेख के प्रारम्भ से ही छोटी-छोटी बातों की ओर इस प्रकार ध्यान आकर्षित करता है कि इन सबसे मिलकर एक बृहत् चित्र बन सके। रिपोर्ताज में चरित्र-चित्रण के लिए विशेष स्थान नहीं होता। यह रेखा-चित्रकार की तरह ब्रुश के इशारे से चित्र को उभार कर आगे बढ़ता है। रिपोर्ताज-लेखक को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है कि वह अपने लेख को घटना-प्रधान बनाये अथवा चरित्र-प्रधान, वह उसमें नाटकीयता का अधिक पुट दे अथवा गीतात्मकता का। उसके लिए सबसे अधिक आवश्यक बात यह है कि वह ऐसे विषय पर लेखनी उठाये, जिसे स्वयं देख या सुन चुका हो।

रिपोर्ताज लिखने में श्री रांगेय राघव, प्रभाकर माचवे, शिवदानसिंह चौहान ने आशातीत सफलता प्राप्त की है।

आत्म-कथा

हिन्दी में आत्म-कथा लिखने की प्रथा भी खूब चल निकली है। श्री डा० राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्म-कथा'; वियोगी हरि जी का 'मेरा जीवन-प्रवाह'; स्वामी भवानी-दयाल सन्यासी की 'प्रवासी की आत्म-कथा'; सत्यदेव परिव्राजक कृत 'स्वतंत्रता की खोज में' और हरिभाऊ उपाध्याय की 'साधना के पथ पर' उल्लेखनीय हैं।

इधर गांधीजी की 'आत्म कथा' और पं० जवाहरलाल नेहरू की 'मेरी कहानी' का भी हिन्दी में अनुवाद हो चुका है। डा० श्यामसुन्दर दास ने भी आत्मकथा लिखी थी।

पुरस्कृत रचनाएँ

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा दिये जाने वाले पदक और पुरस्कार

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा अब तक निम्न लेखकों की रचनाएँ उल्लिखित पुरस्कारों से पुरस्कृत हो चुकी हैं—

१—मंगलाप्रसाद पारितोषिक—१२००) का, विविध विषयों पर। कलकत्ता के ११वें अधिवेशन में काशी के सुप्रसिद्ध धनी और हिन्दी-हितैषी बाबू गोकुलचन्दजी रईस ने अपने स्व० भाई श्री मंगलाप्रसाद की स्मृति रक्षार्थ ४००००) के सरकारी प्रोमेसरी नोट सम्मेलन को इसलिये प्रदान किये कि इसके व्याज से १२००) का पारितोषिक प्रतिवर्ष हिन्दी के किसी मौलिक ग्रन्थ पर दिया जाय। उस समय के लिए यह पारितोषिक समस्त भारत में अपने ढंग का अनोखा था। आज भी हिन्दी जगत् में इसकी प्रतिष्ठा बेजोड़ है। इसके द्वारा आज तक जिन साहित्यिकों का सम्मान किया गया है, जो रचनाएँ पुरस्कृत गी गई हैं, वे दोनों हिन्दी-साहित्य-जगत् में अपनी समता नहीं रखतीं।

२—सेक्सेरिया-महिला पारितोषिक—५००) का, महिलाओं की किसी मौलिक रचना पर।

३—मुरारका-पारितोषिक—५००) का बंगला, उड़िया तथा आसामी भाषा-भाषी सज्जन की किसी रचना पर।

४—नारंग पुरस्कार—१००) का भारतीय संस्कृति-विषयक कविता पर केवल पंजाबनिवासी कवि को।

५—रत्नकुमारी पुरस्कार—२५०) का हिंदी के किसी मौलिक नाटक पर।

६—नेमीचन्द्र-पाण्ड्या-पुरस्कार—५००) का वीर रसपूर्ण बाल-साहित्य पर।

७—गोविन्दराम-सेक्सेरिया—विज्ञान पुरस्कार—१५००) का विज्ञान के विविध विषयों पर।

मंगलाप्रसाद पारितोषिक-प्राप्त लेखक

नाम	पुस्तक
पद्मसिंह शर्मा	बिहारी सतसई
गौरीशंकर हीराचन्द ओझा	प्राचीन लिपिमाला
प्रो० सुधाकर	मनोविज्ञान

नाम	पुस्तक
त्रिलोकीनाथ वर्मा	हमारे शरीर की रचना
वियोगी हरि	वीर सतसई
प्रो० सत्यकेतु	मौर्य साम्राज्य का इतिहास
गंगाप्रसाद उपाध्याय	आस्तिकवाद
डा० गोरखप्रसाद	फ़ोटोग्राफी की शिक्षा
डा० मुकुन्दस्वरूप	स्वास्थ्य विज्ञान
जयचन्द्र विद्यालंकार	भारतीय इतिहास की रूपरेखा
चन्द्रावती लखनपाल	शिक्षा-मनोविज्ञान
स्व० रामदास गौड़	विज्ञान हस्तामलक
स्व० अयोध्यासिंह उपाध्याय	प्रियप्रवास
मैथिलीशरण गुप्त	साकेत
स्व० जयशंकर प्रसाद	कामायनी
स्व० रामचन्द्र शुक्ल	चिंतामणि
वासुदेव उपाध्याय	गुप्त साम्राज्य का इतिहास भाग १-२
बा० सम्पूर्णानन्द जी	समाजवाद
बलदेव उपाध्याय	भारतीय दर्शन
महाबीर प्रसाद श्रीवास्तव	सूर्य-सिद्धान्त का विज्ञान भाष्य १-२
शंकरलाल गुप्त	क्षय रोग
श्रीमती महादेवी वर्मा	आधुनिक कवि नीरजा और रश्मि
डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	कबीर
डा० रघुवीरसिंह	मालव में युगान्तर
कमलापति त्रिपाठी	बापू और मानवता
बा० सम्पूर्णानन्द	चिद्विलास

मुरारका पारितोषिकप्राप्त लेखक

श्री सम्पूर्णानन्दजी	समाजवाद
अमरनारायण	समाजवाद
राहुल सांकृत्यायन	सोवियतभूमि
रामनाथ 'सुमन'	गांधीवाद की रूपरेखा

रत्नकुमारी पुरस्कार-प्राप्त लेखक

नाम	पुस्तक
श्री गोविन्ददास	प्रकाश
हरिकृष्ण प्रेमी	स्वप्नभंग

सेक्सेरिया पारितोषिक-प्राप्त लेखक

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान	मुकुल
,, ,,	बिखरे मोती
चन्द्रावती लखनपाल	स्त्रियों की स्थिति
महादेवी वर्मा	नीरजा
रामकुमारी चौहान	निःश्वास
दिनेशनन्दिनी डालमिया	शबनम
सूर्यदेवी दीक्षित विदुषी उषा	निर्झरिणी
तोरनदेवी शुक्ल लली	जागृति
सुमित्राकुमारी सिन्हा	विहाग
तारादेवी पाण्डेय	आभा
चन्द्रावती ऋषभसेन जैन	
चन्द्रकिरण सौनरिक्सा	
शान्ति, एम० ए०	

सम्मेलन के अतिरिक्त 'देव पुरस्कार' और 'हरजीमल डालमिया पुरस्कार' भी साहित्यिकों को प्रोत्साहित कर रहे हैं।

अभ्यास

१—प्रगति-युग के गद्य-साहित्य का संक्षिप्त परिचय दें।

२—इस युग के संस्मरण और जीवनी-लेखकों के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं?

३—प्रगति-युग के उपन्यास और कहानी-साहित्य की विशेषताओं का उल्लेख करें।

४. राहुल सांकृत्यायन व उनके साहित्य का परिचय दें।

५. बा०सम्पूर्णानन्द और चन्द्रबली पाण्डेय के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं?

६. 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' पर टिप्पणी लिखें।

पच्चीसवाँ अध्याय

भाषा-परिवार

विस्तृत विवेचन

१. हिंदी भाषा उस भाषा-परिवार से सम्बन्ध रखती है, जिसे इण्डो-योरुपियन कहते हैं। इस भाषा-परिवार के अन्तर्गत भारत तथा यूरोप एवं इनके मध्यवर्ती प्रदेश की बहुत-सी भाषाएँ हैं। कभी-कभी इस भाषा-परिवार को केवल 'आर्य' भी कह देते हैं, परन्तु 'आर्य' शब्द अब बहुधा संस्कृत-जन्य भारतीय भाषाओं के लिए बोला जाता है। हिंदी भाषा तथा उसकी बोलियों का इतिहास तथा विकास-क्रम जानने के लिए इण्डो-यूरोपियन परिवार की अन्य भाषाओं की गवेषणा करने की आवश्यकता नहीं। केवल जिस समय आर्य भाषा ने इस भारत-भूमि पर अपना पाँव रखा, तब से लेकर आज पर्यन्त इस भूमि पर आर्यभाषा का इतिहास और विकास-क्रम जानना ही अपेक्षित है।

२. आज से कोई चार हज़ार वर्ष पहिले आर्यभाषा का भारतवर्ष में विकास हुआ। यही समय प्रायः वैदिक संस्थाओं के अविर्भाव का समझा जाता है। इण्डो-यूरोपियन भाषा-परिवार में आज तक उपलब्ध ग्रंथ तथा लेखादि में, ऋग्वेद के मन्त्र ही सब से पुराने ठहरते हैं। भारत-भूमि पर आर्यभाषा का इतिहास तथा विकास-क्रम मुख्यतया तीन अवस्थाओं में विभक्त किया जाता है.—

(१) वैदिक—वि. पू. २००० से वि. पू. ६०० तक (२) प्राकृत—वि. पू. ६०० से वि. सं. १००० तक (३) आधुनिक—वि. सं. १००० से अब तक।

३. आरंभिक युग के भारतीय आर्य कई बोलियां बोलते थे, जो परस्पर मिलती थीं। इन्हीं में से एक बोली ऋग्वेद के मन्त्रों के लिए व्यवहृत हुई, जिसमें शेष बोलियों का भी कुछ अंश मिश्रित हुआ प्रतीत होता है। भारतवर्ष में उस समय बोली जाने वाली आर्यभाषा को आदिम या प्राचीनकालिक आर्यभाषा कहते हैं। इसके साहित्यिक रूप की साक्षीभूत वैदिक भाषा है, जिसमें ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक साहित्य की रचना हुई। और बोलचाल के रूप की साक्षी वे बोलियाँ थीं, जो समय के प्रभाव से बदलते-बदलते पहले प्राकृत बनीं, और फिर होते-होते आधुनिक आर्य-भाषाओं में परिणत हो गईं। सर्वसाधारण की यह प्राचीन आर्य बोलियाँ

नहीं किये जाते थे। कृदन्त रूप बहुधा विशेषण होकर ही आते थे। वैदिक भाषा में छंद इतने अधिक न थे, जितने कि पीछे संस्कृत में हो गये। और उनमें अन्त के पिछले चार पांच अक्षरों को छोड़ कर दूसरों के गुरु लाघव में भी कवियों को बड़ी स्वाधीनता थी।

४. वैदिक समय में आर्यसभ्यता का केन्द्र पंजाब प्रान्त था परन्तु समय के प्रवाह के साथ २ यह केन्द्र पूर्व की ओर सरकता गया, और कुछ काल पीछे गंगा और यमुना नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश का उत्तरी भाग इस सभ्यता का केन्द्र-स्थान हो गया। संस्कृत ग्रंथों में इसे मध्यदेश के नाम से पुकारा है। यह देश पूर्व में प्रयाग, पश्चिम में सरस्वती, उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्याचल के बीचों बीच फैला हुआ था। आर्य सभ्यता के केन्द्र-परिवर्तन के साथ आर्यभाषा में भी परिवर्तन होता गया। साहित्यिक दशा में यह अपने वैदिक रूप से संस्कृत रूप में परिवर्तित हो गई, जिस पर तत्कालीन मध्यप्रदेश की बोलचाल की भाषा का अच्छा प्रभाव है। यद्यपि संस्कृत को तो कुछ ही काल में वैयाकरणों ने व्याकरण की शृंख-लाओं से ऐसा जकड़ा कि फिर वह इनसे कभी न छूटी, और सर्वदा के लिए पाशबद्ध होकर परिवर्तन से भी मुक्त हो गई, परन्तु ऐसा होने पर भी यह अखिल भारत में शिष्ट और पंडित लोगों की भाषा बनी रही। साधारण बोलचाल की आर्यभाषा ने अब प्राकृतों का रूप धारण कर लिया था। कई एक प्राकृत तो स्वतन्त्र ग्रंथों से जानी जाती है, कई शिला-लेखों से और कई संस्कृत-नाटकों से; क्योंकि संस्कृत नाटकों में विशेष २ पात्र भिन्न २ प्राकृत बोलते हैं। आर्यभाषा की इस अवस्था को 'प्राकृत' या मध्यकालीन अवस्था कहते हैं। इसके अन्दर महाराज अशोक के लेखों की भाषा, जैन-साहित्य की 'अर्धमागधी' तथा बौद्ध ग्रंथों की 'पाली' सम्मिलित है।

५. वैदिक भाषा के समान प्राकृतावस्था में भी आर्य भाषा पूर्णतया विभक्तिमय रही, किंतु इसका व्याकरण बहुत सरल हो गया था। इसकी नामविभक्ति पर अकारान्त पुंल्लिग विभक्ति का, और इसकी क्रियाविभक्ति पर भ्वादिगण की परस्मैपद विभक्ति का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। परिणाम यह हुआ कि नाम और क्रिया के बहुत से रूप अपने संकुचित मार्ग (अकारान्त शब्द, हलन्त शब्द) को छोड़कर विशाल मार्ग (अकारान्त पुंल्लिग, भ्वादिगण, परस्मैपद) पर चले आये। लङ्., लुङ्., लिट्, लृङ्., आदि क्रियाओं के रूप तो सर्वथा लुप्त हो गये। इसी प्रकार द्विवचन तथा चतुर्थी विभक्ति (संप्रदान) के रूप व्यवहार में आने से बन्द हो गये। उच्चारण पक्ष में सब से अधिक परिवर्त्तन संयुक्त वर्णों तथा अन्तिम व्यंजनों में हुआ। अन्तिम अनुस्वार, न् और म् को छोड़ कर और सभी अन्तिम

व्यंजन लुप्त हो गये। अनुस्वार न् और म् तीनों के स्थान में अनुस्वार हो गया। संयुक्त वर्णों के उच्चारण में परसवर्ण और पूर्वसवर्ण का आदेश होकर बहुत ही सरलता आ गई। उदाहरणार्थ, संस्कृत के पश्चात्, गच्छन्, पुत्रः, दुग्धम्, सप्त आदि शब्द प्राकृत में पच्छा, गच्छं, पुत्तो, दुद्धं, सत्त आदि बन गये। वैदिक भाषा का गीतात्मक उदात्त स्वर श्वासात्मक बल में बदल गया, और साथ ही यह नियम भी न रहा कि जिस अक्षर पर पहिले उदात्त स्वर था उसी पर बल भी पड़े। वाक्य-रचना में कृदन्त रूपों का प्रचार बहुत बढ़ गया। तिङन्त के स्थान पर बहुधा कृदन्त रूप ही प्रयुक्त होने लगे। जहां पहले लोग कहते थे, 'रामः पुष्पं ददर्श', अब कहने लगे 'रामेण पुप्फं दिट्ठं'। वैदिक समय की अपेक्षा अब छंदों में भी भेद आ गया था। अनुष्टुप् और आर्या छंदों का प्रचार बहुत अधिक था।

६. आर्यभाषा की प्राकृत या मध्यकालीन अवस्था कोई वि० पू. ६०० वर्ष से वि. सं. १००० तक रही, और इस सुदीर्घ काल में सरलता लाने वाली शक्तियां निरन्तर अपना काम करती रहीं। वि. सं. १००० के लगभग आर्यभाषा की उस अवस्था का प्रारम्भ होता है, जिसे आधुनिक अवस्था कहते हैं। इस अवस्था की सब से बड़ी विशेषता यह है कि नाम की, और बहुत अंशों तक धातु की रूप-रचना अब विभक्तिमय नहीं रही। नाम रूप रचना में अब आठ या सात विभक्तियों के स्थान में केवल दो (या सम्बोधन सहित तीन) ही रूप रह गये। दूसरे कारकों का बोध कराने के लिए विभक्ति-प्रत्ययों के स्थान पर अब ऐसे शब्द प्रयुक्त होते हैं. जो प्राचीन संज्ञा-शब्दों या विशेषण-शब्दों के अवशेष हैं और वाक्य-रचना में अपने से सम्बन्ध रखने वाले नाम से भिन्न रहते हैं। उच्चारण में भी बहुत परिवर्तन हुआ है। उदाहरणार्थ, उस ध्वनि को लीजिए, जिसको प्रकट करने के लिए देवनागरी लिपि में 'अ' संकेत है। 'अ' का उच्चारण बंगला भाषा में कुछ-कुछ 'ओ' से मिलता है। हिंदी और पंजाबी के उच्चारण से पाठकगण परिचित ही हैं। मराठी भाषा में भी 'अ' के उच्चारण में कुछ विशेषता है। आधुनिक आर्यभाषाओं के उच्चारण में ध्यान देने योग्य एक यह बात है कि पंजाबी, लहन्दा और सिंधी के अतिरिक्त और सब भाषाओं में प्राचीन संयुक्त वर्णों के पूर्ववर्ती मध्यकालीन ह्रस्व स्वर अब दीर्घ हो गये हैं, जिसका परिणाम यह हुआ है कि इन भाषाओं में वैदिककालीन स्वरों की ह्रस्वदीर्घता का भेद लुप्त हो गया है। उदाहरण के लिए देखिये, संस्कृत शब्द 'सप्त' और 'काष्ठ' प्राकृत अवस्था में दोनों शब्द क्रमशः 'सत्त' और 'काठ' बन गय। अर्थात दोनों शब्दों के प्रथम अक्षर में ह्रस्व 'अ' था, और इससे वैदिक-कालीन

ह्रस्व दीर्घता का बोध नहीं होता। आधुनिक समय में हिंदी, गुजराती, बंगला और मराठी में ये शब्द 'सात' और 'काठ' हो गये हं, अर्थात् मध्यकालीन ह्रस्व 'अ' दीर्घ हो गया है, परन्तु यहाँ भी वैदिक कालीन ह्रस्व दीर्घता का भेद वैसे ही लुप्त रहा। इसके विपरीत पंजाबी, लहन्दी और सिंधी में ये शब्द 'सत्त' (सिंधी 'सत') और काठ हैं और यहाँ प्राचीनकालिक ह्रस्वदीर्घता का भेद बना रहा है। वाक्य स्वर-संक्रम (वाक्य में ध्वनियों का ऊँचे नीचे स्वर में बोलना) भी प्रत्येक भाषा का भिन्न २ है। जब भिन्न-भिन्न भाषा बोलने वाली जातियों का आपस में सम्पर्क होता है, तो उनकी भाषाएँ एक दूसरे के कुछ अंश ग्रहण कर लेती हैं। भाषाओं का परस्पर का यह लेन-देन प्रायः शब्दों तक ही सीमित रहता है, व्याकरण पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता। वैदिक युग और उसके पश्चात् भी संस्कृत में अनेक दूसरी भाषाओं के सैंकड़ों शब्द मिलते रहे। ऐसे हज़ारों विदेशी शब्द भारतीय भाषाओं में विशेषकर ज्योतिष में इस प्रकार घुल-मिल गये कि अब वे सहसा पहचाने भी नहीं जाते। मुसलमानों का भारत पर आक्रमण आधुनिक आर्यभाषाओं के जन्म के समकालीन है। कई सौ वर्ष तक मुसलमानों का राज्य रहा। इसलिए आधुनिक आर्यभाषाओं के शब्दभंडार में अरबी, फ़ारसी के अनेक शब्द सम्मिलित हो गये हैं, परन्तु उनके रूप में इतना विकार नहीं हुआ कि वे पहिचाने नजा सकें। अंग्रेजों के शासन काल में अंग्रेजी भाषा के शब्द धड़ाधड़ आर्यभाषाओं में मिल गए। प्रत्येक भाषा की छंदोरचना अपनी भाषा के स्वरूप से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। जो छन्द संस्कृत-प्राकृत-काल में प्रचलित थे वे आधुनिक आर्यभाषाओं में भाँति नहीं बनाए भली जा सकते। इसलिए आधुनिक भाषाओं में नवीन प्रकार के छंद चल पड़े।

७. भारत-भूमि पर आर्यभाषा के इस संक्षिप्त इतिहास और विकास-क्रम का वर्णन समाप्त करने से पहले 'अपभ्रंश' का उल्लेख करना आवश्यक है। प्राकृत अवस्था की अन्तिम सीमा अपभ्रंश कही जाती है। अपभ्रंश के पश्चात् आधुनिक-भाषा-युग प्रारम्भ होता है। परन्तु अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं के प्राचीन रूप में अत्यन्त सादृश्य हैं, जैसा कि चन्दबरदाई-कृत 'पृथ्वीराजरासो' की भाषा से स्पष्ट है, जो हिन्दी भापा का सबसे पुराना नमूना है।

८. स्वाभाविक बात है कि जो भाषा ४००० वर्ष की आयु भोग चुकी हो और जिसने हज़ारों मील लंबे-चौड़े क्षेत्र में वृद्धि पाई हो, उसकी कई शाखाएँ बन जायें। आर्यभाषा इस नियम के विरुद्ध नहीं चली। आज वही प्राचीन आर्यभाषा की कली एक दर्जन से भी अधिक भिन्न-भिन्न भाषारूपी पंखड़ियों में खिली हुई दिखाई दे रही है। यहाँ यह बात भी कह देने योग्य है कि इन आर्यभाषाओं का विकास

एक दूसरे से पृथक् और स्वतंत्र रहकर नहीं हुआ, किन्तु उन्होंने आपस में गहरा प्रभाव एक दूसरे पर डाला है। इस प्रभाव का स्वरूप और परिमाण अभी तक निश्चित नहीं हुआ। इनमें से कई एक तो साहित्य-क्षेत्र में बड़ी प्रधान भाषाएँ हैं; और कई में साहित्य नाममात्र को भी नहीं। कई भाषाएँ अपने बोलने वालों की नैतिक, धार्मिक व आर्थिक उच्चता के कारण इतर प्रदेशों में भी बोली जाती हैं। और कईयों को अपने क्षेत्र के बाहर कोई जानता भी नहीं। इस स्थान पर इन भाषाओं का संक्षिप्त वर्णन कर देना अनुचित न होगा।

९. सर जार्ज ए० ग्रियर्सन ने, अपने 'लिंग्विस्टिक सव ऑफ़ इण्डिया' नामक ग्रन्थ में आधुनिक आर्यभाषाओं के व्याकरण पर पूर्णतया विचार करके उनको इस प्रकार विभक्त किया है :—

(१) प्राच्यवर्ग—जिसमें आसामी, बंगला, बिहारी तथा उड़िया भाषाएँ सम्मिलित हैं।

(२) मध्यम वर्ग—जिसमें केवल पूर्वी हिंदी समझी जाती है।

(३) दक्षिणीय वर्ग—जिसमें मराठी भाषा समझी जाती है।

(४) उत्तर-पश्चिमीय वर्ग—जिसमें सिन्धी, लहन्दा, काश्मीरी तथा अन्य दारद भाषाएँ हैं।

(५) केन्द्रीय वर्ग—जिसमें पंजाबी और पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी और गुजराती, भीली और खानदेशी तथा पहाड़ी भाषाएँ शामिल हैं।

१०. आसामी भाषा आसाम तराई के लखीमपुर और ग्वालपाड़ा जिलों में तथा उनके मध्यवर्ती भाग में बोली जाती ह। आसाम में और भाषाएँ भी बोली जाती हैं। आसामी भाषा बोलने वालों की संख्या १५ लाख के लगभग है। आसाम को संस्कृत में 'कामरूप' कहते हैं, परन्तु बंगाली लोग उसे 'ओशोम' (संस्कृत—असम, अर्थात् ऊँचा-नीचा प्रदेश) कहते हैं, और इसी से वे लोग वहाँ की भाषा को 'आशामी' कहते हैं, जो बंगला और नागरी लिपि में 'आसामी' करके लिखा जाता है।

बंगला और आसामी का परस्पर बहुत ही सादृश्य है। इसी सादृश्य के कारण कई विद्वान् आसामी को बंगला की एक बोली ही मानते हैं। कई बार दो भाषाओं को उनके व्याकरण में समता रहने पर भी पृथक् माना जाता है,यदि उनके साहित्यों में विशेष भेद्र हो। बंगला और आसामी के साहित्य एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं; तथा आसामी पर संस्कृत व्याकरण और शब्द-कोष का इतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना कि बंगला पर पड़ा है। अतएव इनको पृथक् भाषाएं मानने में कोई बाधा नहीं है।

आसामी साहित्य उतना ही पुराना और सौ सवा सौ साल पहले तक उतना ही विस्तृत था, जितना कि बंगला का। आसामी साहित्य का प्रधान अंग ऐतिहासिक रचनाएँ हैं, जिनको आसामी लोग 'बूरञ्जी' के नाम से पुकारते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ धार्मिक ग्रन्थ भी पाये जाते हैं, जिनमें 'श्री शंकर' कृत भागवतपुराण का अनुवाद विशेष उल्लेखनीय है, जिसको हुए अनुमानतः ५०० वर्ष हुए और जो आसामी साहित्य में सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है।

११. आसामी की पड़ोसिन, पश्चिम की ओर बंगला भाषा है जो आधुनिक आर्यभाषाओं में बड़ा ऊँचा स्थान रखती है। यह भाषा बंगाल प्रान्त में बोली जाती है और इसके बोलने वालों की संख्या साढ़े चार करोड़ के लगभग है। बंगाली लोग अपनी भाषा को 'बाङला' या बंग भाषा (अर्थात् बंग देश की बोली) कहते हैं।

उस साहित्यिक बंगला ने जिसे बंगाली साधु भाषा कहते हैं थोड़े काल से ही जन्म लिया है। बंग भाषा में इस समय शत प्रतिशत शब्द संस्कृत के हैं—यह कह दें तो कोई अत्युक्ति न होगी। संस्कृतनिष्ठता के कारण बंगीय साहित्य में एक यह बड़ी विशेषता उत्पन्न हो गई कि जो लोग बंगला नहीं जानते वे भी संस्कृत के सहारे बंगीय रचनाओं का सरलता पूर्वक रस ले सकते हैं।

आधुनिक आर्यभाषाओं में बंगला का साहित्य सबसे अधिक मौलिक और विस्तृत है। अपने साहित्य और विशेषकर श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं के कारण बंगला का नाम संसार भर में प्रसिद्ध हो गया है। साधु भाषा का साहित्य तो सौ सवा सौ साल के अन्दर ही लिखा गया। बंगाल के प्राचीन साहित्य में मानकचन्द का गीत सबसे पुराना समझा जाता है, परन्तु इसकी भाषा का रूप बहुत कुछ बदल गया है। चण्डीदास, जिन्होंने श्रीकृष्ण की भक्ति के गीत लिखे, चौदहवीं शताब्दी में हुए, और चैतन्य महाप्रभु जो उच्चकोटि के धार्मिक कवि थे, सोलहवीं शताब्दी में हुए। इनके पश्चात् बंगला के अन्य प्रसिद्ध कवि और लेखक हुए।

१२. बंगला के साथ लगती पश्चिम दिशा में उड़िया भाषा है जो उड़ीसा तथा मध्यप्रान्त और मद्रास के इहाते के निकटवर्ती भागों में बोली जाती है। इसके बोलने वालों की संख्या सवा करोड़ के लगभग है।

नरसिंहदेव (द्वितीय) के एक शिलालेख में, जो विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का है, कुछ ऐसे शब्द पाये जाते हैं, जो उड़िया का सब से पुराना रूप प्रकट करते हैं। उड़िया भाषा में कुछ अधिक साहित्य नहीं मिलता। इसका पहला लेखक उपेन्द्रभंज समझा जाता है जिसने कुछ धार्मिक कविता की है। कृष्णदास का 'रस-कल्लोल' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। आधनिक साहित्य में मौलिकता नहीं देखी जाती।

१३. बिहारी भाषा सारे बिहार प्रांत तथा आगरा प्रांत के पूर्वी ज़िलों और अवध के एक छोटे से भाग में बोली जाती है। इसके बोलने वालों की संख्या कोई पौने चार करोड़ है। इसके उत्तर में भारत-चीनी भाषाएँ पूर्व में बंगला, दक्षिण में उड़िया, तथा पश्चिम में पूर्वी हिंदी बोली जाती है।

बिहारी भाषा की तीन मुख्य बोलियाँ हैं—(१) मैथिली, जिसे तिरहुतिया भी कहते हैं; (२) मगही, और (३) भोजपुरी। इनमें साहित्य की दृष्टि से केवल मैथिली ही महत्त्वपूर्ण है। मिथिला देश चिरकाल से अपने संस्कृत (न्याय, मीमांसा आदि के) पण्डितों के लिए प्रसिद्ध रहा है। इसी देश में लखिमा ठकुरानी नामक एक विदुषी १५वीं शताब्दी में हुई, जिसने साहित्य-क्षेत्र में अच्छी प्रसिद्धि पाई। विद्यापति ठाकुर, जो अपनी कोमलकान्त पदावलि के कारण "मैथिल-कोकिल" कहलाये, इसी मिथिला देश में हुए। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से मैथिली के लेखक हुए। मगही और भोजपुरी में कुछ साहित्य नहीं मिलता। हाँ, भोजपुरी में कुछ गीत सुने जाते हैं जो बड़े मधुर और भावपूर्ण हैं, परन्तु अभी प्रकाशित नहीं हुए।

१४. आर्यभाषाओं के दक्षिणीय वर्ग के अन्तर्गत केवल एक ही भाषा है, और वह है मराठी। मराठी भाषा बम्बई प्रान्त, बरार, मध्यप्रान्त, मध्य-भारत, तथा मद्रास प्रान्त के कुछ भागों में बोली जाती है। इसके बोलने वालों की संख्या दो करोड़ के लगभग है।

मराठी भाषा की तीन बोलियाँ हैं—(१) देशी, जो दक्षिण देश में बोली जाती है, और साहियिक तथा शिष्ट भाषा समझी जाती है। (२) कोंकणी, जो समुद्र तट के साथ २ बोली जाती है। (३) बराड़ी, नागपुरी, जो बरार और नागपुर में बोली जाती है। गोआ के आसपास की बोली भी मराठी से सम्बन्ध रखती है, किन्तु कई अंशों में उससे भिन्न भी है।

मराठी का पुराना रूप ताम्र-पत्रों तथा शिलालेखों में पाया जाता है, जिनका समय विक्रम की बारहवीं शताब्दी है। मराठी के साहित्य का जन्म वैष्णवधर्म के साथ-साथ हुआ। प्राचीन कवियों में से, जिनके ग्रन्थ अब तक विद्यमान हैं, ये प्रसिद्ध हैं—मुकुन्दराज (विक्रम की १३वीं शताब्दी), ज्ञानदेव, जिन्होंने सं० १३४७ में भगवद्गीता पर 'ज्ञानेश्वरी' नामक टीका लिखी; नामदेव, जो ज्ञानदेव के समकालीन थे तथा जिनकी कुछ कविता सिक्खों के आदि ग्रन्थ में पाई जाती हैं। पीछे के लेखकों में से अभंगों के कर्ता एकनाथ, जिनकी मृत्यु सं० १६६६ में हुई; और 'दासबोध' के कर्ता रामदास, जो शिवाजी के गुरु थे, प्रसिद्ध हैं। इनके

अतिरिक्त मोरोपन्त (सं० १७८६–१८५१) अत्यन्त प्रसिद्ध कवि हुए हैं जिनकी कविता बड़ी सुन्दर और सरस है। आधुनिक मराठी साहित्य बहुत विस्तृत है। बंगला की भांति उपन्यास इसका प्रधान अंग है।

१५. आर्यभाषाओं के दक्षिणीय वर्ग की भाँति मध्यमवर्ग भी एक ही भाषा का बना हुआ है—जिसका नाम है पूर्वी हिन्दी। यह भाषा पश्चिमी हिन्दी के पूर्व में संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त तथा मध्यभारत के भागों में बोली जाती है। इसमें बोलने वालों की संख्या अढ़ाई करोड़ के लगभग है। पूर्वी हिन्दी की मुख्य तीन बोलियाँ है —(१) अवधी, (२) बघेली, और (३) छत्तीसगढ़ी। परन्तु साहित्य की दृष्टि से इन सबमें अवधी ही प्रधान है। राम-भक्ति के शिरोमणि-कवि गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने अपना 'रामचरित मानस' जो सर्वसाधारण में 'तुलसी रामायण' के नाम से प्रसिद्ध है, और हिन्दी साहित्य क्या, सारे संसार के साहित्यों में एक अमूल्य रत्न है, इसी भाषा में लिखा है। तुलसीदास से पहले कई मुसलमान कवि हुए हैं, जिन्होंने दोहे चौपाई में मनोहर और उपदेशदायक काव्य-रूप कथाएँ लिखी हैं। इनमें जायस के रहने वाले मलिक मुहम्मद जायसी सबसे प्रसिद्ध हैं। इन्होंने सं० १६०० के लगभग 'पदुमावती' नाम की कथा लिखी। इसके पश्चात् नूरमुहम्मद ने 'इन्द्रावती' और कुतुबन ने 'मृगावती' लिखी। इसी प्रकार के कथा-काव्य हिंदू कवियों ने भी लिखे हैं।

हिन्दी-भाषा और उसकी बोलियाँ

१६. आर्यभाषाओं के केन्द्रीय वर्ग में पश्चिमी हिन्दी नमूने की भाषा है। इसका विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा। यहाँ केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि इसके बोलने वालों की संख्या चार करोड़ के लगभग हैं, और इसकी पाँच बोलियां हैं। (१) व्रजभाषा, जो व्रज-मण्डल में मथुरा और आगरा के आस-पास बोली जाती है। (२) कन्नौजी, जो गंगा दोआब के उत्तरीय भाग में व्रजभाषा के पूर्व में बोली जाती है। (३) बुन्देली, जो बुन्देलखण्ड और मध्यभारत के एक भाग में बोली जाती है। (४) बांगरू, जो पूर्व दक्षिण पंजाब में, और (५) बोलचाल की हिन्दी जो व्रजभाषा के उत्तर में अम्बाला से रियासत रामपुर तक बोली जाती है। इसको बोलचाल की हिन्दी इसलिए कहते हैं कि साहित्यिक हिन्दी या खड़ी बोली और उर्दू इसी के सम्मार्जित रूप हैं।

पश्चिमी हिन्दी का सबसे प्राचीन ग्रन्थ चन्दवरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' है। परन्तु रासो की भाषा पर डिंगल-राजस्थानी, प्राकृत तथा अपभ्रंश का गहरा

प्रभाव पड़ा हुआ है। प्राकृत पिंगल की भाषा, जो अपभ्रंश का छन्दोग्रन्थ कहलाता है, और जो चौदहवीं शताब्दी का लिखा हुआ है पश्चिमी हिन्दी का ही एक रूप है।

पश्चिमी हिन्दी की पांचों ही बोलियों में से प्राचीन साहित्य की दृष्टि से व्रजभाषा सबसे प्रधान है। प्रायः समग्र उत्तरीय भारत की कविता पर शताब्दियों से इसका साम्राज्य रहा है। न केवल यही प्रत्युत इतर भाषाओं की कविताओं पर भी इसकी छाप लगी हुई है। यद्यपि अब कुछ काल से खड़ी बोली में भी कविता होने लगी और उसी का प्रचार बढ़ रहा है, पर प्राचीन साहित्य में व्रज ही की प्रधानता थी, इसमें कुछ सन्देह नहीं।

व्रजभाषा में कविता लिखने का महान् प्रयत्न महाप्रभु गोस्वामी श्री वल्लभाचार्य ने किया,जो विक्रम की १६वीं शताब्दी में हुए। उन्होंने वल्लभकुल सम्प्रदाय (कृष्ण-शाखा) की स्थापना की और गोकुल को अपने उपदेश का केन्द्र बनाया। उन्होंने तथा उनके शिष्यों ने इसी देश की, अर्थात् व्रज-मण्डल की भाषा में उपदेश दिया और उसी देश की भाषा में कविता रची। व्रजभाषा के कवियों में सूरदास जी अग्रगण्य हैं। ये श्री वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे और चर्मचक्षु-विहीन थे। इनकी कविता की संख्या एक लाख से भी अधिक है।

'बिहारीसतसई' के कर्ता बिहारीलाल सत्रहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि हुए है। सतसई का एक-एक दोहा भावपूर्ण है। बिहारी का माधुर्य, रस तथा ध्वनि ऐसे हैं कि किसी दूसरे साहित्य में बहुत कम देखने में आते हैं।

जब से खड़ीबोली की कविता मैदान में आई है, तब से व्रजभाषा की स्थिति निर्बल होती जाती है। इस प्रकार आधुनिक युग में आकर खड़ी बोली ने व्रजभाषा का स्थान ले लिया है।

१७. आर्यभाषाओं के केन्द्रीय वर्ग की दूसरी भाषा राजस्थानी है। यह भाषा राजपूताना अर्थात् राजस्थान में बोली जाती है। इसके बोलने वालों की संख्या २ करोड़ के लगभग है। इसकी कई बोलियां हैं, उनमें से मारवाड़ी सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह मारवाड़, पूर्वी सिन्ध, जैसलमेर, पंजाब के दक्षिण तथा जयपुर के उत्तर-पश्चिमी भाग में बोली जाती है। मारवाड़ी तथा मेवाड़ी आदि अन्यान्य भाषाओं में भी प्राचीन साहित्य पर्याप्त है। यह साहित्य केवल समय की दृष्टि से प्राचीन ही नहीं, प्रत्युत विस्तार की दृष्टि से भी अति विशाल है। प्राचीन राजस्थानी भाषा, जिसमें कविता मिलती है, 'डिंगल' कहलाती है। 'पृथ्वीराज रासो' व्रज से प्रभावित राजस्थानी भाषा में है।

१८. आर्यभाषाओं के केन्द्रीय वर्ग की तीसरी भाषा गुजराती है। यह गुजरात

और काठियावाड़ (सौराष्ट्र) में बोली जाती है। इसके बोलने वालों की संख्या १।। करोड़ के लगभग है। देश-भेद से गुजराती की और बोलियाँ नहीं। हाँ, पढ़े-लिखे और अनपढ़ लोगों की बोली में कुछ भेद है। जो बोली व्याकरण पुस्तकों में वर्णित है, वह पढ़े-लिखे लोगों की बोली है।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है, कि गुजराती बोलने वाले मुसलमान लोग बहुधा मूर्धन्य और दन्त्य वर्णों के उच्चारण में भेद नहीं करते। इसी प्रकार हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान तथा पारसी लोग फ़ारसी, अरबी शब्दों का अधिक प्रयोग करते हैं। गुजराती तथा राजस्थानी की शृंखला को मिलाने वाली भील भाषाएँ हैं। यद्यपि इनकी राजस्थानी की अपेक्षा गुजराती से अधिक समानता है, तथापि इनका वर्णन एक पृथक् भाषा-समूह में किया गया है।

गुजराती साहित्य अति विस्तृत है। प्राचीन काल से इसकी शृंखला अटूट चली आ रही है। गुजराती साहित्य के निर्माण में सब से अधिक श्रम जैन भिक्षुओं ने किया। यद्यपि उनकी रचनाओं का बहुत बड़ा भाग जैन धर्म से सम्बन्ध रखता है उन्होंने अनेक लम्बे २ काव्य लिखे हैं, जिन्हें 'रासो' या 'रास' कहते हैं। इनमें ऐतिहासिक पुरुषों की जीवनियाँ हैं, जो नीति और उपदेश से भरी हुई हैं। पारसी लोगों ने भी कुछ गुजराती साहित्य लिखा है। यह भी महिमशाली है।

गुजराती का सबसे प्राचीन कवि नरसिं मेहता है, जिसका जन्म जूनागढ़ में सं० १४७० में हुआ। यह जाति का नागर ब्राह्मण था। इसकी रचना छोटे २ पद हैं, जो अत्यन्त सरस और भक्तिपूर्ण हैं।

पीछे के कवियों में परमानन्द भट्ट, वल्लभ, कालिदास, प्रीतम, रेवाशंकर, श्यामल भट्ट, ब्रह्मानन्द और दयाराम प्रसिद्ध हैं। गुजराती साहित्य का एक और अंग है ऐतिहासिक राससंग्रह। फ़ार्बस साहिब ने अपनी पुस्तक 'रास-माला' अर्थात् गुजरात का इतिहास लिखने में इन रासों से बहुत सहायता ली थी।

राजस्थान, मध्यप्रान्त, मध्यभारत तथा बम्बई प्रेसिडेन्सी के बीच के प्रदेश में भील, अहीर आदि जातियाँ बसती हैं, जिनकी संख्या अनुमानतः बीस लाख है। इन जातियों की भाषाएँ गुजराती से बहुत कुछ मिलती हैं। इनमें साहित्य का सर्वथा अभाव है।

१९. पंजाबी भाषा भी केन्द्रीय वर्ग के अन्तर्गत है। पंजाबी शब्द का अर्थ है—पंजाब, अर्थात् पांच नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश की भाषा। वास्तव में पंजाबी बोलने वाले सभी लोग इस प्रदेश में नहीं बसते, और न ही वे सभी लोग, जो इस प्रदेश में बसते हैं, पंजाबी बोलते हैं। इस प्रदेश के पूर्व की ओर पंजाबी नहीं बोली

जाती। सतलुज नदी के पार बहुत दूर तक पंजाबी बोली जाती है और इसी प्रकार इस प्रदेश के पश्चिम में अर्थात् बारी, रचना और चज दोआबों के बड़े भाग में।

सर जार्ज ग्रियर्सन ने पंजाबी शब्द को उन बोलियों के लिए प्रयुक्त किया है जिनके बोलने वालों की संख्या डेढ़ करोड़ के लगभग है, और जो पंजाब के पूर्वी भाग, बीकानेर रियासत के उत्तरी भाग, तथा जम्मू रयासत के दक्षिण भाग में बोली जाती हैं। पंजाबी के मुख्य दो रूप हैं—साधारण पंजाबी तथा जम्मू और कांगड़े की बोली जिसे डोगरी कहते हैं। पाश्चात्य लोगों ने पहले-पहल लुधियाना की पंजाबी का अध्ययन किया और इसी का व्याकरण तथा कोष बनाया। पंजाब-वासियों के मत में लाहौर और अमृतसर के ज़िलों की माझी बोली पंजाबी का ठेठ रूप है। आजकल प्रेस में तथा प्लेटफ़ार्म पर इसी का व्यवहार होता है।

पंजाबी भाषा में कुछ अधिक साहित्य नहीं पाया जाता। सिक्ख लोगों की धर्मपुस्तक श्री आदिग्रन्थ पंजाबी का सबसे प्राचीन नमूना माना जाता है। परन्तु वास्तव में आदिग्रन्थ का थोड़ा भाग ही पंजाबी में है। शेष पुरानी हिन्दी में है। कुछ पद बंगला, मैथिली तथा मराठी के पाये जाते हैं, परन्तु उनका रूप बहुत बदल गया है।

मुसलमान लोगों ने गुजरात तथा गुजरांवाला में बोली जाने वाली पंजाबी को लेकर साहित्य-रचना की। इनकी भाषा हिन्दू लेखकों की अपेक्षा अधिक ठेठ है। हिन्दू लोग अपने कविता के भावों को व्रजभाषा से, अथवा तुलसी और कबीर के ग्रन्थों से लेते थे। इसीलिए उनकी भाषा में हिन्दी का अंश मिला रहता था। इस मिश्रित भाषा में कितना ही साहित्य विद्यमान है। अब भी कई साधु और पण्डित इस प्रकार की मिश्रित भाषा में अपना उपदेश करते हैं।

जो लोग हिन्दू धर्म छोड़कर मुसलमान हुए थे वे प्रायः अपढ़ थे। इसलिए उनके निमित्त मौलवियों ने मुसलमान धर्म की बहुत-सी पुस्तकें पंजाबी भाषा में लिखीं। इनमें से अब्दुला आसी कृत 'अनबाअ बारां' बहुत प्रसिद्ध है, जो लगभग तीन सौ वर्ष पुरानी है। हज़रत इमाम हुसैन तथा इमाम हसन का यजाद के साथ जो युद्ध हुआ, उसका वर्णन करने वाले अनेक जंगनामे मिलते हैं। इसी प्रकार कुरानशरीफ़ की १२वीं पुस्तक में वर्णित यूसफ़ ज़ुलैखा की कथा भी छन्दोबद्ध मिलती है।

कथा-साहित्य में हीर-रांझे की कथा बहुत प्रसिद्ध है। सय्यद वारिसशाह कृत हीर को ठेठ पंजाबी का नमूना समझा जाता है। पिछले पच्चीस तीस बर्षों से पंजाबी साहित्य खूब बढ़ने लगा है।

२०. केन्द्रीय वर्ग की अन्तिम भाषा पहाड़ी है। जैसा कि इसके नाम से

प्रकट होता ह, पहाड़ी के अन्तर्गत नेपाल से पंजाब तक हिमालय पहाड़ के दामन में बोली जाने वाली भाषाएँ हैं। यह भाषाएँ तीन विभागों में विभक्त हैं:—

(१) पूर्वी पहाड़ी, जिसे खसकुरा या नेपाली कहते हैं। (२) मंझली पहाड़ी अर्थात् गढ़वाली, और कमाउनी, और (३) पश्चिमी पहाड़ी, जिसमें शिमले के आस-पास से लेकर मण्डी तक की पहाड़ी बोलियाँ शामिल हैं। मरी पहाड़ और हज़ारा ज़िला के गूजरों की गूजरी बोली भी पहाड़ी बोली से सम्बन्ध रखती है। पहाड़ी बोली बोलने वालों की संख्या बीस लाख के लगभग है।

यद्यपि पहाड़ी बोलियाँ बिहारी, हिन्दी, तथा पंजाबी के निकटवर्ती प्रदेशों में बोली जाती हैं, तथापि इनकी अधिक समानता गुजराती तथा राजस्थानी भाषाओं से है। इसका कारण यह है कि प्राचीन काल में राजस्थान के राजपूत लोग पहाड़ी प्रदेशों में जा बसे थे और उन्होंने वहाँ के पूर्व निवासियों को हिन्दू धर्म में लाकर उन पर अपनी भाषा की छाप लगा दी थी।

२१. आर्यभाषाओं के उत्तर-पश्चिमीय वर्ग में सिन्धी भाषा बहुत प्रसिद्ध है। यह सिन्ध तथा कच्छ प्रदेश में बोली जाती है। इसके बोलने वालों की संख्या ३५ लाख के लगभग है। इसकी पांच मुख्य बोलियाँ हैं:—

(१) बिचोली जो विचोलो, अर्थात् हैदराबाद के इर्द-गिर्द बोली जाती है। यह ठेठ सिन्धी है। पढ़े-लिखे लोग इसी को बोलते हैं, और साहित्य की भी यही भाषा है। (२) दूसरी का नाम थरेली है, जो 'थल' अर्थात् थल प्रदेश में बोली जाती है। इसे 'थरेली' या 'ढाडका' भी कहते हैं। मारवाड़ी भाषा में 'ढाट' नाम थल का है। (३) तीसरी बोली 'लासी' है, जो कराची से उत्तर की ओर लासबेला में बोली जाती है। (४) चौथी बोली लाड़ी है, जो लाड़ में बोली जाती है। लड़ु शब्द का अर्थ है ढलवान। (५) पाँचवी बोली कच्छी है जो कच्छ प्रदेश में बोली जाती है। यहाँ कच्छी के अतिरिक्त मारवाड़ी और गुजराती भी बोली जाती है।

सिन्धी लोग उत्तरी सिन्ध में बोली जाने वाली 'सिरायकी' को पृथक् बोली मानते हैं। परन्तु सर जार्ज ग्रियर्सन ने इसका समावेश 'विचोली' में किया है।

सिन्धी में कुछ अधिक साहित्य नहीं है। इसका सबसे प्रसिद्ध कवि अब्दुललतीफ़ है जो अठारहवीं शताब्दी में हुआ। इसकी रचना का नाम 'शाह जो रिसालो' है। जिसमें सूफ़ी मत के सिद्धान्त कथानकों द्वारा समझाए गये है। सिन्ध के लोग इसे सिन्धु का हाफ़िज़ कहते हैं। वीर रस से भरी हुई कुछ और कविताएँ भी इस भाषा में मिलती हैं।

२२. उत्तर-पश्चिमीय वर्ग की दूसरी भाषा लहन्दी है, जिसे पश्चिमी पंजाबी,

जटका, हिन्दकी, मुलतानी, चिभाली आदि कहते हैं। लहिन्दी शब्द का अर्थ है लहिन्दे की बोली और लहिन्दा (अर्थात् 'उतरता हुआ, अस्त होता हुआ') नाम है पश्चिम का। इसके बोलने वालों की संख्या ९० लाख के लगभग है। लहिन्दी की तीन बोलियाँ हैं—(१) दक्षिणी बोली जो ठेठ समझी जाती है। (२) उत्तर-पूर्वी और (३) उत्तरपश्चिमी। लहिन्दी में साहित्य का अभाव है। सोलहवीं शताब्दी की लिखी हुई एक जन्मसाखी अर्थात् गुरु नानक का जीवन-चरित्र और कुछ कविताएँ मिलती है। लहन्दी की पोठहारी बोली में कितना ही मुसलमानी साहित्य है, परन्तु लोग उसे पंजाबी साहित्य के अन्तर्गत गिनते हैं।

२३. काश्मीरी तथा इसके निकटवर्ती शीना को सर जार्ज ग्रियर्सन ने एक पृथक वर्ग में सम्मिलित किया था, जिसका नाम उन्होंने 'दारद' या 'पैशाच वर्ग' रखा था। इनके मतानुसार दारद वर्ग आर्यभाषाओं के बाहिर है। परन्तु प्रो० ब्लाक और टर्नर के अनुसन्धान से इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती। उनका मत है कि यह भाषाएँ भी आर्य ही हैं।

दारद वर्ग में काश्मीरी ही एक ऐसी है, जिसमें कुछ साहित्य पाया जाता ह। यह काश्मीर देश में बोली जाती है और इसके बोलने वालों की संख्या दस लाख के लगभग है। हिन्दू और मुसलमान लोगों की भाषा में कुछ २ भेद हैं। हिन्दू लोग काश्मीरी को प्रायः शारदा (या कभी नागरी) लिपि में लिखते हैं, और मुसलमान लोग फ़ारसी अक्षरों में लिखते हैं।

काश्मीरी भाषा की आदि-कवि एक देवी है जिसका नाम 'लल्ला' या 'लालदे' था। यह चौदहवीं शताब्दी में हुई, और नंगी फिरा करती थी। यह कहती थी कि मैं लज्जा किस से करूँ, पुरुष तो कोई दिखाई नहीं देता। वास्तव में पुरुष वह है, जिसके हृदय में ईश्वर का भय हो। परन्तु संसार में ईश्वर का भय मानने वाला कोई विरला निकलता है। काश्मीरी भाषा के इतर पुस्तक प्रायः संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद हैं, या उनके आधार पर लिखे गये हैं। मुसलमान लेखकों में से महमूद गामी का नाम उल्लेखनीय है। इसकी मृत्यु सं० १८१२ में हुई। इसने फ़ारसी पुस्तकों के आधार पर 'यूसफ़ जुलेखां', 'लैला मजनूं' और 'शीरीं फ़रहाद' के उपाख्यान लिखे हैं।

२४. दारद वर्ग की भाषा में काश्मीरी से उतर कर दूसरे स्थान पर शीना है जिसका सभ्य संसार को कुछ ज्ञान है। यह गिलगित में बोली जाती है। इस वर्ग की अन्य भाषाओं के विषय में अधिक ज्ञात नहीं।

२५. भारतवर्ष की आर्यभाषाओं का वर्णन पूरा करने के लिए सिंहली और

जिप्सी भाषाओं का भी उल्लेख आवश्यक है। सिंहली तो उस आर्यभाषा की सन्तान है जिसे लगभग २५०० वर्ष पहले विजयकुमार और उसके अनुयायी अपने साथ सिंहल द्वीप में ले गये थे। इसका अपनी दूसरी बहिन भाषाओं से सम्बन्ध टूट गया था। सिंहली का प्राचीन साहित्य १०वीं शताब्दी का है। इसके पुराने रूप को 'इलू' कहते हैं। यह शब्द सिंहल शब्द का अपभ्रंश है। सिंहली से सम्बन्ध रखने वाली मालद्वीप की भाषा है, जो पुरानी सिंहली की ही सन्तान है।

२६. पश्चिमी एशिया (आर्मीनिया, टर्की, सीरिया) तथा यूरुप के कई भागों में निरन्तर पर्यटन करने वाली कुछ जातियाँ हैं, जिन्हें 'जिप्सी' कहते हैं। इनकी भाषा का नाम जिप्सी है, जो पाँचवीं शताब्दी की प्राकृत की सन्तान है। इसीलिए इसे आर्यभाषा समझना चाहिए। यद्यपि चिरकाल तक अन्य देशों में भ्रमण करने से इनकी भाषा में अन्य भाषाओं के अनेक अंश मिल गये हैं तथापि इनके शब्द-भाण्डार और शब्दरूपावली में आर्य-प्रकृति के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

सिंहली और जिप्सी तथा भारत की आधुनिक आर्यभाषाओं का संस्कृत और प्राकृत से सम्बन्ध प्रतीति-गोचर है। भारत की आर्यभाषाओं में परस्पर मेल-जोल रहने से इनमें एक-दूसरे के साथ बहुत कुछ समानता भी है। परन्तु सिंहली और जिप्सी का भारत के साथ सम्बन्ध न रहने से तथा इनका एक दूसरे से पृथक् २ विकास होने से उनमें बहुत अन्तर पड़ गया है। इसलिए भारत की आधुनिक आर्यभाषाओं की तुलना करते समय सिंहली और जिप्सी पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। परन्तु कई विषयों में वे आर्यभाषाओं के इतिहास पर बड़ा भारी प्रकाश डालती हैं।

२७. इस प्रकार भारतीय आर्यभाषा के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन करके अब हिन्दी को लेते हैं। यहाँ पर यह बतला देना अनुचित न होगा, कि हिन्दी शब्द फ़ारसी भाषा का है और इसका अर्थ है 'हिन्द-सम्बन्धी'। मुसलमान लेखकों ने हिन्द शब्द को भारतवर्ष के लिए प्रयुक्त किया है। 'हिन्दी' शब्द को 'हिन्दू' शब्द से अलग समझना चाहिए, क्योंकि हिन्दू शब्द को वे लेखक ऐसे भारतवासी के लिए व्यवहृत करते हैं जो मुसलमान न हो? अमीर खुसरो ने, जो चौदहवीं शताब्दी में हुआ है, अपने ग्रन्थ 'गुर्तुलं कमाल' में एक ही स्थल पर दोनों शब्दों का प्रयोग किया है; जहाँ वह फ़िरोज़शाह खिलजी के सम्बन्ध में लिखता है कि जो कोई जीवित 'हिन्दू' बादशाह के हाथ चढ़ा, वह हाथी के पैरों तले रौंदवाया गया, लेकिन जो हिन्दी (भारतवासी) मुसलमान थे उनकी प्राण-रक्षा हुई।

ऊपर की कही व्युत्पत्ति के अनुसार 'हिन्दी' शब्द और उसका दूसरा रूप 'हिन्दवी' भारतवर्ष की भाषा या भाषाओं के लिए प्रयुक्त होते रहे हैं। फ़ारसी पुस्तकों में ऐसे बहुत से स्थल हैं, जहां 'हिन्दी' और 'हिन्दवी' शब्द न केवल हिन्दी या उर्दू के लिए ही प्रयुक्त हुआ, प्रत्युत संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।

२८. पाश्चात्य लेखक हिन्दी शब्द का दो अर्थों में प्रयोग करते हैं—(१) जिसे हम खड़ीबोली कहते हैं, उसके लिए, (२) या कभी २ बंगाल और पंजाब के मध्यवर्ती प्रदेश में बोली जाने वाली बोलियों के लिए। परन्तु सर जार्ज ग्रियर्सन ने हिन्दी शब्द के अन्तर्गत उन बोलियों को लिया है, जो सरहन्द (पंजाब) और काशी के मध्य बोली जाती हैं। स्थूल रूप से पर वह दो भागों में विभक्त हैं—पूर्वी हिन्दी और पश्चिमी हिन्दी। जैसा ऊपर कहा गया है पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत पांच बोलियाँ हैं। खड़ीबोली, बांगरू, व्रज, कन्नौजी और बुन्देली। ये बोलियाँ जिस प्रदेश में बोली जाती हैं, वह संस्कृत पुस्तकों में प्रायः मध्यप्रदेश के नाम से वर्णित है। भेद केवल इतना है, कि पश्चिमी हिन्दी तो पूर्व की ओर कानपुर तक बोली जाती है, और मध्यप्रदेश की पूर्वी सीमा प्रयाग है। पश्चिमी हिन्दी बोलने वालों की संख्या चार करोड़ के लगभग है।

२९. पश्चिमी हिन्दी की बोलियों में सबसे प्रधान बोली खड़ीबोली है, जो साधारण बोलचाल की भाषा के रूप में रुहेल खंड, गंगा दोआब के उत्तरी भाग और पंजाब के ज़िला अम्बाला में बोली जाती है। मुसलमान लोग इसको अपने साथ भारत के दूसरे भागों में भी ले गये हैं। इसका प्रयोग साहित्य में भी हुआ है, साथ ही इसका संमार्जन होता रहा है। इस के तीन रूप हैं:—

(१) साधारणहिंदी जिसे हिन्दू-मुसलमान परस्पर बातचीत में व्यवहृत करते हैं। (२) उर्दू जिसे मुसलमान और वह हिन्दू, जिन्होंने फ़ारसी की शिक्षा प्राप्त की हो, व्यवहार में लाते हैं। और (३) साहित्यिक हिन्दी, जिसे वह हिन्दू, जिन्होंने संस्कृत शिक्षा प्राप्त की हो, व्यवहार में लिए हैं। उर्दू के भी दो रूप हैं:—

(१) ठेठ उर्दू, जो कि देहली और लखनऊ की शिष्ट भाषा है। (२) दक्खिनी उर्दू जिसे दक्षिण के मुसलमान बोलने तथा लिखने में प्रयोग करते हैं।

पश्चिमी बोली की दूसरी बोली बांगरू है जिसे 'जादू' या 'हरियानी' भी कहते हैं। यह पूर्वी पंजाब अर्थात् हिसार, रोहतक और करनाल के जिलों में तथा देहली

के एक भाग में बोली जाती है। इसकी निकटवर्ती पंजाबी तथा राजस्थानी से बहुत कुछ समानता है।

व्रजभाषा गंगा दोआब के मध्यभाग में बोली जाती है। कन्नौजी व्रज से मिलती-जुलती है तथा व्रज के पूर्व में बोली जाती है। बुन्देली ग्वालियर और बुन्देलखण्ड की बोली है।

३०. अब इनका कुछ विस्तृत वर्णन किया जाता है। हिन्दी शब्द का अर्थ है हिन्द की भाषा, और फ़ारसी में हिन्द कहते हैं हिन्दुओं के देश को अर्थात् भारत को। पंजाब के लोग हिन्दुस्तान कहने से उस प्रदेश को लेते हैं, जिसके पश्चिम में पंजाब, पूर्व में बंगाल, उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्य पर्वत है। जब हिन्दुस्तान का यह अर्थ हो तो हिन्दी के अन्तर्गत पश्चिमी हिन्दी की अन्य बोलियाँ, पूर्वी हिन्दी, बिहारी और राजस्थानी भी आ जाती हैं।

३१. हिन्दी के दो रूप हैं—साधारण बोल-चाल की हिन्दी और साहित्यिक हिन्दी जो बोल-चाल की हिन्दी का ही सम्मार्जित रूप है।

साधारण बोल-चाल की हिन्दी गंगा दोआब के उत्तर भाग और रुहिलखण्ड के पश्चिम भाग में बोली जाती है। परन्तु साहित्यिक हिन्दी को उत्तरी भारत के पढ़े-लिखे लोग परस्पर प्रयोग में लाते हैं। असल बात तो यह है कि हिन्दी बोली समग्र भारतवर्ष में समझी जाती है। और भिन्न २ प्रान्तों के लोग आपस में बातचीत करते हैं, तो हिन्दी के ही किसी न किसी रूप का आश्रय लेते हैं।

जैसा कि अभी बतलाया गया है, साहित्यिक हिन्दी साधारण बोल-चाल की हिन्दी का ही परिमार्जित रूप है।

उर्दू हिन्दी का वह रूप है, जो फ़ारसी अक्षरों में लिखा जाता है तथा जिसमें फ़ारसी और अरबी शब्दों का प्रयोग करने में कोई संकोच नहीं किया जाता। मुसलमानी राज्य में देहली दरबार के भिन्न २ भाषा-भाषियों के लिए एक सांझी भाषा की आवश्यकता थी। इसी आवश्यकता ने इस भाषा को जन्म दिया, और मुसलमान राज्य के कर्मचारी जहाँ २ भारत में गये इसे भी अपने साथ लेते गये। इसका उर्दू नाम तुर्की भाषा के शब्द 'उर्दू-ए-मुअल्ला' से पड़ा है, जो देहली शहर के बाहिर की छावनी का नाम था। इसको पढ़े-लिखे मुसलमान और वे हिन्दू, जिन्होंने फ़ारसी की शिक्षा पाई हो, बोलते हैं। जिसे बढ़िया उर्दू कहते हैं उसमें फ़ारसी शब्दों का प्रयोग उचित सीमा को लाँघ गया है। इस प्रकार की भाषा में कई बार ऐसे वाक्य मिलते हैं, जिनमें व्याकरण, शैली तथा अन्तिम क्रियापद को छोड़ और

सब शब्द फ़ारसी तथा अरबी के होते हैं। आश्चर्य की बात है कि उर्दू भाषा में फ़ारसी शब्दों की भरमार का काम कायस्थ और खत्री लोगों ने किया है। मुसलमान शासक तो चिरकाल तक फ़ारसी भाषा में लिखते-पढ़ते रहे। ठीक इसी भाँति आज अंग्रेज़ी शब्दों का प्रचार भारतीय भाषाओं में होता जाता है। अंग्रेजी जानने वाले बाबू लोग जब आपस में बातचीत करते हैं तब प्रायः आधे शब्द अंग्रेज़ी के बोलते हैं।

३२. उर्दू का दूसरा रूप रेखता कहलाता है। 'रेखता' शब्द का अर्थ है गिरा पड़ा या 'बिखरा हुआ'। इसको रेखता इसलिये कहते हैं कि इसमें फ़ारसी शब्द बिखरे रहते हैं। एक प्रकार से यह नाम हिन्दुस्तानी का ही है, जिसमें थोड़े बहुत शब्द फ़ारसी के हों। जब स्त्रियों की बोली में कविता रची जाय तो उसे रेखती कहते हैं।

३३. उर्दू का साहित्यिक तीसरा रूप दक्खिनी के नाम से प्रसिद्ध है। उर्दू की भाँति यह भी फ़ारसी अक्षरों में लिखी जाती है, परन्तु इसमें फ़ारसी शब्द अधिक नहीं होते।

परन्तु अंग्रेज़ी के पठनार्थ जो पुस्तकें रची गईं, वह खड़ीबोली में थीं। राजकीय शिक्षा-विभाग के स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकें खड़ी-बोली में होने से अब यह प्रायः सारे उत्तर भारत की साहित्यिक गद्य-भाषा बन गई। कुछ काल से कविता में भी खड़ीबोली का प्रयोग होने लगा है; और अब इसने व्रज और अवधी का स्थान ले लिया है; खड़ीबोली के प्रसिद्ध कवि मैथिलीशरण गुप्त हैं, जिनकी भारत-भारती, जयद्रथवध, साकेत और यशोधरा आदि ने देश भर में ख्याति प्राप्त कर ली है।

उर्दू भाषा की उत्पत्ति का इतिहास

हिन्दी भाषा और उसकी बोलियों के विषय में उपर्युक्त कथन के पश्चात् उर्दू की उत्पत्ति पर कुछ विचार प्रकट करना अनुचित न होगा। पिछले कई वर्षों से मुसलमान भाइयों ने भी अपना ध्यान इस ओर किया है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, लोगों का विचार है कि उर्दू का यह नाम 'उर्दू-ए-मुअल्ला' से निकला है। जिसका अर्थ है 'शाही लश्कर' अर्थात् कटक। जब मुसलमान बादशाहों ने देहली को राजधानी बना लिया, तब जनता नगर के बाहिर जहाँ फ़ौज की छावनी थी उस स्थान को उर्दू बाज़ार अर्थात् लश्करी बाज़ार कहने लगी। क्योंकि इस स्थान पर फ़ारसी बोलने वाली मुसलमानी सेना का आधिपत्य था इसलिए वहाँ के हिन्दुओं की भाषा में फ़ारसी, अरबी और तुर्की के शब्द मिल गये, जैसा कि आजकल

अंग्रेजी के शब्द भारतीय भाषाओं में मिल रहे हैं। उर्दू बाज़ार की इस मिश्रित भाषा का नाम धीरे-धीरे उर्दू पड़ गया।

हाफ़िज़ महमूद शैरानी लिखते हैं—भाषा के अर्थ में उर्दू शब्द का प्रयोग कुछ बहुत पुराना नहीं है। इसका इस अर्थ में प्रयोग कोई सौ सवा सौ साल से होने लगा है। साहित्य में सबसे पहले मीर मुहम्मद अताहुसैन खान तहसीन ने अपने ग्रन्थ नौतर्जमुरस्सा (हि. स. १२१३) में उर्दू शब्द को भाषा के लिए प्रयुक्त किया है। लेकिन जब हम तहसीन से पूर्व के ग्रन्थों को देखते हैं, तब मालूम होता है कि उनके रचयिता, 'उर्दू' और 'उर्दू-ए-मुअल्ला' के नाम तक से अनभिज्ञ थे। वे लोग अपने समय की भारतीय भाषा को, जिसे वे स्वयं भी बोलते या जानते थे, कभी 'हिन्दी' और कभी 'रेख़ता' के नाम से पुकारते थे। अपने कथन की पुष्टि में शेरानी ने ऐसे उल्लेख उद्धृत किये हैं, जिनको यहाँ देने की आवश्यकता नहीं है।

रेख़ता शब्द के बारे में कहा जा चुका है कि इसका अर्थ है—गिरा पड़ा, टूटा-फूटा, बिखरा हुआ। क्योंकि मुसलमान अधिकारी लोग अथवा कवि लोग जब अपने समय की भारतीय भाषा का बोल-चाल अथवा कविता में प्रयोग करते थे तो उसमें फ़ारसी, अरबी शब्द सहसा मिल जाते थे, इसलिए इस मिश्रित भारतीय भाषा को रेख़ता कहते थे, या हिन्दी अर्थात् हिन्द (भारत) की भाषा कहते थे। फ़ारसी शब्दों की प्रधानता के आधार पर रेख़ता के कई भेद हो सकते हैं। क्योंकि मीर तक़ीमीर ने रेख़ता के चार भेद माने हैं, यथा:—

(१) एक पद्य में आधा पद्य हिन्दी हो, और आधा पद्य फ़ारसी। यथा—
दुन्या का फ़िक्र मत कर, कहता मैं ख़ाजः हाफ़िज़।
कीं कीमिया-ए-हस्ती, कारूं कुनद गदा रा ॥

(२) एक पाद में आधा पाद हिन्दी और आधा फ़ारसी—
ख़्वार शुदम ज़ार शुदम लुट गया। दर रहे इश्के तू कमर तुट्टा है।

(३) जहाँ फ़ारसी और हिन्दी शब्द मिले हों, जैसा कि साधारण उर्दू कविता में होता है।

(४) जिसमें शब्दों का क्रम फ़ारसी के अनुसार हो। धीरे २ रेख़ता शब्द कविता की भाषा के लिए और फिर छन्द या गीत-विशेष के लिए प्रयुक्त होने लगा।

इसी पुरानी भारतीय भाषा के रेख़ता के अतिरिक्त और नाम भी थे, जैसे— शेख़ बाजिन, जिनकी मृत्यु हि० सन् ९१२ में हुई, 'ज़बाने देहलवी' कहते हैं,

जिसका नमूना यह है—यह फितनी क्या किसे यह मिलती है। जब मिलती है तब छलती है । इत्यादि ।

इसी पुरानी भारतीय भाषा को गुजरात के मुसलमान लेखक 'गूजरी' या 'गुजराती' और दक्षिण के मुसलमान लेखक 'दकनी' कहते थे। नमूना गूजरी—

सुनो मतलब अहे, अब यो अमी का लिखी मने [illegible]। [illegible] किस्सा फ़ारसी में, अमी इस को उतारी गूजरी में । [illegible] हक़ीकत, बड़ी है गूजरी जग बीच नेमत ।

नमूना 'दकनी'—

यो मसल्यां को दकनी किया इस सबब
फहम कर के दिल में करें याद सब ।

मौलाना वजही अपनी किताब 'सब रस' में, जो मौलवी अब्दुलहक के मितानुसार हि० सन् १०४० के कुछ पीछे रची गई, इस पुरानी भारतीय भाषा को 'ज़बाने हिन्दुस्तान' कहते हैं । यथा—

आगाज़ दोस्तान । ज़बाने हिन्दोस्तान । नक़ल एक शहर था उसका नाम सीस्तान ।

परन्तु इस भाषा का सबसे पुराना नाम 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' था । पुराने नमूनों में से शाह मीरां जी कृत रिसाला खुश नग़ज़ है । मीरां जी का काल हि० सन ७०२ में हुआ ।

है अरबी बोल केरे, और फ़ारसी बहुतेरे ।
यह हिन्दी बोलूं सब, इन अर्थों के सबब ।

प्राचीन पुस्तकों के देखने से मालूम होता है कि हिन्दू लोग अपनी कविता प्राय: व्रज और अवधी में लिखते थे, और मुसलमान उस भाषा में, जिसका 'हिन्दी', 'हिन्दवी', 'रेखता' आदि नामों से उल्लेख किया गया है । गद्य लिखने में अपनी प्रांतीय भाषा का प्रयोग होता था ।

नामानुक्रमणिका

विद्यार्थियों की सुविधा के लिए इस इतिहास-ग्रंथ में जितने भी
गद्य-पद्य-लेखकों का वर्णन आया है उन सब के नाम
अकारादि क्रम से पृष्ठ-संख्या सहित
दिये गये हैं।

नामानुक्रमणिका

ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ-सूची